

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

भाषा-भाष्य

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर.

मुद्रक—

श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

द्वितीयावृत्ति
२०००

सं० १६८८ वि०

मूल्य
४) रुपये

आर्य-साहित्यमण्डल लिमिटेड अजमेर के
लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.



श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अय्यर के ग्रन्थ से
श्रीदुर्गा प्रिन्टिंग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

॥ ओ३म् ॥

सामवेद भाष्य के प्रथम संस्करण की भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३६ ॥

तं धेनवो वत्समित्रासृताभिभवस्यं हार्दं महिमानमेशम् ।

गिरो गुरोराद्यतमस्य नित्यं निपीयमाना विवृधरपुष्पान् ॥

(१)

वेद मानव जाति के ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र है । वे संख्या में चार हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए आर्य उभोतिपियों की गणना के अनुसार १६६०८५२०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं (१) विज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना और (४) ज्ञान । ईश्वर से लेकर मृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार पूर्वक ईश्वरप्रेमिध्यान करना उपासना कहाती

हैं। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयाबन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पिपासु जन उपनिषदों और सूरदास, कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष हम भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

(२) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पाँच संहिताएँ ही आई हैं.—

(१) सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यव्रतसामभमी द्वारा प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सोसायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

(२) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवानन्द त्रिघोसागर भट्टाचार्य ने १८६२ ई० में प्रकाशित किया।

(३) अजमेर नगर ने श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद संहिता प्रकाशित की है।

(४) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और सस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

(५) रेव० जे० श्रीवन्मन ने लण्डन से एक सामवेदसंहिता प्रकाशित की है। नगरावा निवासी श्री प० कृष्णराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी रायना में नहीं रक्खा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाँचों प्रकाशित संहिताओं में अपनी २ विशेषता है। रेव० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्थिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में वे भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नहीं किया। इसका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने रायामनीय शाखा के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शाखाओं का अधिक प्रचार है कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा करनाटक में और रायामनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचलित है। परन्तु क्योंकि चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में वे भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रक्खा है। महा यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि चतुर्वेद-नुवादकार प० प्रीतिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नहीं दिया, क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में इसको स्थान दिया है। इस प्रकार पेशियाटिक सोसायटी के सत्यजित-सामग्रमी के सम्पादित सायण भाष्य में, भी उक्त दोनों रूपों को स्थान प्राप्त है।

(३) शाखाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के 'चरणव्यूह' प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—

(१) “तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीद्। अनध्याये, प्वधीयाना, सर्वे ते शक्रेण विनिहन्ता [प्रविह्वीनाः]।”

॥ (२) तत्र वैचिदेवणिष्टा प्रचरन्ति । तद् यथा—राणायनीयाः, साय [त्य] मुग्राः, कालापाः, महाकालापाः कौथुमाः, लाङ्गलिकाश्च । कौथुमानां पद्मभेदा मवन्ति । तद् यथा—सारायणीयाः, वातरायणीयाः, वैतधृताः, प्राचीनास्तैजसाः, अनिष्टकाश्च ।

अर्थात्—सामवेद की हजार शाखाएँ थीं । लोग उनको अनध्याय के दिनों में भी पढ़ते थे, अतः इन्द्र ने उन सबको विनाश कर दिया । कुछ शाखाएँ बची हैं जैसे राणायनीय, साय [त्य] मुग्र, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गलिक । इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय, वैतधृत, प्राचीनतैजस, और अनिष्टक ।

॥ चरणव्यूह के इस लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी हैं जैसे—त्रायव्यूह दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिवान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

॥ 'सामशास्त्रभेदा यथा—आसुरायणीयाः, वासुरायणीयाः, वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जलाः, ऋग्वर्णभेदाः, प्राचीनयोग्या, ज्ञानयोग्या, राणायनीयाश्च । राणायनीयानां नव भेदाः, राणायनीयाः, शाठ्यायनीयाः (शाठ्यायनीया शाठ्यमुग्रिया इति वा) पारायणीया, सान्वलाः, सात्यङ्गवा इति वा) मौडला खल्वलाः महाखल्वला कौथुमा जैमिनीयाश्च ।'

अर्थात्—इनके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुन नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शाठ्यायनीय, (शाठ्यायनीय या शाठ्यमुग्रिय,) पारायणीय, सान्वल या सात्यसङ्गव, मौडक, खल्वल और महाखल्वल, कौथुम और जैमिनीय ।

इसके अतिरिक्त सामवेद का और, शास्त्रभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शास्त्राओं के नामों से भी-भित्त २ नामों की सूचना मिलती है ।

सामवेदमरोः शास्त्रा व्यामशिश्यः स जैमिनि ।

क्रमण येन मैत्रेय, विभेद शृणु नन्मम ॥

सुमुन्तुस्नस्य पुत्राऽभूद् सुकर्माऽस्याप्यभूत् सुतः ।

अत्रानवन्ताग्रेकैकां संहितां तौ महामुनी ॥

साहस्रं संहितामेव सुकर्मा तत्सुतस्तत ।

चकार न च सञ्छिष्यौ जगुह्वाने महाप्रतौ ॥

हिरण्यनाभि कौशल्य पाप्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।

उदीच्या सामगा शिष्याः तन्य पञ्चशताः स्मृताः ॥

हिरण्यनाभाचात्रन्यः संहिता यैर्द्विजोत्तम ।

गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते परिडत्ते प्राच्यसामगाः ॥

लोकादि कुशुमिश्च कुपीदिलाङ्गलिम्बथा ।

पौष्यञ्जिगण्यास्नदुभवा संहिता बहुलीकृता ॥

हिरण्यनामशिष्यश्च चतुर्विंशति संहिता ।

प्राधात्र कृतिनामासौ शिष्यभ्यः सुमहामति ॥

तैश्चापि सामवेदोऽसौ शास्त्रानिर्गुल्लोकनः ।

अर्थ— व्यामदेव के शिष्य जैमिनि ने शास्त्राओं का भेद इस क्रम से किया कि उसका पुत्र सुमुन्तु हुआ । 'सुमुन्तु' का पुत्र 'सुकर्मा' । उन दोनों ने एक एक संहिता पढ़ी । सुकर्मा ने सहस्र संहिता भेद किये । उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि, कौशल्य, और पौष्यञ्जि । लोकादि, कुशुमि, कुपीदी और लाङ्गलि, ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे उनको 'उदीच्यासामगा' कहते थे । और हिरण्यनाभ के पाँच, सौ शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामगा' कहते थे । हिरण्यनाभ का पुत्र शिष्य 'कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस साहिताओं का उपदेश किया । उसके शिष्य प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत शाखाएं कर दीं ।

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम (अथर्व परिशिष्ट) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं । प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन श्रोत्यों हों और शेष सब नाम नवीन ही हैं । यह पुराणप्रदर्शित शाखा भेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को बतलाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कौथुम और लाङ्गलशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं । वह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं । उसमें पौष्पाङ्गि के शिष्यों का नाम लोगाधि, माङ्गलि, कुत्स, कुसीद और कुषि लिखा है । इसी प्रकार के नाम भेद से हमें पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता ।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों से ये शाखाभेद हुए । और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएं हो गईं । इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा-भेद से शाखाओं में यत्किंचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया । उनमें बहुतसी शाखाएं लुप्त हो गईं । क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनध्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरू किया, हममें कुपित इन्द्र ने वज्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया । अन्धविश्वासी लोग हम कथा पर विश्वास करने में संकोच अनुभव न करेंगे । परन्तु इसका गूढार्थ यही है कि सामवेद का स्वाध्याय गुरुपरम्परा से लोप हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थिगण अनध्याय के दिनों में सामगान सीखने आते हों । इस पर गुरु या आचार्यों ने अपने सामवेद को गौरव विषय बनते देख, अपने वेद का अपमान जान शिष्यों

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खारिज हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के अथवा नाम भी लुप्त हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण के पैलादिगण्य (२।४।५६) में राण्य, शब्द का पाठ है। अपत्यार्थ में 'फिज्' प्रत्यय करने से 'राण्ययनि' ऐसा प्रयोग होता है। यह एक साम शाखा का प्रवर्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्तक हुआ। हम गण्य में पठित और भी कितने ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्तक होने सम्भव हैं। उसी प्रकार तौल्वजादि गण्य, (२।४।६१) यस्कादि (२।४।६३) गोपवनादि (२।४।६७) तिककितवादि (२।४।६८) उपकादि (२।४।६९) गण्य भी दर्शनीय हैं। उन गण्यों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्तकों के नाम हैं। इसी प्रकार शार्ङ्गरवादि (४।१।७३) क्रोडवादि (४।१।८०) अश्वपत्यादि (४।१।८४) उत्सादि (४।१।८६) विदादि (४।१।१०४) गगादि (४।१।१०५) तिकादि (४।१।१२४) गहादि (४।२।१३८) शौनकादि (४।३।१०६) रैवतिकादि (४।३।१३१) गण्य हैं उन में नाना शाखा-प्रवर्तकों के नाम आते हैं। सात्यमुग्रि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त हैं उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४) साम-ब्राह्मण

उक्त शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है। परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसंहिता में भेद हुआ

हो । क्योंकि परम्परा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और रागायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है । इसी मुख्य ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों को गौड़ ब्राह्मण, बीच के पाँच ब्राह्मणों को अद्गत या षड्विंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है । इस उपनिषद् भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहाते हैं और आप्य, सामविधान, देवताध्याय, वंश, सहितोपनिषत् आदि नामों से प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हैं, इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में तारुण्य महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है ।

(५) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मन्त्रों का ही है । और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अतः उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है । यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो । परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् होना आवश्यक है ।

सामवेद के दो भाग हैं एक पूर्वार्चिक भाग और दूसरा उत्तरार्चिक । पूर्वार्चिक के साथ ही महानाग्नी आर्चिक भी संयुक्त ही समझी जाती है । पूर्वार्चिक में आमंग्य गान और आरण्यक गान दो भाग हैं । आमंग्य गान का तात्पर्य यह है, कि वे सामगान को जनसमूह में गान किये जायें । आरण्यक गान जो घन के परिव्राजक, गुमुक्षुभाग पर जीवन बिताने वाले तपस्वी यति सांग गान करे । इसके अतिरिक्त 'महानाग्नी' आर्चिक में शङ्खो छद्म का उपसर्ग पदों के साथ रक्खा है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है । इसके बाद उत्तरार्चिक में ऊहगान और अहगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र के गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पाँच, छः, अष्टाशों का एक गान है ।

चास्तवमें देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है। परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास करे। वह ऋचाओं में ही निवास करेगा। इसी लिये वेदों के सिद्धान्तरूप उपनिषद् ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि "अच्यभ्यूहं साम गीयते।" ऋग्वेद में आश्रय पाये हुए साम का ही गान किया जाता है। फलतः अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है। जैसा कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र "अर्थकत्वादविकल्पः स्यात्" पर स्पष्ट कहा है।

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणाम् भिष्यञ्जिका सामशब्दाभिलष्या। सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोम इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते ॥"

अर्थ—सामवेद में इसारों गीति के उपाय हैं। गीति का अर्थ है गान क्रिया। यह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको "साम" शब्द से कहा जाता है। यह नियत प्रमाणा वाली ऋचा में गाई जाती है। उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोम आदि किये जाते हैं। इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं। परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोम आदि के बिना ही ऋचाएँ रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उहोता उन ऋचाओं के वर्णों में विकार आदि करके गाता है।

(६) सामगान

यद्यपि इस सामवेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान प्रोक्त सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामत्रिपयक गायन

का साधारण परिचय पाठकों को देना आवश्यक है । सो नारदीय शिक्षा के अनुसार संक्षेप से देते हैं ।

(१) उरसू, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द उठता है)
तीनों स्थानों को क्रम से प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के समान जानना चाहिये । इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं । उरःस्थल में विचरते हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते ।

(२) सात स्वर, तीन ग्रास, इक्कीस मूर्छनाएं और १५ तान होते हैं । ये सब 'स्वरमण्डल' कहाता है । पद्म, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम धैवत, निषाद, ये सात स्वर हैं । पद्म, मध्यम, गान्धार, ये तीन ग्रास हैं । पद्मग्रास में १४, मध्यमग्रास में २० और गान्धार ग्रास में १५ तान होते हैं । ऋषि, पितर और देवभेद से प्रत्येक की सात मूर्छनाएं हैं, जैसे—नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और बला ये ७ देवमूर्छनाएं हैं । आप्यायिनी, विश्वमृता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री बाईती, हृष्यका, उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छनाएं हैं । देव, पितृ, और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यक्ष और मनुष्य क्रम से अनुयायी हैं । लौकिक मूर्छनाएं ऋषियों की हैं । (पद्म से देव, ऋषभ से ऋषि, गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व, पञ्चम से सबजन निषाद से यक्ष और धैवत से अन्य प्राणी प्रसक्त होते हैं ।

(३) गान के दस गुण हैं—रक्त, पूर्ण, अजंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर ।

(४) स्वरभेद पांच प्रकार का है । उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचिंत और निघात । आर्चिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही हैं । स्वरित से परे उदात्त ही प्रचिंत कहाता है । स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्य स्वार और दूसरा अतीत स्वार । उच्च और नीच दोनों के बीच को ही स्वार कहा जाता है । उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु-

दात्त में अथभं और धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम और पञ्चम रहते हैं । विशेष ज्ञान नारदाय शिष्या एवं अन्य गानग्रन्थों से जानने चाहिये सामवेदियों में सामवेद संहिता की ऋचाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है । वे गान संहिताएं मन्त्रसंहिता से होती हैं । उसका कुछ नमूना दर्शाते हैं ।

सम्भ्र—अग्न आयाहि वीतमे गुणानो हव्यदातये । निहोता सत्सि
महिषि ॥

गेयगान—ओम्नाह । आया ही ३ वोह वोईतोया ३३ ।
तोया २३ गुणानो ह । व्यदातोया २३ । तोया २३ : ना ३ हो
ता सा २ ३ । त्सा २ ३ । वा २ ३ ४ औ हो वा हो २ ३ ४ पी । १ ।

यह गौतम ऋषि का एक साम कहाता है । इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा एक इस प्रकार है ।

अग्न आया हि । वो ३ इ तथा ३ गुणा नो हव्य दा १ ता
३ ये । नि होता २ ३ ४ सा । त्सा २ ३ ४ इ वा । हो २ ३ ३ ४
इ वो ३ हा ३ ॥ ३ ॥

इन दोनों एकों के भीतर काश्यप ऋषि का 'महिष्य' है जैसे—

अग्न आया हो वो । तथाह । गुणानो हव्य दाना । २ ३ या
इ नि होता सत्सि वही २ ३ । हीष । वही २ ३ पा १ ३४ औ
हो वा । वही ३ पी २ ३ ४ ५ ।

इसी प्रकार स्तोम, छह गान और उद्गातानों के भी विशेष रूप नि-
र्धारित हैं। उन ही का विशेष परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान
करना है।

(७) सामवेदभाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हैं वे 'सामवेद' संहिता पर
संस्कृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत से तो लुप्त ही गये हैं। निघण्टु के
टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास,
माधवदेव, उषदभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी इन आठ प्रार्षान भाष्य
कारों के नाम दर्शाये हैं। इन सब में से केवल माधवीय विरच्य कुछ
अंश उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है। श्री० पं०
तुलसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है। इन सब
भाष्यों के होते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाषा-भाष्य
उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम, सुन्दर और हृदयगत भाषा में शकदाओं
के पृथक्-पृथक् करने के साथ-साथ पढ़ सके। इसलिये इस भाष्य को
प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं
कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो
सामवेद के वास्तविक उद्देश्यमूलक उपासना काण्ड के लक्ष्य को दर्शा-
सके। श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ के अपने कार्य को
पूर्ण किया है। प्रायः ये भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसके
लक्ष्यों का लक्ष्य ही उठाकर रख दिया है। उसमें विशेष फेर फार नहीं है। परन्तु
यहाँ कि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों
का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर भरत
निवासी श्री श्रीगोमुखमीनमती का भाष्य है। उनके संगत भाष्य
में कुछ एक स्थलों का पढ़कर प्रायः सायण भाष्य का ही अनुसरण

किया है। हमने उक्त दोनों भाष्यों में से किसी का भी अनुसरण नहीं किया। ऐसा करने के बहुत से कारण हैं।

(१) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को साक्षान् ईश्वर वचन मानने में भारी विघातक है। इससे वेदों का महत्त्व भी बहुत घट जाता है।

(२) यज्ञपरक अर्थ करने में यद्यपि, सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशेषण जिस पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उस पर नहीं लगता और जो विशेषण जिस पदार्थ में नहीं घटने के उभ पर लगाये जा रहे हैं, इससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी कलक आता है। केवल यज्ञ में आये अग्नि, साम आदि पदार्थों के वर्णन में सायण का अधिक भाग लगा हुआ है। ईश्वर सायण भाष्य के अनुसार विचार करने में यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गाँ गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका गुद तात्पर्य कुछ नहीं है। यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है। इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग चलते हुए उन्हीं प्रकार असंगत अर्थ करते गये हैं जिस प्रकार सायण ने किये हैं। इससे भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं, परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कर भी उन्होंने वेद के धार्मिक अर्थों पर विचार नहीं किया। हमारा कहना है कि वेदार्थ के करने में विद्या के परम भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान के आढरणीय ग्रन्थों का जिस शम्भीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वसा अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया। हम अपने मन्तव्य का और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमूने अन्य भाष्यों से उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे। जैसे—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

न होना सत्सि बर्हिषि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । हमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आग्नेय काण्ड में अग्नि शब्द यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिखा है । क्योंकि सायण लिखते हैं—

“हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविशिष्ट त्व आयाहि अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ । किमर्थं, वीतये हविषां चरुपुरोडाशादीनां भक्षणाय ।

अर्थात् हे अमक आदि गुणों से युक्त अग्ने ! तू आ अर्थात् हमारे यज्ञ में आ । क्यों ? 'वीतये' चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये । चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है । इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्नि वृत्तं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है 'विश्ववेदसं' । जिसका सायण स्वयं अर्थ करते हैं—

‘विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदा, यज्ञा वेद इति धननाम, विश्व सर्व वेदो धन यम्य तम्’ ।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने द्वारा या समस्त साधनों का स्वामी 'विश्ववेदा' कहावेगा । परन्तु सायण के अनुसार यह विशेषण 'अग्नि' का है । भौतिक अग्नि जड़ होने से न तो समस्त जानवान् है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है । इसी प्रकार उक्त मन्त्र में 'सुक्रतु' शब्द पदा है । जिसका अर्थ सायण ने “निष्पादकत्वेन शोभनकर्माणम् अथवा क्रतुरिति प्रज्ञा नाम शोभनप्रज्ञ चा” किया है अर्थात् यह अग्नि यज्ञनिष्पादक होने से 'सुक्रतु' है, न क्रतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रज्ञ वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि वह अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है । फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं । यह दोष न केवल आग्नेय ~~मन्त्रों~~ के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रस्युत इन्द्र, सोम, उषा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है । क्योंकि सायण ने इन्द्र को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों बाजा, घोड़ों से युक्त रथपर चढ़ा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगत्." "ईशानमस्य तस्थुष" (पू० अ० ३ । १) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नहीं घटेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है । सायण ने सर्वत्र सोम, इन्द्र, पवमान आदि शब्दों से सोमलता और उसके रसों का ही ग्रहण किया है । उस लता या सोमरस में—"जनितः अग्नेर्जनितः सूर्यस्य जनितः इन्द्रस्य जनितो न विप्यो" (पू० अ० ५ । ६ । ५) इत्यादि सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं घटेंगे । उसी प्रकार सोम को "यो रायामानेता य इषानाम् ।" (पू० अ० ५ । ११ । ५) धनों और अर्धों ~~का~~ जाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सोमरस में नहीं घटेंगे ।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं । उनके विशेषण परमेश्वर में मुख्यवृत्ति में घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्य पदार्थों को दर्शावेगा । हमने अपने भाष्य में स्थान १ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथा-स्थान देख लेंगे । यहां अधिक ~~का~~ विस्तार नहीं दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं ।

(=) सिद्धान्त दिशा विचार

यदि हम पहले दया चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना कारण है । वेदों में सिधाय ईश्वर के और किसी दैवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है । यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है । योरोप के विद्वान् एव सायण के मतानुयायी मने । वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग, जल, वायु आदि जब पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता को प्रकट करता है । उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पक्ष भारतीय विद्वान् भी बहुत से उम् अमज्जल में पड़ गये हैं । इसका मुख्य कारण यही है कि वे लोग, वेद को वेद के सिद्धान्त भाग से अलग कर लेते हैं । उनकी यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ हैं । उनका ऐसा समझना ही उनको अम में डाल देता है । योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषद् बाद में बनी अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति बाद में हुई । इसी धारणा से वे उपनिषदों को वेदों से अलग कर देते हैं । वास्तव में उपनिषदों का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता । उपनिषद् वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ हैं । यदि शरीर में से आत्मा को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर केवल हाड, मांस, चाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अंगों की शक्तियों का चमत्कार नहीं जाना जा सकता । आस नारु कान, त्वचा, बायीं ये साधन और अन्न करण मन ये ससार में जितना चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब इस जब शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं । उसी प्रकार जब आत्मस्वरूप उपनिषद्, त्र्यविद्या को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं । परन्तु जब उनके आधार

नि घ्रायिषा रूप दीपशिखा उपनिषद् को दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व जगद्गुरु दिखाई देता है। यह मन्त्रव्य बहुत प्राचीन काल में उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है। जैसे काठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तर्पांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तप्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्याम्योम्
इत्येतत् ॥ २ । १५)

"समस्त वेद जिस परम पद का पुनः १ प्रतिपादन करते, समस्त तप जिस को उर्गाते हैं, जिसको प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, तप पद को संक्षेप से कहता हूँ 'ओम्' यह है।" अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुनः करते हैं। इसके अतिरिक्त सैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चविध आत्मा का अद्भुत प्रत्यक्षमय स्वरूप दर्शाते हुए पाँच कोशों को दर्शाया है, बहुत ध्यान देने योग्य है। वही अक्षरमय पुरुष के पाँच अंग दर्शाये गये हैं:—

अक्षरमय—(१) शिरः, (२) दक्षिण पक्ष, (३) उत्तर पक्ष, (४) आत्मा (धृक्), (५) आश्रय पुच्छ ।

प्राणमय—(१) प्राण, (२) व्यान, (३) अपान, (४) आकाश, (५) पृथिवी ।

मनोमय—(१) यजुः, (२) ऋगू, (३) साम, (४) आदेश, (५) अथर्व ।

विक्षानमय—(१) अद्वा, (२) अत, (३) सत्य, (४) योग, (५) महः ।

आनन्दमय—(१) प्रिय, (२) मोद, (३) प्रमोद, (४) आनन्द, (५) ब्रह्म ।

ये पाँचों कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें (१) शिर स्थानीय शिर, प्राण, यजुः, श्रद्धा और प्रिय ये क्रमशः एक ही सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप हैं। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष ध्यान, अक्, अत, मोद उत्तर पक्ष, अपान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा (धृद) भाकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय (पुच्छ), पृथिवी, अधर्ष, महः, ब्रह्म इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषद्कार ने बतलाया है तो ब्रह्म को बतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदग्रन्थी का सार अ, उ, म् को बतलाया है। फलतः यह कहना कि ब्रह्म विद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साहसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहें तो भी अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की स्वतः सत्ता ही कुछ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साधारण यजुर्वेद का १० वा अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण तृहदा रथयक उपनिषद् यजुर्वेद प्राण्य रातपथ का एक अंग है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का एकांश है। और ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेयब्राह्मण का एक अंग है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का आरम्भक भाग का एकांश है। जत्र यमी कही २ उपनिषदें वेद और वेद के व्याख्यानो के सम ही हैं तब उनको वेद से अलग करना पण्डितों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निदान खोने से घर मूला प्रतीत होता है उसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद से परे खोने पर वेदगमनाय भी कल्पकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कमलाकट को ज्ञानकाण्ड से राजग कर खोने पर निरय अवेष्टा के तृद गैर नहीं रहता। मर्यादाजन विद्वानों ने समस्त कमलाकट में वेद के गन्धों का विनिर्गोप पाकर वेदों को अर्थ कमलाकट कर दिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचार कि

उनके प्रेम करने से वेदमन्त्र अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी । कर्मकाण्ड को मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने दो प्रवृत्तियाँ जागीं । एक तो कल्पित मनगढ़न्त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग होने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र यज्ञों का क्रियाकाण्ड भी अष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया । और उसमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिधार्थ ही लिया जाने लगा । भाष्यकारों ने अपना मतसत्य साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों का काम तो लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली को नहीं अपनाया ।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है । उनमें जहाँ साथ ही यज्ञ की शैली और लोक-व्यवहार को वर्णित किया गया वहाँ यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है । जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो । भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा । इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद के नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने का भौतिक पक्ष में अर्थ उनके गूढ़ ब्रह्मपरक विशेषणों को भी न सुझा सके । अब हम पाठकों को समस्त ब्राह्मणकार या उपनिषद्कार ऋषियों के मतार्थ करने की रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं ।

गर्भे नु सन्त्यग्रामे वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररक्षन् अध ष्येनो जगसा नरदीयम् ॥

(ऋग्वेद म० ४ । नृ २७ । म० १)

इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है—“मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये, मुझे सौ लोहे के कोट घेरे हुए थे और मैं रथेन

था बाज पक्षी होकर बड़े वेग से निकल आया ।” यह एक पहेली सी है । इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतरेयोपनिषद् (अ० १) में इस प्रकार है—

“पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति । तद् यदास्त्रि तां सिञ्चत्यथैनज् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् स्त्रिया आत्मभूय गच्छति यथा स्वमङ्गं । तथा तस्मादेनां न हिनस्ति । साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं । भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं विभर्ति । सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हि इमे लोकाः । तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथ अस्य अयमितर आत्मा कृत्स्नो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयत्नव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म । तदुक्तमृषिणा ।

गर्भे तु सन्नेषामवेदमहं देवानां जानिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररक्षन् अधः श्येनोजवसा निरक्षीयमिति ।

गर्भं एवैतच्छ्रयानो वामदेव एवमुवाच । एवं विद्वान् अ-

स्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रान्त्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृतं समभवत् समभवत् ।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है । वह पुरुष में धीरे रूप से रहता है । वह धीरे सब अर्हों से शुक्र उत्पन्न होता है । उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है । जब वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है । यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है । तब वह गर्भ स्त्री के एक अंग में समाप्त हो जाता है । इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहीं देता । स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है । उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन प्राप्य होती है । स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन प्राप्य करती है । उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है । पिता जो उस कुमार को पालता है एक प्रकार से अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि लोक सन्तति द्वारा ही फैलते हैं, इसलिये यह लोक सन्तति बनी ही रहे । इस प्रकार पुत्र का यह आत्मा का द्वितीय जन्म है । यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुनः शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है । और फिर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बूढ़ा हो, चल बसता है । बड़ा से जाकर पुनः वह पैदा हो जाता है । यह उसका तिसरा जन्म है । इसी प्रकार वेदमन्त्र ने कहा है कि—(गर्भे नु सन्विदि०)— अर्थात् 'मैंने गर्भ में ही इन देवों के सद्य रूप जान लिये मुझे छोड़े के भी कोट घेरे हुए थे रथेन पत्नी के समान में आत्मा बड़े वेग से निकल आया' इति । गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा । वह वामदेव इस शरीर के बन्धन को तोड़कर परलोक में सर्वाप्तकाम होकर अमृत, मुक्त हो गया ।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमन्त्र की संगति लगा कर दर्शाई है और आत्मा अमर होने और मुक्त होने का सिद्धान्त दर्शाया है । इसी प्रकार अन्य मन्त्रों की भी व्याख्या आचार्यों और आर्यवर्कों में प्राप्त होती है । इस व्याख्या में दो ध्यान देने योग्य विचार बिन्दु हैं जैसे

(२२)

(१) सौ लोहे की कोटें (शतं आयसी पुरः) और (२) बाज के समान वेग से बाहर निकलना । इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्राय, अग्नि और इन्द्र और सोम तीनों दैवताओं के विषय में रूपान्तर में आयेगा १०० पुरी ॥ पुरी या ६० पुरी का वर्णन जैसे—

इन्द्र के विषय में—

अथा घृती परिरुघ यस्मि इन्द्रो मदेष्वा । अत्राहभवतीर्नव॥

(साम० उ० अ० ६ । १ । १)

इन्द्र ने सोम के मद में ६१ पुरियों का विनाश किया है ।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नर्वित पुरो दासपत्निरधूनुनम् । साकमेकेन कर्मणा॥

(साम० उ० अ० १६ । १ । १ । २)

दोनों को शत्रु के ६० पुरी का विनाशक बतलाया है ।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

“प्रभूर्जयन्त महाविपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ॥”

(साम० पूर्व० अ० १ । ८ । २)

सभी उदाहरणों में पुरी का या परकोटों का विनाश सर्वत्र समान है और संख्या भी ६६, १००, ६० समान ही है अतः इन सबकी समिति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है । इस प्रकार उपनिषद् में एक मंत्र ॥ मगति दशांकर घेह के पंच सभी स्थलों की व्याख्या ॥ दी है । प्राय उपनिषद्धारों, भाष्यकारों और प्रायणकारों की पूर्वा ही व्याख्यान जिसी दृष्टि में आती है जिसमें उद्देश्यों की व्याख्या व्याख्या हो जाती है । परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं :

सामवेद के देवता (६)

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्दपर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है। इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबमे अधिक यास्क का निरूप है। यास्क लिखते हैं—

“यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयु-
कृते तद्देवतः स मन्त्रो भवति” ।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रदष्टा अपि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चित जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है।

(वेदों की ऋचाएँ तीन प्रकार की हैं (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। परोक्षकृत मंत्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया में भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है। प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को संबोधित किया। मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'अहं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है।)

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं—

माहाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तुयते । एकस्य आत्मानोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपिच सत्त्वानां प्रकृति-
भूमिभिः ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः । प्रकृतिसार्चनान्मन्याच्चतरेतर-
जन्मानो भवन्ति, अतरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः ।
आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य० ।” इत्यादि ॥

(२४)

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है । एक आत्मा के ही अन्य देवता अज्ञ प्रपञ्च हो जाते हैं । और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से ऋषियों ने स्तुतिया की है । और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से स्तुति की जाती है । उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरेजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं । बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है । परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है । वही उनका रथ है, वही अभय है, वही आयुध है, वही इष्ट है, वह सब कुछ सब परम आत्मा स्वयं है । बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अज्ञों वाला देवता मान कर उनकी स्तुति की है और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दृश्याये हैं जैसे—

आ आभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि'” हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ । और जैसे “आसि इन्द्र पिब च” हे इन्द्र न्वा और पी इसी प्रकार अग्ने तन पदार्थों से भी देवता की स्तुति की । जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, प्राण आदि नामों से भी बहुतसी स्तुतिया है । परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है ।

देवता क्या है इसकी व्यवस्था है शिवे निरुद्धकार धारक का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अम्तरिक्ष में वायु या इन्द्र और द्यौ में सूर्य । या देवताओं के महाऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं । जहां कर्म पृथक् २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहां जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में बांटकर कार्य करते उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक

हमारे के उपकारक भी हो जाते हैं । यहां इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये ।

और भी स्पष्टता के लिये निरुक्तकार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है । इषि का वहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय । पृथिवी स्थानी देव गण अरन, शक्रुनि आदि निघण्टु (प्र० ५ ख० ३) में पढ़ दिये हैं अग्नि के संस्तविक देव इन्द्र, सोम, वरुण, पतञ्ज, अस्तु है । अर्थात् इन नामों में भी अग्नि की स्तुति की गई है ।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु (प्र० ५, ख० ४, ५) में पढ़ दिये गये हैं । उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है । मय वल कर्म इन्द्र नाम से भी जाने जाते हैं, इसका रस का अनुग्रह करना और युद्ध का बध करना । अग्नि सोम, वरुण, पूषा, इहस्पति, जाह्नवस्पति, पर्षत कुत्स, विष्णु, वायु अग्नि इसके संस्तविक देव है । तृतीय स्थान के देवता निघण्टु (५, ख० ६) में पढ़े गये हैं । रश्मियों से रस का लेना और धारण करना आदित्य का कार्य है । इसके संस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और संवत्सर है ।

निरुक्तकार यास्क का यह देवता विभाग केवल भौतिक विज्ञान के धर्मान में ही छागू होता प्रतीत होता है । समाज क्षेत्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या केवल यही है कि "मदेक्षनर राष्ट्रमिव" नरराष्ट्र के समान वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये । इस प्रकार उन्हीं देवनामों से आधारस्थान राज्यप्रबन्ध, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी वर्णन निकल आया । और अध्यात्म धर्मान के लिये यास्क सिखाते यही है कि 'महामाग्यादेवतानां एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एक ही महान् आत्मा की उसके महान् ऐश्वर्य के कारण नाना रूप से स्तुति की गई है ।

इसीलिये दैवनकाण्ड या ज्ञान या कर्मकाण्ड की व्याख्या कर चुकने पर स्वयं निरुक्तकर ने ऊर्ध्वगार्ग गति या उपामना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है । अथैतदनु प्रचदन्ति अथैतं महान्तमा मानमेपगर्गण प्रच दानि । इन्द्रगिमन्न चरुणामाग्नमाहुरिति । यह सब ऋचाओं का समूह उस महान आत्मा का ही वर्णन करता है । इस प्रकरण में यास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक ऋचाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है । इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पर्याय यास्क ने दर्शाये हैं—

हंस । धर्म । यश । केन । मेघ । कृमि । भूमि । विभु । प्रभु । शंभु । राशु । भुवनम् । भविष्यत् । आप । महत् । व्योम । यश । मह । स्वर्गीकम् । स्मृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गर्भारम् । गह्वरम् । कम् । अन्नम् । हवि । सन्न । सदपम् । अन्नम् । योनि । अमृतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि । रयि । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हि । नाम । सर्पि । अप । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दु । हेम । स्व । सर्ग । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हि । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप । पृथिवी । भू । स्थयभू । अन्ध । पुष्करम् । सगर । समुद्र । तप । तेजः । सिन्धु । अर्णव । नमि । वृद्ध । ऊर्ध्व । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हंस । आत्मा । भवति । अधन्यध्यानम् । यद् बाहिष्या शरीराणि । ~~अन्तः~~ च संस्क्रुते । यज्ञ आत्मा भवति । यदेन तन्वते ।

इन हंस आदि शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है । इसलिये आध्यात्म तत्त्व के खोजक को चाहिये कि वेद मन्त्र पर विचार करने के पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपास्थिति को

(२७)

देखते और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो नि सन्देह मन्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य खुल जाता है । हम सामवेद गत देवताओं की संक्षेप से एक २ की आलोचना करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार उपासनाकाण्ड में इन देवताओं की सगति लगती है ।

अग्नि (१०)

प्रथम आरनेय काण्ड है । इस काण्ड भर में अग्नि देवता का उल्लेख करके ही सब मन्त्र हैं । वह अग्नि क्या पदार्थ है । इसका विवेचन वेद के सिद्धान्त या आध्यात्मिक उपनिषदों में देखिये ।

(१) कठोपनिषद् में नचिकेता ने गुरु यम से प्रश्न किया है—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमभ्येपि मृत्यो प्र मूहि तं अश्वधानाय मह्यम् ।

आप इस स्वर्ग देने वाले अग्नि को जानते हो, मुझ अश्वधनु को उसका उपदेश करो । इसका उत्तर में यम ने कहा है ।

प्र ते प्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेन. प्रजानन् ।

अनन्तलोकास्तिमथां प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतास्तिष्ठित शुदायाम् ।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै०... । इत्यादि ।

काठ० १ । १ । १३ १४ ।

मैं तुमको उसी स्वर्ग देने वाले अग्नि का उपदेश करता हूँ । वह अनन्त लोकों को प्राप्त कराता और अनन्त लोकों का आश्रमस्थान है । वह सब लोकों का आदि मूल कारण है ।

इस अग्नि का नाम भी 'नचिकेत' अग्नि ही है ।

पाठक समझ सकते हैं यह कौनसी अग्नि है । यह नचिकेत अग्नि 'नचिकेत' प्राणस्वरूप अग्नि है ।

(२८)

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुनः लिखा है:—

अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुमृतो गर्भणीभिः (क०२।१।८)
दिवे दिव इज्यां जागृत्रद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ।

गर्भणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती है उनके समान अराणियों में जो जातवेदा विद्यमान हैं, जागने हारे हविष्मान् पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जो अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है । अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है दूसरा पदार्थ नहीं । फलतः, यज्ञोक्त मंत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है । मंत्रों का तो केवल प्रतिनिधिवाद यज्ञों में विभियोग किया जाता है । (इस उक्त मंत्र की स्पष्ट व्याख्या देखिये अवि० सं० ७६) यह वही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसका योगी लोग ध्यान निर्मथन के अभ्यास साक्षात् देख लेते हैं ।

(२) इस रहस्य को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में रखा है ।

वन्देयथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाश ॥
स भूय एवेन्धनयोनिग्राह्यस्तद्बोभयं वै प्रणवेन देहे ॥

जिस प्रकार अपने कारण भूत अराणियों ने अग्नि की मूर्ति नहीं देख सकती और न अग्नि के सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और बाद में भी उसको उसके मूलकारणभूत ईंधन से ही मथन द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार देना आत्मारूप अग्नि में भी इस देह में प्रणव के मथन में प्रकट होते हैं ।

अथाह—अत्रेहमगशि कृत्वा प्रणयं चोत्तगागशम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद्विरूढवत् ॥

अपने देह आत्मा को अधर अराणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अराणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगड २ कर ज्योतिस्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे ।

तिलेषु तैलं दधिनीव सार्षपेण. कोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽत्मानि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

तिलों में तेल, दही में घी, नादियों में जल और अराणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा भी वही वह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूतहित, अहिंसा आदि धर्म, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं ।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं ।
जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तस्मात् सविता धियः ।

अग्नेर्ज्योतिर्निवाग्य पृथिव्या अभ्यामरत् ॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में क्षिपाया था । अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि उसी प्रकार देह में आत्मा है । इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्तस्तत्प्रजापतिः ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिदुर्गमः ऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सब नाम उसी ब्रह्म परमात्मा के गुण स्वरूपके निदर्शक हैं ।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

‘अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्करे एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषो
ऽग्निर्दिवि श्रितः सोऽयं कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति ।’
(मैत्रा० ५ । १)

हृदय कमल में स्थित यह अग्नि (आत्मा) है जो अन्न खाता है और
वह मोक्षधाम, द्यौः में स्थित कालाग्नि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो
प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, लीन कर लेता है ।

एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्र प्रजापतिर्वि-
श्वसृद् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽ-
र्कः सविता धाता सन्नाड् इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना-
पिहितः सहस्राक्षेण आनन्दमयेनैष वा विजिज्ञासितव्योऽग्रे
पुन्यः । (मैत्रायणी उप० ५ । ८)

वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि
ज्योतिः अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होता है ।

शिरः पक्षसी पुच्छगृष्टयानेषोऽग्निः । - प्राणो वै वायुः
प्राणोऽग्निः । असौ वा आदित्य इन्द्रः सैषोऽग्निः ॥ ६॥ ३६॥
इन्द्रोऽग्निरिव विश्वरूपः ॥

इत्यादि स्थलों में वह परब्रह्म अग्नि शब्द से लिया गया है उपको ही

‘तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्यः’ ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है ।

। . प्रसोपनिषद् में—

“स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।”

परब्रह्म की सूर्यरूप से उपासना का वर्णन किया है ।

हम अग्नि के सम्बन्ध में और अधिक उपनिषद् वाक्यों को उठाकर लेस नहीं बढ़ाना चाहते । पाठक स्वयं हमारी दिखाई दिशा से वेदमन्त्रों के भीतर रखे हुए विशेषणों पर विचार करेंगे और यथास्थान उनका आध्यात्मिक तत्त्व जान लेंगे ।

इसके अनिरिक्त अग्नि के सम्बन्ध में एक बात यह भी लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि वेद ■ अग्नि शब्द जहां आत्मा और परमात्मा का मुख्य नाम है वहां इसी अग्नि शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा में आचार्य और शार्त्ता विद्वान् के लिये भी आता है । जैसा उपनयन पद्धति में आचार्य बालकका अञ्जलि पकड़कर जल छुवाते समय कहा करता है ।

“अग्निराचार्यस्तव असौ” । कस्य ब्रह्मचार्योसि ? भवतः ।

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्योसि । अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव ।

पार० का० २, कं० २

■ पद्धति या प्राचीन वैदिक विनियम परिभाषा—पदों के प्रयोगों की सूचना देती है । हमें उनको भी सुनाना नहीं चाहिये । इसलिये हमारा अधिक बल इस बात पर है कि विशेषणों को देखकर वेदमन्त्र के अर्थ करने चाहिये । निरुक्ताकार ने अग्नि का निर्वचन इस प्रकार किया है ।

- अग्निं फस्मादग्रणीं नवति । अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति संननमान । अक्तेऽपनो भवति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते शाकपूणिरितः दक्ताद् दग्धाद् वा नीतात् ॥

अर्थात्—अग्रणी, यज्ञ में प्रथम प्रणयन करने योग्य यज्ञाग्नि, अङ्ग या देह का लेजान वाला जीव, न गीला होने वाला विद्युत, ज्ञान प्रकाशक आचार्य और दाहक ताप ये सब अर्थ अग्नि के हैं । इन अर्थों को यथास्थान लगाना उचित है ।

(३२)

इन्द्र (११)

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है । पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक कार्ष्णिपत स्वर्गका राजा और अपनी देव कथाओं का विजाली पात्र है । परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है । आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है । जैसा इस देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धो ज-
जुषी चन्द्रसूर्यो' इत्यादि विशाल अक्षरों से किया जाता है । इसी को 'यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुनोदरम्' इत्यादि अक्षरों से उपेक्षित मन्त्र पतलाया है ।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है । इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण वेद की इन्द्रिया हैं जिनका नाम ही इन्द्र आधार पर है । पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रहृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा
(पा० ५ । २ । ६३)

इन्द्र आत्मा का शेषक लिङ्ग उसका देवा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाते हैं । हमके शक्तिरिक्त सत्य कथा कथानकों में प्रसिद्ध पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है । वह भी आलंकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा के सम्पन्न, मिद, ऐश्वर्यवान् आदि रूपों को दर्शाया है । दूसरा इन्द्र वह परमात्मा जिसका वर्णन वेद में म्यान पर आता है । जैसे 'इन्द्रो मक्षा रोदसी यप्रथ स्तुवा' (याम० उत्त० श० १६ । २ । २ ।)

अब यह तो शक भान्य में देंगे कि समस्त इन्द्र एवं इन्द्र विषयक है और उपासार्थिक में भी इन्द्र विषयक बहुसंख्य अर्चाएँ हैं ।

यहां थोड़ासा उपनिषदों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

(१) ऐतरेय उपनिषद् में—

‘स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तनमपश्यद् इदमदर्शमिती ५ तस्मा दिवन्द्रो नाम । इन्द्रो ह वै नाम तमिन्द्रं सन्तदिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षमिती हि देवाः ।

यह सुसुष्ठु इम पुरुष को ही ब्रह्मरूप सं देखता है ।

और कहता है ‘इदम् अदर्शम्’ इससे उस ब्रह्म का नाम ‘इन्द्र’ है इसका ही परोक्षरूप ‘इन्द्र’ है ।

बृहदारण्यक में—

इन्द्रो ह वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः । तं ता एन-
मिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याक्षते ४ । २ । २ ॥

दक्षिण चक्षु में द्रष्टा रूप से विराजमान आत्मा ही ‘इन्द्र’ है उसको ही ‘इन्द्र’ कहते हैं, स इन्द्रः स एषोऽसपन्नः (१ । ५ । १२), यथा द्यौरिन्द्रेण गर्मिणी (६ । ४ । २२) । इन्द्रस्यायं भजः कृतः सार्गलः सपरिश्रमः (६ । ४ । २३) इन स्थलों पर इन्द्र जीवात्मावाचक है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मेधया स्पृशोतु । (१ । ४ । १) शं न इन्द्रो बृह-
स्पतिः । (१ । १ । १) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । सामवेद उत्तरा०
अ० १ । ८) इन स्थलों पर इन्द्र परमात्मावाचक निर्विवाद है ।

यहां विवाद योग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द्र के साथ दो तीन विशेष घटनाएं प्राच जुड़ी हैं । एक तो इन्द्र का सोमपान, दूसरा इन्द्र का यज्ञ से पुर भेदन और तीसरा वृत्रहन्तन । उपनिषत्कार इनको क्या मानते हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है ।

१. सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय को अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र के विषय में गोता में व्यासदेव स्वयं भगवान् को ही "आयुधानामहं वज्रम्" सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते हैं। सब दुःखों के भवबन्धन के छेदन करने द्वारा ईश्वर ही स्वतः ज्ञानस्वरूप सबसे उच्च वज्र है।

काठक उपनिषद् में—

प्राण एजति निःसृतम् । महद् भयं वज्रमुद्यतम् ।

य तद् विदुरमृनास्ते भवन्ति । (६ । २)

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है ।

जुरिकोपनिषद् में—

मनसस्तु जुरं गृह्य सुनीक्ष्यं बुद्धिनिर्मलम् ।

इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम् ॥

ज्ञान, ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नादियों के सन्धन को ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है—

द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडिषु तैतिलम् ।

छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते ।

योगनिर्मलवारेण जुरेणानलवर्चसा ॥

छिन्देष्टाङ्गितं धीरः प्रभावादिह जन्मनि ॥

ये शत नाडी ही आयमो पुर है, जिनको कहीं ६६ या ६० भी कहा जाता है। इनमें व्यास तैतिल=अन्धकार को ही अभ्यास योगी वृत्र कहते हैं। इसका विवरण स्थान पर पाठ्य भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र और वृत्र की कथा की आनुकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि ने

आग्नेवादि भाष्यज्ञानिका में स्पष्टरूप से 'अन्यग्रामाण्याग्रामाण्यविषय' में कर दिया है । उसको पुनः बड़ा उठाकर रखना विष्टपेपण होगा ।

(१२) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है । याज्ञिक लोगों का सोम एक ज्ञाता है, जिसके रस पान करने के लिये विशेष विधि है । जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है । सर्ज की छात्र, त्रिफला, सूठ, पुनर्नवा, पीपल, गजपीपल आदि जाना धोपधियों में धान और जौ की खीरे मिला, बूटकर उनको कलश में बंद करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध, मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है । छानने और पान करने की इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता । उसमें प्रतिनिधि वाच से ही सोम की कल्पना करके सोमदेवताक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है । महीधर के काव्य सोम सौग्रामणि को देखकर वह कहना कि समस्त सोमदेवताक मन्त्र इसी सुरारूप सोम का वर्णन करते हैं यह भारी भूल होगी । ग्राह्य ऋण्यों ने यज्ञ में रखी यज्ञक्रियाओं की व्याख्या करने का यत्न किया है । उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों को मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय में वह शब्द मन्त्रों में पड़ा गया है उसको ही बड़ा खोजकर यत्न देते हैं । इस प्रकार ग्राह्य और ऋणियों के बीच से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अभ्यात्मपरक हो जाता है । यज्ञकाण्ड की खोजकर दिखाने एक उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अभ्यात्म व्याख्या कह दिखाने के लिए बड़ा स्थान नहीं और न बड़ा अवसर है । तो भी ग्राह्य

कारों ने सोम, सवन के प्रकरण — सोम के जो २ अर्थ किये हैं उनपर पाठकों का ध्यान खींचते हैं ।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४।१।३।६) राजा वै सोमः (श० १४।१।३।१०) यदाह गयांसि इति सोमं वा एतदाह (गो० ५०५।१४) सोमो वै प्रजापति (श० ५।१।५।२६) यदाह श्ये नोऽसि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्यायति । (गो० ५०५।१२) यो वै विष्णु सोम स (श० ३।३।४।२१) योयं (वायु) पवते एष सोम (श० ७।३।१।१) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजनि । (गो० ५०५।१३) एष वै यजमानो यत् सोम (तै० १।३।३।५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३।४।१) १०) सोमो वै यशः (तै० २।२।८।८) एषा कवला यत्सोमाहुति (ग० १।७।२।१०) प्राणः सोमः (श० ७।३।१।४५) रेतः सोमः (पे० १३।७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २।७।३।१) एष वै ब्राह्मणानां सभामाह सखा (श० १०।७।१।१०) इत्यादि ।

अर्थात्—सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गृध्ररूप, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु मन्त्राद, पशुपति, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परब्रह्म का लय, वीर्य और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द में लिपि जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम — स्थान — पर लिपे भी गये हैं । प्रकरणों का परिज्ञान करने के भीतर अन्य विशेषणों में जाना जायगा । यदि विशेषण कुछ अर्थ या तो और वही सोम के कुछ और अर्थ में लिपे जाते हैं वह उक्त मन्त्र — याच्य वदा अभ्यास होगा ।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उभे पथरों से कूटा जाता है और पुनः उसे दशापवित्रनामक वस्त्र [एक द्रोणकलश नामक घट में छान लिया जाता है । द्रोणकलश में जल होते हैं उनको 'वसतीधरी' नामक 'आप.' कहा जाता है । जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको वालों से बना होने [कारण 'अन्या' या 'अ-व्यय' या 'अन्या नार' शब्द से पुकारा जाता है । उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है । सामवेद के प्रायः बहुतसे मंत्रों में सोम को इम पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है । सायण ने प्रायः बहुतसे मन्त्रों में से सोम के छाने जाने परक कई अर्थ किये हैं । परन्तु हमने सायणकृत अर्थों की उपेक्षा [है क्योंकि सोमकला और कूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उसमें ऐसे विशेषणों का आना जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकते हमें सायणकृत अर्थों [न मानने के लिये बाधित करता है । उदाहरणार्थ—

जैसे—

पुमान सोम जागृविरच्या वारै. परिप्रियः ।

विप्रोऽमघोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञ मिमिक्ष यः ॥

(अवि० सं० ५१६)

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

“हे सोम जागरणशील छाना जाता हुआ [मेपी=मेड़ के वालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अगिरी में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमारे यज्ञ को अधु अर्थात् अपने रस से सींच ।

सोमरस को अवरय यज्ञ में भेड़ [वालों से बने कम्बल के टुकड़े से छाना जाता है इममें सन्देह नहीं । परन्तु उक्त मन्त्र में 'जागृवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी, 'अङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिए सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों का वाक्य बनाया गया है। जिस वाक्य के पदों में योग्यता, अकाद्या और आसक्ति तीनों हों वही वाक्य कहाता है अन्यथा उन्मत्तपलाप है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकाद्या करते हैं, क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है परन्तु सायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है, इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाक्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न भगि रसों में श्रेष्ठ है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है इसका सामर्थ्य क्या है (देखिये आलोकमान्य पृष्ठ २५७) 'अंगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके अति द्रष्टा ससर्पि हैं। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात ऋषियों को शिर के सात प्राण वतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्त्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सात मूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अंगिरा = अग के रसरूप मुख्य आसन्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अंगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान। 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रिया थक २ कर सो जाती पर प्राणआत्मा कभी नहीं सोता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, मांस न चले। वह सास चलाने के लिये उस सास प्राणरूप में जागृत रहता है, वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है, मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा (प्रिय) सबसे अधिक प्रिय और सबका पोषक है।

उपनिषद् कहती है—“न ह वा अरे जाययै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु आप्राय जाया प्रिया भवति”।

मैं भाया होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रियुन अपने लिये ये वा जाया प्रिय हैं। फलन वह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय है सोन ! सब के प्रेरक ! तू (अरथाः वार) और न पारो, अर्थात्

अवि के बाल ? भेद के बाल नहीं, प्रत्युत अवि=चितिशक्ति, जो सब अगों को रक्षा करती है, या अवि=ग्राण, उसके वरण=व्यापार प्रवृत्ति इन द्वारा (पुनानः) परिष्कृत होता [] (न. यज्ञ मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को अमृत अर्थात् चैतन्य से सींच ।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात अमंगल नहीं रह गई । हमी प्रकार साधक आत्मा के प्रति [] उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति के संचारों और ग्राण के निरोधों द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्राणिधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-धन का दर्शन करे । हममें कोई सींचातानी की बात नहीं है । स्पष्ट विशेषणों के बल से यहा सोमशब्द आत्मापरक है ।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं । महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्त्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों [] भी उल्लेख किया है ।

जैसे—

सोमः पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो अनिता पृथिव्या ।
(अवि० सं० ५२७)

सोम मतिषों का उत्पादक, सौ [] उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है । यह सत्त्वार्थ सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह सौ और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये यास्क लिखते हैं—

‘अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति’

अर्थात् ये ऋचाएं महान् आत्मा का वर्णन करती हैं । इसी को जी-वात्मापरक भी कहा गया है । लिखते हैं—

“अथाव्यात्मं।सोम आत्माऽप्येतस्मादेव।इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः।
अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ।”

अर्थात्, अध्यात्म पद में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह (मतीना) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इन प्रकार आत्मा की गति कही है।

ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां "सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।
(ऋ० ८ । ६६ । ६)

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पद में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सय रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृध्राणां', 'महिषो मृगाणां' इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "घर घराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पड़कर छन आता है" यह अर्थ हुआ और बाकी विशेषण सब असंगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

"महिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गेण कर्मणामिन्द्रियाणां । श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । गृध्राणि इन्द्रियाणि गृध्रनेर्ज्ञानकर्मणः, यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति ।"

अर्थात् मृगों में महिष अर्थात् मार्गेण करने वाली, विषयों को ढूँढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सयमेवदा और गृध्रों में श्येन अर्थात् याज्ञ, के समान, गृध्र अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में ये श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में दध, कवि, पित्र और वन ये सय नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न ७ गुण दर्शाते हैं। उनमें वह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, वह पवित्र अर्थात् इन्द्रियगण पर हा। (रेभन्) स्तब्धमान अर्थात् प्रगोषित होकर उत्तम रूप में (अयेमि) अधिक यज्ञ शाली होकर दनका भोग करता है, इस प्रकार—

‘सोमं गावो धेनवो वावशाना.० ॥ अक्रान्तसमुद्र’०
 “बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दु ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकार० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही चास्क मुनि ने माने हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

‘समुद्र आत्मा’, ‘इन्दुरात्मा’ ।

समुद्र और इन्दु दोनों शब्दों का अर्थ आत्मा है ।

जब चास्क जैसा मुनि हमें सोमदेवताक मन्त्रों को आत्मा के वर्णन में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना कायद के परम वेद सामवेद के पावमान कायद एवं सोम सूक्तों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इस विषय पर कुछ उपनिषदों के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य जिनको हम क्रम में देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदमाचैन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

“विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।”

यहाँ आत्मा को ही ‘सोम’ कहा है । इसी प्रकार—

“लोमसंक्षोऽयं भूतात्मा,”

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

“अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । तदरश्च ह वै रयश्च अर्णवो ब्रह्म लोके तृतीयस्यामितां दिवि तदैरमदीयं सरस्तदश्वत्थ सोमसवनं तदपराजिता पूर्वहाणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥”

(छा० ८ । २ । ३)

अर्थ—यह जो ‘अनाशकायन’ और ‘अरण्यायन’ कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि जुवा पर वन करके और अरण्या

(४२)

वास में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'रय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय चो, स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सर' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब आध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहा सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह ऐरंमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहा 'सर.' ताल या रसमय मोक्षपद है। वही ब्रह्मपुरी है वहा ही प्रभु ज्ञान है। यह सब आत्मकारिक वर्णन है। इसी प्रकार—

“तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन”

(छान्दो० ३। ४। १)

यहा सोम का अर्थ प्राण हैं।

“आर्द्र उद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः।”

यहा सोम का अर्थ धीर्य है। मुण्डक में “सोमात्पर्जन्यः” (१।१५) यहा सोम का अर्थ सूर्य है। “यास्ते सोम प्राणास्तां जुहोमि” (महानारायणोप० १७। ६) यहा सोम का अर्थ आत्मा है।

‘सोमं पिय वृत्रहन्’ (महानारायणोप० २०२) यहा सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। “अपाम सोमममृता अभूम” यहा आम ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्य है “सोमो भूत्वा रसात्मक ” (गीता) यहा सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी देखिये। ‘सोमपा अभयङ्कर.’ (महानारा० उप० २०। ५) यहा सोम का अर्थ समस्त समार है। उमका पालन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने हारा परमात्मा ‘सोमपा’ शब्द से कहा गया है। ‘त्रैविद्या मां सोमपाः प्रूतपापा.’ तर्जि वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष ‘सो-

मपा' शब्द से कहे गये हैं । इसी प्रकार ' इन्द्रिय सोमपीथ ' (ते० १ । ३ । १० । ३) यहाँ इन्द्रिय को सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने द्वारा कहा है । "मामित्रं साम्याहर" हे साम्य ! शिष्य ! ममिषा ले आओ । इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी साम्य कह गये हैं । ब्रह्मविद्विच भासि (छा० उप० ४ । १ । २) साम्य यहाँ भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है । उपनिषदों में साम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है । गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा । इत्यादि प्रयोग हैं ।

इसने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों को देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति में विचार करना चाहिये । विस्तारमय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मन्त्रों पर विचार करें ।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी हैं । यह उषा देवता क्या प्रदार्थ है इसका निरूपण हम इस [] पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आप्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोना है वहाँ देखें ।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है । वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है । जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्त्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है । परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने वाले भावुक ही रहे हैं, अस्तु ।

(१४) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठकों को इस भाष्य की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में भी दो एक बात कहना चाहने हैं। वेदमन्त्रों की भाष्यशैली बहुत सरल रखी गई है। जहां तक हो सका है वेद के प्रायक पद को पृथक् २ कोष्ठों में रखकर धानुज अर्थ को दर्शाते हुए मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र आदि विशेष देवता वाचक शब्दों को प्रायः यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़ने से ही उसका सरल अर्थ आप से हा आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण ग्रन्थों के उद्धरण देकर साधारण भी दर्शाया गया है। जिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उसको टिप्पणी देकर प्रमाणित भी किया गया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ अन्य वेदसंहिताओं के जहां पाठभेद टिप्पणी में दिये गये हैं वहां प्रत्येक मन्त्र के साथ अन्य वेद की प्रतीक भी देदी है।

(१५) सामवेद के प्रतीक सकेत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानास्त्री आर्चिक है। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं (१) आग्नेय काण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पवमान काण्ड और (४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड प्रपाठक में बंटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनको पांच अध्यायों में बांटा गया है। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में खण्डों का विभाग है। परन्तु अर्ध प्रपाठक के विभागों में भी दशतियों की संख्या बराबर आगे चलती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को हमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ६ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों के भी अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नहीं है। प्रयुक्त सूत्रों का विभाग है। कई संहिताओं में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की संख्या अलग २ कर दी है। इसलिये प्रायः सामवेद के मन्त्र की प्रतीक (पूर्वा०, प्र०, सदर्द०, प्र०, दग०, अ०) इस रीति से दर्शाते है।

अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ़ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आलोक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जो चक्षुष्मान् शास्त्रालोचक धीमान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दीपकालोक के समान है । वद्यपि ज्ञाना विद्यासूर्यों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक बराबर है, तो भी उनके अभाव में दीपकालोक को लोचनों के लिये पर्याप्त आश्रय है । मार्गमात्र दर्शा देने का प्रयोजन ही इस आलोक का सिद्ध हो सकता है । गभीर गुहागत तत्त्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूर्योत्तांक की आवश्यकता है । पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए हम तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन में यदि कुछ त्रुटि हो गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असंगत नहीं, प्रत्युत बालक के गिरने के समान वह भी शोभा ही है । मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विद्वान् मेरी त्रुटि देख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात हो जो मुझे नहीं ज्ञात है । उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊंगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जनाकर महानुभावता प्रकट करें । जिससे अगला संस्करण और भी गुणसम्पन्नरूप में प्रकाशित हो । और यदि केवल अपना पारिडत्य दिखाने के लिये वे, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रस्ताप करेंगे और गुणग्रहण को अपेक्षा दोषग्रहण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का बल नहीं और न उससे कोई सफल प्राप्त करेगा । हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्वतन्त्रापि ।

नहि सद् वर्त्मनागच्छन् स्वलितेऽप्यप्यपोद्यते ॥ इति शिवम् ।

केसरराज
अजमेर }

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार-
मीमांसातीर्थ

ग्रन्थ संकेत सूची

ऋग्वेद=ऋ०

यजुर्वेद=यजु०

सामवेद=साम०

अथर्ववेद=अथर्व०

पैतरेय ब्राह्मण=पे० ब्रा०

कौपीतकी ब्राह्मण=कौ०

शतपथ ब्राह्मण=श० ब्रा०

तैत्तिरीय ब्राह्मण=तै० ब्रा०

जैमिनीय तलवकार उपनिषद्=जै० उ०

गोपथ पूर्वभाग=गो० पू०

,, उत्तरभाग=गो० उ०

सायण=सा०

सत्यव्रतसामश्रमी=स० सा०

महर्षिदयानन्द=०द०

उणादि=उणा०

देवराजयज्वा=दे० य०

गीता=गी०

उपनिषद्=उप०

छान्दोग्य=छान्दो०

दुर्गाचार्यटीका=दु० टी०

निघण्टु=नि०, निघ०

निरुक्त=नि० निरु०

पडुर्विश=प०

द्वितीय संस्करण की भूमिका

वेद जैसे गम्भीर विषयो पर लिखे गये विशाल ग्रन्थों को खरीदने और पढ़ने की प्रवृत्ति जनता में बहुत कम है। इस कारण मुझे यह भी आशा नहीं थी कि इस भाष्य का द्वितीय संस्करण मुझे मेरे अपने इस जीवन में ही देखने का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु गुणग्राही सज्जनों ने मेरे प्रयास ■ बहुत आदर किया। और दो वर्ष के भीतर ही भीतर सामवेदभाष्य का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। तो भी वेद भाष्य के सहस्रों ग्राहक उसको खेने के लिये उत्सुक हो रहे हैं वे आर्य साहित्य मण्डल के कार्यालय में निरन्तर सामवेदभाष्य का तकाजा करते ही रहते हैं। इसी प्रयोजन से सामवेद भाष्य का द्वितीय संस्करण भी शीघ्र ही छापना पड़ा।

इस अवसर पर मुझे अपने सामवेदभाष्ये को पुनः दोहरा लेने का उत्तम अवसर प्राप्त हुआ। मेरे विद्वान् मित्रों ने तथा कुछ महानुभाव उदार वेदज्ञ विद्वानों ने अपने उदार स्वभाव ■ ही मेरे भाष्य की प्रकाशन, सुष्ठु, प्रूफ संशोधन आदि की नाना छोटी मोटी श्रुतियों दर्शाई थी। उसके अतिरिक्त अनेक भी श्रुतियाँ मुझे स्वयं उसमें प्रतीत हुईं उन सब श्रुतियों को इस संस्करणमें दूर करने का यत्न किया है। मैं उन मित्रों और महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने अम से मुझे मेरी श्रुतिग दर्शाकर अपनी महानुभावता प्रकट ■ है। और आगे भी समस्त विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे बराबर मुझे मेरी श्रुतियाँ और अपने विशेष २ वेद विषयक बहुमूल्य विचारों से सूचित करते रहें, जिससे उत्तरोत्तर संस्करण उनके विचारों से समृद्ध और परिमार्जित होते जायें।

केसरगंज, अजमेर
माघसुदी दशमी, १८८७ वि-

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ ।

(४८)

भूमिका विषय--सूची

		पृष्ठ
१. उपक्रम	१
२. सामवेद संहिता	...	२
३. शाखाभेद	...	३
४. साम ब्राह्मण	..	७
५. साम संहिता	..	८
६. सामवेदभाष्य	...	१२
७. सिद्धान्त दिशा विचार	..	८
८. इन्द्र	...	३२
९. सोमदेवता	...	३५
१०. देवता	...	४३
११. उपसहार	..	४४
१२. सामवेद के प्रतीक संकेत	..	४४
१३. अन्तिम निवेदन	...	४६
१४. ग्रन्थ संकेत सूची	..	४६
१५. द्वितीय संस्करण की भूमिका	...	४७

(४१)

सामवेद-सूची

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् (१—६१)

प्रथमः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	१—२६
" "	(द्वितीयोर्धः)	२६—५२
प्रथमोऽध्यायः		१—६१

ऐन्द्रकाण्डम् (६१—२३५)

द्वितीयः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	५२—१८०
" "	(द्वितीयोर्धः)	८०—१०२
द्वितीयोऽध्यायः		६१—११६
तृतीयप्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	१०२—१४४
" "	(द्वितीयोर्धः)	१२४—१४६
तृतीयोऽध्यायः		११६—१८२
चतुर्थ प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	१५०—१७७
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	१७७—२०१
चतुर्थोऽध्यायः		१८२—२३५
पञ्चमः प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२०१—२२५
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	२२५—२४३

पात्रमान काण्डम् (२३५—२६४)

पञ्चमोऽध्यायः		२३५—२६४
षष्ठः प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२४३—२७३
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	२७३—२८५

आरण्यकं काण्डम् (२६४—३२२)

षष्ठः प्रपाठकः	(तृतीयोर्धः)	२८५—३११
----------------	----------------	---------

महानाम्यार्चिकः (३२२—३२७)

उत्तरार्धिकः

११

प्रथमः प्रपाठक	(प्रथमोऽर्ध)	प्रथमोऽध्यायः	३०८
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	द्वितीयोऽध्यायः	३४७
द्वितीयः	(प्रथमोऽर्ध)	तृतीयोऽध्यायः	३६६
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	चतुर्थोऽध्यायः	३८५
तृतीयः	(प्रथमोऽर्ध)	पञ्चमोऽध्यायः	४०४
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	षष्ठोऽध्यायः	४४०
चतुर्थः	(प्रथमोऽर्ध)	सप्तमोऽध्यायः	४५८
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	अष्टमोऽध्यायः	४८६
पञ्चमः	(प्रथमोऽर्ध)	नवमोऽध्यायः	५०७
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	दशमोऽध्यायः	५३६
षष्ठः	(प्रथमोऽर्ध)	एकादशोऽध्यायः	५७१
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	द्वादशोऽध्यायः	५८४
" "	(तृतीयोऽर्ध)	त्रयोदशोऽध्यायः	६०६
सप्तमः	(प्रथमोऽर्ध)	चतुर्दशोऽध्यायः	६३६
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	पञ्चदशोऽध्यायः	६५५
" "	(तृतीयोऽर्ध)	षोडशोऽध्यायः	६७०
अष्टमः	(प्रथमोऽर्ध)	सप्तदशोऽध्यायः	६९१
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	अष्टादशोऽध्यायः	७०६
" "	(तृतीयोऽर्ध)	एकोनविंशोऽध्यायः	७३०
नवमः	(प्रथमोऽर्ध)	विंशोऽध्यायः	७६०
" "	(द्वितीयोऽर्ध)	"	७८१
" "	(तृतीयोऽर्ध)	एकविंशोऽध्यायः	७९७

योग्य, (होता^३) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान (बर्हिषि^४) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्माण्ड में (नि सत्ति) विराजमान हैं ।

[२] त्वमग्ने यज्ञानां^{१ २ ३ २ ३} होता विश्वेषां^{२ ३ १ ३} हितः^{३ २} ।

देवेभिर्मानुषे^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} जने ॥ २ ॥ अ० १ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) यज्ञों, देव उपासनाओं का (होता) स्वीकार करने वाला होकर और (देवेभिः^१) देवों, विद्वानों द्वारा (मानुषे जने) मनुष्यजनों में, यज्ञ में अग्नि के समान (हितः) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है ।

[३] अग्निं दूतं वृणीमहे^{३ २ ३ १ २} होतारं विश्ववेदसम्^{३ १ २} ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतुम् ॥ ३ ॥ अ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम (विश्ववेदसम्^१) सर्वज्ञानी, सर्वधनी, सर्वेश्वर, (होतारम्) होता, सर्वप्रद, (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ, ब्रह्माण्ड के (सुकृतुम्^२) सुकृतु, उत्तम कर्त्ता, विधाता और ज्ञाता (अग्निं) अग्नि को (दूतं^३) दूत अर्थात् उपास्यरूप से (वृणीमहे) वरण करते हैं । इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये ।

३ होता—दाता । आहूता, बुलाने वाला । ईश्वर सबको अपने पास बुलाता है । और ससार में सबको खाने और परोपकार करने के लिये पदार्थ भी देता है ।

४ बर्हिषि—बर्हि यज्ञः, अन्तरिक्षम्, उदकम्, आसन, कुज ।

२—१. देवोदानाद्वा दीपनाद्वा चोत्तनाद्वा पुस्थानो भवतीति वा । नि० ।

३—१ वेदम् वेत्तेरसुन् औणादि । विद् ज्ञाने । वेदो धन । नि० ३ । २ । १० ॥

२, ऋतु कर्मनाम । नि० २ । १ । प्रधानां च । नि० ३ । १ ॥

३ दा । दत्तेरौणादिरुक् क्तः । दूनोति गच्छति उपतपति वा स दूतः, बहुकार्य-साधको राजमृत्यो वा । द० उ० ।

[४] अग्निर्धृत्राणि जङ्घनद्वित्रिणस्युर्धिपन्यया ।

समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥ अ० ६।१६।३४ ॥

भा०—(विपन्यया) विशेष स्तुति द्वारा (द्वित्रिणस्युः^१) उपासकों के द्रव्य, वस्त्र और मन्त्रिभाव को स्वीकार करने वाला 'अग्नि', परमेश्वर (समिद्ध) चमकता हुआ, (शुक्र) शुद्ध, कान्तिमान् (आहुतः) भली प्रकार स्तुति किया या स्मरण किया हुआ (धृत्राणि^२) आत्मा को घेरने वाले पापों को, विघ्नों को और अन्धकारों (जङ्घनद्) नाश करे ।

[५] प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुपे मित्रमिव प्रियम् ।

अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ अ० ८।८४। ॥

भा०—(वः) तुम्हारे (प्रेष्ठम्) सब से अधिक प्रिय, (मित्रम् इव प्रियम्) मित्र के समान प्यारे, (अतिथिम्^१) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की (स्तुपे) स्तुति करता हूं । हे अग्ने ! प्रकाश-स्वरूप ! तू (रथं^२ वेद्यम्) रथ के समान समस्त पदार्थों को प्राप्त कराने-द्वारा, या ॥१॥ के समान अनुभव वेद्य है ।

[६] त्वं नो अग्ने महोमिः पाहि विद्वस्यां अराते ।

उत द्विपो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ अ० ८।७१।१ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप^१ (त्वं) तू (नः) हमें (विद्वस्याः) समस्त प्रकार के (अरातेः) सुख न देने वाले मनुष्य से (महोमिः)

४—१ छन्दसि परच्छाया क्यच् । द्वित्रिणसि वरुणाम (नि० २।१०) वननाम

पदनाम च (नि० २।१०)

२ रक्ष. प्रमृतीनि, तमामि वा । ता० । शत्रुकुलानि । ता० वि० ।

५—^१ अग्निम्^२ इति पाठमेकः, अ० ।

^१ अतिरिथिन्^२ अतिमिः । अम्यतितो गृहान् इति । नि० ।

उत्तम सुखसाधनों, धनो द्वारा (पाहि) पालन कर, वचा । (उत) और (द्विषःमर्त्यस्य) द्वेष करने वाले मनुष्य से भी (पाहि) वचा ।

कंजूस स्वामी जो मृत्यो और प्रजाओं का भाग उनको न दे और द्वेषी जो क्रोध या वैर से दूसरे को दण्ड दे, उन दोनों से रक्षा की प्रार्थना है ।

[७] एहधूषु प्रवाणि तेऽग्न इत्यतरा गिरः ।

एभिर्धर्द्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । २६ । २६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (एहि उ) आ । (ते) तेरे लिये (इत्या') इस प्रकार की वैदिक सत्य चाखिया और (इतरा' गिर) उनसे दूसरी तौकिक, पा देववाणी से अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में (प्रवाणि) कहता हूँ । (एभि. इन्दुभिः) इन परम ऐश्वर्यों से तू (वर्द्धासः) महिमा में बढ़ा है ।

इंश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बढ़ा है और सब वाणियों उसकी ही स्तुति करती हैं ।

[८] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।

अग्ने त्वा कामये गिरा ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ११ । ७ ॥

भा०—(वत्स') तेरे पुत्र के समान स्तुतिकर्ता उपामक (ते मन') तेरे मनन करने योग्य सत्यज्ञान से (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट स्थान में (यमन्) बंध करता, प्राप्त करता है । हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! (त्वा कामये) मैं तुझे ही चाहता हूँ ।

अन्तरात्मा में साक्षात् ब्रह्म में मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है और इंश्वर के प्रति प्रेम प्रसन्न रहना और उसे चाहता है ।

७—१ 'वत्स' इति शब्देति वदन्त्यन्त । इत्या मन्ता । मा० वि० । इत्या मन्ता

मन्तानान् इति । इत्यभिदन्त्य इत्या मन्ते इति । इत्या ।

२ इत्या न पञ्चो जन्ता । मा० वि० ।

८—१. इति गिरा । उ । उ पा० १ । ६० । २. मन एते (मन्ताः) ।

[६] न्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।

सूक्तो विश्वस्य वाचतः ॥ ६ ॥ अ० ६। १६। १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप ! (त्वाम्) तुम्हे (अथर्वा) अहिंसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् (विश्वस्य वाचतः) समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले (मूले) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च (पुष्कराद् अधि) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाले तेरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही (निर्-अमन्थत) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुम्हे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] अग्ने विवस्वदा भरासमभ्यमूतय महे ।

देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! (अस्मभ्यम्) हमारी (महे, कतये) बड़ी रक्षा के लिये (विवस्वद्) विशेष सुखपूर्वक निष्पन्न योग्य ऐश्वर्य से युक्त, गृह, यज्ञ आदिको (आभर) प्राप्त करा । क्योंकि (न.) हमारे (दृशे) देखने और मार्ग दिखाने के लिये (देव हि असि) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशति । प्रथम खण्डः ।

॥ २ ॥ आयुङ्ग्वाहिः । वामदेवः । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्दा । ५, ७ शुन शेष । ६ मेधातिथि काण्व । १० वत्स. काण्व । गायत्री छन्दः ॥

[११] नमरते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृप्यः ।

अभैरमित्रमर्ह्य ॥ १ ॥ अ० ८। ७५। १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे (देव) देव ! (कृप्यम्) मनुष्य (ते) तुम्हे (ओजसे) बल के लिये (नमः गृणन्ति) नमस्कार कहते हैं । तू

११—१. कृष्टिरिति मनुष्यनाम । नि० २। ३॥ २. ओव इति कलनाम । नि० २। ५।

(अमै.^३) यत्नों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्द्य) पीड़ित कर । भक्त भगवान् से श्राव्य मांगते और वन्दना करते हैं कि सब दण्डित हों ।

[१२] दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।

यजिष्ठमृक्षसे गिरा ॥ २ ॥ अ० ४ । १ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (विश्ववेदसम्) समस्त धनों के स्वामी, समस्त ज्ञानसंपन्न (हव्यवाहम्) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) कभी न मरने वाले, अमृत (दूतम्) दूत के समान परोपकारी सर्वोपास्य, (यजिष्ठम्) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सबसे बड़े उपास्य (व०) तुमको मैं (गिरा) वेदवाणी द्वारा (अज्जसे^१) अपने अनुकूल करता हूँ, आपकी साधना करता हूँ । अथवा हे मनुष्यो ! (व० दूत) आप लोगों के उपास्य, सर्वेश्वर, अमृत रूप देवकी वाणी से (अज्जसे) स्तुति करता हूँ ।

[१३] उप त्वा जामयो गिर्यो देदिशतीर्हविष्कृतः ।

वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १०२ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हविष्कृतः) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की (जामय, गिर) वाणियाँ, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उत्पन्न होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, (देदिशतीः) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई (वायो) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तेरे ही (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) पहुँचती हैं, तुझ में ही घटती हैं ।

[१४] उप त्वाग्ने दिवे दिवे दाषावस्तर्द्धिया वयम् ।

नमो मरन्त एमसि ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ७ ॥

३. रोगैर्मर्त्यैर्वा । मा० वि० ।

१२—१ अज्जति प्रसाधनकर्मा । नि० ४ । ३ ।

भा०—हे अग्ने ! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा^१ वस्त.) साय प्रातः, दिन रात (वयम्) हम सब लोग (विया) अपनी बुद्धि द्वारा और कर्म द्वारा (नमो भरन्त.) नमस्कार करते हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए (त्वा) तुम्हको (एमसि) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जराबोधं तद्विविडदि विशे विशे यज्ञियाय ।

स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ अ० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे (जराबोध) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! (विशे विशे) प्रत्येक प्रजा के हित के लिये (तत् विविडदि) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहाँ लोग (यज्ञियाय) यज्ञ, आत्मा योग्य हितैषी, उपास्य, (रुद्राय) दुष्टों को दण्ड करके खताने वाले तुम्ह ईश्वर के लिये (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तुति पाठ करते हैं ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाती है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन् ! आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य के उस हृदय में प्रकट हों । फलतः, ऊर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लोग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति त्वं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रह्वयसे ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ अ० १ । २८ । १॥

भा०—हे अग्ने ! तू (त्वं) उस (चारुमध्वरम्) सुन्दर, हिंसा-रहित यज्ञ भ्रमर आत्मा की (गोपीथाय) रक्षा करने के निमित्त (प्र ह्वयसे) पुकारा या याद किया जाता है । तू (मरुद्भिः) विद्वानों द्वारा या प्राणों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में (आ, गहि) प्रकट हो ।

[१७] अश्वं न त्वा चारवन्तं वन्द्या अग्नि नमोभिः ।

सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ अ० १ । २७ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (वारवन्तं अश्वं न) कष्ट निवारण के साधन रूप धातुओं से युक्त अश्व के समान (वारवन्त) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीप्तियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न और (अध्वराणां सम्राजं तं) हिंसा रहित धर्म कार्य, यज्ञों के महान् सम्राट्, उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुम्ह (अग्निं) अग्नि, प्रकाश-स्वरूप ईश्वर को (नमोभिः) हृदय के विनयों द्वारा (वन्दध्वै) वन्दना करते हैं।

[१८] और्वभृगुवच्छुचिममवानवदाहुवे ।

अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—(समुद्रवाससम्) समुद्र, आकाश में व्यापक (शुचिम्) शुद्ध (अग्निम्) अग्नि, ईश्वर को (और्वभृगुवत्, अमवानवद्) और्वभृगु पृथ्वी के गर्भगत और अमवान अर्थात् ओषधि रसों में विद्यमान अग्नि के समान (आहुवे) स्मरण करता=जानता हूँ ।

‘ और्वभृगु ’ अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह समस्त पदार्थों को अपने ताप से भर्जन करती और पकाती है । ‘ अमवान ’ अग्नि रसों और आप-वियों में शान्त भाव से रहती है और रस, अम्ल चार रूप में प्रकट होती है । उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त ध्यायक में सान्ध्य रूप में जानना चाहिये ।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मृत्यं ।

अग्निमिन्ध्वे विवस्वभि ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—(अग्निन्) अग्नि, प्रकाशदन्त्य ईश्वर को (मनसा) हृदय से (इन्धान) काप्रक्षित करता हुआ (मृत्यं) मृत्यु (धियम्) बुद्धि

अ० १। ख० ३। १] आग्नेयकाण्डम्

या कर्म को (सचेत) प्राप्त हो । (विवस्वमि) सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं (प्रतिम्) उस प्रकाशक रूप ईश्वर को (इन्द्रे) हृदय में प्रज्वलित करता हूँ ।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधार, उत्तम विद्वानों के संग से ईश्वर का ज्ञान करे ।

[२०] ^{२४}आदित्प्रत्नस्य ^{३ २ ३ १ २ ३}रेतसो ^{१ २}ज्योतिः ^{३ २}पश्यन्ति ^{३ २}वासरम् ।

^{३ ३}परो ^{३ १ २ ३ ३}यदिभ्यते दिवि ॥ १० ॥ अ० ८। ६। १० ॥

भा०—(पर. दिवि) द्यौलोक से भी परे अति अधिक दूर (यत्) जो सूर्य (इभ्यते) प्रकाशमान है । (आत् इत्) और (वासरम्) दिन को प्रकाश करने वाले जिस (ज्योतिः) सूर्य को लोग (पश्यन्ति) देखते हैं वह भी (प्रत्नस्य) अति प्राचीन आदिकाल के परम (रेतस) वीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही (ज्योतिः) तेज है ।

तस्य भासा सर्वमिदं विभ.ति । (कठ उप० २। १५)

इति द्वितीया दशतिः । द्वितीय. खण्डः ।

॥ ६० ॥ ॥ प्रयोगः । २, ५, ॥ भरद्वाजः । ६, १० वामदेव । ६, ६ वसिष्ठः । ७ विष्णु । ८ शुन शेषः । गोपननः । १० वामदेव । ११ कण्वः । १२ मेघातिथिः । १३ त्रिभिरा स्त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीप अम्बरीषः, तुन आत्तयो वा ।

१४ उग्रनाः काव्य । गायत्री ॥

[२१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २}अग्निं वोवृधन्तमध्वराणां ^{३ २ २}पुरुतमम् ।

^{३ २ ३ १ २}अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ अ० । १०२ । ७ ॥

भा०—प्रयोग ऋषि । (वः) तुम्हारे (अध्वराणाम्) यज्ञों या हिता सहित परोपकार के ऋषियों के (नप्त्रे) वन्धु, सहायक (सहस्वते) बल-

शाली, (वः वृधन्तम्) तुमको बढ़ाने वाले, (पुरुत्तमम्) सब से श्रेष्ठ, इन्द्रियों के स्वामी, अन्तरात्मा के समान (पुरुत्तमम्) और महान् लोकों के स्वामी (अभिम्) अभि परमेश्वर को (अच्छा) सब से श्रेष्ठ जानो ।

[२२] ^{३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २} अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यष्टुसद्विभ्वं न्यत्रिणम् ।

^{३ १ २ २ ३} अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ २ ॥ ऋ० ६। १६। २८ ॥

भा०—(अभि.) अभि अग्र्या राजा के समान, ईश्वर (तिग्मेन, शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेज से (विश्वम्) समस्त (अत्रिणम्) प्रजा के धन और प्राण स्वाजाने वाले दुष्टों को (नि यसत्) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है । और वही (अभि.) अभि, परसत्तापक (न) हमें (रयि) धन और सुखमय जीवन (वंसते^१) देता है,

[२३] ^{१ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्ने मृड महा अस्यय आ देवयुं जनम् ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} इयेथ वाहिरासदम् ॥ ३ ॥ ऋ० ४। ९। १ ॥

भा०—हे अग्ने । परमेश्वर तू (मृड) हमें सुखी कर । (महान् अभि) तू बड़ा है । (देवयुम्) विद्वान् और देव के प्रिय (जनं) पुरुष को (अय^१) तुन प्राप्त होते हो । और (वाहिः) यज्ञ, उपासना में (आसदम्) उपस्थित होने के लिये (इयेथ) आते हो ।

[२४] ^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अग्ने रक्षा णो अष्टुहसः प्रति स्म देव रीयतः ।

^{१ ३ ३ १ २} तपिष्ठैरजरो दह ॥ ४ ॥ ऋ० ७। १५। १३ ॥

२०—'वन्ते' इति ।

२१—'अन्यर्था' इति श्रु० ।

२४—'प्रति स्म' इति, श्रु० ।

भा०—हे (देव) उपास्य देव प्रभो ! हे (अग्ने) हे अग्ने ! स्व-
प्रकाश ! (न.) हमें (अहसः) पाप और पापी (रीषन्) हिंसक शत्रु से
(रक्ष) रक्षा कर, बचा और (अजर.) कभी हीनबल न होने वाला तू (तपिष्ठैः)
तपाने वाले तेजों वास्त्रों से उसको (प्रति दह स्म') भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युद्ध्वा हि ये तवाभ्यासां देव साधव ।

अरं वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ अ० ६ । २६ । ४३ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! (ये) जो (ते) तेरे (साधवः) साधु
स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले (अभ्यासः) अभ्यास के समान
इन्द्रिया, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको (युद्ध्वा) लगा, यागाभ्यास
में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, (आशवः) हर एक कार्य में शीघ्र सिद्धि
प्राप्त करने वाले साधक (अरम्) पर्याप्त उत्तम रूप से (वहन्ति') ज्ञान
और उत्तम ~~गान~~ के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुँचाते हैं ।

[२६] नि त्वा नक्ष्य विशपते धुमन्त धीमहे वयम् ।

सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ अ० ७ । १५ । ७ ॥

भा०—हे (नक्ष्य) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे (विशपते)
समस्त प्रजा के पति ! हे (आहुत !) सब से पुकारे और बुलाये और पाद
किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे (अग्ने) अग्ने !
(धुमन्त) प्रकाशस्वरूप (सुवीरम्) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा (वयम्)
हम (धीमहे') ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।

अपां रेतोसि जिन्वति ॥ ७ ॥ अ० ८ । ४४ । १६ ॥

२५—१ 'युद्ध्वा', 'वहन्ति मन्यव.' इति अ० ।

२६—१. 'देव धीमहि' इति ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (मूर्धा) सब का शिरोमणि,
(दिवः ककुत्) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन
करने वाला, आश्रय और (पृथिव्या पति) पृथिवी का पति स्वामी है।
वही (अपाम्) सब जोंको के (रतासि) बीजमूल समस्त स्थावर और
जगम प्राणियों को (जिन्वति) चूस करता है, जीवन देता है।

[२८] ^{३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ २ २} इमं सू पु त्वमरमाकण्डं सनि गायत्र नव्याण्डं समम् ।

^{१ २ ३ २ ३ १ १} अग्ने देवेषु प्र वोच ॥ ८ ॥ अ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (नव्यासम्) नवीन सम्पन्न
अति स्तुत्य (सनिम्) अन्न आदि के समान सेवनीय (अस्माकम्) हमारे
(गायत्रम्) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एव छन्द, ज्ञान को (देवेषु)
देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में (प्र वोच) उत्तम रूप से
कह, प्रकट कर।

[२९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} तं त्वा गोपचनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।

^{१ २ ३ १ २} स पावक श्रुधा हवम् ॥ ९ ॥ अ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! (तं, त्वा) उस पूर्व प्रकारसे स्तुत तुम्हको (गोपचन)
वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरुष (गिरा) अपनी वाणी
से (जनिष्ठ) प्रकट करता है। हे (अङ्गिर) प्रकाशस्वरूप या अगो में
रम या यज्ञ के समान विद्यमान अग्ने ! हे (पावक) मल आदि से पवित्र
करनेहार ! (स) वह तू हमारी (हवन्) स्तुतिको (श्रुधि) श्रवण कर।

[३०] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} परि वाजपति कविरग्निर्हव्यान्त्यक्रमीत् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} दधद्रत्नानि दाशुपे ॥ १० ॥ अ० ४ । १५ । ३ ॥

२८—'अस्मभ्यन्' इति नवीयसम् इति' तै० ।

२९—'य त्वा' इति अ० ।

भा०—(वाजपति.^१) बल, धीर्य, अन्न, ज्ञान का स्वामी (कवि^२)
क्रान्तदर्शी, मेधावी (अग्नि) अग्नि, परमेश्वर (दाक्षिणे) दान करनेवाले को
(रत्नानि) रमणीय पदार्थ, (दधत्) देता हुआ, (हव्यानि) हवन करने योग्य
पदार्थों और मन्त्रिपूर्वक स्तुति वचनों को (परि अक्रमात्) स्वीकार करता है ।

[३१] उद् त्वं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

दश विश्वाय सूर्यम् ॥ १२ ॥ अ० १। ५०। १ ॥

भा०—(केतवः^१) ज्ञान करने, करानेवाले श्रमियों के समान प्रज्ञा या
विद्वान्गण (सूर्य) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक
उस सविता, (जातवेदसे) सब पदार्थों के जाननेहारे या वेदों के मूलकारण
(त्वं उ) उस (देव) परमात्मा देव को ही (उद् वहन्ति) धारण करने
हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दशे) देख ले, जान ले ।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का गुरुकारण और सब प्राणियों का प्रेरक
सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सब उसको जानें और उसके दिये ज्ञान से
स्वयं भी सब कार्य व्यवहारों को जानें ।

[३२] कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।

देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ अ० १। १२। ॥

भा०—हे पुरुष ! तू उस (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सर्वज्ञ (अध्वरे
सत्यधर्माणं^१) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले (देव)
दिव्यगुणों से युक्त दाता (अमीवचातनं) हुआ सदायी रोगों का नाश करने वाले

१०—१. वाज शन्यन्ननाम, (नि० २। ७।) २. कविरिति मेधाविनाम,
(नि० ॥ १५।)

३१—१. केतुरिति प्रधानाम । नि० ३। ६ ॥

३२—१. सत्यकर्माण । मा० वि० ।

(अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (उपस्तुहि) दत्तचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

[३३] श^१ नो^२ दे^३वी^३र^३भि^३ष्ट्ये^३ श^१ नो^२ भवन्तु^३ पी^३तये^३ ।

श^{२४} यो^३ र^१ भि^२ ष्ट्यन्तु^२ न ॥ १३ ॥ अ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—(न.) हमारे लिये (देवी) दिव्य गुणों से युक्त जल (अग्निष्ट्ये) हमारे अभिन्नपित सुख कार्यों के लिये (शम्) सुखकारी, कल्याणकारी हों । (न, पीतये, शम्) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । (न.) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होकर ही (अभि-जवन्तु) सब ओर से बहें और सुखों की वर्षा करें ।

[३४] क^१स्य^२ नू^३न^३ परी^३णसि^३ त्रि^३यै^३ जि^३न्वा^३सि^३ सत्प^३ते ।

गो^१पा^२ता^३ यस्य^३ ते^३ गिर^३. ॥ १४ ॥ अ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[प्रश्न] हे (सत् पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! तुम (नूनम्) निश्चय से (कस्य) किसके (त्रियै) कर्मों और स्तुतियों और मनः सकल्पों को (परीणसि) बहुधा (जिन्वासि) पूर्य करते, स्वीकार करते हो । [उत्तर] (यस्य) जिसकी (ते गिर.) तेरे निमित्त प्रकट हुई बाणिया (गोपाता) अपनी इन्द्रियों को बश करने के लिये है ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने के लिये ईश्वर-स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं ।

इति तृतीया दशति । तृतीयः खण्डः ॥

३३—१ 'सापो भवन्तु' इति अ० । १. अभिगमाय, अभिगमन स्नानादिभि
तत्पुनरासेचनम्, । गा० वि० ।

३४—१ 'परिणस.', 'दम्पते' इति च अ० । १. परिणसि इति बहुवचन, (नि० ३ । १)

॥ ॥ १, शयुवार्हस्पत्यः ३ शयुस्तृणपाणिर्वा । ॥ भर्गः प्रागाथः । ४ वसिष्ठः ॥
५ भर्गः प्रागाथो मरद्धानो वा । ६ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ ७ तृणपाणिः । ८ विरूपः । ९
शुनःशेषः आजीगर्तिः । ८, ९ भर्गः प्रागाथोवा । १० सोमरिः काण्वः । वृत्ती ॥

[३५] यञ्चा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।

प्र प्र वयसमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिपम् ॥१॥

अ० ६। ४८। ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (च) आप लोग (दक्षसे) वत्तशास्त्री, सर्व-
शक्तिमान् (अग्नये) अग्नि परमेश्वर की (यज्ञा यज्ञा^१) प्रत्येक यज्ञ में और
(गिरा गिरा च) प्रत्येक वेदवाणी से गुण कीर्त्तन करो । (वयम्) हम भी
(अमृतं) वत्त अमृत, मृत्यु से रहित (जातवेदसम्) वेदों के एकमात्र
उत्पन्न करनेहार, सर्वज्ञ, परमेश्वर को (प्रिय मित्रं न) प्रिय मित्र के समान
(प्र शंसिपम्) कीर्त्तन करते हैं ।

[३६] पाहि नो अग्न एकया पाह्युऽरेत द्वितीयया ।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिर्कजास्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

अ० ८। ६०। ९॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (एकया^१) एक वेदरूप वाणी से (नः
पाहि) हमारी रक्षा करो, पालन करो । (अरेत) और (द्वितीयया^२) दूसरी
वेदमयी वाणी से (पाहि) पालन करो । (तिसृभिः^३) तीनों (गीर्भिः)

३५-१ सुपासुल्य इति सप्तम्याः लुक् (पा० ७। १। ३६) वीप्साया दिर्वचनम् ।

३६-१ 'अग्-लक्षण्या' इति मा०, वि० ।

२ यजुर्लक्षण्या मा० वि० ।

३, अग्न्यजुः सामलक्षणानि इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से (पाहि) पालन कर । हे (ऊर्जापते) सब अन्नों और बलों के अधिपते ! हे (वसो) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! (चतसृभिः^४) चारों वेदवाणियों से (पाहि) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान, क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् १ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय ।

[३७] यृहद्भिर्गने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।

भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ रेवत्पायक दीदिहि ॥ ३ ॥

मृ० ॥ ४८ । ७ ॥

भा०—हे (देव) ज्ञानादि गुणमग्न ! (यविष्ठ) मघ मदान् युवतम् । सब से अधिक यौवन सम्पन्न, कभी निर्धन न होने वाले, हे (शाने) प्रकाशस्वरूप हे (रेवत्) समस्त धनों के स्वामी । कान्तिमन् । हे (पायक) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले । तू (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) तेज से (भरद्वाजे) ज्ञान और बल धीरे को धारण करने वाले पुरुष में (समिधान) विशेष रूप से प्रतीत होते हुए (यृहद्भिः) अर्चियों, ज्वालाओं, तेजों से (दीदिहि) प्रकाशमान होयों ।

[३८] त्वं अग्ने स्वाहुत प्रियाम सन्तु सूर्यः ।

यन्तारा यं मघवानो जनानामूर्ध्वं दयन्त गानाम् ॥ ४ ॥

मृ० ० । १२ । ७ ॥

■ यृहद्भिः यानिगन्तानि । ॥ १० ।

३७—'यृहद्भिः शुक्रेण दयन्तारा' इति ३० ।

३८—'जनानामूर्ध्वं' इति ३० ।

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से यज्ञ में उपा-
सित । (सूरय.) विद्वान् लोग जो सबकी मति को प्रेरित करते हैं वे
(प्रियास.) प्रिय (सन्तु) हों । (यन्तार) दान करने वाले या (जनाना)
प्रजाओं को (यन्तारः) नियम व्यवस्था में रखने वाले (ये) जो (भव-
वान्) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो (गोनाम्) गौओं, इन्द्रियों और वेद-
वाणियों के (ऊर्वम्) समूह को (दयन्त.) पालन करते, वश में रखते और
औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हो ।

[३६] अग्ने जरितर्विश्वपतिस्तपानां देव रक्षसः ।

अप्रोपिधान् गृहपते महो असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥

अ० ८ । ६० । १९ ॥

भा०—हे (देव) देव ! हे अग्ने ! हे (जरित.) स्तुति योग्य या उपदेश
करनेहार ! तू (विश्वपति.) प्रजा का स्वामी है । (रक्षस.) राक्षसों, दुष्ट
पुरुषों को (तपानः) सन्ताप देता है । हे (गृहपते) ब्रह्माण्ड रूप गृह
के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान (अप्रोपिधान्) कभी भी प्रवास में न
रहने वाला, सदा विद्यमान (दिवस्पायुः) शौचलोक की रक्षा करनेहारा,
(दुरोणयुः) सत्रके गृहों या देहों की भगल कामचा करनेवाला (महान्,
असि) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विवस्वदुपसस्त्रिंशं राधो अमर्त्यः ।

आ दाशुषे जातवेदो यहा त्वमधा देवा उपवुधः ॥६॥

अ० १ । ४४ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं उपसः) तू उपा का (विवस्वत्) वास करने
योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक (दाशुषे) यज्ञादि परोपकार करनेवाले

पुरुष को (चित्रं राधः) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा । हे (अमर्त्य) मरणरहित, नित्य ! हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्वं) तू (अथ) आज (उपबुधः) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (देवान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुनः प्राप्त करा ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[४१] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांशुसि चोदय ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २

अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तु चे तु नः ॥७॥

मृ० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्वं) तू (चित्रः) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों को (नः चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर । (त्वं) तू (अस्य) इस (रायः) धन ऐश्वर्य का (रथीः) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है । और तू (नः) हमारे (तुचे) सन्तान के लिये (गाधं तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी (विदाः) प्राप्त करा ।

२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[४२] त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने आतर्कतः कवि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वा विप्रासः समिधानदीदिव आ विचासन्ति वेधसः ॥८॥

मृ० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (आतः) रक्षा करने वाले ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथा^१) सब प्रकार से विख्यात है । तू ही (आतः) साथ, ज्ञानस्वरूप, (कवि) मेधावी क्रान्तदर्शी है । हे (दीदिवः^२) देदीप्यमान, तेज स्वरूप । (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वेधसः) स्तुति करने

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावकं शंभुस्यम् ।

रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥

म० ८। ६०। ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (पावक) पवित्र करने हारे ! (नः) हमें (शंस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे । हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता ! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से [नः] हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे ।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

मघोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

म० ८। १०६ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है वा सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द्रः) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है । (अस्मै) [अग्ने] अग्नि के लिये (मघोः) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मघोः पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं ।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको अन्न देता और आनन्द देता है।

इति चतुर्थी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।



॥ ६० ॥ १ अतिष्ठो वामदेवो वा । ॥ अर्गः प्रागाथ । ३, ॥ सौमरिः काण्वः ।
॥ मनुर्वेवस्वतः । ५ सुदीतिपुस्मीद्व्यम्भा । ६ प्रस्काण्वः काण्वः । ८ मेधातिथिर्म-
ध्यातिथिश्च काण्वौ । ॥ विश्वामित्र । १० काण्व घौर ॥ वृहती ॥

[४५] एना वो अग्नि नमसोजो नपातमाहुवे ।

प्रिय चेतिष्ठमरतिष्ठ स्वध्वर विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

अ० ७।१६१॥

भा०—हे मनुष्यो ! (एना) एना (नमसा) अन्न द्वारा (ऊर्ज नपात) बल को छीन न होने देने वाले (प्रियम्) स्वयमेव उत्तम, प्यारे, (चेतिष्ठम्) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान कराने वाले, (अरति) स्वामी, (स्वध्वर) उत्तम, हिंसा से रहित, जो न मारे, न मरे, नित्य, (विश्वस्य दूतम्) समस्त ससार को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के स्वयं सताप निवारक, उपात्य और (अमृतम्) स्वयं नित्य, अविनाशी (अग्नि) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (आहुवे) स्मरण करता हूँ ।

[४६] शोभे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्त्तसि दन्धते ।

अतन्द्रो हव्य वहसि हविर्कृत आदिहवेषु गजसि ॥२॥

अ० ८।६०।१५॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (वनेषु) जंगलों में अग्नि के समान, देवों में जंग के समान, मय प्राणियों की आत्माओं में और (मातृषु)

४६—'मातृषुः', 'हव्य' इति अ० ।

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से (शेषे) प्रसृत होकर व्याप्त रहना है । (त्वा) तुम्हको (मर्त्तासः) मरणधर्मा, देहवान् प्राणि-
गण (इन्धते) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्रा) आलस्य से रहित होकर (हविष्कृतः) हवि सम्पादन करने वाले पुरुष के (हव्यं) प्रस्तुत किये ज्ञान को (वहसि) ले जाता है । (आत् इत्) और अनन्तर तू ईश्वर (देवेषु) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर (राजसि) प्रकाशित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७] अदर्शि गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उपोषु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

अ० ८। २०३। १ ॥

भा०—(गातुवित्तमो^१) समस्त मार्गों-स्रोतों को भली प्रकार जानने वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि (अदर्शि) प्रकट होता है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके बल पर दीक्षित लोग (व्रतानि^२) अपने शुभ-कर्म और संकल्पों को (आदधुः) धारण करते हैं । उस (सुजातम्) शुभ गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने वाले, (आर्यस्य वर्धन) श्रेष्ठ पुरुष की उन्नति करनेवाले (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (न. गिरः) हमारी वाणिया (नक्षन्तु^३) प्राप्त हों ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४८] अग्निरुक्थं पुरोहितो आवाणो वर्हिरध्वरं ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥३॥

अ० ८। २०४। १ ॥

४७—'नक्षन्त नो गिर' इति अ० । १. गातुरिति पृथिवीनाम् । नि० २। १।

२. व्रतमिति कर्मणाम् । नि० २। १। ३. नक्षतिर्व्याप्तिर्ता । नि० २। १८।

४८—'मरुतो ब्रह्मणस्पति देवान्' इति अ० ।

भा०—(उक्थे) उक्थ नाम यज्ञ में (अग्निः) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् (पुरोहितः) पुरोहित होता है और (अश्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (आवाणः) सोमसम्पादन के लिये, एवं ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और (बर्हिः) कुशा भी खाई जाती है । हे (मरुतः) देव-गाय, विद्वानो, प्रजाजनो, अभ्यक्ष लोगो ! हे (ब्रह्मस्पते) वेदवित्, सब विद्वानों के मुख्य ! (देत्राः) विद्वान् लोगो ! (ऋचा) ऋग्वेद के अनुसार (वरेण्यम्) सबसे अधिक वरण करने योग्य (अवः) रक्षा या शरण (यामि^१) में प्राप्त करू ।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २
[४६] अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।

३ १ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्निं राये पुरुमीडं श्रुतं नरोग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥

ऋ० ८। ७१। १४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (शीरशोचिषम्^२) सुप्त ज्योति वाले, (अग्निं) अग्नि, परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा, पावन के लिये (गाथाभिः) नाना प्रकार के वेदमंत्रों और विज्ञान कथाओं से । ईडिष्य) वर्णन कर । हे (पुरुमीडं^३) और बहुत ज्ञान सिधे ! पुरुष ! (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय (राये) धनदि विभूति प्राप्ति के लिये । (श्रुतं) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि, ज्ञानी के समान प्रभु को (नरः^४) नेता और

१ यामि इति याज्वाकर्मसु पठितम् । नि० ६। १९ ।

४९—‘अग्निं सुदीतये छर्दिः’ इति ऋ० ।

२ शीर अनुशायिनमिति वा आशीनमिति वा इति । निरु० ४। २। १४ ॥

३ हे पुरुमीड । मदीवान्तरात्मन् ! इति मा० वि० ।

४ नर इति मनुष्यनाम । नि० २। ३ । नर नराकारम् इति मा० वि० ।

५, ‘छर्दि छर्दं संदीपने’ चुरादि ।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । (सुदीतये) प्रकाश करने के निमित्त भी वह (अग्नि) अग्नि ही (छर्दिः) दीप्तिमय प्रकाश है । अथवा (छर्दिः; सुदीतये अग्निः) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०] शुधि शुत्कर्णं वह्निभिर्देवैरग्ने सयावमिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ सीदतु वहिपि मित्रा अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

अ० १ । ४४ । १३ ॥

भा०—हे (शुत्कर्ण) श्रवण करने में समर्थ, कर्णेंद्रिय से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! (शुधि) आप हमारा निवेदन सुनों । (सयावमिः) समान राति, ज्ञान से सम्पन्न (वह्निभिः) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान (देवैः) देवों साथ (मित्रः) मित्र, सबको स्नेह करने वाला (अर्यमा) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, (प्रातर्यावमिः) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित (अध्वरे वहिपि) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर (आसीदतु) विराजमान हो ।

१२५४ ३ १३२४ ३ २ ३ १ २
[५१] प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २४ ३ १२ २४ ३ १ २
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्यौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

अ० ८ । १०३ । २ ॥

भा०—(दैवोदासो अग्निः) शुक्लोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि (देवः) प्रकाशमान होकर (इन्द्रो न) चमचमाते विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना) बलपूर्वक (मातरं पृथिवी अनु) समस्त प्राणियों की माता

५०—‘आभिदन्तु वहिपि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्’ इति अ० ।

५१—‘अग्निर्देवा अक्ष’, ‘नाकस्य सानवि’ इति अ० । ‘मज्मना’ इति बहुव्र, प्रायः

गानग्रन्थेषु । १. मज्मनेति बलनाम । नि० । १ ॥

पृथिवी की ओर (प्र विवायुते) नाना प्रकार से पहुँच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और (नाकस्य) अन्तरिक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) स्थिर है ।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव वेग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में लीन होकर पृथिवी को छाये रहता है । सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनृज्' पृथिवी माता पर पहुँचते हैं । यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है ।

ईश्वर पक्ष में—(वैवोदास. अग्नि) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय विद्यमान् ज्ञानवान् (देव) स्वयंप्रकाश (इन्द्र न) विद्युत् या सूर्य के समान (मज्माना) अपने बल से [मातरम् पृथिवीम् अनु] सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर (प्र विवायुते) विशेष रूप से रहता है । और पुनः (नाकस्य) नाक, स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) विराजता है ।

[५२] अध उमो अधवा दिवा बृहता रोचनादधि ।

अया धर्दस्य तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥

श्र० ८ । ॥ १८ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अध उम) पृथिवी के नीचे (अधवा) और (बृहतः) विशाल, सब पर आच्छादित, (रोचनात्) कान्तिमान् (दिव) सूर्यमण्डल में (अधि) ऊपर भी [अया] इमी (तन्वा) रूप में (धर्द स्व) नू सर्वत्र फैला हुआ है । हे (सुक्रतो) हे सुन्दर संसार के बनाने वाले कारीगर ! (गिरा) अपना वेदमय ज्ञान-यात्री में (मम) मेरे (जाता) प्रजाजनों का (पृण) पालन कर और पोषण कर ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५३] कायमानो वना त्व यन्मातृरजगन्नपः ।

न तत्त अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद् दूर सन्निहा भुवः ॥६॥

अ० ३।९।२॥

भा०— हे अग्ने ! जीव ! (त्वं) तू (वना) वनों का, देहों का (काय-मान^१) सन्वय या कामना करता हुआ (यत्) जो (मातृ^२) माता-स्वरूप उत्पादक (अप) कर्मों को (अजगन्) प्राप्त हो गया, उनमें लग गया है । (तत्) वह (ते) तेरा (निवर्त्तन) अपने मोक्षमार्ग से अष्ट होना (न-प्र मृषे) सहन नहीं होता (यद्) कि (दूर^३ सन्) विषय वासनाओं और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी (इह) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में (आ भुवः) पुन प्राप्नुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है ।

ईश्वरपक्ष में—(वना) भोग योग्य लोकों को (कायमानः) बनाने की कामना करता हुआ (यत्) जब तू (मातृ^४ अप.) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को (अजगन्) ग्राम लेता है (तत् ते निवर्त्तनम्) उस समय तेरा निगूढ़ व्यापार (न प्र मृषे) नहीं प्रतीत होता है कि (यत् दूरे सन्) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, असंग रह कर भी (इह आभुव.) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है ।

[५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।

दीदेथ कएव ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

अ० १।३६।१०॥

६३—'इनाभय' इति अ० । १ चायु पूषानिगामनभोरिति चायतेः चोः कुत्वापस्था ।

कायमानश्चायामन कामयमान वा । निरु० ४।२।१४ ।

२, मातर इति नदीनाम् । नि० १।६३॥ ३, दु । ४ इति पदकारः ।

भा०—हे अग्ने ! (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप (त्वाम्) तुम्हको (शश्वते' जनाय) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये (मनु) मननशील पुरुष ने (निदधे) पूर्णरूप से प्रकाशित किया । ओर (यं) जिसको (कृष्टयः) मनुष्यगण (नमस्यन्ति) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू (कयव) मेधावी पुरुष के हृदय में वह (अतजातः) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान होकर (अदितः) आनन्द रस रूप में सिक्त होकर (दीदेथ) प्रकाशित हो ।

इति पञ्चमी दशतिः । पञ्चम खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्कपाठकः ।

॥ द० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठः । २, ३, ५ कण्वोऽघोरः । ४ सौमरि काण्वः । ६ चत्कील आत्कीलो वा काश्य । ८ विश्वामित्रः ॥ २ गङ्गापत्न्यतिः । ३ यज्ञ । बृहती ॥

[५५] देवो^३ वा^१ द्रविणो^३ दाः^२ पूर्णो^३ विवष्ट्वा^३ सिचि^१ चम्^२ ।

उद्वा^१ सिञ्च^२ च्चमुप^३ वा^१ पृण^३ च्चमादि^३ द्रो^३ देव^३ ओहते^३ ॥ १ ॥

श्र० ७ । १७ । ११ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारा (देवः) देव, इष्ट, भक्तिपात्र परमेश्वर (दविणोदा) सब प्रकार के द्रव्यों को देने द्वारा है । इसलिये वह (पूर्णाम्) सरी हुई (आसिचम्) सुवा को ही (विवष्टु) कामना करता है (वा) और (उद् सिञ्चच्च) स्वयं ऊपर से आहुति भरकर डालो (वा) और (उप-पृणच्च) उसको पुन भरो (आत् इ) तब शीघ्र ही (वः) तुम्हारे लिये (देवः) वह दिव्य गुण ईश्वर (ओहते') अभिलषित फल देगा ।

५४-१. शश्वद् बहुनाम (नि० ३ । १ ।)

५५-विषष्ट्यामिचम्, इति श्र० ।

१ ओहते वर्षयति । मा० वि० । वहतेरूपम् । सा० । वहतेरूपम् । मा० वि० ।

जो ईश्वर सब कुछ देता है उसके नामपर कंजुमी से दान न देकर खुले हाथ दान करना चाहिये । पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है ।

२३ १ २ ३ २ ३ २ ४२२ ३ १ २
[५६] प्रैतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु स्रुता ।

१ २ २१२ २२२ १ २ ३ २ ३ १ २

अच्छा वीरं नयं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

अ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः^१) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्म-
णस्पति (प्र पतु) हमारे पास आवे । (स्रुता) वेदवाणी (देवी) दिव्य-
गुणों से सम्पन्न (प्र-पतु) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो । (देवाः) विद्वान्
या इन्द्रियगण (नयं) मनुष्यों के हितकारक (वीरम्) वीर्यसम्पन्न (पङ्क्ति-
राधसम्) पङ्क्ति, दश से साधन योग्य या परिपक्व ज्ञान से प्राप्य (यज्ञं)
यज्ञ को (नः) हमें (अच्छा^२) मन्त्री प्रकार (नयन्तु) प्राप्त करावें ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २२ ३ २
[५७] ऊर्ध्वं ऊ पु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्वि ह्वयामहे ॥ ३ ॥

अ० १ । ३६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने । परमेश्वर तू (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा किये
(ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (पु तिष्ठ) मन्त्री प्रकार स्थिर रह । (देवः सविता
न) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप
(वाजस्य) अन्न और ज्ञान को (सनिता) देनेहारो हो । (यद्) जिस
कारण (अञ्जिभिः^१) गुणों का प्रकाश करने हारे (वाघद्भिः) यज्ञकार्य का

५६-१ ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म मन्त्रं, तस्य पतिः । ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः ।

२. अच्छा आप्तु सम्भावयितुमिति भा० वि० ।

५७-१. अञ्जिभिः त्वद्गुणप्रकाशकैः छन्दोभिः, इति भा० वि० ।

सम्पादन करने हारे विद्वानों द्वारा हम आपको (वि ह्वयामहे) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं ।

२४ ३१ २२ ३ २ ३ ॥ २ ३ १ २
[५८] प्र यो राये निनीषति मर्तो यस्तं वसो दाशत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशं॑सिन॒त्मना॑ सहस्रपोषिणम् ॥५८॥

अ० ८ । १०३ । ४ ॥

भा०—हे वसो^१ ! समस्त ससार को आश्रय देने वाले ! (य०) जो (मर्त) मरणधर्मी पुरुष (राये) अमृत धन के निमित्त (प्र निनीषति^२) तुझ तक पहुँचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है । और (य) जो (ते) तुझे (दाशत्) समर्पण करता है (स) वह हे अग्ने ! परमेश्वर (उक्थशसिनम्) वेदवक्ता (सहस्रपोषिणम्) हजारों को भरण पोषण करने वाले (वीरम्) वीर पुत्र को (त्मना) अपने सामर्थ्य से (धत्ते) धारण करता या उत्पन्न करता है ।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले याज्ञिक धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वयं विद्वान्, वेदवक्ता और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ ० ३ ॥ २ ३ १ २
[५९] प्र वो यहं पुरुषां विशा देवयतीनाम् ।

३ २ ३ ० ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २
अग्निं॑ सूक्तेभिर्वचोभिर्धृषीमहे॑ यं॑ समिदन्य इन्धते ॥५९॥

अ० १ । ३६ । १ ॥

भा०—(यं) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को (अन्य इत्) अन्य पुरुष भी (सम् इन्धते) प्रज्वलित प्रदीप्त करते, हृदय में जुगाते हैं, उस

५८—'प्र यो राये निनीषति' इति अ० । १. वासनाग्ने । सा० । २. जी प्राप्ते ।

व्याप्ति । प्रायन रचन । प्रणव प्रेम ।

५९—'वचोभिरीमहे' इति अ० । 'समिदन्य इन्धते' इति अ० ।

(देवयतीनाम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली (पुरुषाम्^१)
पालन पोषण करने में समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियो के समान (विष्णा)
प्रजाओं (यद्गम्^२) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को (सूक्तेभि)
वेद के सूक्तों द्वारा (प्रवृणीमहे) खूब अच्छी प्रकार वरण करते हैं । यहा
आत्मा और राजा का भी वर्णन है ।

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २

[६०] अयमग्निः सुवीर्यस्येशो हि सौभगस्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

अ० ३ । १६ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर और राजा (सुवी-
र्यस्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और (सौभगस्य) सौभाग्य का (हि)
भी (ईशे) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही (रायः) समस्त धनों का
(ईशे) स्वामी है । वही (स्वपत्यस्य) सुन्दर पुत्र प्रजा का (गोमत.)
गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (राय.) धन धान्य का (ईशे) स्वामी है ।
वही (वृत्रहथानां) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाल बल
और साधनों का भी (ईशे) स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६१] त्वमग्ने गृहपतिस्त्वष्टुं होता नो अध्वरे ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व पोता विश्ववार प्रचता यक्षि यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

अ० ७ । १६ । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं) तू (गृहपतिः) घर का स्वामी है. (त्व)
तू (नः) हमारे (अध्वरे) यज्ञ, हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म में (होता) यज्ञ-

१ पुरुषाणि इन्द्रियाणि । द० उ० । २. मह इति महन्नाम । नि० ३ । ३ ।

६०—'ईशेमहः' इति अ० ।

६१—'यक्षि वेपि च' इति अ० ।

मान और समस्त भोग्य पदार्थों के देने और स्वीकार करने वाला या विद्वान् दिव्य गुणों, पुत्रों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है । हे (विश्वचार) समस्त ससार के वरण करने योग्य या सब विघ्नों के वारण करनेहारे रक्षक । (त्वं) तू (पोता^१) सब कार्यों का परिशोधक, निरीक्षक, (प्रचेता) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है । तू ही (वार्यम्) सब को प्रसन्न करने वाले वरणयोग्य, श्रेष्ठ पदार्थ ऐश्वर्य को (यदि) देता है और (यासि च^२) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वीकार करता है ।

[६२] सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये ।

अपात्रपातं सुभगं सुदं ससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥८॥

ऋ० ३ । १ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (सखायः) हम सब समान रयाति वाले (मर्त्तास^१) मरणधर्मा पुरुष या इन्द्रियगण (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अपात्रपातम्^२) अप अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात्र अर्थात् अपत्य, उत्पन्न हुए महाप्राण रूप, या हम प्रजाओं को विनष्ट न होने देने वाले (सुभगं) सुख से सेवन योग्य, उत्तम ऐश्वर्यवान् (सुदंसं^३) शुभ कर्म करने वाले (सुप्रतूर्ति^४) पापियों और पापों के विनाशक, (अनेहसम्^५) क्रोध और उपद्रवों से रहित (त्वा देवं) तुझ देव को (ववृमहे) वरण करते हैं ।

१. पोता—शोधयिता । मा० वि० । २. यासि याचसे इति मा० वि० । 'सुगण सुशीदिति' इति ऋ० ।

६२-१ अपात्रपातम् । अपात्रपातत्व, यथा अन्नस्य ओषधयः । ततो रसजोऽग्निर्बिभृश ।

अयया आपोमय प्राण इति मुख्यप्राणस्यादभ्यो अन्यत्वात्तदपत्यत्वम् ।

२. दध. कर्मनाम (ति० २ । १), ३. तूर्तिर्दिमार्त्त. म्यादि ।

४. अनेहम् उपद्रवरहितं सः । अक्रोधम् । मा० वि० । एह क्रोधनाम ।

मि० २ । १३ ।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को घेरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे ।

इति षष्ठी दशति. । षष्ठः सण्डः ।

॥ ७ ॥ अग्नि-१ दयावाग्धोवामदेवोवा । २ उपस्तुनो वार्धिहव्य. । ३ गृहपति वाम-
देव्यः । ४ कुत्सः । ५, ६ भरद्वाजो वार्धिहव्यः । ७ वामदेवः । ८, ९ वसिष्ठः ।
९ त्रिशिरस्त्यागः ॥ १, २, ५, ६ त्रिष्टुम् । ७, ८ गार्ग्यौ । ९, १० त्रिपाङ्गिराह्वायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इहस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषो ! (हविषा) स्तुति और अज्ञादि द्वारा (आजुहोत)
आवरपूर्वक आहुतिये दान करो (मर्जयध्वं) सत्कार करो और सुखी
करो । (होतार) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप
(गृहपति) गृह स्वामी के समान प्रभु को (नि दधिध्वम्) अच्छी प्रकार सेवा
शुभ्रपा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो । (इह.) इला-पृथिवी यज्ञवेदी
और अज्ञादि के (पदे) स्थान पर या अवसर पर और (पस्त्यानाम्) घरों के
बीच में (रातहव्यं) हवि आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक
स्वामी की नमसा नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा (सपर्यत) पूजा सत्कार करो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४] चित्र इच्छिशोरतरुणस्य वक्षस्यो न यो मातरावन्वेति धातवे ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अनू या यदजीजनदधाचिदा घवक्षत्सद्यो महि दून्यं चरन् ॥२॥

अ० १४ । ११७ । १ ॥

६३-१. पस्त्यानि गृहाणि । नि० ३ । ४ । तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्या. । मा० वि० ।

६४-‘अप्येति धातवे’ ‘यदजीजनद’ ‘अधाचन वक्ष सद्यो’ इति पाठभेदा, अ० ।

भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—(शिशो,^१) उम शिशु रूप (तरुणस्य) तरुण अग्नि आत्मा का (इत् वक्षथ^२) भी यह वहन करने का कार्य (चित्र इत्) आश्चर्यजनक है (य) जो (धातवे) रस पान के लिये भी (मातरौ) माता पिता किसी के पास भी (न अन्वेति) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधा) बिना दूध के ही अब वह उत्पन्न हुआ (अधा चित्) तब ही (सद्य) तुरन्त (महि) बड़े भारी (द्रुत्य चरन्) दून के कार्य के समान गमनागमन करता हुआ (अववक्षत्) कार्य-भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुप्त के समान व्यापक होने से वास्तव्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये (मातरौ) मातृभूत द्यौ और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह संसार को स्वयं उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधा' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह (सद्य) निरन्तर (महि) बड़ा भारी (द्रुत्य चरन्) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस संसार को (अववक्षत्) उठा रहा है ।

३ २ ३ १ २ ॥ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४] इदं त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

संवेशनस्तन्वेऽचारुरेधि प्रियो देवानां परमेजनित्रे ॥ ३ ॥

क्र० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने ! (इदम्) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक (ते) तेरा (एकम्) एक रूप है । (पर ऊँ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशो असनीयस्य । मा० वि० । २. वक्षथ.—वहन गमनम् । मा० वि० ।

३ चित्र पूज्य । मा० वि० ।

६४—'संवेशने तन्व,' इति ऋ० ।

(ते) तेरा (एकम्) एक दूमरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके (तृतीयेन) तीसरे उत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से (संविशस्व) लीन हो । वहां (संवेशन.) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर (तन्वे) पुनः शरीर ग्रहण के लिये (चारुः) भली प्रकार गमनशील (एधि) रह, (परमे) उत्कृष्ट (जनित्रे) उत्पत्तिस्थान में (देवानाम्) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का (प्रियः) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपक्ष में—यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य आदि तेरा दूमरा रूप है । तू ही तीर्थोत्तम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर (तन्वे) जगत् के विस्तार करने के लिये भी (चारु एधि) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू (देवाना) देव, पञ्चभूतों या मुक्तात्माओं के परम उत्पादक रूप में भी उनका (प्रिय) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । “तेरा यह एक अंश शरीर इस श्मशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिला जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।”

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २
भद्रादि नः प्रमतिरस्य सं स्तोमस्य सख्ये मारिषामा वयं तव ॥४

अ० १ । ९४ । १ ॥

भा०—(अर्हते) पूजा सस्कार करने योग्य (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये (इमं स्तोमं) यह स्तुति-वाक्य हम लोग (रथम् इव) रथणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

१६६-२, रथमिव, यथा तस्मा रथ संस्वरोति तथा (सा०) । यथा रथं गमयति

तथा स्तोमं गमयेत्, इति मा० वि० ।

समान (सम्) उत्तम रीति से (मनीषया) अपनी बुद्धि से (महेम) प्रस्तुत करते हैं। (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के (संसद्) सभास्थान, संगम या सत्सङ्ग में (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति सदा (भद्रा हि) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे। हे अग्ने ! ईश्वर ! (वय) हम लोग (तव) तेरे संग (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम^२) कभी कष्ट न पावें, कभी पीड़ित न हों।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[६७] मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्यो वैश्वानरमुत आजातमग्निम्।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ ३ १ २ ३ १
कविः^१ सम्राजमतिथिं जनानामसन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥५॥

अ० ६। ७। १॥

भा०—(दिवः) शैल्लोक के (मूर्धानं) शिरोभाग और (पृथिव्या) पृथिवी के (अरतिं) स्वामी, (अते) सत्य, यज्ञ या समस्त ब्रह्माण्ड में (आजातम्) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त, (वैश्वानरम्) सब प्राणियों में व्यापक, (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) खूब प्रकाशमान सब के सम्राट्, (जनाना अतिथिम्) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य (नः) हमारा (आसन्) मुख भाग में स्थित, अर्थात् सब के प्रमुख (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही (पात्रं^१) हमारी स्तुतियों और सत्कार का पात्र वा पात्रक (देवाः^२) विद्वान् पुरुष (जनयन्त) प्रकट करते, घतकाते हैं।

२४ ३ १ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[६८] वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेमिरग्रे जनयन्त देवाः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्या जिनागिर्ववाहो जिग्युरश्वा ॥६॥

अ० ६। २४। ६॥

६७-१ पात्र पात्रार । सा० । २ देवा अस्मिन् स्तोतार । सा० ।

६८-अग्नेः पाठभेदो यथा-‘वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेमिरिन्द्रानयन्त वरी ।

त त्वाग्निं सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आग्निं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः ॥’

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-
गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग (उक्थेभिः) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा
(पर्वतस्य) पर्वत या मेघ के (पृष्ठात्) तट या एक देश से (आपो न)
जलधाराओं के समान (त्वत्) तुझ से (वि जनयन्त) नानाप्रकार के कार्य
सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं । अथवा
(देवाः) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के
समान, स्वयं प्रकट होते हैं । हे परमेश्वर (गिर्ववाह) गिरा, वाग् या वाणियों
द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य करने । (अश्वः) अश्व (आर्जि न) जिस
प्रकार संग्राम भूमि में (जिम्युः) विजय करते हैं, उसी प्रकार (सु-स्तुतयो
गिरः) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली वेदवाणिया (सं त्वा) उक्त
प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको (वाजयन्ति) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं,
तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं ॐ होतारं ॐ सत्ययजं ॐ रोदस्योः

३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

अग्निं पुरा तनयितोरचित्तादिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥

अ० १ । १ । १ । १ । १ । १

भा०—(अध्वरस्य) कमी हिस्सा का पात्र न होने वाले, कमी न मरने
वाले यज्ञ के (राजानम्) अधिपति, (रुद्रम्) घोर राजना के साथ गमन
करते हुए या पापियों के कलाने वाले, (रोदस्योः) द्यौः और पृथिवी दोनों
लोकों को (सत्ययजम्) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त
जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले (होतारं) आकाश से और पृथिवी

६९-१. रुद्रो रौतीति सन्नो, रोदस्यमाणो द्रवतीति वा । रोदस्यतेर्वा, यदस्त्वत्तद्द्रस्य रुद्रत्व-
मिति काठवम् । यदरोटीत्तद्द्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्विवम् इति नि० १० ।

१ । ५ ॥ रुद्र रोदनस्वभावः । भा० वि० ।

अन्न और जल की आहुति देने वाले (हिरण्यरूपम्) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेहारे तेजोमय (अग्नि) सूर्य के समान परमेश्वर को (अचित्तात्) चेतनारहित (तनयित्वा^२) अग्निविद्युत् से भी (पुरा) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट (अवसे) अपने स्वार्थ (कृणुष्वम्) वत्पन्न कर लो, जानो ।

३ २ ४ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०] इन्ध्रे राजा समर्थो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

नरो हव्येभिरीडते सबाध अग्निरग्रमुषसामशोचि ॥ ८ ॥

अ० ७ । ८ । १ ॥

भा०—(अर्थ.) स्वामी राजा) सब से अधिक कान्तिमान् (नमोभि.) आदर वचनों से (सम इन्ध्रे) स्वयं प्रज्वलित होता है । (यस्य) जिसका (प्रतीकम्) स्वरूप (घृतेन) घृत, स्नेह, कान्ति या पुष्टिकर पदार्थों से (आहुतं) पूरित, हरा भरा है । उस (उपसाम् अग्रम्) उपाकाज में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को (नरः) विश्वान् लोग (सबाधः) उद्देगों या प्रेशों या विघ्नों से बाधित होकर (हव्येभि.) स्तुतियों से और उत्तम पदार्थों से (ईदते) भजन करते हैं । अग्नि के पक्ष में—अग्नि अर्त्तों से प्रज्वलित होता है । लोगों से पीड़ित लोग उत्तम चद्र्यों से होमते हैं ।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदृत होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

[७१] प्र केतुना बृहता यात्यग्निरारोदसी वृषभो रौरवीति ।

३ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ ३ ३ १ २ ३ ३ २

दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपासुपस्थे महिषो वचर्द्ध ॥ ९ ॥

अ० १ । ८ । १ ॥

२ तनयितुरग्नि । सा० ।

७०—‘माग्निजम्’ इति । १ प्रतीक नाम मुख । मा० वि० ।

७१—‘दिवश्चिदन्ता उपमो उदानव्य’ इति अ० ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (बृहता) बड़े भारी (केतुना) विज्ञानमय प्रकाश के साथ (प्र याति) प्रकट होता है । (रोदसी) धौलोक और पृथिवी लोक दोनों में वह (वृषभः) सब से श्रेष्ठ, ज्ञानो और सुखों की वर्षा करने वाला (रोदसीति) शब्द करता है, उपदेश करता है । (दिवादिचद्) अन्तरिक्ष लोक के भी (अन्तात्) एक प्रान्त से उदित होकर (उपसाम्) समीप, हृदय देण में ही (उद्भानद्) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । (अपां) समुद्रों के बीच सूर्य के समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के (उपस्थे) बीच वह (महिष.) महान् सामर्थ्यवान् (यवर्द्ध) सप से यश और नाम तो बढ़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७२] अग्नि नरो दीधितिभिररयोर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २

दूरेदृशं गृहपतिमथञ्जुम् ॥ १० ॥

अ० ७।१।१॥

भा०—(नरः) नेता, अग्रणी लोग (दीधितिभि) किरणों और अंगुलियों द्वारा (अरयोः) अरणियों के बीच में (हस्तच्युतम्) हाथों के चल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान धौ आर पृथिवी के बीच अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, (प्रशस्तम्) सबसे उत्तम, निर्दोष, (दूरे दृशम्) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, (गृहपतिम्) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक, (अथञ्जुम्) गतिशील दूर तक पहुंचने वाले, व्यापक (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (जनयत) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान की बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार धौ और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर शक्तिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमो दशतिः । सप्तमः खण्डः ॥

॥ ६० ॥ अथि — १ पुष्पाविष्टिः । २, ५ वत्सप्रिः । ३ भारद्वाजः । ४, ७ विशा-
मित्रः । ३ वसिष्ठ । ८ पायुः ॥ देवता—१, २, ४—८ अग्निः । ३ सुर ॥ मिष्टुप् ॥

■ १ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७३] अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुपासम् ।

■ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ ■
यद्वा इव प्रवयामुज्जिहाना प्रभानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

श्र० ५ । १ । १ ॥

भा०—(जनानां समिधा) लोगों की लगाई लकड़ी से जिस प्रकार
(अग्निः अबोधि) सामान्य अग्निहोत्र की अग्नि (धेनुम् इव) दुधार कपिला
गाय के समान (आयतीम् प्रति उपासम्) आते हुए प्रायेक उपाकास में
(अबोधि) प्रदीप्त होती है उसी प्रकार यह (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी
आत्मा भी (जनानां समिधा) जनों के प्रदीप्त प्राणरूप काष्ठों से (प्रति उपा-
सम्) प्रति प्रातःकाल प्राणायामों द्वारा (अबोधि) चेतया जाता है । (उज्जि-
हानाः) ऊपर उड़ते हुए पक्षीगण जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्तते) शायरा
पर जाते हैं । और जिस प्रकार (यद्वा) बड़े पुरुष (वयाम् इव) व्यापक
उदारनीति की ओर बढ़ते हैं और जिस प्रकार (भानवः) सूर्य के किरण
(नाकम्) आकाश की ओर (प्रसिस्तते) व्यापते हैं, उसी प्रकार (यद्वा)
बड़े ■ शक्तिशाली आत्मा (उज्जिहानाः) उरक्रमण करते हुए (वयाम्) उम
व्यापक परमेश्वरी शक्ति ■ तरफ़ जाते हैं और (भानवः) ज्ञान प्रकाश से
प्रकाशित होकर आदित्य के समान तेजस्वी योगी मुक्तजन (नाकम्) परम
सुखमय, आनन्दमय परम पद को (प्रसिस्तते) प्राप्त करते हैं ।

■ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २ ३ ३ १ २
 [७४] प्र भूर्जयन्तं महां विषोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
 १ २ ३ २ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
 नयन्तं गीर्मेर्वनान्धियं धा हरिश्मश्रुं न धर्मणा धनर्चिम् ॥२
 अ० १२। ४६। ५।

भा०—(भू')' सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोकों को (प्र जयन्त)
 उत्तम रीति से विजय करने वाले (मूरैः) मांहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत (पुरां)
 शरीरों के (दर्माणम्) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाने वाले, (अमूर)
 स्वयं मोह रहित, (गीर्मेः) वेदवाणियों द्वारा (वर्णा) भजन करने योग्य
 (धियं नयन्तं) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, (हरिश्मश्रुं न)
 सुवर्ण के समान कान्तियुक्त फिरण वाले सूर्य के समान (धर्मणा) कष्ट
 से (धनर्चिम्) विभूतिमान् उस अग्नि को (धा') हृदय में धारण कर ।
 त्रिपुरारि, पशुपति, भूतिभृत्, त्रिलोक आदि की शिवविषयक कल्पना
 ब्रह्म के विषय में इसी मन्त्र के आधार पर हैं । हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि
 शब्दों का धात्वर्थ समान हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [७५] शुक्रं ते अन्यद्यजत ते अन्यद्विपुरुषे अहनी द्यौरिवासि ।
 २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 विश्वाहि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूरन्निह रातिरस्तु ॥३
 अ० ६। २८। १।

भा०—हे पूषन् ! अग्ने ! (ते) तेरा (शुक्रं) कान्तिमान्, प्रकाशमान्
 रूप (अन्यत्) दूसरा है । और (यजतम्) आपका मिलने वाला, उपास्य,
 शिवरूप (अन्यत्) और है । (अहनी) ये दिन और रात के समान दोनों

७४—(अ) 'मूरा' इति अ० । उपरार्थ, 'नयन्तो गर्मे वना धिय धु हिरिश्मश्रु
 नार्वाण धनर्चम् ।' इति अ० ।
 १. भूर्महण प्रदर्शनार्थ, त्रीनपीलोकान् जयन्त इति भा० वि० ।
 ७५—'स्वधावो' इति अ० ।

(विधुरूपे) भिन्न रूप के हैं । हे अग्ने ' तू (द्यौः इव असि') सूर्य के समान है । हे (स्वधावन्) अन्नपते ! प्राणपते ! जीवेश्वर ! भूतपते ! (हि विश्वा) क्योंकि तू समस्त ससार की सब प्रकार की (मायाः) मायाओं, सृष्टियों को (अवसि) पालन करता है । हे (पूषन्) समस्त संसार के पोषण करने वाले । इह (इस लोक में) तेरा (रातिः) दान (भद्रा) कल्याण और सुख के देने वाला (अस्तु) हो ।

ईश्वर ने अग्नि और सोम, प्राण और रयि दोनों से समस्त संसार को बनाया है । वह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार से बनी (माया) सृष्टियाँ हैं, उनको वही पालन करता है, यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ १ १ २ २ ३ २ २
[७६] इहामग्ने पुरुदं सं सनिहोः शश्वत्तमं हवमाना सा ॥

१ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
इथासः सनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वसे ॥४॥

क्र० । ३ । ६ । ११ ।

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! तू (हवमानाय) स्तुति भजन करने वाले पुरुष के लिये (पुरुदसम्) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, (गो सनि) गोधन, इन्द्रिय, वाणी या सरस्वती, विद्या के देने वाले, (शश्वत्तमं) चिरकाल तक (इहाम्) अन्न, ज्ञान, एवं भक्ति को (सा) प्राप्त करा । (न.) हमारा (सनुः । पुत्र (तनय.²) अगती सन्तान विस्तार करने वाला वंशधर (विजावा²) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने द्वारा (स्यात्) हो । (ते सा सुमतिः) तेरी वही शोभन मति (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) बनी ।

७६-पुरुदसम् । सा० भा० ।

१. तनय. पुत्र, तनोति विस्तारयति सन्ततिमिति । २. विजावा विविध जनयिता पुत्राणां, अनेन प्रसारेण वंशस्थाविच्छेद आशास्यते । मा० वि० ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[७७] प्र होता जातो महात्मो विन्नृषद्या सीददपां विवर्ते ।

२ ३ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १
दधद्यो धायी सु ते वयाधंसि यन्ता वसूनि विवर्ते तनूपा ॥५॥

अ० १० । ४६ । ॥ १

भा०—(यः) जो आग्नि (महान्) बड़ा, (होता) स्तुतियोग्य, जाना पदार्थों के दान करने वाला, (जमोविन्) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला (जातः) प्रकट है, वह (नृपद्या) समस्त प्राणियों में विराजमान है । वही (अपां विवर्ते ^१) अन्तरिक्ष में, समस्त प्रजाओं के भीतर भी (धायी) धारक पांषक रूप से विद्यमान है । वही (ते) तेरे लिये । वयासि) अन्नादि पदार्थ और आयु को (दधत्) धारण करावे । [तनूपाः) शरीरों की रक्षा करने वाला वह (यन्ता) सबका नियन्ता (विवर्ते) नियम से अपना कार्य सम्पादन करके वाले पुरुष को (वसूनि दधन्) नाना प्रकार के सुखसाधन देता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८] प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तिं पुष्टं स कृष्णीनामनुमाद्यस्य ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्यैव तवसंस्कृतानि वन्देदार वन्दमाना विवर्षु ॥६॥

अ० । ७ । ॥ १ ।

भा०—(असुरस्य ^१) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न (कृष्णीनां) प्रजाओं के (अनुमाद्यस्य) हर्षों और सुखों में सुखी होने वाले, (पुंस)

७७—'नृपद्या' 'अपामुपस्थे' 'दधियो' 'धायी सते' अ० ।

१ अपा विवर्तोऽन्तरिक्षलोकः । मा० वि० । २ 'धायी सुते' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुते' इत्येकपदम् । अभिसुते इत्यर्थः । पदकारस्तु 'धायी । सु । ते', इति पदद्वय चिच्छेदः ।

७८—'प्र सम्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदार वन्दमानो विवर्षिम' इति अ० । 'वन्दमानो विवर्षिम' इति स० सा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शोभा, कान्ति से युक्त स्वरूप को (प्रशस्तम्) प्रशसनीय । प्र जानीत । जानो । मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवसः^२) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किये गये (वन्दद्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों की (प्र विवष्टु) अभिलाषा करे ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६] अरयोर्निहितो जातवेदा गर्भ इवत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १
दिवोदव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

अ० ३ । २९ । २ ।

भा०—(अरयो) दो अरयियों में जिस प्रकार (जातवेदा) अग्नि (निहित) गुप्त रीति से रहता है, और (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बड़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार यो और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि, परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर व्यापक है । और (गर्भिणीभिः) जगत् की धारक शक्तियों द्वारा (इवत्सुभृत) उत्तम रूप से सुरक्षित है । (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भिः) जागने वाले, सावधान, चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भिः) इव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्येभिः) मनुष्यों द्वारा वह (अग्नि) सर्व प्रकाशक, ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्य) उपासना किया जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८०] सनादग्नेमृणसि यानुवानाश्च त्वा रक्षां षंसि पृतनासु जिग्युः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अनु दह सह मूरान् कथादो मा ते हेत्या मुक्षत दैन्याया ॥८॥

अ० १० । ८७ । १९ ।

१. असुरिति प्रज्ञानाम नि० ३ । ६ ॥ तद्वान् असुर ।

७६—'सुधितो गर्भिणीषु' इति ।

८०—'कथादो' इति अ० ।

भा०—हे अग्ने ! परसंतापकरिन् तू (सनात्) प्राचीनकाल से (पातुधानान्) दुष्ट पुरुषों को (मृणसि) पीड़ित, दण्डित करता रहा है । (पृतनासु) सेना संग्रामों में (रक्षांसि) राक्षस लोग (न त्वा) तुझको कभी भी नहीं (जिग्यु) जीत सके हैं । (मूरान्) मूढ़ (कयाद्^१) कयाद्-कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों को (सह) एक ही साथ तू (अनुदह) तेज से मसम कर डाल । वे (ते) तेरी (दैव्यायाः) दिव्यगुणों से युक्त (हेत्या) शस्त्र की धार से (मा मुक्षत) न बच पावें ।

इति अष्टमी दशतिः । अष्टमं मण्डं ॥

॥ ६० ९ ॥ १ गयन्निः । २ वामदेव । ३, ४ मरुदाजः । ५ मृक्तगहो द्वितः ।
षड्यय आनेयाः । ७, ९ गोपवनः । ८ पुरुरात्रेयः । १० वामदेवः कश्यपो वा मरीचि
मंतुर्वा नैवस्वत उभौ वा ॥ अनुष्टुप् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[८१] अग्ने ओजिष्ठमा भर शुम्नमस्मभ्यमग्निगो ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥

अ० ५। १०। १।

भा०—हे अग्ने ! (ओजिष्ठम्^१) कान्तियुक्त बलकारी (शुम्नम्) भन धान्य सुवर्ण आदि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त कराओ । हे (अग्निगो^२) अक्षय सामर्थ्यवान् देव ! (न) हमारे लिये (पनीयसे) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, एवं व्यवहार व्यापार आदि करने योग्य (राये) सम्पत्ति के लिये और (वाजाय) अश्व आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये (पन्थाम्) मार्ग, उपाय (प्र रत्सि^३) तैयार कर, हमें सुखा ।

१ कयाद् । रेफवकारयोश्छन्दसि लोपः (स०सा०)

८१—‘प्रनो राया परीणसा’ इति अ० । १ ओजो बलम् (नि० २। ९) २. अर्धत शब्दस्याग्निभावः । गमन गोः । (नि०मा०) ३. रत्न विलेखने । भ्वादि ।

१ २ ३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८२] यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्वीत मर्त्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आजुह्वद्व्यमानुवक् शर्म महीत दैन्यम् ॥२॥

अ० ५ । २ । ६ ॥

भा०—(यदि) जब पुरुष (वीर) ब्रह्मचर्य से वीर्यवान् (अनु-
स्यात्) हो तब वह (मर्त्य) मरणधर्मी पुरुष (आग्नि) ईश्वररूप अग्नि
को (इन्वीत) प्रतीत करे अपने अन्तरात्मा में जगावे और (आजुह्वक्)
निरन्तर (द्व्य) प्राणापान रूप आहुतियों को (आजुह्वत्) उसमें
ही समर्पण करता हुआ (दैन्यम्) देव परमेश्वर से प्राप्त (शर्म) सुख
और शान्ति को (महीत) भोग करे ।

जब मनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान
करे और उसमें द्व्य चर की आहुति दे ।

३ १ २ ३ १ ३२४ ३१२ २
[८३] त्वेषस्ते धूम ऋणवति दिवि सं छुक् आतनः ।

३२४ ३२४ ३ १ २ ३ १ २
सुरो न हि शुता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

अ० ६ । २ । ६ ।

भा०—हे अग्ने ! (त्वेष) कान्तियुक्त जाज्वल्यमान (ते धूम) तेरा
धूम, बल कपाने का सामर्थ्य, विभूति, मन्थु और काप (दिवि ऋणवति)
समस्त धी सूर्य रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है । वह (शुक्)
अत्यन्त शुक्लवर्ण, कान्तियुक्त होकर (आतत) सब तरफ विस्तृत है ।
(सुरो न) सूर्य के समान (कृपा) सामर्थ्यस्वरूप (शुता) क्षिति या
सामर्थ्य शक्ति से (त्व) तू (रोचसे) सर्वत्र प्रकाशित है ।

८२-१. वीर० । पुत्र । सा० ।

८३-'दिवि पञ्चुक्' इति अ०

^{१६ २६ ३१ २२ ३ १६ २२}
[८४] त्वं हि चैतवद्यग्नौ मित्रो न पत्यसे ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १६ २२}
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥ ४ ॥

अ० ॥ २।१॥

भा०—हे अग्ने ! (हि) जिस कारण से (त्वं) तू (चैतवद्) सबको निवास देने वाले (यशः) अन्न, बल (मित्र न) सूर्य के समान (पत्यसे) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है । हे (विचर्षणे) विशेषरूप से सब के दृष्टा ! (वसो) हे सबको निवास देने वाले अग्ने ! तू (श्रवः) अन्न और ज्ञान को (पुष्टिम् न) पोषण सामर्थ्य के समान ही (पुष्यसि) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है ।

^{३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}

[८५] प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।

^{२ ३ ३ १ २ ३ १६ २२ ३ १ २}

विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्त्तास इन्धते ॥ ५ ॥

अ० ५।१८।१॥

भा०—(पुरुप्रियः) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को भेरेखा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने हारा (अग्निः) अग्नि, परमात्मा और आत्मा (अतिथिः) इन शरीर या ब्रह्माण्ड रूप गृह में व्यापक है । उसका (विशः) सब प्रजापति (प्रातः) प्रातः, काल, सबसे पूर्व (स्तवेत) उपासना करें, स्तुति करें (यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें (विश्वे) समस्त (मर्त्तासः) मरणधर्मा, शरीरधारी प्राणी (हव्य) अन्न रूप हवि और स्तुति को (इन्धते) प्रदान कर प्रवर्धित रखते हैं, जीवित रखते हैं ।

६५ विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्त्येषु रेण्यति' इति अ० । 'विशे स्तवेत इति

सा० विश्वस्तवेत' स० सा०

१४ २२३ २३ १२ ३१२
[८६] यद्वाहिष्ठं तदग्रये बृहदर्च विभावसो ।

१ २ ■ २ ३ २३ ३ १ २
महिषीव त्वद्रयिस्त्वह्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे (विभावसो) हे विशेष प्रकार की काति से युक्त, धन से सम्पन्न । (बृहद्) वृ. सब से अधिक (अर्च) प्रकाशमान हो । (महिषी इव) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वद् रयि.) तुम्ह से ही समस्त धन और (त्वद् वाजाः) तुम्ह से ही समस्त अन्न (उदीरते) उत्पन्न होते हैं । इस कारण (यद्) जो (वाहिष्ठं) प्राप्त करने वा उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ भाव और अन्नादि है (तत् अग्रये) वह उस परमेश्वर के और अग्नि लिये ही है ।

३ १ ■ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७] विशो विशो वो अतिथि वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्नि वो दुर्य वच. स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व.) तुम लोग (विश विश अतिथि) समस्त प्रजाओं के अतिथि के समान पूज्य वा सब प्रजाओं में व्यापक (पुरुप्रियम्) सब के प्रिय (अग्नि) अग्नि परमेश्वर को (वाजयन्त) अर्चना करते और बढ़ाते रहते हो । मैं (शूषस्य) सुख प्राप्ति के लिये (दुर्य) गृह वा इस देह के लिये हितकारी इस (अग्नि) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक (वच.) वाणी से (मन्मभिः) मनन करने योग्य साधनों से (वः) आप लोगों के प्रति (स्तुषे) ठीक २ प्रकार से वर्णन करता हूँ ।

८६-२ महिषी यथा राजमार्गमिति । मा० वि० ।

८७-२ दुर्याः गृहाः । नि० ३ । ४ । ७ ।

उ२४ ■ ■ ३ १२ २२ ३ ७ ३ १ २
[८८] बृहद्वयो हि मानवेचो देवायाग्नये ।

३ १२ २ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥

अ० ५। १६ ॥

भा०—(मानवे) मानु, कांतिस्वरूप (देवाय) सब के प्रकाशक (अग्नये) अग्नि के लिये (बृहद्) सब से बड़ा (वयः^१) अन्नभाग या आयु का भाग (अर्च) भक्तिरूप में दे। (यं) जिसको (प्रशस्तये) उत्तम कीर्ति होने के कारण (मर्तासः) मनुष्य लोग (मित्रम् इव) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान (पुरः) सदा अपनी चक्षुओं के आगे (दधिरे) रखते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८९] अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
यः स्म श्रुतर्वभार्क्षो बृहदनीक इध्वतं ॥ ९ ॥

अ० ८। ७४। १॥

भा०—(वृत्रहन्तमं) विघ्न, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, (ज्येष्ठं) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशंसा करने योग्य, (अगन्म) मनुष्यों के हितकारी, (अग्नि) अग्नि परमेश्वर और आत्मा को (अगन्म) हम प्राप्त हों (यः) जो अभि (अर्च^१) नक्षत्र लोकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, (श्रुतर्वन्) बड़े लोकों और प्राणेंद्रियों

८८--'प्रशस्तिभिर्मर्तासो' इति ॥

८९--'अगन्म' इति ॥ 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नाक्षो अनीक पथे' इति अ० ।

१. अपति इति अक्षम् । अन्तेरौणादिक. स, । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम् ।
अपेरिन्द्रियत्वं बृहदारण्यकोपनिषदि सुस्पष्टम् सप्तर्षिब्याख्याने ।

से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त ब्रह्माण्ड में (बृहद नीकः) प्राणमय बलों और विशाल पंचभूतों से युक्त होकर (इभ्यते) प्रकाशित या जीवित, जागृत रहता है ।

। ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६०] जातः परेण धर्मणा यत्सबृद्धिः सहाभुवः ।

३ २४ ■ १ २ ३ ■ ३ २ ३ १२ २४ ३ ३
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनु कविः ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट तपस्या और सत्य और बल से (जातः) उत्पन्न या प्रकट हुआ है (यत्) क्योंकि (सबृद्धिः) अपने साथ लगे हुए कर्मचारीगण, इन्द्रियों के (सह) साथ मिलकर (आभुवः) तू सब कार्य करने में समर्थ है । यह अग्नि आत्मा (कश्यपस्य) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का (पिता) पालक है और उसकी (माता) जन्मभूमि (श्रद्धा) सत्य का धारण करनेहारी बुद्धि है और (मनुकविः) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है ।

परमात्मा के पक्ष में (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य से (यत्) जो (सबृद्धिः) साथ वर्तमान शक्तियों के साथ (आभुवः) विद्यमान है । तू (कश्यपस्य पिता) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों का पालक है । (अग्निः) प्रकाशस्वरूप, (श्रद्धा) सत्य का धारक, (माता) जगत् का कर्ता, (मनु) ज्ञानवान् (कविः) मेधावी और पारदर्शी है ।

इति नवमी दशतिः । नवमः खण्डः ।



॥ ८० १० ॥ अश्विन्तापसः । २ वामदेवः । वामदेवः कश्यपः । असितो
देवलो वा । ४ भर्गाहुतिः सोमो वा । पाशुः । ६ प्रस्कण्वः ॥

देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अश्विराः । अनुष्टुप् ॥

[६१] सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

अ० १० । १४१ । ॥

भा०—हम (सोमं) शान्तिदायक, सब अरात् के प्रेरक और उत्पादक
(राजानं) प्रकाशमान, (वरुणं) सब पापों के निवारक, (अग्निं) ज्ञान-
स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को (अनु आ रभामहे) प्रतिदिन स्मरण
करते हैं । (च) और (आदित्यं) सब रसों के ग्रहण करने वाले,
अणयक, (विष्णुं) सर्वत्र व्यापक (सूर्यं) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक,
(ब्रह्माणं) सब से महान्, ज्ञान के भण्डार (बृहस्पतिं) वेदवाणी के
स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

[६२] इत एत उदारुहन्दिबः पृष्ठान्यारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथा पथा धामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

भा०—(भूर्जयः^१) पृथिवी को विजय करने वाले राजर्षि लोग (यथा)
जिस प्रकार (पथः) मार्ग से (या ययुः) द्यौलोक, या आदित्य लोक,
या स्वर्ग को जाते हैं । इसी प्रकार (एते) ये । अंगिरस) योगी, ज्ञानी

११—‘सोम राजानमवसेऽग्निं गीर्मिह्वामहे । आदित्याम्’ इति अ० ।

१२—१. भूर्जयः भृज्जतिः पाककर्मा हनिषां प्रकारः इति सा० । भूः—जयः इति
पदकारः । भूः पृथिवी ता ये महावीराख्येनानुष्ठानेन जितवन्तः, ते इति
(मा० वि०) भूर्जयः कर्षिणः ।

लोग भी (इतः) इस लोक से (दिवः पृष्ठानि) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष से सुखों को (उत आरुहन्) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं ।

अपने धर्म के पावन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों समान लोक में जाते हैं । अथवा (भू) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परम्परा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग जिस मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं ।

[१३] राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि ।

ईद्विष्वहि मह घृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (इतः) आत्मा और मानस में आनन्द की वर्षा करने वाले प्रभो ! (त्वा) तुम्हें (महे) भारी विशाल (राये) अनुपम धन के निमित्त (दानाय) अपने को आत्मसमर्पण करने के लिये हम साधक लोग (समिधीमहि) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं । (हि) क्योंकि (द्यावापृथिवी) अौलोक और पृथिवी लोक दोनों (महे होत्राय) उसी परमेश्वर रूप कालाभि में बड़ी भारी आहुति के लिये हैं । तू भी उसी की (ईद्विष्व) स्तुति कर ।

[१४] दधन्वे वा यदीमनुचोचद् ब्रह्मेति वैरु तत् ।

परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥ ४ ॥

श्रु० ०।५।३ ॥

९१—१. होमग्रण्णन्वात्र प्रदर्शनभेम् । मा० वि० ।

२. दधन्वे धारयनि धरणेनात्र अग्न उद्गते । मा० वि० ।

०५—'अथापि येन' इति श्रु० । 'मिवाभुवत्' इति श्रु० ।

भा०—(ईम्) इस अग्नि को जप्य करके ही (दधन्वे) अध्वर्यु आदि याज्ञिक जिसको धारण करते या शिष्यगण गुरुमुख में श्रवण और स्मरण करते हैं, और वे होता या शिष्य आदि (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (अनु-वोचद्) पुनः पाठ या उच्चारण करते हैं (तत् त्) वह सब भी (वेः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का है । क्योंकि (नेमिः चक्रम् इव) जिस प्रकार लोहे का हात चक्र के चारों ओर उसको डक लेता है उसी प्रकार यह अग्नि भी (विधानि काव्यानि) समस्त विद्वानों के बनाये काव्यों, ग्रन्थों और काव्यों को (आमुवन्) व्याप रहा है । अर्थात् समस्त विश्व का साहित्य, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है ।

[६५] प्रन्यन्ते हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि ।

यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वायम् ॥ ५ ॥

अ० २० । ८७ । २५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यातुधानस्य) जिसके दुष्ट पुरुष का (विश्वतः परि) समस्त संसार पर जो (हरः) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचार-कारी बल है उसको (हरसा) दुष्ट के प्राण निकालने वाले बल, क्रोध, मन्यु से (शृणाहि) नाग ज्ञ । और (रक्षमः) दुष्ट राक्षस के (बल) बल, सेनाबल, (वीर्य) सामर्थ्य और बीज को भी (न्युब्ज) भून डाल ।

[६६] त्वमग्ने वधूं रिह रुद्रो आदित्यो उत ।

यजा स्वध्वर जनं मनुजातं घृतपुपम् ॥ ६ ॥

अ० २ । ४५ । १ ॥

१५—शृणाहि इति । विश्व वीर्यम् इति अ० ।

६—घृ करणशील्यो । जुहोत्यादिः । घृतपुपम् नैव प्रमत्तम् । भा० वि० ।

भा०— हे (अस्ते) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसुन्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठ वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रक्षाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में तु सदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आदान-विस्मरण का कार्य करनेवाले १० आदित्यों, मासों और (मनुजाते) अपने मनन सामर्थ्य से तत्कतरूप प्रकट हुए (घृतप्रुषम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वरं जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख ।

मनुष्य सब प्राणियों से इन्हीं बातों में उन्नत है कि वह १. 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २. 'वृत्तगुणम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वभरं' किसी प्राणी की प्राणार्थिता न करने वाला हो। इन तीनों गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का ज्ञान करता है और स्व-सुख्य हो जाता है।

इति दशमी ददाति । दशम दृष्ट. ॥ इति प्रथम. प्रपाठक- समाप्त. ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ १ ॥ दीर्घनामः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ शित । ६ शि-
म्विठि । ७, ८ विश्वमनु वैश्व । ९ भारद्वाज । १० विश्वामना ॥

५ पञ्चमानः । ६ अदिति ॥ उणिक् ॥

[६५] ^{३१}पुरु ^२त्वा ^३दाशिवां ^१वांसिऽरिग्ने ^{३३}तत्र ^{१२}स्विदां ^३।

३१.३ ३३४ ३१ ।
तोदस्यध शरख चा महस्य ॥ १ ॥ अ० १। १५० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने द्वारा (अरि^१) ईश्वर है । अतः मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ घोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूँ । और (महस्य) बड़े (तोदस्य इव^२) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरण्ये आ) शरण्य में आता हूँ ।

[६८] प्रहात्रं पूर्वे^{१२,२१} चर्चाग्नेये^{३४} भरता बृहन्^{३१,२} ।

विषां^{३१२} ज्योतीषि^{१२,३} विभ्रते^{६,२३} न वेद्यसे^{३,३} ॥ २ ॥ अ० ३१ ख० १०।५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरामल^३ प्रलय काल के अवसर पर आहुति कर लेने वाले, (विषा) विद्वानों के (ज्योतीषि) ज्ञान और महाचर्चादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विष्णु आदि प्रकाशों को (विभ्रते) धारण करनेहार (वेद्यसे न^३) सब के त्रिधाता के समान, सब के उत्पादक (आग्नेये) उम ईश्वररूप अग्नि^३ लिये (बृहत् वचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त वाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेग कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो, कराओ ।

[६९] अग्ने^३ वाजस्य^{१०} गोमतं^३ ईशानः^{१०,३,१,२} सहस्रो यदो ।

अस्मे^३ देहि^१ जातवेदो^२ माइ^३ ध्रुवः^{२,३,१,२} ॥ ३ ॥ अ० ११ ख० १७।४ ॥

१ अरिमित्र शृच्छतेः । ईश्वरोप्यरितस्मादेव निरु० (५।२।२।)
अरिरीदवर इति मा० वि० । सेवक इति सा० । २, तोदः गृहस्थः इति
मा० वि० ।

६८—१. वेमा उमद्विधाता परमेस्वरः आदित्यादीनि ज्योतीषि करोति इति सा० ।

११—'अस्मे देहि' इति अ० ।

भा०—हे (अपते) प्रभो ! तू (इह) इस ससार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठ वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रक्षाने वाले, या मृतों को अन्तकाल में तु सदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आश्विन-विसर्गों का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजाते) अपने मनन सामर्थ्य से उन्नतरूप में प्रकट हुए (धृतगुणम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण, या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वर जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (पज) अपनी संगति में रख ।

मनुष्य सब प्राणियों से इन्हीं बात में उन्नत है कि वह १, 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २, 'धृतगुणम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वर' किसी प्राणी को प्राणहिंसा न करने वाला हो । इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के सग का लाभ करता है और नष्ट-गुण्य हो जाता है ।

इति दशमी दशतिः । दशम कण्ठ ॥ इति प्रथमः प्रपाठः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ १ ॥ १ दीर्घमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ जिनः । ॥ ३ रि-

म्विदिः । ७, ८ विश्वमनु नेयम् । ९ आरदान । १० विश्वमना ॥

७ पवमानः । ८ अदिति ॥ उष्णिक् ॥

[६७] ^{३ १ २} पुरु ^{३ १} त्वा ^{३ ३} दाशिचां ^{३ ३} चाचैऽरिरग्ने ^{३ १ २} तव ^{३ २} स्विदा ।

^{३ १ २} तोदस्येव ^{३ १ २} शरणं आ महस्य ॥ १ ॥ अ० १ । १५० । ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने द्वारा (अरिः^१) ईश्वर है । अतः मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ वोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूँ । ~~वि~~ (महस्य) बड़े (तोदस्य इव^२) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूँ ।

[६२] ^{१२ १४ ३४ ३ १ २ ३ २} प्रहन्नि पूव्ये वचाग्नेये भरता बृहन् ।

^{३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२} विषां ज्योतीषि विभ्रते न वैवसे ॥ २ ॥ अ० ३ । १० । ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काळ में अवसर पर अह्नि करने वाले, (विषां) विद्वानों के (ज्योतीषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विष्णु आदि प्रकाशों को (विभ्रते) धारण करनेहार (~~वैवसे~~ न^३) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (आग्नेये) उम ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् वचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त प्राणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश ~~आ~~ औरों ~~आ~~ पहुंचाओ, अध्ययन करो कराओ ।

[६६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यधो ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अस्मे देहि जातवेदो माह अचः ॥ ३ ॥ अ० १ । १७ । ४ ॥

१ अरिमित्र अन्धोः । ईद्वरोप्यरितस्मादेव निरु० (५ । २ । २ ।)

अरिरीश्वर ~~वि~~ मा० वि० । सेवकः इति सा० । २. तोदः गृहस्थः इति मा० वि० ।

६२—१. वेधा उमद्विधाना परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतीषि करोति इति सा० ।

१९—‘अस्मे देहि’ इति अ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (गोमत्तः) पशु, रश्मियों और इन्द्रियों तथा वेदवाणियों से सम्पन्न (वाजस्य) अन्न, धन, ज्ञान और वीर्य का (ईशान) स्वामी है । (सहस्रो यद्गो) बलपूर्वक प्रकट होने वाले, महान्, (जातवेद) सर्वज्ञ, सर्वेश्वर देव ! (अस्मे) हमें (महि) बहुत उत्तम (अन्नः) अन्न, धन, कीर्ति और ज्ञान का (देहि) दान कर ।

[१००] अग्ने यजिष्ठो अश्वरे देवान् देवयते यज ।

१ ३ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ १२ ॥ ५ ॥ अ० ३ । १० । ७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! तू (यजिष्ठः) सब से अधिक यजन-शील, दानी, संगतिकारक है । तू (अश्वरे) पुण्य दानादि कार्य में (देवयते) विद्वानों और देव, ईश्वर की कामना करते हुए पुरुष के लिए (देवान्) विद्वानों को (यज) एकत्र कर, परस्पर संगति करा । तू स्वयं (होता) सब को दान देने और लोगों को आह्वान करने वाला, (मग्दः) सब को प्रसन्न करने वाला होता हुआ (सिध) शत्रुगण से (अति वि राजसि) अतिक्रमण करके विशेषरूप से उन पर शासन करता है, उन पर विराट् होकर रहता है ।

[१०१] जज्ञानः सप्त मातृभिर्मधामाशासत श्रिये ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ॥ ५ ॥ अ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (भुव) निम्न, कमी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभिः) सात माताओं, सृष्टि के निर्माता पाच भूत, महत् आदिकार

१०१—'जज्ञान सप्तमातरः', 'विधामशासत' 'चिकेतयत्' इति अ० 'अचिके-
नयत्' इति । सा० ।

■ सप्तमातरः—मत्त छन्दासि 'सप्त होत्रा' सप्त सोमरूपा, ३१८
(मा० वि०) ।

इनसे (जज्ञान) सृष्टि को प्रकट करता हुआ (श्रिये) अपने विभूतिरूप शोभा या आभय के लिये (मेधाम्) उत्तम धारणा शक्ति पर (आशासत) वश करता है। वही परमेश्वर (रयीणां) समस्त ऐश्वर्यों को (आचिकेतम्) भली प्रकार से जानता है।

साध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ (श्रिये) अपने कल्याण के लिये (मेधाम् आशासत) मेधा बुद्धि को धारण करता है। (रयीणाम्) सब प्राणों के वीर्यों को जानता है।

सप्त मातरः—सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण हैं जिनको उपनिषत्कार सात ज्वाला, सात अपि, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वह्नि आदि नामों से पुकारते हैं। (नासिकेत) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ कायद नहीं होता। 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्'। का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम संस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं।

[१०२] ^{३ २४} ^{३ १} ^{२ ३ १} ^{३२} ^२ उन स्या नो दिवा मतिरदितिरुत्त्यागमत् ।

^{१२} ^{२ ३ १ २} ^{३ २ ३ १ २} सा शंताता मयस्करदप सिधः ॥६॥ अ० ८। १८। ७ ॥

मा० —(उत स्या) और वह (अदितिः^१) कभी खण्डित न होने वाली, एव, ईश्वरीय बलवती, सत्य, (मतिः) मननशक्ति, (दिवा) प्रतिदिन (उत्त्या) हमारी रक्षा के लिये (न आगमत्) हमें प्राप्त हो। (सा) वह (शंताता) शान्ति उत्पन्न करने वाली (मय. करत्) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे। और (सिधः^२) शत्रु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१००—'शन्नाति.' 'उत्त्या' इति पाठभेदौ। 'सुधः', 'सिधः' इति पाठभेदौ।

१. मकलप्रपञ्चधारणेन्द्रदीना इतिस्कन्दस्वामी। अदितिर्देवमाता (मा०वि०)

२. सिधैर्वाधनार्थः (सा०)

बाध होना सम्भव है, ऐसे अम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह (अप) दूर करे ।

[१०३] ई^१डि^२ष्वा^३ हि^१ प्र^२ती^३व्या^२श्रिय^२ज^३स्व^२ जा^२तवे^३दस^१म् ।

च^३रि^१ष्णु^२ धू^२म^३म^२गृ^३भी^२तशो^३चि^२शम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—(जातवेदसं) पदार्थों का ज्ञान करने वाले (चरिष्णु) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों के सम्पन्न, (धूमम्) सबको कंपाने वाले, सब के प्रवर्तक, (अगृभीतशोचिषम्) अप्रतिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न बुझने वाले, अमर, (प्रति-व्यां) प्रत्येक देह या पदार्थ के व्यापक-आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू (ईडिष्व हि) उपासना किया कर और (यजस्व) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर ।

[१०४] न^१ तस्य^२ मायया^३ च^१ न^२ रि^३पु^२री^३शी^२त^३ म^१र्त्यः^२ ॥

यो^३ अ^१ग्नये^२ द^३दा^२श^३ हव्य^२दा^३तये ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । २५ ॥

भा०—(व.) जो पुरुष (हव्यदातवे) ज्ञानदाता (अग्नये) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने को (ददाश) समर्पण कर देता है (तस्य) पुरुष का (रिपुः) शत्रु (मर्त्यं चन) मनुष्य भी (मायया) बुद्धि द्वारा (न ईशीत) कभी उस पर वश नहीं कर सकता ।

[१०५] अप^३ त्यं^१ वृ^२जिन^३ रि^२पु^३ स्ते^२नम^३ग्ने^२ दुरा^३ध्यम्^२ ।

द^१वि^२ष्टमस्य^३ स^२त्पते^३ कृ^२धी^३ सु^२गम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३—'प्रतीव्यं' इति श्रु० ।

१०४—'हव्यदातिभिः' इति श्रु० ।

भा०—हे (सत्पते) सत्पुरुषों के प्रतिपालक ! (त्व) उस (वृजिनं) पापशील, त्याग करने योग्य (रिपुं) हिसक, शत्रु, (स्तेनं) चोर, (दुरा ध्यम्) दुःख से बश करने योग्य, (दविष्टं) हृदय से दूर, द्वेषी पुरुष को (धृप-अस्य) दूर कर । और हमारे लिये उसको (सुग) सुखसे बश करने योग्य (कृधि) बना दे ।

[१०६] ^{३ १ ३ १ २ ३ १ २} श्रुष्टयन् नवस्य मे स्तोमस्य वीर विरपते ।

^{३ १ ३ १ २ ३ १ २} नि माग्निस्नपसा रक्षसो दह ॥१०॥ अ० ॥ १३ । १४॥

भा०—हे (वीर) वीर्यवान् ! हे विरपते ! प्रजा के पालक ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (मे) मेरे (नवस्य) नूनन (स्तोमस्य) स्मृति को (श्रुष्टी) अव्यक्त करके (माग्नि-) माया, छल कपट आदि से युक्त, मायावी (रक्षसः) राक्षसों और दुष्ट भावों को (तपसा) अपने तेज से (नि दह) सर्वथा भस्म कर ।

इति प्रथमा दशति. । इति एकादशः खण्डः

—१०७—

॥ ६० २ ॥ १-४ प्रयोगो भार्गव. सौमरि. काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७

सौमरि. । ८ विश्वमजाः वयम् ॥ कठुप् ॥

[१०७] ^{१ २ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र मेष्ठाय गायत कृताब्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।

^{३ १ २ ३ १ २} उप स्तुतासो अग्नये ॥१॥ अ० ८ । १०३ । ८ ॥

१०६—'तपसा' इति अ० ।

१०७-१. श्रुष्टि इति स्वात्स्यादभेति निगतिः । वलोपरछान्दसः ।

भा०—(महिष्ठाय^१) सबसे अधिक दानशील (ऋताग्ने) यज्ञ करनेहारे, सत्यमय, (बृहते) महान्, (शुक्रशोचिषे) देदीप्यमान, कान्ति से युक्त (अग्नये) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे (उप स्तुतासः^२) स्तोतागण^१ (पगायत) उत्तम रूप से कीर्तन करो ।

[१०८] प्र सो अग्ने तवोतिभि सुवीरभिस्तरति वाजकर्मभिः ।

यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥ ऋ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! (यस्य) जिसके (त्वम्) तू (सख्यम्) मैत्रीभाव को (आविथ) प्राप्त कर देता है (स) वह (तव) तेरे (सुवीरभि) उत्तम शक्तिसम्पन्न, (कतिभिः) रक्षासाधनों द्वारा और (वाजकर्मभि) अश्व के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से (तरति) सब विघ्नों को पार कर जाता है ।

[१०९] तं गूर्वेया म्वयंरं देवासो देवमरति दधन्विरे ।

देवत्रा हव्यमूदिषे ॥३॥ ऋ० ८ । २५ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (तं) उस (स्व-गरं) सब के नेता अथवा उस सुखस्वरूप, मार्गमार्ग के पथदर्शक, परम (देवम्) की (गूर्वेय) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर । (देवास) देव-विद्वान् लोग इन्द्रिया या पंचमूत (देवम्) प्रकाशमान देव को (अरति^१) सर्वज्ञ या अति

१०८—'सुवीरभिस्तरते वाजकर्मभिः' इति ॥

'सख्यमाविथ' इति ऋ० । 'माविरे' इति स० सा० ।

वाजकर्मभिः इति पाठ शुद्धः, साम्नो 'वाजकर्मभिः' इत्याम्नानात् (अनु०)

१०९—'गूर्वेया', 'हव्यमोहिरे' इति ॥

१ अरतिम् अलंयति सर्वज्ञमिति मा० वि० ।

प्रीतिमान् स्वामी (दधान्विरे) स्वीकार करते हैं । वह (देवता) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वान्, पञ्चभूतों और इन्द्रियों में (दृश्यं) उनके भीतर शक्ति ज्ञान और भाग्य पदार्थों को (उद्दिष्टे) पहुँचाता है ।

[११०] मा नो हृणीथा अतिथि वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।

यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥ अ० ८। १०३। १२ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (नः) हमारे (अतिथिः) अतिथि के समान पूजनीय देव के प्रति (मा हृणीथा) क्रोध या अनादर मत कर । (एष) यह (पुरु-प्रशस्तः) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करने योग्य है । वह (वसु) वास देने योग्य सबके भीतर बसने वाला और सबको समाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश सम्पन्न है । (यः) जो (सुहोता) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और (स्वध्वरः) उत्तम हिंसा रहित कार्य का अनुष्ठाता, पातक है ।

[१११] भद्रा नो आग्निराहुता भद्रा रातिः सुभग भद्रा अध्वरः ।

भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ अ० ८। ११। ११ ॥

भा०—(नः) हमारा (आहुतः) भली प्रकार उपासित, (अभिः) परमेश्वर (भद्रः) हमारे कल्याण के लिये । (सुभग) उत्तम ऐश्वर्य-वान् भवने । परमेश्वर ! (रातिः) हमारा दिया दान । (भद्रा) कल्याण-कारी सुखकारी हो । हमारा (अध्वरः) हिंसा रहित कार्य, यज्ञ भी (भद्रः) कल्याणकारी, सुख शान्ति और ऐश्वर्य का दायक हो, (उत) और (प्रश-स्तयः) हमारे सकीर्तन आदि भी (भद्रा) कल्याणकारी सुखप्रद हों ।

११०—‘मा नो हृणीतामतिथिर्वसु’ इति अ० १. मा हृणीथा. मा क्रोत्सी इति । मा०

वि० । इति क्रुञ्चतिकर्मा । नि० २ । १२ ॥

[११२] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देव देवत्रा होतारभमर्त्यम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्य यजम्य सुकृतुम् ॥६॥

अ० ८ । १३ । ३ ॥

भा०—(यजिष्ठं) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य (देवत्रा देवे) देवों के देव, (होतारम्) सब पदार्थों के दाता, (भमर्त्यम्) अविनाशी मरणरहित, (अस्य यजम्य) इस जीवनयज्ञ के (सुकृतुम्) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे (त्वा) तुम को (ववृमहे) हम वरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

[११३] तदग्ने शुभ्रमाभर यत्सासाह सवने कञ्चिदग्निणम् ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मन्यु जनस्य दूष्यम् ॥७॥

अ० ८ । १३ । १४ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (तद्) वह (शुभ्रम्) अन्न, धन, ज्ञान और बल (आभर) हमें प्राप्त करा, जो (सवने) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में (कञ्चिद्) हर किसी प्रकार के (अग्निणम्) पापभोगी, जोर, (जनस्य मन्यु) सर्वसाधारण प्राणियों के क्रोध के पात्र (दूष्यम्) दुष्ट पुरुष को (सासाह) दशामके ।

[११४] यद्वा उ विश्वपतिः शितः सुभोतो मनुष्यो विश्वे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वेदग्निः प्रति रक्षासि सेधति ॥८॥ अ० ८ । १३ । १५ ॥

भा०—(यद्वा उ) जब भी (शित) मन्यु और न्याय युक्त व्यवस्था के संग होने पर तीक्ष्ण हुआ (विश्वपति) प्रजाओं का पालक,

११३—‘यत्सासाहम्भने’ ‘जनस्य दूष्यम्’ इति अ० । ‘दूष्यम्’ इति च स० सा० ।

१. दूष्य-दुर्भिय पापधिय. नि० ५ । ४ । ५ ॥

११४—‘मनुष्यो विश्वे’ इति अ० ।

प्रभु (मनुष्यो, विशे) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त (सुप्रति) प्रसन्न, दत्तचित्त होता है, तब (अग्निः) अग्नि स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह (विश्वा इत्) सब प्रकार के (रक्षासि) राक्षसों को (प्रति सेधति) दूर करता है ।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और आततायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे ।

अध्यात्म पक्ष में—विश्वपति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इस देह में स्वच्छ, निर्भय, सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आसुरी वृत्तियों पर विजय पाता है और व्युत्थासों को दूर करता है।

इति द्वितीया दशति । इति द्वादशः खण्डः ।

इत्याग्नेयं कारण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारमीमांसातीर्थविरुद्धोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेव
शर्मणा विरचिते सामयेदाज्ञोक्तभाष्ये आग्नेय कारण्ड समाप्तम् ।

ओ३म्
अथात ऐन्द्रं कारुडम् ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥८०३॥ ऋषि.—१ ऋग्वैर्विस्पत्यः । २ कृतकः सुकक्षो वा । ३ हर्यनः प्रगाथः । ४,

५ अनुकक्षः । ६ इन्द्रमातरो देवनामयः ऋषिकाः । ७, ८ गोरूक्तयस्त्वस्रक्तिनौ ।

६ मेधातिथिगङ्गिरसः । १० काण्वः । गायत्री ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[११५] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहुताय सत्त्वेने ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
श यद्वे न शाकिने ॥१॥ ऋ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) तुम लोग (सत्त्वेने^१) वीर्यवान्, सत्यस्व
कर सदा विद्यमान रहने वाले (पुरुहुताय^२) इन्द्रियगण, प्रजाओं और
मनुष्यों द्वारा ज्ञान धन और भक्ति द्वारा पूजित (गवे) गौ, पृथ्वी और
वेदवाणी के लिये (शाकिने) शक्तिमान् राजा, बैल या किसान के समान
(यत्) जो (श) कल्याणकारी है (तत्) उस इन्द्र का (सुते) अपने
यज्ञ में (सचा) एक साथ मिलकर । गायत) कीर्तन करो ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०
[११६] यन्ते नून शतक्रतविन्द्र शुभितमो मद ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०
तेन नून मदे मदे ॥२॥ ऋ० ८ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रजाओं और क्रियाओं में कुशल !
हे (इन्द्र^२) ऐश्वर्यशील ! (य) जो (ते) तेरा (शुभितमः) कीर्तिजनक
ऐश्वर्यपूर्ण (मदः) हर्ष का कारण आनन्द रूप है (तेन) उसीसे
(मदेम) तृप्तिकारी आनन्दरस में (मदे) स्वयं भी प्रसन्न रह और हमें
भी प्रसन्न कर ।

११५—१ सत्त्वेने 'इन्द्रो गायत्री' सा० । सत्=सत्य तबते ।

२ पुरु दति इन्द्रियन् । ६० उ०

^{१ ३ १ २} ^{३ २ ३ २} ^{३ १ २ ३ १ २}
[११७] गाव उपवदा चटे मही यज्ञस्य रप्सुदा ।

^{३ १ २} ^{३ २} ^{३ १ २}
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ३ ॥ अ० ८ । ७२ । १२ ॥

यजु० । ३३ । १६ ॥

भा०—हे (गावः) गौश्रो ! वाणियो ! रश्मियो ! नदियो ! (अवटे)
यज्ञस्थान, रक्षास्थान, ईश्वररूप, गंभीर स्थान में (उपवद) आओ, अपना
साक्ष्य प्रकाशित करो । अर्थात् गोए जिस प्रकार रक्षास्थान में, रश्मिमें
सूर्य में और नदियों गंभीर गर्त, जलाशय या समुद्र में आश्रय पाती है इसी
प्रकार हे वाणियो ! तुम सकल रक्षक परमेश्वर में लगती हो । (मही)
विशाल यह पृथ्वी और यह द्यौलोक । यज्ञस्य) यज्ञ का (रप्सुदा) उत्तम
फल देनेवाले हैं । (उभा) दोनों (हिरण्यया) हरणशील, भोग्य लोकों
के प्राप्त कराने में (कर्णा) माधनभूत हैं ।

[टि०—इस मन्त्र पर सब भाष्यकारों के मत भिन्न २ हैं । यजुर्वेद
में महीधर और उवट के मत में—“वे गोए कृष्ण के समीप आये और
पृथ्वी और द्यौ यज्ञ का फल देनेवाली है और इनके दोनों कान सोने के हैं ।”
सायण के मत से—‘ हे (गावः) यज्ञकर्त्ताओ ! तुम महावीर के पास
स्तुति करो यह यज्ञ का फल देता है । उस कृष्ण के दोनों कान सोने के
हैं ।’ स्वामी तुलसीराम के मत से—‘यज्ञकृष्ण के समीप हे वाणियों !
तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसमे यज्ञभूमि वेदपाठ के प्रवाहवाली हो और
श्रोताओं के दोनों कान प्रकाशमय हों ।’ इनमें कर्मकारण्ड को लक्ष्य करके

११७—उपावनावत इति पाठभेदः, अ०

१ यजुर्वेद अग्न इत्यस्या अवट गर्तमिति उवटमहीधरयोः सम्मतोर्थः अवटी-
रक्षारथल । अवट कृष्णम् । रक्षादायकत्वादेव इन्द्रोप्यवटवदवाच्यः
शरण्यत्वादेव । गङ्गीत्योम् । समानवातुवशाद् ओकारः परमेश्वर एव
सर्वस्तुतिनाचा शरण्यमित्यनाम् ।

[११८] अरमभ्वाय गायत्त शुनकक्षार गव ।

भा०—हे अतकव) हे वेदविज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात् हृदय में रखने वाले । (अथाय अरं गायत) व्यापक मनु या शीघ्र गमनशील, मोहा आत्मा के गुणों का वर्णन करो (गवे अरं) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा, या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रत्न का उत्तम रीति से वर्णन करो । (इन्द्रस्य^१) सब इन्द्रियों मासिक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (घाम्ने, तेजः सामर्थ्य का (अर गायत) गुण गाओ ।

[११६] तामिन्द्रं वाजयामसि महं वृत्राय हन्तवे ।

स वृषा वृषभा भुवत् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ६३ । ७ ॥

भा०—(त) तम (इन्द्रं) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (पाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं । (महे) भारी (वृत्राय) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को (हन्तवे) विनाश, करने

११८—'मनजक्षो अर' इति ।

१. इन्द्रियमिन्द्रस्त्रिमिन्द्रदृष्टमिन्द्रनृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रस्तमिनि वा (पा० ॥

५ । २ । ६३) ह्रीन्मृग्याद् घञ् । इन्द्रियम् ।

लिये (सः) वह (वृषभः) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और (वृषा) समर्थ, बड़ा बलवान् (सुवत्) है ।

[१२०] त्वामिन्द्र यत्नादधि सहसो जात भोजसः ।

त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥ ६ ॥ अ० २० । १५३ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (यत्नाद्) बल से, और (सहसः) शत्रुदमन करी सहनशक्ति से, (भोजसः) कान्ति और प्रभाव से (जातः सन्) होकर ही (वृषन्) हे वृष सुख्य ! सबके भीतर उत्पादक शक्ति देनेहारे ! समस्त सुखों के वर्षक ! (त्वं) तू (वृषा इद्) वृषा वीर्य सेवन में समर्थ ही (असि) है, तू ही समयमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण ।

[१२१] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यन्मि व्यवर्त्तयत् ।

चक्राण्य आपश्च दिवि ॥ ७ ॥ अ० २० । १५४ । ५ ॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ प्रजापति (इन्द्रं) आत्मा को (अवर्धयत्) बढ़ाता है (यद् , क्योंकि यज्ञ ही (दिवि) सूर्य के आश्रय, आकाश में (आपश्च) झटकाकर (आ चक्राण्यः) चक्र समान चलाता हुआ (भूमिं) भूमि (वि व्यवर्त्तयत्) विशेषरूप से वृत्तगति में घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ 'सूर्य' और 'यज्ञ' का अर्थ 'सौर जगत्' या प्रवर्त्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड में इस सौर जगत् के अनुकरण में ही यह यज्ञवेदी और छोटे अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों में समान रूप से तीनों का वर्णन किया गया है । अध्यात्म पक्ष में—इस जीवन-यज्ञ में इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है अर्थात् देहरूप कर्मभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बहने दिया । और बौलोक रूप भस्वक में ब्रह्म विद्यमान है, इत्यादि ।

[१२२] ^{१ २ ३ २ ४ ३ ५ ४ ३ २ ३ २ ३ २} यदिन्द्राह गथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।

^{३ २ ३ १ २} स्तोता म गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ अ० ८ । २४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (गथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (एक इत्) अकेला ही (वस्व) धन, विभूति, ज्ञान, जीवन शक्ति का (ईशीय) वश करता है उसी प्रकार (यद्) यदि (अहं) मैं जीवभी अपनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में समर्थ होजाऊँ तो (गोसखा) इन्द्रिया के समान ही स्याति से सम्पन्न यह (मे) मेरा आत्मा भी (स्तोता) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला (स्यात्) होजाय ।

[१२३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पन्थपन्थमित्मोतार आघ्रावत मद्याय ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २} सामं वीराय शूराय ॥ ९ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥

भा०—हे (सांतार) ज्ञान सम्पादन करने वाले साधन मेरे इन्द्रियों ! अथवा ■ ज्ञानयोगी पुरुषों ! (मद्याय) सबसे अधिक प्रसन्न होने वाले (वीराय) सामर्थ्ययुक्त वीर, विशेष प्रकार से तुम सबको भेरया देने वाले (शूराय) बलवान् पराक्रमी, आत्मा ■ परमात्मा के विषयक (पन्थ पन्थं) प्रशंसनीय, उत्तम २ (सोमं) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को (आघ्रावत) प्राप्त करने के लिये शीघ्र पहुँचो, शीघ्रता करो ।

संक्षिप्तिदि प्राप्त करने वाले साधक की यही भावना होती है ।

[१२४] ^{३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} इदं वसां सुतमन्धः पिना सुपूर्णमुदरम् ।

^{१ २ ३ १ ३} अनामयिन् वीरमा त्वे ॥ १० ॥ अ० ८ । २ । १ ॥

भा०—हे (वल्लो) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में द्रव्य
इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू
(इन्द्रम्) इस (सुनम्) उत्पन्न किये (अन्व.) अन्न, जीवन धारण सा-
मर्थ्य को (सुपूर्यम् उदरम्) खूब पेट भर कर (पिब) ग्रहण कर । हे
(अगामयिन्) मयराहित बीर, वह खूब सोम आदि आत्मा (ते) तेरे !
किये दम (ररिम) देते हैं, भेंट करते हैं ।

“नयादस्यान्तिस्तपति भयात्तपति सूर्यः” इत्यादि, उपनिषद् की यही
मेरुति होती है । आत्मा को राजा के दृष्टान्त से बृहदारण्यक में उत्तम रीति
में समझाया है ।

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।



॥ ६० ४ ॥ अ० ३, १२१- सुकृष्णकक्षी । १ भारद्वाज. । ४ श्रुतकक्षः ।
५, ६ मधुच्छन्दा । ७, ८, १० त्रिशोकाः । ८ वसिष्ठ । गायत्री ॥

[१२५] उद्बुधमि श्रुतामघं वृषभं नर्यासम् ।

अस्तारमि सूर्य ॥ १ ॥ अ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू
(श्रुतामघम्) प्रसिद्धि धन, ज्ञान और कीर्ति सम्पन्न (वृषभम्) सुख
आर आनन्द की वर्षा करनेवाले, सर्वश्रेष्ठ (नर्यासम्) मनुष्यों के हित-
कारी कार्य करने और मन संकल्प करने वाले (अस्तारम्) अपने प्रतिपक्षियों
और काम क्रोध आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, परात्मी बीर पुरुष
के प्रति (इद् इ) तू (उद् एषि) ऊपर उठता है, उदित होता है ।

सदाचारी, परोपकारी काम क्रोधादि के जीतने वाले पुरुषपुंगव का
आत्मा सूर्य के समान उन्नति को प्राप्त होता है ।

[१२६] ^{२ ३ ४ २} यदद्य कष्य ^{३ १ २ ३ १ २} वृत्रहनुदगा अभि सूर्य ।

^{३ १ २} सर्वं तदिन्द्र तै वश ॥ २ ॥ अ० ८ । १३ । ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-बन्धकार या विघ्नों के नाश करने हारे ! हे (सूर्य) समस्त जगत् । समान इस देह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! (अद्य) आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी पदार्थ के सम्मुख (उद् अगा) वृ उदित होता है (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे ही (वशे) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बाधते वही उनके वश में हांजाता है । शौनक ने यह मन्त्र, पाप नाश करने और जगत् भर को वश करने की साधना का मूलमन्त्र सिखा है ।

यदद्यकक्षेयुदिते रवौ स्तुत्वा पुरदरम् ।

गृयात्तपाहते रिप्रं वश्य वा कुरुते जगत् । (अग्निधाने शौनक)

[१२७] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} य आनयत्परावत्. सुनीती तुर्वशं यदुम् ।

^{३ १ ३ १ ३ १ २} इन्द्र स ना युवा सखा ॥ ३ ॥ अ० ६ । ४५ । १ ॥

भा०—(य०) जो (इन्द्र) पेश्वर्यवान् पुरुष (सुनीती) उत्तम नीति, उपाय साधन द्वारा (तुर्वश) कामनाओं से बंधे और (यदुं) कुपय में गये पुरुष को (परावत्.) बहुत दूर से भी (आनयत्) सन्मार्ग पर लेजाता है (स.) वह (न.) हमारा (युवा) सदा जवान, अजर, अमर, नित्य, (सखा) उष्ट मित्र और समान ख्याति वाला, हमारे आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहा इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य तीनों पर समान भाव से लगता है ।

१. 'तुर्वशं'—तुर्वी हिसायाम् । भ्वाटि. । कक्षेरशच् । हिंसन्ति आहिंस्यन्ते व्याध्यादिभिर्वा । यद्वा तूर त्वरयहिंसमयोः । दिवादिः । यद्वा तुर्वश. काम

युष्मामिति तुर्वशाः । यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वशा युष्मामिति चतुर्वशाः
सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः । दे० य० । तुर्वश इति मनुष्यनाम ।
नि० २। ३ ॥

‘यदुम्’—यदुः, यमेर्हुक् इति मोक्षः । यम्यते नियम्यते आचार्येण
अपथप्रवृत्ताराज्ञा वा । यदुरिति मनुष्यनाम । नि० २। ३ ॥

तुर्वश, हुङ्यु, अनु, यदु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं ।
सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है । परन्तु वेद में ये सब मनुष्य
के पर्याय शब्द हैं । धात्वर्थों के भेद से भिन्न २ गुण के मनुष्यों के
वाचक हैं । जैसे—(१) ‘तुर्वी हिंसाया’ धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुर्वश
शब्द बनता है । जो प्राणियों को मारे या व्याधि से पीड़ित हों । (२) तुर्वश=
जिन को काम अर्थात् पुण्या हो वे तुर्वश कहाते हैं । या ३) जो धर्म अर्थ,
काम, मोक्ष चारों को अपने धरा करलें वे ‘तुर्वश’ कहाते हैं । उसी प्रकार
‘यदु’ वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम
व्यवस्था में लाय जावें । आर्यसाहित्य में देव को इष्ट, यन्धु कहा जाता है
और आचार्य को भी सुहृद् माना गया है । ‘सुहृद् भूत्वा आचार्य उपादिशति’
(पात० महाभाष्य)

[१२८] मा न इन्द्राभ्यादिदिशः सुरा अकुप्वा यमत् ।

त्वा युजा वनम तत् ॥४॥ अ० ८। ६२। ३२ ॥

भा०— हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्ययन् ! (आ दिशः) चारों दिशाओं
से भी (नः) हमारे (अभि) प्राप्ति (अकुप्वा) रात्रि, अन्धकार युक्त
कालों में, राक्स तामस अवस्थाओं में भी (सुरः) सुपके २ छापा मारने
वाला चोर या हिंसक जन्तु या काम क्रोध आदि शत्रु (नः मा अभि आ
यमत्) हम पर काय न करे, फास न ले, अधिक हम (तत्)

वस समय (त्वा युजो) तुम्ह अपने मंडायक द्वारा उसे (वनेम) मार डालें ।

अहु रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. यम परिवेषणे (भ्वदि) ॥
३. अथ क्रय हिसार्थाः वन चेति अदि०

[१२६] ^{१२} इन्द्र ^{३ ३ ३ ३ ३ ३} सानिभि ररि ^{३ ३ ३ ३ ३ ३} सजित्वानं सदासम् ।

^{१ ३ ३ ३ ३ ३} वरिष्ठमृतय भर ॥ ५ ॥ अ० २ । ७ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सानिभि) उत्तम प्रकार से विभाग करने योग्य (समित्यान) करने शत्रु पर विजय दिखाने वाले, (सदामहं) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को महन करने वाले, (वरिष्ठं) शत्रु पर पाणों और आयुधों की वर्षा करने वाले या अधिक (ररि) सेना को (क्रमये) रक्षा क लिये (आ भर) प्राप्त कर । आत्मा यह में रवि-प्राण या आत्मिक ज्ञान, बल जो शरीर में स्थान २ पर गटा हुआ है, सब दोषों पर विनय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखों को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करना है ।

रवि रीक् गतौ —रीयने गच्छति इति रवि । यद्वा रातेर्दानार्थस्य । गच्छत्याक्रमति शत्रून् इति रविः सेना । कौशायत्तत्वाद् भृतिरविता सेना वा रविः । सजित्वानं सदामहमिति विशेषणबलाद्वि सेनार्थः ।

[१३०] ^{१ २ ३ ३ २ ३ ३ ३ ३ ३} इन्द्र वय महा उन इन्द्रमर्मे हवामह ।

^{१ २ ३ ३ २ ३ ३ ३ ३} युज वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ६ ॥ अ० २ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाघने) बड़े २ सग्राम के अवसर में और (अर्मे) छोटे-मोटे परस्पर के कलह या चोरी आदि क अवसर पर भी (वय) हम लोग (वृत्रेषु) विष और उपद्रवों और विघ्नकारियों पर (वज्रिण) सदा तलवार या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हार, (युज) सदा

सङ्गप्रक, (इन्द्रम्) राजा को (अर्थ) हम (इवामहे) बुलाते हैं उसके गुण कीर्तन करते हैं। यहा इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उःनिपदेश में मुख्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पक्ष में (महावने) बड़े भारी योगसाधन और (अर्मे) सूक्ष्म विचार में भी (वृत्राणि) आत्मा पर पदां डालने वाली तामस, ध्याथान वृत्तियों पर (वज्रि यम् । सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाल विवेक स युक्त आत्मा का स्मरण करे। जैसे काठक में "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण्य एजति नि. सत्तम् । महद्भयं वज्रमुपतम् ।" बस्ती २ ॥

महाधनमिति संग्रामनाम (नि० ३। १८ ।) । अर्मे हरतेः ।

[१३१] अपिबन् कद्रवः सुनामन्द्रः सङ्गवाहः ।
तत्रादिदिष्ट पौत्यम् । ७ । अ० ८ । ४६ । २५ ॥

भा०—(इन्द्रम्) राजा (सङ्गवाहे) हजारों प्रकार से को परास्त करने के लिये (कद्रवः) विद्वान् ज्ञानी के (सुतम्) शान का (अपिबत् । पान करता, उपयोग करता है (सत्र) तभी (पौत्यम्) इसका (तत्रादिदिष्ट) अधिक चमकता है ।

बाहुर्वाधते, परान् बाधते इति भा० । इति देवराजो यत्वा । कद्रुः कवेतः सौ । कद्रु विद्वान् । अश्वदिष्टु औणादिकं निपाततम् । दृष्टा ०, ३ । १५९ । १ ।

आत्मपक्ष में कण्व मन । बाहु=कर्म । मेघ, बाहु=अक्षधार । इत्यादि ।

[१३२] अथमिन्द्र त्वायनामप्रनानुमा वृषन् ।
विद्धीत्वाइस्य नो वसो ॥ ८ ॥ अ० ७ । ३१ । ४ ॥

—, अत्रादिदिष्ट इति अ० । अत्रादिदिष्टति स० सा० ।

१३२—'प्रणोनुम' 'विद्धी त्व' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (वृषन्) हे सबसे श्रेष्ठ सुखों के वर्षा करने वाले ! (वयम्) हम (आयवः) ज्ञानशील मनुष्य (त्वा) तुम्हें को (अभि प्र नोनुमः) निरन्तर प्रणाम करते हैं । हे (वसो) सब के भीतर वास करने वाले (नः) हमारे (अस्य) इस सबको तू (विदि) निश्चय पूर्वक जानता ही है ।

[१३३] आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति बहिरानुपक् ।

येषामिन्द्रा युवा सखा ॥ ६ ॥ अ० ८ । ४५ । १ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं और (येषां) जिनका (युवा) अजट, अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला (इन्द्रः) आत्मा (सखा) मित्र हैं । ये (आनुपक्) निरन्तर (बहिः^१) अपने कर्मबन्धन, देह को (स्तृणन्ति^२) काट बाँटते हैं । आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान लेने वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

‘बहिः’ धान्य को कहते हैं । देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और वृक्ष से दी है । जैसे ॥ ‘सस्यमिव मर्त्यं पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः’ (काठकम्) २. ‘जर्ज्वमूलं अवाक्शास्त्रं एषोऽश्वत्थः सनातनः ।’ ‘अहं वृक्षस्य शेरिषा’ (तै० उ०)

[१३४] मिन्धि निध्या अपह्विषः परि बाधो जहीमृधः ।

वसु स्पाहं नदा भर ॥ १० ॥ अ० ८ । ४५ । ४० ।

१३३—१. बृहेर्नलोपश्च । वृद्धि वृद्धौ । यस्य त्रिधात्ववृत्त बहिः, अ० ८ ।

१०२ । ■ अत्रापि बहिः शरीर त्रिधात्ववृत्त वर्णितम् । यथा भागवते-

‘यस्यात्मवृद्धिं कुण्ठये त्रिधातौ’० इत्यादि ।

२ वृश्चति, कृच्छति, स्तृगात्यादयः पर्याया यातवः सर्वं नक्षत्राणि ।

नि० २ । १६ ॥

भा०—(विश्वा द्विषः) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् ! आत्मन् ! (अप भिन्वि) दूर ही काट दाल और (बाध) पीड़ा पहुंचाने वाले, (मृघः) संग्रामकारा हिंसक, सेनाओं को (परि जहि) सब ओर नाश कर (स्पाहंम्) हमारी अभिलाषा के पात्र (तद्) उस (वसु) हमारे भीतरी आत्मरूप धन का (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नवा सरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवीति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवीति । वेद के शब्दों में आत्मा 'स्पाहं' वसु या सबसे अधिक प्रिय धन है । 'तद्' यह शब्द उस विस्तृत को गाढ़ कराता जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये जिसका मैत्रयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—येनाहं मामृतास्या किमहं मेम कुर्याम् । यदेव भगवान् वेद तदेव मे ग्रहि । इस पर याज्ञवल्क्य ने उक्त सिद्धान्त कहकर कहा । 'एतावदो बलु अमृतम् ।' यह 'तद्' अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् वसु मात्येति कश्चन, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ ८० ५ ॥ ॥ काण्वो घोरः । ० विज्ञोः । ३ वत्सः काण्वः । कुसीदी काण्वः ।

॥ मेधानिधिः । ६ भुक्तकक्षः । ७ श्यामाश्वः । ८ प्रगाथः काण्वः । ९ वरसः ।

१० शरिमिठः । गायत्री ॥ वज्रः ॥

३ १ २

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१३५] इद्रेष शृणु एषां कशा हस्तपु यद्वदान् ।

१२ २२ ३ १ २

नियामं चित्रमृज्जने ॥ १ ॥ अ० २ । २७ । २ ॥

भा०—(एषां) इन मदों प्राणों के (हस्तेषु) हाथों में (कशा) कशा है । (यद् वदान्) यह जो वस्तु कहते हैं (इह वा शृणु) उसको

१३५—१. हस्तो हन्तेः, प्राशुर्हन्ते इति । निरु० १, ३, २ ।

मैं यहाँ ही सुनता हूँ । वह कशां (चित्रं) अद्भुत प्रकार से (नियामं) नियम, व्यवस्था को । अद्भुतं । साध रही है ।

‘कशा’ का वर्णन अथर्ववेद । का० । सू० ११ में किया है । जैसे -
 “य एति मधुकशा रराय । तत् प्रायस्तदमृतं निविष्टम् ।”
 पश्यन्त्यस्याश्चरित पृथिव्या पृथक् नरो बहुधा भीमसमाना ।
 “अग्नवानान् मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नसिः ।”

साधक प्रायश्चर्यों का यह कहता है कि मैं उन मरुतों की कशा (इन्द्र) के नाद को सुनता हूँ वह विचित्र प्रकार से सबका व्यवस्था में बांधे । अथर्व में इसको ‘मरुतामुग्रा नसिः’ प्राणियों को उग्र रूप हाकर बाधने वाली बनलाया है । इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन के अलंकार की व्याख्या में शिव क जगन्नाथ के महारथ पर मरुत् सारथि के हाथों में ओंकार का इन्द्र बनलाया है । शि० पु० । योगी लोग उसी ओंकार के अनाहत नाद को सुनते हैं । उसी का यही विवरण है ।

[१३६] इम उ त्वा विन्न दाने मखाय इन्द्र सोमिनः ।

पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १६ ॥

भा०—(पुष्टावन्तः) पुष्टिकारक पदार्थ घाम दाना आदि को हाथ में लिपे पशु मालक पुरुष । यथा । जिन प्रकार स्नेह में अग्ने (पशु) पालन पशु को दम्यते हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमे) वे (सोमिनः) सोमरस या आत्मज्ञान के धारण करने वाले पुरुष तेरे (रुद्राय) मित्र । स्वा । तुमका दंष्ट्रुत हैं ।

स्नेह प्रदर्शनमात्र समान धर्म दिखाया गया है । आत्मज्ञान साधक पुरुष मानास्तुति ज्ञान चर्चा पूर्व ध्यान साधना द्वारा अन्नरासा एवं मद्य के युक्ताते हैं, उनके प्रेम में उसका निरन्तर निहारते हैं कि “अथ दर्शन

देता है, अब देता है. अब ! अब ! । गीता में जैसे — " देवा. अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाचिण. । "

[१३७] ^{१ २}समम्य ^{३ २ ३ २ ३ २}मन्यवे ^{३ १ २}विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।

^{३ १ २ ३ २}समुद्राय च सिन्धवः ॥ ३ ॥ अ० ८ । ६ । ॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र के (मन्यवे । क्रोध के सामने या मनन ज्ञान, संकल्प के समक्ष (विशा ; समस्त विशा ; प्रजापृ (नमन्त । ऐसे झुकती हैं, जैसे (सिन्धव.) जगिया । समुद्राय इव) समुद्र में समाजाने के लिये आपसे आप सहती ही हुई चली जाती हैं ।

इस 'मन्यु' को गीता में व्यास ने कहा है ।

"कालोऽस्मि लोकहृक्त्वं लोकां समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।"

इस अर्था की व्याख्या की गई है । जैम—

यथा तदीना बहवोऽभ्युपेगा. समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति ।

तथा तवाभी नरकोरुवीरा विशन्ति चक्राणामिषिष्वकान्ति ॥

गीता ११ । २८ ।

झुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः' । गीता ११ । २६)

[१३८] ^{३ १ ३ २ ३ २ २}देवानामिदं महत्तदावृणीमहे वयम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २}वृणामस्मभ्यमूनये ॥ ४ ॥ अ० ८ । ७२ । ॥

भा०—(वृणाम्) सुखों और ज्ञानों की धार बरसाने वाले (देवानाम् । विद्वान् गुरुओं या प्राणों की (इत्) ही (महत् तत् अब) बड़ी भारी उमर का या शरण को हम (अस्मभ्यम्-उत्तमे) अपनी रक्षा के लिये (आ वृणीमहे) इस प्रकार से चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० (-च० १ । अनु० १०) में जैसे— " यदि त कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र आह्वयाः संमर्शिनः

युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते ~~तत्र~~ वर्तेरन् तथा तत्र
वर्तेयाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशा-
सनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

सद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रभेन सेवया ।

उपवेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पावटव । गी० अ० २ । ३४-३५॥

[१३६] ^{३ २ ३ १ २} सोमानां ^{३ १ २} स्वरयं ^{३ १ २} कृणुहि ^{३ १ २} ब्रह्मणस्पते ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ २} कर्षीवन्त य औशिजः ॥ ५ ॥ अ० २ । २८ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्मणस्पते ! ज्ञानिन् ! (सोमानां) ज्ञानों
के योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये (कर्षी-
वन्त) कष्ट, क्रांती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण (स्वरयं) सुख से
गमन करने वाला एवं (हेदांयमान) बलसम्पन्न (कृणुहि) (य.)
जो प्राण (औशिजः) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकरण को तैत्तिरीयशास्त्रा में हम ~~गान्धर्व~~ किया है—“सोम
स्वरयामित्याह सोमपीथमेव अवदन्धे । कृणुहि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चस-
मेवावदन्धे इत्याह ।” अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में
प्रसरता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार ‘कर्षीवान्’ विषय में
यास्क कहते हैं ‘कर्षीवान् कष्यावान् । उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः । (नि०
६ । ३ । ॥) कर्षो गाहते इति नामकरणः । क्यातेर्वा अनर्थकोऽ-
न्धासः । किमस्मिन् क्यानमिति । कपतेर्वा तत्सामान्यान्मनुष्यकृत् । (नि०
७ । १ । ५)” हम प्रकार कर्षीवान्, ज्ञानवान् क्यातिमान्, सहायवान् ।
औशिजः=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न । कषा=मनुष्य या प्राणी की कोम, ‘

उनमें निवास करने वाला कहीवान् है । और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'औशिज' कहाता है । ज्ञानी पुरुष उसके ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देवी-प्यमान करें ।

[१४०] बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्योस्तुतिः ।

शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ अ० ८ । ६३ । १८ ॥

भा०—(नः) हमारा (शक्र.) शक्तिशाली आत्मा (वृत्रहा) तामस आवरणों का नाश करने वाला (भूर्योस्तुतिः) अति अधिक समाहित वृत्ति वाला होकर, (बोधन्मनाः) ज्ञानशील चित्त वाला (इत्) (अस्तु) हो । और वह (आशिषम्) आशीर्वाद, उत्तम कामना को (शृणोतु) सुने ।

[१४१] अद्य नो देव सवितः प्रजावत्सावी सौभगम् ।

परा दुष्पण्यं सुव ॥ ७ ॥ अ० ५ । ६२ । ४ ॥

भा०—हे (सवित) सब के ऐन्द्र, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन् ! (नः) हमारा (प्रजावत्) अपनी प्रजाओं के समान (सौभगं) उत्तम कल्याण (अद्य) आज, प्रतिदिन (सावी) उत्पन्न कर । (दुष्पण्यं) चित्त में से दुःसंस्कारों के कारण होने वाले तन्दाकालिक प्रमाद को (परा सुव) दूर ।

योग साधनों को करते हुए साधक के आग्रहपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाह्य निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व वासवाएं तन्दा के

१४०—'बोधिन्मना' इति श्रु० ।

१४१—'अधानो', 'दुष्पण्य' 'दुष्पण्य' इति श्रु० ।

अवसर पर, दुःस्वप्नों का कारण होती हैं । उनको दूर करने और शुभ विचारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है ।

[१४२] ^२की३ ^{५-२}स्य ^३वृषभा ^३युवा ^{२२}तुविप्रीवो ^३अनानतः ।

^३ब्रह्मा ^{२२}कस्तं ^३सपय्यति ॥ ८ ॥

भा०—(वृषभ. । इन्द्रियरूप गौओं में बैल के समान 'मोक्षा सर्वः' । भेद, मेघ के समान सुखों का वर्षक, (युवा) सदा अजर, (अनानतः) कभी किसी के आगे न झुकने वाला, स्वयं, (तुविप्रीव) बहुतसी, प्रीति वाला, इन्द्र (स्य. क) वह आत्मा कहा है ? (तं) उसको (क) कौन, (ब्रह्मा) ब्रह्मा को जानने वाला विद्वान् (सपय्यति) उसकी पूजा करता है । अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम इस अप्रतर्क्य, अबाध्मनसगोचर सहस्रशीर्ष पुरुष की विवेचना करो । उसके सब उपासक ब्रह्मज्ञानी की भी पहचान करो ।

कथमिन्द्रो बहुप्रीव ? उच्यते । परमात्मस्वरूपत्वात् । 'सर्वत पाणि-पाद नत् सर्वतोऽङ्घ्रिशिरोमुखम् । सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृष्य तिष्ठति, इति मा० वि० । तुवीति बहुप्रीव । (नि० ३ । १ । ३ ।) प्रीति निग-गदयात् कश्च्येति अनुदात्त प्रशान्ताभिपूजितयोरिति प्लुतिरनुदात्तश्च (पा०),

इन्द्र बहुप्रीव किम् प्रकार है ? गीता कहती है—

“बहुवक्त्रनेत्र महाबाहो बाहुबाहुरूपादम् ॥”

बहुदरं बहुदंष्ट्राकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥

अनेक चक्षुःनयनमनेकावमुतदर्शनम् ।

सर्वाश्चैर्मयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है—‘सहस्रशीर्षो पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात्’
(यजु० ३१ । १ ॥)

[१४३] उपहरे गिराणां संगमे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥ ६ ॥

श० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—(गिराणां) पर्वतों के (उपहरे) तट प्रान्त में और (नदीनां च) नदियों के (संगमे) संगम स्थान पर (धिया) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से (विप्र.) मेधावी पुरुष (अजायत) तैयार हुआ करता है ।

तपस्वी जोग एकान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं । आत्मा के लक्ष में—(गिराणां) मेरुचूड के पोरुओं के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन (नदीनां) नादियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है । अथवा—'गिरय = स्तोतारः । नद्यः = मरुत्वतः । धीरव्ययमम् । कवियों, ज्ञानप्रवक्ताओं के पास वेदवाणियों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अध्ययन करने और मनन करने से विप्र-विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी होजाता है ।

[१४४] प्र सत्ताजं चर्पणीनामिन्द्र स्तोता नव्यं गीभिः ।

नरं नृपाहं मादृष्टम् ॥ १० ॥

श० ८ । १६ । १ ॥

भा०—(चर्पणीनाम्) तत्त्वदर्शी, आचारवान् पुरुषों के बीच (सत्ताजं) प्रकाशमान, (नव्यं) स्तुति करने योग्य, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न (नां) सबके नेता, (नृपाहं) सब मनुष्यों को अपने तेज से दबाने वाले, (मादृष्टं) सबसे अधिक पूजनीय परमेश्वर की (प्र स्तोत) उच्चम रीति से स्तुति करो ।

१४३—'संगमे च नदीनाम्' इति श० ।

१. शु म्बुनौ (बुदादि) नव्य स्तुतियोग्यमित्यर्थः ।

चर्षण्यः चर्यावन्तः चर्याशीलाः । चरंतरनिरौणादिः । कृषेर्वा ।
बद्धा चापितारो द्रष्टारः । विचर्षण्यः पश्यतिकर्मा । (नि० २ । २)

चर्षण्यश्चापिता द्रष्टा इति स्कन्दस्वामी । चर्षण्यो मनुष्या. (नि०
२ । ३ ।)

इति पञ्चमी दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥



॥६०६॥ अग्निः—श्रुतकक्षः सुक्लो वा । २ मेधातिथिः । ३ गोतमः । ४ भट्टाज ।

५ विन्दुः पूनक्षो वा । ६, ७ श्रुतकक्षः सुक्लो वा । ८ वरमः काण्व ।

९ शुनःशेषः । १० शुनःशेषो वामदेवो वा ॥ इन्द्रो देवता ॥

गायत्री । पद्व. ॥

[१४५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अपादुशिप्रयन्धसः ^{३ १ २} सुदक्षस्य ^{३ १ २} प्रहोषिणः ।

^{२ ३ २ ३ १ २} इन्द्रारिन्द्रो यवाशिर ॥ १ ॥

अ० ८ । ९२ । १ ॥

भा०—(शिप्री) एक शरीर से दूसरे शरीर जाने वाला या प्राणों का स्वामी (इन्द्र) ऐश्वर्यशील आत्मा (सुदक्षस्य) कार्यसम्पादन में कुशल, बलसम्पन्न, (प्रहोषिणः) उत्तम रीति से हवन, दान-आदान करने वाले (इन्द्राः) प्रदीप्त, (यवाशिरः) अन्न के सारभूत अंश से मिल कर परिपक्व (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य को (अपात्) पान या पावन करता है ।

‘प्रहोषिन्’—इसकी व्याख्या देखिये (गीता ४ । २३-२१ ।) इसमें बहुत से यज्ञ दर्शाये हैं जैसे १. अद्याप्य अद्याहवियाग । २. इन्द्रियों की संयम में आहुति । ३. शब्दादि आद्या विषयों की इन्द्रियों में आहुति, ४. ज्ञानेन्द्रिय आर ५. प्राणेन्द्रिय कर्मों की सयमारि में आहुति, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ, ९. स्वाध्याय यज्ञ १०. ज्ञानयज्ञ, ११. अपान में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि । इनके कर्त्ता सभी 'प्रहोषी' है । इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदृढ़ ज्ञानी वह है जो अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म-शक्ति अर्थात् अन्न की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ।

[१४६] इमा उ त्वा पुरुवसोभि प्र नोनवुर्गिरः ।

गावो वत्सं न धेनवः ॥ २ ॥ अ० ६। ४५। २५ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! एवं हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसने वाले आत्मन् । (इमाः) ये (गिरः) वाणियां वेदवाणिया (धेनवः) दूध देनेहारी, (गावः) गौएं (न) जैसे अपने (वत्सं) बछड़े के पास बली जाती हैं उसी प्रकार (त्वाः) तुमको ही (अभि प्र नोनवु०) साक्षात् स्तवन करती हैं ।

जैसे—'सर्वे वेदा वत्पदमामनन्ति' इति उप० ।

[१४७] अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ अ० १। ८४। १५ ॥

भा०—(अत्र) वहा निश्चय (त्वष्टुः) दीप्तिमान्, तेजस्वी सूर्य की (गो०) गमनशील किरण का (अपीच्यम्) कुछ सुषुप्त अंश ही (चन्द्रमसो गृहे) चन्द्रमा के घर में (नाम) गया हुआ है । (इत्था अमन्वत) ऐसा मानते हैं ।

इस प्रकरण में प्रायः ही त्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ६, १० मास में शनैः २ बनाता है । गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जो १६ कलायुक्त है । जो क्रम से एक पक्ष में घटता और १५ दिन में बढ़कर पुनः ऋतुकाल में बच्चा के समान उत्थित होता है । उस स्थान पर भी

१४६—१. इमा उता शतक्रतोऽभिप्रनोनवुर्गिरः । इन्द्र वत्सं न मातरः । अ० ।

सृष्टिकर्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है । उस गर्भ में भी गति है । उसमें भी मुख्य प्राण-आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनैः २ बढ़ता है । अथवा त्वष्टा पुरुष को कहते हैं पुरुष का बीयांश ही गर्भाशय में जाता है । जैसा उपनिषद् में लिखा है । 'पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति । यदतद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इत्यादि (एत० उप० अ० २ । १-६) । प्राणरवि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार (प्रश्न० उ०) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रवि माना है । इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्कने लिखा है—“अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम् । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति । सुपुन्यः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गौरुप्यते, अत्राहगोरमन्वतेति तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः ।

अर्थ —आदित्य भी 'गौ' कहाता है । इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है । जैसे यजुर्वेद (१८ । ४०) में लिखा है । इस सुपुन्या को भी 'गौ' कहते हैं जैसे 'अत्राह गोरमन्वत' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान आगे यास्क ने (४ । ४) में किया है कि अत्राह गो. सममसत आदित्य-रश्मयः । स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हित वाऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे ।”

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है । परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है । उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति एवं पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि के प्रश्नों की खूब सूक्ष्म विवेचना की है । छान्दोग्य का तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सप्त रश्मियों की विवेचना मुख्य प्राण को छरफ करके की है ।

[१४८] यदिन्द्रो अनयाद्रितो महोरपो वृषन्तमः ।

तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥ अ० ६। ४६। ॥

भा०—(यद्) जब (वृषन्तमः) सर्वत्र, लोम २ में रस का वर्णन उत्तम रूप करने वाला (इन्द्रः) आत्मा (रितः) गति करने वाले (महीः अपः) बड़ी नादियों को (अनयद्) समस्त शरीर में पहुंचाता है (तत्र) वहां (सचा) साथ ही वह (पूषा) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त (भुवत्) हो जाता है।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुंचाता है और पुष्टि भी करता है। विशाल अक्षाण्ड में ईश्वर की शक्ति वर्षा भी करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है।

[१४९] गौर्धयति मरुतां अवस्युर्माता मघोनाम् ।

युक्ता वही रथानाम् ॥५॥ अ० ८। ९४। १॥

भा०—(मघोनां) जीवन-यज्ञ के सम्पादन करने वाले (मरुतां) प्राणों की (माता) उत्पादक, जननी (गौ) चेतनस्वरूपा चित्तिशक्ति (अवस्युः) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई (धयति) अपना सोम-रूप ज्ञान पिताती और वह स्वयं (रथानां) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में (युक्ता) जुत कर (वही) उन को बठा रही है। आत्मा की चेतना शक्ति इन्द्रियों को चेतन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुंचाती है।

मरुतों की गौ की व्याख्या देखिये—अथर्ववेद (का० १०। सूक्त १०) यह वशा रूप गौ है।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोसारं पृष्ठे अस्याः ।

ये दवास्तस्या प्राणन्ति ते वशा विदुरेकधा ॥

यही गो 'पृक्षि' कही है । इसका वर्णन ऋग्वेद (८ । १०० । १०-११) में इस प्रकार है ।

“यद्वाम् वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।

षतस्रोऽनुदिश कर्जं दुदुहे पयासि कचिदस्याः परम जगाम ।”

[१५०] उप नो हरिभिः सुतं याहि मदाना पते ।

उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३१ ॥

भा०—(मदाना पते) 'सब' आनन्वों और ज्ञान, विवेकों के पालन करने हारे, (न.) हमारे (हरिभिः) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा (सुतं) उत्पादित ज्ञान को (उप याहि) तू प्राप्त कर । (न) हमारे (हरिभिः सुतम्) प्राण इन्द्रियों द्वारा किये कर्म और उनसे उत्पन्न सुख भोग को तू (उप याहि) प्राप्त हो ।

[१५१] इष्टा होत्रा अस्तुक्षतन्द्र वृधन्ता अध्वरे ।

अच्छ्रावभृथमाजसा ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९३ । २३ ॥

भा०—(अध्वरे) इस हिंसारहित या कभी नष्ट न होने वाले जीवन मय या आत्मज्ञानमय यज्ञ में (इष्टा) याग करने वाले या विषयरूप इषियों की आहुति प्राप्त करने वाले (होत्रा) प्राण विषयाहुति को भीतर के चितिशक्ति की ज्वाला में दहन करेवाले सात ऋषि, सात इन्द्रिया (इन्द्र वृधन्त.) आत्मा के ऐश्वर्य, ज्ञान गौरव को बढ़ाते हुए (आजसा) ज्ञान और बल से (अवभृथम्) पूर्ण समाप्ति के अवभृथ

स्नान पर्यन्त (अच्छा) उत्तम रूप से (असुषत) यज्ञ करते हैं और विसर्जन करते हैं ।

ब्राह्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात छिद्र, १ आस्र, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात ऋषि, सात होता हैं मुख्य आसन्य प्राण-आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका भिषक् है, चित्तिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार हैं । विशेष देखो छान्दोग्य उप० (अ० ३ । सू० १६, १७ ।)

[१५२] अहमिन्द्र पितुर्परि मेधामृतस्य जग्रह ।

अहं सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥

अ० ८ । सू० १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इन्द्रि) ही निश्चय (पितुः) अपने पातक पिता परमेश्वर के (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (परि-जग्रह) सब ओर से ग्रहण करूं । (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होऊँ ।

चतुष्पाद् ब्रह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—“माति च तपति च माति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।” (छान्दो० ३ । सू० १८ ।) ऋत की मेधा का ग्रहण देखिये छान्दोग्य (अ० ३ । सू० १५) हममें वसुधाव कोश (खजाना) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने किया है—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुधो न जीयेति ।

दिशो यस्य सक्तयो चौरस्योत्तरं निक्षंस ॥

स एवं कोशो वसुधानस्तास्मिन् विधमिदं श्रितम् ॥

इसका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० (अनु० ■ ।)

[१५३] रेवतीर्नः सधमाद् इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।

क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ ६ ॥

ऋ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(इन्द्रे) आत्मा के (सधमादे) हमारे साथ २ हर्ययुक्त सुप्रसन्न होजाने पर (नः) हमारी (रेवतीः) प्रायेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिया (तुविवाजाः) खूब बलवती होजायं । (याभिः) जिनके साथ हम (क्षुमन्त) अन्न, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर (मदेम) आनन्द अनुभव । गृहस्थ पक्ष में—रेवतीः=स्त्रियः । राष्ट्र पक्ष में—रेवती=प्रजा ।

[१५४] सोमः पृषा च चेतुर्विधास्तं सुचितीनाम् ।

देवत्रा रथ्योर्हिता ॥ १० ॥

भा०—(सोमः) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और (पूषा) सबका पोषण करने हारा परमात्मा (देवत्रा) समस्त देव, पाँचों भूतों और भौतिक शक्तियों में और आत्मा बृहस्प इन्द्रियों में व्यापक है और वही (विधास्ता सुचितीनाम्) समस्त निवास योग्य भूतों, दुनियाओं और समस्त प्राणियों के (रथ्योः) दोनों प्रकार के कर्म और भोग धर्मियों के (हिता) हितकारी होते हुए (चेततु) साधारण व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से, दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञान दान् परम गुरु के रूप में प्राणियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पूषा अर्थात् प्राणी शरीर की आवश्यकता मूल प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निजी अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । ईश्वर दोनों रूप से उनको ज्ञान दे रहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

से कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजने और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है । जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आजाते हैं । जीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला वह 'पूषा' है । विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से वह 'सोम' है । दो भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शाने के निमित्त द्विवर्चन का प्रयोग है ।

इति षष्ठी दशतिः । चतुर्यः पण्डः ।



॥ ६० ७ ॥ अ०—१, २ अगस्त्यः । २ वसिष्ठः । ३ मेधातिथिप्रियमेधौ । ४ हरिमिथिः । ५, १६ मधुच्छन्दाः । ७ त्रिशोक । ८ कुसीदः ।

१ अनु.शेषः । इन्द्रो देवता ॥

[१५५] ^{२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २} पान्तमा वा अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥ अ० ८।९२।१॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाले अन्न सुख, रस रूप सोम को (आ-पान्तम्) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करने वाले, (विश्वासाहं) सब को अभिभव करने, समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले (शतक्रतुं) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, (चर्षणीनां) तत्त्वदर्शियों के (मंहिष्ठं) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले, पूजनीय उपा-
देव आत्मा और परमात्मा की (अभि प्रगायत) साधात स्तुति करो ।

[१५६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र च इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।

^{१ २ ३ १ २} सखायः सोमगाव्ने ॥ २ ॥

अ० ७ । ३१ । १ ॥

५५६—१, के गै स्तुतौ । स्तुतिः प्रज्ञा इति यास्कः (नि० २ । ७ । ३ ।)

भा०—हे (सखाय०) समान कीर्ति वाले मित्र ! (व०) आप लोग (सोमपान्ने) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, (हर्यभाय) विषयों के प्रति सेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को (मादनं) प्रसन्न करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्तन करो, उसका ज्ञान करो ।

[१५७] ^{३ १ २} वयसु ^{३ १ २} त्वा ^{३ १ २} तदिदृथा ^{३ २ ३} इन्द्र ^{१ २} त्वायन्तः ^{१ २} सखायः ।

^{१ २} कएवा ^{३ १ २} उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—(वयसु) हम और (कएवाः) मेधावी विद्वान् लोग, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वायन्तः) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुम्हें प्राप्त करने में लगे हुए (सखायः) समान ख्याति वाले (तदि-इद् अर्था०) उस परम तत्त्व तुम्हको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) मन्त्रों द्वारा (जरन्ते) कृति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

[१५८] ^{१ २ ३} इन्द्राय ^{३ १ २} मद्धने ^{३ १ २} सुतं ^{३ १ २} परि ^{३ १ २} षोभन्तु ^{३ १ २} नो ^{३ १ २} गिरः ।

^{३ १ २} अकमर्चन्तु ^{३ १ २} कारवः ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । १२ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारी (गिरः) वेदवाणियों (मद्धने) हर्ष, प्रसाद युक्त (इन्द्राय) आत्मा योग्य (सुतं) सोम, ज्ञान और उत्तम पदार्थ को (परिषोभन्तु) वर्णन करें । (कारवः) कर्मण्य, विद्वान् लोग (अकमर्चन्तु) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की (अर्चन्तु) उपासना करें ।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं जिनका अर्थ यज्ञ प्रकरण में पात्रिक लोगों ने सदा सोमसत्ता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आत्म विज्ञान काण्ड में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भोग्य पदार्थ ही लेना उचित है । वेद में ही इन शब्दों को उस अर्थ में

प्रयोग किया है। जैसे (अ० ८। ६४। १०)—“अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सृयते। तस्येह प्र द्रवा पिव ॥” प्रत्येक मनुष्य में उसकी (पुरुषु) इन्द्रियों में वह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन्; तू आ और पान कर।

[१५६] अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि वहिषि ।

एहीमस्य द्रवा पिव ॥ ५ ॥

अ० ८। १७। ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (अधि वहिषि) प्रति यज्ञ और प्रति देह में (निपूतः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है। (इम) इस समय (अस्य) इसके पान करने के लिये (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ, (पिव) पान कर।

वहिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशाः शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्याय हैं।

[१६०] सुरूपकृत्तुमूतय सुदुधामिव गोदुहे ।

जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ६ ॥

अ० १। ४१ ॥

भा०—(गोदुहे) दूध के दोहने के लिये जिस प्रकार (सुदुधाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (सुरूपकृत्तुम्) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को (उतये) अपने को पापाचर्या से बचाने के लिये (द्यवि-द्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं।

[१६१] अमि त्वा वृषमा सुते सुतं सृजामि पीतये ।

तृप्ता व्यश्नुही मदम् ॥ ७ ॥

अ० ८। ४५। २२ ॥

१६०—द्यवि द्यवि इति जहर्नाम। नि० १। २।

भा०—हे (वृषभ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ !
(सुते) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म के उचितरूप से होजाने पर उसके
(पीतये) रस पान करने के लिये (सुतं) उत्तम ज्ञान का (त्वा अभि
सृजामि) तेरे सन्मुख ही सम्पादन करता हूँ । (तृप्प) नू उससे तृप्त हो
और (मदम्) इर्ष्य, सुख को (वि अश्नुहि) प्राप्त कर ।

योगी, अवधूत लोग समाधि-रस को मथारस से तुलना देते हैं और
आत्मा को बुलाते हैं । धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा
की वह अवस्था होजाती है ।

[१६२] यं इन्द्रं चमसस्वा सोमश्चमूपु ते सुतः ।

पिबेदस्य त्वमीशिपे ॥ ८ ॥

भा० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—(य सोमः) जो सोम है (इन्द्र) आत्मन् ! (चमसेपु) चमस
पात्रों में (सुतः) तैयार किया है वह (ते) तेरे लिये (चमूपु) छांटे
पीने के पात्रों में भी है । (अस्य इव) इसको ही तू (पिब) पानकर
(त्वम्, ईशिपे) तू ही इसका समर्थ स्वामी है ।

'चमसेपु'—सूर्यपङ्क में चमस मेघ हैं, आत्मपङ्क में प्रत्येक पुरष का
मस्तक चमस है । जैसा उपनिषद् में "अर्चोग् विलम्बमस ऊर्ध्वपुष्पः" ।
"चम्वौ धावापृथिव्यौ" । आँसूक और पृथिवी लोक 'चमू' हैं । शरीर में
यही स्थान मस्तक ही है । उसमें भी सात इन्द्रियाँ उस इन्द्र के आचमन
पात्र हैं, उनमें वह ज्ञान प्रदया करता या मस्तक के कोष्ठ (Colls) ही
उसके नाना प्रकार सोमास्वादन के निमित्त पात्र हैं । इन्द्र ही आत्मा है ।
इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो (पेंतरेय उप० सू०) "स एतमेव

१६२—१. नमु, अर्धे न्वादि । चमन्नि भक्षयन्नि अत्रेति (भा०) चमस ही

संघनाम । नि० १० । १ ।

पुरुष ततमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमितीह । तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह
 वै नाम तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवाः ॥

[१६३] योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।

सखाय इन्द्रमृतये ॥ ६ ॥

अ० १। १। ३०। ७ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक समाधि काल में और (वाजे वाजे)
 प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्येक बलकर्म के अवसर में
 (तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रम्) इन्द्र आत्मा को हम
 (सखायः) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं या उसका
 गुणगान करते हैं ।

योगः—“तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम्” । गीता० ।
 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । पात० योगसूत्र १। १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक धीरे संग्राम और
 दूसरा ध्यानयोग । दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसको
 ही पुकारा जाता है । योगी — “बलेषु इस्तिबलादीनि” । हाथियों का बल
 तक भी प्राप्त होता जाता है । संग्राम के अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन
 के आत्मा को चेताया । वह वाज या संग्राम के अवसर पर इन्द्र
 आवाहन था ।

[१६४] आत्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत ।

सखायः स्तोमवाहसः ॥ १० ॥

अ० १। ५। १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (आ प्त तु) आओ और (आ
 निषीदत) आमने सामने आकर बैठ जाओ । हे (स्तोमवाहसः) स्तुतियों
 को धारण करने हारे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रम् अभि प्रगायत) आत्म
 उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका अर्थ वर्णन करो ।

ताण्डय आहाय्य में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकाविंश, त्रिणव, त्रयाविंश और चतुर्विंश, चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ॥ स्तोमों का वर्णन किया है । इनका विशेष प्रकार से गान करने का प्रकार उक्त आहाय्य में ही दर्शाया है ।

इति सप्तमी दशतिः । इति पञ्चम खण्ड ।



॥ ६० ८ ॥ १ विश्वामित्रः । २ मधुच्छन्दाः । ३ कुसीदः काण्वः । ४ प्रियमेधः ।

५, ८ वामदेवः । ६, ९ श्रुतकः । ७ मेधातिथिः । १० विन्दुः ॥

इन्द्रो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

[१६५] इदं^{३१२} ह्यन्वोजसा^{२२} सुतं^{३१} राधानां^२ पते ।

पिबा^३ त्वा^२स्य^१ गिर्वण^२ ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—हे (राधानां पते) हे समस्त धनों, ज्ञानों और साधनों के स्वामी । (इदं) यह (अजसा) बलपूर्वक (सुतं) निष्पादित (गिर्वणः) हे बाणी से कथन या प्रशंसा करने तु योग्य (अस्य) इस ज्ञान को (तु) भी (आ पिब) पान कर ।

[१६६] महा^{३१२} इन्द्रः^{२२} पुरश्च^{३१} नो^२ महित्वमस्तु^{३१} वज्रिणे^२ ।

धौर्न^{१२} प्रथिना^{२२} शवः^{३१} ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ५ ॥

भा०—(महान्) बड़ा आत्मा (नः) हमारे (पुरः च) आगे सदा विद्यमान रहता है । (वज्रिणे) सब मयों के वारण करने हारे उम्भ आत्मा की (महित्वम् अस्तु) महिमा वर्ना रहे । (शवः) उसका बल, ज्ञान (प्रथिना) विस्तृत होने से (धौः न) धौलोक या सूर्य के समान है ।

१६५—'अन्वोजसा' इति ऋ० ।

१६६—'पुरश्च नु' इति ऋ० ।

[१६७] आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्रं ग्रामं सङ्गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥ अ० ८। ८१। १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (महा हस्ती) बड़े मारी हस्त=धारक प्रयत्न वाला तू (क्षुमन्त) अन्न, और गृह से सम्पन्न (ग्रामं) ग्रहण करने योग्य (चित्रं) ज्ञान को (दक्षिणेन) उत्तम साधन से (आ संगृभाय) संग्रह कर ।

[१६८] अभि प्र गोपतिं गिरिन्द्रमर्च यथा विदे ।
सुनु सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ अ० ८। ६६। ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (गोपतिं) बायीं और, शर्मियों, इन्द्रियों स्वामी पालक (सत्यस्य सुनुम्) सत्य को उत्पन्न करने वाले, (सत्पतिम्) सत्य पदार्थ या सज्जनों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र को (यथा विदे) यथाधि ज्ञान के लिये (अभि प्र-अर्च) साक्षात् रूप से स्तुति कर ।

[१६९] कया नक्षिप्र आमुचदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥ अ० ४। ३१। १ ॥

भा०—(सदावृधः) सत्य के बल से अधिक बढ़ने वाला इन्द्र (चित्र,) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, (नः) हमारा (कया) किस अपूर्व (कत्या) रक्षण करने वाले सामर्थ्य या ज्ञान से और (कया) किस (शचिष्ठया) शक्तिसम्पन्न बलयुक्त या बुद्धिमत्तायुक्त आश्चर्यमय शक्ति से, (कया वृता) और किस व्यवहार से (सखा) हमारा मित्र (आमुचद्) हो ।

[१७०] त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्वाणतम् ।
आख्यावयस्यूनये ॥६॥ अ० ८। ६२। ७ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोतः ! (सत्रासाहं) सब को एक साथ विजय कर लेने हारे (वः) तुम्हारे (विश्वासु) समस्त (गीर्षु) वाणियों में (आयतम्) विद्यमान, वर्णित (त्वम्) उस आत्मा को (कृतये) अपनी रक्षा के लिये (आद्यावयसि) साक्षात् कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७१] सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।

३ २ ३ १ २
सति मेधामयासिषम् ॥७॥ अ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसस्पतिं) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक (अद्भुत) अभूतपूर्व, (इन्द्रस्य प्रियम्) अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय, (काम्यं) कामना करने योग्य, (सति) सत् असत् का विभाग करने हारे, (मेधाम्) धारणावती शक्य आत्मबुद्धि को देने हारे विवेक (अहम्) मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊँ ।

३ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७२] ये ते पन्था अत्रो दिवो येभिर्व्यश्चमैरयः ।

३ २ ३ ३ १ २
उत श्रोपन्तु नो भुवः ॥८॥

भा०—हे आत्मन् ! () जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तेरे (दिवः अथ) घौलोक, प्रह्लाण्ड, मस्तक कपाल के नीचे हैं (येभि) जिन्हों से (व्यश्चम्) नाना प्रकार के अश्वों, इन्द्रियों को (ऐरयः) प्रेरित करता है वे और (नः भुवः) हमारे प्राण या कर्मेन्द्रिय (उत) भी (श्रोपन्तु) तेरी आज्ञा को सुनते हैं ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७३] भद्रं भद्रं न आभरेमूर्जं शतक्रतो ।

१ २ ३ १ २
यदिन्द्रं मृडयासि नः ॥९॥ अ० ८ । १३ । ७८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, हे शतप्रज्ञ ! (इन्द्र) आत्मन् ! (यद्) जब (नः) हमें (मृडयासि) सुखी करते हो तब (भद्रं भद्रं) करपाणकारी,

सुखकारी, (इषम्) अन्न और (ऊर्ज) बल को (आ भर) प्राप्त कराते हो ।

[१७४] अस्ति सोमो अथ सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अभिना ॥१०॥ अ० ८। ६४। ॥

भा०—(अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान या सूक्ष्म अन्न रस, (सुतः) निष्पन्न हुआ है (अस्य) इसको (स्वराजः) प्राण के बल से गति करने वाले, या स्वयं चेतन (मरुतः) इन्द्रियगण, प्राणगण या विद्व-जन (पिबन्ति) पान करते हैं (उत) और (अभिना) प्राण और अपान भी या विद्वान् की पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यष्टमी इति । अति पठः अष्ट ।

॥ ६० ९ ॥—१ इन्द्रमातरो देवजामवः । २ गोधा । ३ दध्यक्ष आयर्वणः ।
४ प्रसृजवः । ५ गोतमः । ६ मधुच्छन्दाः । ७ वामदेवः । ८ वत्सः ।
९ शुनः शेषः । १० वातायन उरव ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । पञ्चः ॥

[१७५] ईक्ष्यन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
वन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥ अ० १०। ११३। १ ॥

भा०—(ईक्ष्यन्ती) गतिशील, ज्ञानशील (अपस्युव) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रिया (जातं) प्रकट हुए (सुवीर्यम्) उत्तम बलशाली (इन्द्रम्) आत्मा को (वन्वानासः) भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई (उपासते) उसकी उपासना करती है ।

सायण वे इन्द्र-माताओं पर यह मंत्र लगाया है । इन्द्र आत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रियां ही यहां अभिप्रेत हैं । जैसा ऐतरेयारण्यक

लिखा है—‘इन्द्रिये’ कहा करती है “तव उप स्मसि” तेरी ही हैं । इत्यादि ।

[१७६] न^१कि^२ देवा इनीमसि^३ न^४कयायोपयामसि^५ ।

मन्त्रश्रुत्य^{३ १ २} चरामसि ॥२॥ अ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (देवाः) हम इन्द्रियमय (नकि इनीमसि) कुछ भी बधादि नहीं करते, (नकि आयोपयामसि) और न कुछ भूल करते हैं । (मन्त्रश्रुत्य) मनन संकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तदनुसार हम (चरामसि) आचरण करते हैं । प्रजा जोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चले । हम दोष न ।

[१७७] दोषो^{३ १ २} आगादु^{२ ३ १} बृहद्गाय^{२ ३ १} शुमद्गाममार्थर्षण^{२ ३ १} ।

स्तुहि^{३ २ ३ १ २} देवं सवितारम् ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक^१ अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे (बृहद्गाय) बृहत्साम का गान करने वाले या प्राण-स्वर से गान करनेहारे । (आथ-र्षण, जीवन का नाश न करनेहारे आत्मन् ! (गामन्) गतिशील ! आत्मन् ! (शुमद्, दोष) दीक्षिमान्, सब अन्धकारों का नाश करने हारा ईश्वर (आगात्) अब अन्तरात्मा में उदित होगया है । अतः उस (सवितारं) सबको प्रेरणा करनेहारे (देवं) प्रकाशस्वरूप देव को (स्तुहि) तू कीर्त्तन कर । विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा के उदय । अवसर पर साधक की यही दशा होती है ।

१७६—‘नकिदेवा’ ‘मिनीममि’ इति च अ० । ‘पजांमिरपिकसेमिरप्राभि सरभामंदे’ इति अभिक्त पाठः, अ० ।

१७७—‘दोषो गाय बृहद्गाय शुमद्देहि । आथर्षण देव सवितारम्’ । इति अथ० ।

१. सगामानमंसामन्त्रयते । सा० ।

[१७८] ^{३ २ ३ १२ २४ ४ २४} एषा उषा अपूर्वा व्युच्छति प्रिया दिवः ।

^{३ १ २ ३ २} स्तुष वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ अ० १। ४६। १ ॥

भा०—(एषा) यह (उ) ही (उषाः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा (अपूर्वा) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, (दिवः प्रिया) सस्तक या मूर्धाभाग को पूरा करने वाली या सूर्य समान तेजस्वी आत्मा अति प्रिय होती है । हे (अश्विना) गमनशील प्राण और अयान ! आप दोनों के इस उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त (बृहत्) स्तुष (स्तुपे) अच्छी प्रकार गुण कहता हूँ । साधारणतः उषा के पक्ष में स्पष्ट है ।

[१७९] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २४} इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राय प्रतिकुतः ।

^{३ १ २ ३ १२ २४} जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ अ० १। ४७। १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की (अस्थभिः) समोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिकुतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान आवरण करने वाले विघ्नों को (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्, रजस्, तमस्, तीन काकों के भेद से ३ प्रकार की हुई । प्रमाद, उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई । फिर सात्विकादि के सम विपक्ष होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की होजाती है । इतनी प्रकार की शक्तियों से वह इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों पर विजय करता है ।

इन्द्र की कथा भी आलंकारिक है, स्थानाभाव से नहीं लिखते ।

[१८०] ^{२४ ३ १२ २४ ३ १ २ १ ३} इन्द्रे हि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।

^{३ १ २ ३ १२ २४} महो अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ अ० १। ४८। १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (इहि) आ साक्षात् हो । (अन्धसः) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की (विधेमि) समस्त (सोमपर्वभिः) धीर्य पालनकारी सामर्थ्यों से तू (मत्सि) प्रसन्न और तृप्त होता है और (ओजसा) अपने बल से (महौ अभिष्टिः) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति वाळा हाजाता है ।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहन्स्माकमर्धमा गहि ।

महान्महीभिरुतिभिः ॥ ७ ॥

अ० ४ । ३२ । १ ॥

भा०—(वृत्रहन्) हे तामस आवरणों और विघ्नों के निवारक ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (महीभिः) बड़ी (उतिभिः) शक्तियों द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमारे (अर्धम्) समीप (आगहि) आ ।

[१८२] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।

इन्द्रश्चर्मैव रोदसी ॥ ८ ॥

अ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य ओजः) उस महान् आत्मा का सूर्य के समान वह ओज (तित्विषे) चमकता है (यत् , जिससे वह (उभे रोदसी) धौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) चमके की तरह (समवर्तयत् , सब ओर रहा है, व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिससे वह प्राण अपान दोनों को चर्म या वस्त्र के समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु ते समतासि कपोत इव गर्भधिम् ।

वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ९ ॥

अ० १ । ३० । ४ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपोतः) कपोत (गर्भधिम् इव) अपनी कपोती के पास जाता है उसी प्रकार (ते) तेरे पास (सम् अतसि) आता है, इसी कारण (न) हगारे (तद् वचः) उस वचन को (ओहसे) प्रेम से अन्वण करता है ।

[१८४] वात आ वातु मेपजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।

प्र न आयूषि तारिपत् ॥ १० ॥ अ० १० । १८६ । १ ॥

भा०—(वात०) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा (न०) हमारे । हृदे) अन्त करण में (शम्भु) कल्याण और शान्ति-कारक, (मयोभु) सुखकारी (मेपजम्) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे ओषधि को (आ वातु) प्राप्त कराए और (न) हमें (आयूषि) समस्त जीवन को (प्र तारिपत्) पार कराए ।

जैसे मङ्गल जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिव्याधिजरापराहत यदि चेम निजं वाञ्छसि ।

श्रीकृष्णोति रसायनं रमय रे शून्यैः किमन्यैः रसैः ॥

फलतः, हृष्टदेव ओषधि आदि भावना भी भक्त कर लेते ।

इति नवमी. दक्षति । इति सप्तम. सुन्द. ।



॥ ६० १० ॥ अ० १०—१ कण्वः । २, ३, ४ वरसः । ५ अतकशः । ६ मधु-
च्छन्दा । ६ वामदेवः । ७ शरिमिठ ॥ ८ वारुणिः सत्यधृतिः ॥ इन्द्रो
वता ॥ गायत्री छन्दः ॥ षष्ठः ॥

[१८५] यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रा अर्थमा ।

नकिं स दभ्यत जनः ॥ १ ॥ अ० १० । १७ । ३ ॥

भा०—प्रचेतस) उद्गृष्ट ज्ञान से सम्पन्न (वरुण०) वरुण, सबसे श्रेष्ठ (मित्र) मित्र, मयका स्नेही और (अर्थमा) अन्तर्यामी, न्यायकारी जन (य)

जिसकी (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (स.) वह (जन.) मनुष्य (नकि. दम्यते)
कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता । बृहदारण्यकोपनिषद् के (अ० ३) में
'इमं देवों की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में स्थिति का निर्णय किया है ।

[१८६] गव्यो षु गो यथा पुराश्वयात रथया ।

वरिवस्या महोनाम् ॥ २ ॥ अ० ८ । ४६ । १० ॥

भा०—हे साधक ! (यथा पुरा) पूर्व के समान (गव्या) गौ आदि
पशुओं की इच्छा से, (अश्वया) अश्व आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना
से और (रथया) रथों की कामना से (उत) और (महोनाम्) धनों के
प्राप्त करने के लिये तू (वरिवस्य) उपासना कर । अध्यात्म में—गौ=इन्द्रिया,
अश्व=मन और रथ=शरीर । इन तीनों को उत्तम रीति से बश करने और बलवान्
बनाने की कामना से इन्द्र=आत्मा और परमेश्वर की उपासना आवश्यक है ।

[१८७] माम्त इन्द्र पृश्नया घृतं दुदत आशिरम् ।

एनामृतस्य पिण्युषी ॥ ३ ॥ अ० ८ । ६ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (इमा. पृश्नयः) ये रसों
तक पहुँचने वाली इन्द्रिया (अतस्य पि-युषी) अत=सत्य ज्ञान को प्राप्त
करती हुई । एनाम्) इस अनुभवगम्य । आशिरम्) प्रस्फुटित हुए (घृतं)
विशेष ज्ञान, दीप्ति, कान्ति को (अतस्य) जल पान करके दूध को गोमो
■ समान (दुदते) उत्पन्न करती हैं ।

[१८८] अया धिया च गव्यया पुरुषामन्पुरुष्टुत ।

यत्सोम सोम आमुव. ॥ ४ ॥ अ० ८ । ६ । १९ ॥

१८६—'वरिवस्य महामह' इति । अ० । 'महोनाम्' इति पाठो विवरणमस्ति ।

१८८—'मात्मन्' इति । अ० ।

भा०—हे (पुरुनामन्) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे (पुरुस्तुत) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! आत्मन् ! (अथा गव्यथा) हम इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी (यत्) जो तू (सोमेसोमे) प्रत्येक सोम अर्थात् ज्ञान में (आमुवः) प्रकट होता है । इसीमे तू साक्षात् किया जाता है ।

‘प्रतिबोधविदित मतम्’ । इति केन उ० ।

[१८६] पा०का न. सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं यज्जुं त्रियावसु ॥ ५ ॥ अ० ८ । ५५ । ५६ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (पावका) हृदय को पवित्र करने वाली (वाजेभि) ज्ञान और कर्मों द्वारा (वाजिनीवती) शक्तिसम्पन्न होकर (त्रियावसु) ध्यान, धारणा और ज्ञानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण में वास करने वाली (यज्ञं यज्जुं) हमारे जीवन-यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[१६०] क इमन्नाहुपीप्त्रा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।

स नो वन्मन्यामरात् ॥ ६ ॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र आत्मा को (नाहुपीप्त्रा) कर्म-बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में (सोमस्य) गुण-कीर्त्तन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा (क तर्पयात्) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा (कः) सुखमय प्रजापति ही (सः) वह परमेश्वर ही (नः) हमारे (वसूनि) ज्ञानों और ऐश्वर्यों को (आमरात्) सदा प्रदान करे ।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामयं चिन्तयेत् । (स्फुट)

१९०—१. नहुष इति मनुष्यनाम (नि० २ । ३) नष्टत्वेः कर्मभिः पूर्वकृतैः ।

[१६१] आ याहि सुपुमा हि त इन्द्र सोम पिवा इमम् ।

एव वर्हिः सदो मम ॥ ॥

अ० १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ! (हि) क्योंकि हम (ते) तेरे लिये (सुपुम) ज्ञान को उत्तम रूप से सक्न, सम्पादन करते हैं भक्तः तू (आ याहि) आ प्रत्यक्ष हो । और (इमं) इस (सोम) सोमरूप ज्ञान को (पिब) पान कर । (इव) यह (मम) मेरा दिया (वर्हिः) यज्ञ या हृदयरूप आसन इसमें (आ सद) विराज ।

[१६२] महि ब्रीहामवरस्तु शुचं मित्रस्यार्यम्णः ।

दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥

अ० २० । १८५ । १ ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, आदित्य या प्राण्य (अर्यम्णः) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और (वरुणस्य) वरुण अपान, (ब्रीहाम्) इन तीनों की (महि अवः) बड़ी रक्षा और (दुराधर्षं शुचं) असह्य तेज (अस्तु) हो । अथवा आदित्य या मित्र चक्षु में स्थित है । यम या अर्यमा त्वय में है वा हुआ अद्वा और दक्षिण में विराजमान है । रेतस्-वीर्य में वरुण स्थित है ।

[१६३] त्वावतः पुरुवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।

स्मनि स्थातर्हरीणाम् ॥ ६ ॥

अ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने वाले । (इन्द्र) आत्मन् । (हरीणाम् प्रणेत) हे इन्द्रियों के प्रेरक । हे (स्थातः) निम्न अविचाली, कूटस्थ पुरुष । हम (त्वावत) तेरे समान स्वामी के ही (स्मनि) हैं । इन्द्रियगण आत्मा को एवं प्रजागण भृत्यादि राजा को इसी प्रकार कहते हैं ।

इति दशमो दशति । इति अष्टमः गणः ।

द्वितीयः प्रकाठः समाप्तः ॥

१६२—'वयोस्तु शुचं' इति । अ० ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (१)

॥ द० १ ॥ अपि -१ प्रगाथ. । २ विश्वामित्र. । ३, १० वामदेवः । ४, ६
श्रुतकः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाज । इन्द्रो
देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१६४] उ^१ त्वा^२ मदन्तु^३ सोमा^४ कृषुष्व^५ राधो^६ अद्रिवः^७ ।

अव^१ ब्रह्मद्विपो^२ जहि ॥ १ ॥

अ० । ६ । १ ।

भा०—हे (अद्रिवः^१) संहारकारी अभेद्यशक्ति से युक्त ! हे आत्मन्,
जीव ! (त्वा) तुम्हको (सोमा) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य । मदन्तु)
हर्ष दें । तू (राध.^२) ज्ञान, धन कृषुष्व सम्पादन कर (ब्रह्मद्विपः)
वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को (अव जहि)
नाश कर ।

[१६५] गिर्वेण^१ पाहि^२ न^३ सुतं^४ मधो^५ धाराभिरज्यसे^६ ।

इन्द्र^१ त्वादातमिद्यशः^२ ॥ २ ॥

भा०—हे (गिर्वेण.) वेदवाणियों द्वारा कीर्तन करने योग्य । तू (न)
हमारा (सुतं) सम्पादन किया स्तुतिरूप हव्य (पाहि) पान कर,
स्वीकार कर । (मधो) मधु=ब्रह्मज्ञान, अमृत, ऋग्वेद की (धाराभि.)
धारणाओं, ऋचाओं द्वारा (अज्यसे) तुम्हारा स्तवन, सेवन, भजन, ज्ञान
किया जाता है । हे आत्मन् ! (त्वादातम् इद्) यह तुम्हारा ही प्रकाश-
मान (यशः) यश, सामर्थ्य है ।

१९४—'स्तोमा' इति ।

१. अत्तेरद्रि. ।

२. राधसाध ससिद्धौ, स्वादि ।

देखो—“य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्” इत्यादि (कठ०
ष० ४ । १ ।)

[१६६] ^{१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २ २ ३ २} सदा व इन्द्रश्चर्कपदा उपोनु स सपर्यन् ।

^{३ २ ३ २ ३ १ २} न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

भा०—(वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव
(सदा) नित्य (आ चर्कपदा) अपने समीप आकर्षण करता है । और
(सः) वह (नु) ही (सपर्यन्) आदर, प्रेम करता हुआ (इन्द्र)
आत्मा, परमात्मा (शूर) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न (देवः) देव
क्या (न वृतः) नहीं चरणा किया जाता ? वह सबसे अधिक चरण
करने योग्य है ।

[१६७] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ त्वा विशन्तिवन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।

^{२ ३ ३ १ २} न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ ऋ० ८ । ६२ । २२ ॥

भा०—(इन्द्रवः) समस्त ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुम में (सिन्धवा,
समुद्रम् इव) जिस प्रकार नदिया समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार
(विशन्तु) प्रवेश करें । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तुम से (न
अतिरिच्यते) कोई भी बढ़ नहीं सकता, तुम से पृथक् नहीं रह सकता ।
आसपक्ष में—(इन्द्रवः) द्रवणशील इन्द्रिया प्राणगण आत्मा रूप समुद्र
में नदियों के समान प्रविष्ट हैं । उससे कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१६८] ^{३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २} इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्कभिरर्किणः ।

^{३ १ २} इन्द्रं वार्षीरनूषत ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) गाथाओं का गान करने वाले, सामगायक
(इन्द्रम् इव) आत्मा को ही (बृहत्) बृहत्साम द्वारा (अनू

पत्त) स्तुति करते हैं । (अर्कैः) अर्चा करने द्वारे ऋग्वेदी (अर्कैः) अपने स्तुति पाठों व ऋग्वेद के मन्त्रों से (इन्द्रम्) आत्मा की ही स्तुति करते हैं और (वागीः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (इन्द्रम्) आत्मा की ही (अनूपत) स्तुति करते हैं ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति इति काठक उप० ।

[१६६] इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षयमृभु रायिम् ।

वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ अ० ४ । १३ । ३४ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (इषे) हमारी इच्छानुकूल । नः) हमें (ऋभुक्षयम्) बड़े भारी (ऋभुं) तेज, सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त (रायिम्) धन, अन्न, ज्ञान का (ददातु) दान करे । (वाजी) सर्वज्ञ, परचर्यवान् वह हमें (वाजिनं) ज्ञान एवं कर्म बल का भी (ददातु) दान करे ।

[२००] इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यधत् ।

स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥ अ० २ । ६१ । १० ॥

भा०—(अङ्ग) हे मनुष्य । वह परमेश्वर (महद् भयम्) बड़े भारी भय को (अभीषत्) प्र करता है । भयको अपचुच्यधत् । परे हटा देता है (सः हि) क्योंकि वह (स्थिरः) स्थिर, कूटस्थ और (विचर्षणिः) सब को देखने वाला, सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुत सुत नक्षन्ते गिर्वणो गिरः ।

गावो वत्स न घेनवः ॥८॥ अ० ३ । ४५ । २८ ॥

२०१—'वत्सं गावो' इति पाठभेदः, ॥

भा०—हे (गिर्वयः) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य । (त्वा उ) तुम्हको ही (सुतेसुने) प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में (इमा गिर) ये वेदवाणिया (धेनव गाव वस न) दूध पिलाने वाली गाय जिन प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार (नक्षन्ते) पहुँचती हैं। तब वर्णन करती हैं।

[२०२] ^{२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३} इन्द्रा नु पूषणा वय सख्याय स्वस्तये ।

^{३ १ २ ३ २ ३ २} हुवेम वाजसातये ॥१॥ अ० ६ । २७ । । ।

भा०—(इन्द्रा पूषणा) सर्वेश्वर्यसम्पन्न इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल और अस्त्रादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं।

[२०३] ^{१ २ ३ १ २ २ ३ १ २} न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति घृगहन ।

^{२ ३ २ ३ २} न एवेव यथा त्वम् ॥१०॥ अ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर । (त्वदुत्तरं) तुम्ह से ऊँचा और तुम्ह से अधिक सूक्ष्म, परम कारण (न कि) कोई भी नहीं है । (घृगहन) आवरणकारी तामस बिज्जों को दूर करने हारे । (ज्यायो न अस्ति) और कोई दूसरा तुम्ह से अधिक बड़ा एवं प्रशंसा करने योग्य भी दूसरा नहीं । (यथा त्वम्) जैसा तू है (एव न कि) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है ।

न त्वत्तमोस्त्यभ्यधिकं कुतोऽन्यं । गी० ॥

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिन् ॥ कठ० उप० ॥

इति प्रथमा दशति । नमः खण्डः ॥

॥ ६० २ ॥ ऋषि—१, त्रिशोक । २ मधुच्छन्दा । ३ वशोदव्यो वत्सोवा ।

५ सुवक्षः । ६, ९ वामदेवाः । ७ विश्वामित्रः । ८ गोपूतश्वसृक्तिनौ ।

१० श्रुतवक्षः ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री षड्ज ॥

[२०४] ^{३ १ २ ३ २ २ ३ २ २ २ ३ १ २} तरणिं चो जनानां व्रदं वाजस्य गोमत ।

^{३ २ ३ १ २ २ ३ ३ २} समानमु प्र शंसिपम् ॥१॥ अ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) आप सब (जनाना तरणिम्) मनुष्यों को तारने वाले पार करने वाले, (व्रद) दान देने वाले या कष्टों को काटने वाले, (गोमत) इन्द्रियों और पशु आदि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न और ज्ञान (समानम् उ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निष्पक्ष सर्वव्यापक प्रभु की मैं (प्र शंसिपम्) स्तुति करता हू ।

[२०५] ^{२ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २} असृग्रिमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।

^{३ १ २ ३ १ २ १ २} सजापा वृषभ पतिम् ॥२॥

भा०—हे 'इन्द्र' परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (गिरः) इन वेदवाणियों को (असृग्रम्) प्रकट करता हू । क्योंकि (सजापा) प्रेम से या कामना से प्रेरित स्त्री जिस प्रकार (पतिम्) अपने पति प्रति जाती है वही प्रकार (वृषभं सर्वश्रेष्ठ, धर्म से देदीप्यमान, सबके पालक (स्वा प्रति) तेरे प्रति ही समस्त वाणियाँ (उद् अहासत) आ रही हैं ।

[२०६] ^{३ २ ३ २ ३ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २} सुनीथो घा म मर्त्या य मरुता यमयमा ।

^{१ २ ३ १ २} मित्रस्पान्त्यद्रुहः ॥ ३ ॥ अ० ८ । ४६ । ४ ॥

भा०—(स मर्त्यः) वह पुरुष (सुनीथः) उत्तम मार्ग में चला जाता । (य) जिसको (मरुतः) देव, विद्वान् लोग, और (य) जिसकी (यमा) न्यायकारी, (मित्रः) सब का स्नेही और (अह्वः) बिना द्रोह रहित पुरुष (पान्ति) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] यक्षीढावन्द् यत् स्थिरं यत्पशोने परामृतम् ।

यसु स्वाहे तदामर ॥४॥ अ० ८ । ६ । ४५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (यद् बीडौ) जो शत्रुओं न दमने वाले, (यद् स्थिरं) जो स्थिर रहने वाले, और (यत् पशोने) जो विचारशील पुरुष में (परामृतम्) रहा करता है (तद्) वह (स्वाहे यसु) सब के समीप के योग्य बल, धन और स्थिरता और ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

[२०९] श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्वं चषणीनाम् ।

आशिषे राधसे महे ॥५॥ अ० ८ । ६ । ४६ ॥

भा०—(यः) आप लोग (श्रुतम्) वेद में विख्यात या ज्ञात में प्रसिद्ध (शर्वं) उत्कृष्ट बलशाली (वृत्रहन्तमं) विघ्नों के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ की (चषणीना) प्रजाओं की (आशिषे) उत्तम कामनाओं की पूर्ति और (महे) श्रेष्ठ (राधसे) साधना या ऐश्वर्य प्राप्ति लिये (प्र) उपासना करो ।

[२०६] अरे त इन्द्र अवसे गमेम शूर त्वावतः ।

अरे शक्र परेमणि ॥६॥

२०७, परिशाने इति पाठ प्रातिशारुगानसारी कौषमानाम् ।

२०८-आशुष इति पाठमद अ०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (शूर) शत्रुओं के हिंसक ! (त्वावतः ते) तेरे समान ! अद्वितीय नेरे ही (अघसे) कीर्तिगान करने के लिये हम (अरं गमेम) खूब खगे रहें । हे (शक्र) सर्वशक्तिमन् ! (परंमणि) तेरी परमता सौंदर्य, परम रूप में ही हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमेम), लीन रहें, मग्न हों ।

[२१०] ^{३ १ २} धानावन्तं ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} करम्भिणमपूपवन्तमुक्थियन्म ।

^{१ २ ३ १ २} इन्द्र प्रातर्जुपस्व नः ॥ ७ ॥

अ० ३। ५०। २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (न.) हमारे (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (धानावन्तं) ध्यान धारणा से सम्पन्न, (करम्भिणम्) सुख को प्रारम्भ करने वाले, (अपूपवन्तम्) अति समीपता दिलाने वाले अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उक्थियन्) ज्ञानसम्पन्न, सोम, आत्मा को (जुपस्व) प्रदण करो, स्वीकार करो ।

मुँने औ 'धाना' कहाते हैं, ढही से मिले सत्तू 'करम्भ' कहाते हैं । पके पुरोडाश को 'अपूर' कहा जाता है । प्रतिनिधिवाद् से, सूक्ष्मतत्त्व जब स्पष्ट होजायं तो वे ही 'धाना' हैं । ध्यानयोग से विवेक द्वारा पवित्र किया सत्य ज्ञान 'सक्तु' है । उसका विशेषरस अनुभव 'दधि' है, जिसका मथन करने पर या विशेष परिपाक होने पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान 'अपूप' है जिसमें आत्मा उस ब्रह्मके समीपतम होजाता है । अथवा [अप-उप-वन्=अपूपवात्] वह दूर और निकट के सब पदार्थों को ग्रस है । उस समय अपूर्व ब्रह्मास्वाद 'उक्थ' है, तद्वान् आत्मा 'उक्थी' है । उसको स्वीकार करने की प्रार्थना है ।

[२११] ^{३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अपां फेनन नमुचैः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

^{१ २ २ ३ १ २} विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ८ ॥

२११—स्फुटायते वर्धते स फेनः । अप, अति अज्ञानम्, कर्मनाम च, नि० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यत्) जब (विशा० स्पृध.) अपने से स्पर्द्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को (अजय.) विजय करते तब (नमुचं) कभी न पीछा छोड़ने वाले मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी (शिर.) शिर या आधय (अपा फेनेन) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आस पुरुषों के शुद्ध ज्ञानोपदेश से (उद् अवर्त्तय) काट छाड़ ।

[२१२] ^{३ १ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} इमं त इन्द्र सोमा सुतासो ये च सोत्वाः ।

^{१ २} तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (इमे) ये (सोमा.) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (सुतास.) निष्पादन किये हैं (ये च) और जो (सोत्वा) अविष्य में निष्पादन किये जायेंगे (तेषा) उनसे हे (प्रभूवसो) साम धर्मसम्पन्न ! शरीर के वासी आत्मन् ! (मत्स्व) तू सदा प्रसन्न रह ।

[२१३] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} तुभ्यं सुतास सोमाः स्तोत्रं वर्द्धिवाभायमो ।

^{३ १ २} स्तोतुभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ ऋ० अ० ६ । ६१ । २५ ॥

भा०—हे (दिभावमो) तेज कान्तिसम्पन्न ! (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमा) सोम, य समस्त अन्तः आनन्द रस (तुभ्य) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये गये हैं (वर्द्धि) देहरूप या आसन अथवा ब्रह्मस्वरूप महान् आधय (स्तोत्रं) विस्तृत किया गया । तू (स्तोतुभ्य) सत्य २ गुणकार्तन करने वालों को (मृडय) सुखी कर ।

इति द्वितीया दशति । दशमः खण्डः ।

—ॐ—

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥ १ ॥ शुभः श्रेयः । शुभः । ३ तिनोरः । १ नेशानिदि ।

गोनमः । ६ ग्हानिधि । ७ विशाग्निो नग्निर्मा । ८ प्रम्हन् । ॥

इन्द्रो देवता । गायत्री ॥ ५२ ॥

[२१४] आ व इन्द्र किंवि यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।

मं० १ । ३० । १ ॥

भा०—(व.) आप लोग (इन्दुभिः) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा (शतक्रतुं) सैकड़ों प्रज्ञाओं और ~~...~~ से युक्त (मंहिष्ठ) दानशील, पूजनीय, (इन्द्रं) आत्मा को (वाजयन्तः) बल और ऐश्वर्य की कामना करते हुए (आ सिञ्च) इस प्रकार वृष करो यथा जिस प्रकार (किंवि) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र को घृत तैल आदि से सींचते हैं । अथवा—जिव प्रहार (किंवि) जलपूर्ण कूप के आश्रय से (वाजयन्तः) अन्न चाहने वाले कृषक खेत को जल से 'सेचन' करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से संत्ररूप आत्मा का सेचन करो ।

[२१५] अतश्चिन्द्र न उपायादि शतवाजया ।

इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ अ० ८ । ९२ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! राजन् ! (अत नित्) इस कारण से ही (शतवाजया) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और (सहस्र-वाजया) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त (इषा) या इच्छा शक्ति या सेनासहित (न.) हर्षे (उप याहि) प्राप्त हो ।

[२१६] आ वुन्द वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्विमातरम् ।

क उभा के ह शृण्वरे ॥ ३ ॥ अ० ८ । ९५ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहा) विघ्नों को निवारण करने द्वारा राजा (जातः) शक्ति सम्पन्न होकर ही (वुन्द) दण्ड देने और शत्रु का नाश करने हारे-वाण या हथियार को (आददे) धारण करता है । और (मातरम्) अपने

उत्पन्न करनेहारी मातृतुल्य प्रजा से (वि पृच्छात्) नाना प्रकार से पूछता है कि (के उग्राः) तुम्हें कष्ट देने वाले भयंकर कौन हैं और (के ह शृण्विरे) कौन हिंसा करते हैं । अथवा—(के ह शृण्विरे) कौन अवयवी शील विद्याभ्यासी और (के उग्राः) कौन उग्र, बलवान्, वीर वृत्ति हैं । शक्ति धारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब वह राजदण्ड हाथ में लेता है और प्रजा के दुःखदायी आसतायी लोगों को खुश छानवीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में—माता=अथार्थ अनुभवशील चित् शक्ति, बुन्द=प्रोकार, वृत्र=अज्ञान, उग्रा=विधेयक भाव या प्राणगण और अवयवी शील ज्ञानेन्द्रियगण हैं ।

[२१७] ^{३ १ २} बृवदुक्थं ^{३ १ २ ३ १ २} हवामहे ^{३ १ २ ३ १ २} सुप्रकरस्मृतये ।

^{१ २ ३ १ ३ १ ३} साध कृण्वन्तमवसे ॥४॥ अ० ८ । १२ । १० ॥

भा०—हम (उक्तये) रक्षा के लिये (सुप्रकरस्मृत) अपने दार्थों को फैलाये (बृवदुक्थ) अति अधिक क्यातिमान् और (अवसे प्रजा की रक्षा करने के लिये (साध कृण्वन्त) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर को बुलाते हैं ।

[२१८] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ऋजुनीती नो वरुणो ^{३ १ २ ३ १ २} मित्रो नयति ^{३ १ २} विद्वान् ।

^{३ १ २ ३ १ ३} अथमा दवै सजोषा ॥५॥ अ० १ । ६० । १ ॥

भा०—(वरुण) सब कष्टों का निवारण करने द्वारा, (मित्र) सब का स्नेही (विद्वान्) सर्वज्ञ (अथमा) अन्तर्गामी न्यायकारी (दवै) विद्वान् पुरुषों से (सजोषा) सनान रूप से प्रेम करने वाले राजा के समान परमेश्वर । ऋजुनीती) धर्मयुक्त नीतिमार्ग से (न.) हम सब को (नयति) ले जाता है ।

२१८—'नयति विद्वान्' इति अ० ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[२१६] दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्नितत् ।

३ २ ३ २ ३ २

वि भानुं विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—(दूरात्) दूर (सतः) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान (यत्) जब (अरुणप्सुः) प्रातःकालिक प्रभा के समान कान्तिमान् (इह एव) यहाँ ही (शिश्नितत्) चमकता है तब (भानुं) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को (विश्वथा वि अतनत्) सब ओर फैलाता है ।

साधक की साधना की सिद्धि के लक्षण विशेष दीप्ति का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है । जैसा लिखा है—

‘व्यद्युतद् व्यद्युतदा न्यमीमीपद्’ इत्यादि । केन उ० । तद्दूरे अन्तिक इत्यादि । ईश उ० ।

१ २

३ १२

[२२०] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।

३ १ २

मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥ अ० १। ६२। १६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान (घृतैः) दीप्तिओं द्वारा (गव्यूतिम्) इन्द्रियों के मिलने के स्थान त्रिपुटीभाग को अथवा गायों के बाँधे के समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को (आ उक्षतम्) योगज आनंद-रसों से खूब सेचन करो । हे (सुक्रतू) उत्तम प्रजा और कर्म के सम्पादन करने वाले तुम दोनों ! (नः) हमारे (रजांसि) रजोभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को धौ और पृथिवी या दिन और रात्रि के समान (मध्वा) मधु अर्थात् विशेष चेतना या सवित्सिद्धि द्वारा (उक्षतम्) सेचन करो ।

२१९—‘यत्सत्यरणप्सु’, ‘विश्वथातनत्’ इति अ० ।

२२०—१, मधु धमतेर्गतिर्गणः ।

प्राण और अपान की साधना से त्रिपुटी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'सधित् ज्ञान' कहते हैं ।

[२२१] उदु त्ये सुनवा गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।

वाश्वा अभिष्टु यातवे ॥८॥ अ० १ । १७ । १० ॥

भा०—(त्ये) वे (गिरः सुनवा) वाश्वों के उत्पादक मरुद्गण (यज्ञेषु) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यव्यापारों (काष्ठाः) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे (वाश्वा) गौण हंभारते समय (यातवे) गति करने के लिये (अभिष्टु) घुटने के प्रति झुककर (अत्नत) जाती हैं । यहाँ प्राणों के संचार का स्वरूप पत-लाया गया ।

[२२२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पासुले ॥९॥ अ० १ । २२ । १७ । यजु० ५ । २२ ॥

भा०—(विष्णुः) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा (इदं) इस प्रकार (विचक्रमे) गति करता है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्) अपनी शक्ति को (निदधे) स्थापन करता है । और (अस्य) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य (पासुले^१) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में (समूढम्) उत्तम रूप से प्रकट है । परमात्मा पद में—ईश्वर की शक्ति तीनों कोकों में है । 'पासुलो लोकाः' । इस ब्रह्माण्ड भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है ।

२२१—'अन्नेष्वत्नत' इति पाठः, अ० ।

२२२—'पाशुरे', 'पासुरे' इति पाठः, य० ।

१. पद पयतेर्गतिर्गमणः ।

२. पासुनः पादः, सयन्ते इति वा, पशुः क्षेत्र इति वा (नि० ११ । १८)

आत्मा की त्रेधा शक्ति अन्न से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का संचरण ।

इति तृतीया दशतिः । एकादशः खण्डः ।

॥ २२४ ॥ अपि.—१, ७, ८ भेषातिथिः । २ वामदेवः । ३, ५ भेषातिथिप्रियमेधौ । ४ विश्वामित्रः । ६ कौरसो दुर्मित्रः । ७ विद्वामित्रो गार्धिनोऽभीपाद उदलो वा । २० श्रुतवक्त्रः ॥ इन्द्रो देवता ॥

गायत्री छन्दः ॥ षड्ज. स्वरः ॥

[२२३] अतीहि मन्युषाविणं सुसुवांसमुपरय ।

अस्य रातौ सुतं पिब ॥१॥ अ० ८ ३२।२२ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (मन्युषाविणं) क्रोध को उत्पन्न करने वाले भाव को (अति इहि) छोड़ दे । (सुसुवांसम्) उत्तम रूप से संचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के (उप ईरय) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । (अस्य रातौ) उसके आनन्द की दशा में ही तू (सुत) उत्तम ज्ञान का (पिब) आस्वादन कर ।

[२२४] कद् प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।

तादिद्वयस्य वर्धनम् ॥ २ ॥

भा०—(महे प्रचेतसे) बड़े भारी ज्ञानवान् (देवाय) इष्टदेव के लिये (कद् उ) कुछ भी, तुच्छसा भी (वचः) वचन (शस्यते) स्तुति रूप में कहा जाय (तद् इत् हि) वह ही (अस्य) इसका (वर्धनम्) वृद्धिकारक होता है ।

२२३—समुपारये, 'अस्य रातौ सुतं पिब' अपि अ० ।

"अष्टुरध्यस्य धर्मस्य आग्नेते महतो भयात् " गीता० । ईश्वर की नित्य थोड़ी आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ■ २ ३ १ २ २
[२२५] उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिराचिकेत ।

१ १ ३ १ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥ अ० ८ । २ । १४ ॥

भा०—(अयिः) सर्वव्यापक, परमेश्वर (अगो०) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का (शस्यमान) पढ़े हुए (उक्थं चन) स्तुतिपाठ का भी (न आचिकेत) क्या नहीं जानता ? और क्या (गीयमान) गाये गये (गायत्रं) गायत्र नाम को भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२२६] इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिषो वाजानां च वाजपतिः ।

१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवान्सुतानां सखा ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (उक्थेभिः) गुणकीर्तनों से (मन्दिष) प्रसन्न होने वाला (वाजानां च) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में (वाजपति) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी (हरिवान्) इन्द्रिय अति ज्ञानसाधनों से एवं ईश्वरपद में—पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न नू (सुताना) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का (सखा) मित्र ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२२७] आयात्यप न सुत वाजभिर्महाहृषीयथा ।

३ १ २ ३ १ २
महो इव युयजानिः ॥५॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (न) हमारे (सुत) प्रसन्न ब्रह्मानन्द-रस या आत्मा रूप सोम (उप आयाहि) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । (वाजेभि) अर्जों, ज्ञानों और बलों से (मा हृषीयथा) इसमें मत्त दारिये ।

२२५—'मगोरयिराचिकेत' इति १० ।

आप (महात्) बड़े वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् (युवजानि०) अपने प्रपौत्र को भी अपने समक्ष देखने वाले वृद्ध के (इव) समान पूज्यतम हैं ।

‘युवजानिः—’ जीवति तु वरये युवा (पा० ४ । १ । १६३) शास्त्र-
क्रेयुंवापत्य पुमान् इत्यादि स्थाव्यानदर्शनाद्युर्वसुशैलौकिकी शास्त्रासिद्धा च
प्राचीनकालपरिचिता । जनरौद्यादिकोऽभिज् बाहुलकात् (उ० ४ । ६१ ।)

■ १ २ ३ १२ २४ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[२२८] कदा वमो स्तोत्रं हयंत आ अच श्मशारुधद्वा ।
३ १ ३ २ ३ १ १
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ अ० २० । २०५ । १ ॥

भा०—हे (वसो) सबके प्राणाधार, सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! (स्तोत्रं हयंत०) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या लाभ करने वाले पुरुष के लिये तुम (कदा) कब (श्मशा) शरीर के भीतर संचरण करने वाले (वा०) जीवनरूप जल को (आ अचारुधद्) रोकत हो ? कभी नहीं । (दीर्घं) दीर्घ, लम्बा चौड़ा (सुतं) जीवन (वाताप्याय) प्राण को आवमन करने वाले को ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[२२९] ब्राह्मणादिन्द्र राधस पिवा साममृतूरनु ।
३ १ ३ १ २ २ २
तवदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ अ० २ । २५ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्राह्मणात्) को जानने हारे (राधस) साधना करने वाले विद्वान् के (सोम) ज्ञान और यज्ञादि रस को (अतून् अतु) प्राणों और इन्द्रियों के साथ (पिब) तू पान कर । (तव) तेरा (इदं) यह (सख्यं) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्रीभाव (अस्तृतम्) कभी नहीं टूटता ।

उ १ २ ३ १ २ उ १ २
[१३०] वयं घाते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वण ।

१ २
त्वं नो जित्वा सोमपा ॥ ८ ॥ अ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे परमात्मन् ! हे (गिर्वणः) एक-
मात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! (वयं) हम इन्द्रियगण और हम
साधकगण (अपि) भी (से ह) तेरे ही (स्तोतार स्म) स्तुति करने
वाले हैं । (त्वं) नृ (सोमपाः) सोम को पान करने द्वारा होकर (नः)
हमें भी (जित्वा) तुल्य कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का
राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १२ २२ उ २ ३ १ २
[२३१] एन्द्र पृच्छु कासुत्रिभृमणं तनूपु धेहि ।
उ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौस्यम् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे (उग्र !) हे बलवान् ! (पृच्छु) तुम्हें
स्पर्श करने वाले (कासु चित् तनूपु) किन्हीं देहों में (नः) इस (तृमणं)
मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को (धेहि) धारण कर और
करा । हे (सत्राजिद्) समस्त सत्-पदार्थों पर विजय करनेवाले ! (कासु-
चित्) किन्हीं में (नः पौस्यं) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् तू किन्हीं को ज्ञानी आह्वय बनाता और किन्हीं को दग्ध
तत्पन्न करता है ।

उ १२ २२ उ २ ३ १२ २२ उ २ उ २
[२३२] एवाहसि वीर्युरेवा शूर उत स्थिरः ।
उ २ ३२ उ १ २
एवा तं राध्यं मनः ॥ १० ॥ अ० ८ । १२ । २८ ॥

२३०—'अपिष्मसि' इति क० ।

भा०—हे इन्द्र आत्मन् ! क्योंकि तू (हि) निश्चय से [वीर्युः]
सामर्थ्यवान् वीर को चाहने वाला [एव असि] ही है । और तू (शूरः)
शूर और (स्थिर एव) स्थिर ही है, इसलिये (ते मनः) तेरी मननशील
मति या ज्ञान भी (राध्यम् एव) आराधना या साधना करने योग्य ही
है, अनुकरण करने योग्य है ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

॥ ६० ५ ॥ ऋषिः—१, ६, ६ वसिष्ठः । २ भरद्वाजः । ३ वाल्मीक्याः । ४
नोषाः । ५ कलिः प्रागाथः । ७ मेधातिथिः । ८ भर्गः । १० प्रगाथः
काण्वः ॥ देवता—१—८, १० इन्द्रः । ६ मरुतः । रुद्राः । मध्यमः ।

३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

अ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर ! सर्वत्र व्यापक, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् !
(अस्य जगतः) इस जगत् के और (तस्थुषः) स्थावर संसार के भी,
(ईशानम्) सामर्थ्य देने वाले प्रभु (स्वर्दृशम्) आदित्य द्वारा सबको
प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे
(त्वा) तुम्हको हम (अदुग्धाः धेनवः इव) न दुही गई, नई ज्वाई हुई
गौएँ जिस प्रकार अपने बत्स को देखकर सुकती और हम्मारती हैं उसी
प्रकार (नोनुमः) आवर से, प्रेम से देखते, सुकते और स्तुति करते हैं ।

[२३४] त्वामिच्छि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।

त्वां धृभेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वा काष्ठास्वर्वतः ॥ २ ॥

श्र० ४ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (वाजस्य सातौ) धन, अन्न, ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर (त्वाम् इव हि) तुझको ही हम (कारवः) स्तुतिकर्ता लोग (हवामहे) स्मरण करते, पुकारते हैं । (धृत्रेषु) विद्वत् के अवसरों पर (सत्पतिं) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वां) तुझको ही याद करते हैं । (अर्वतः) गतिशक्ति सूर्य आदि पदार्थों के (काष्ठासु) सीमापुं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील-भोक्ता इन्द्रियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये (नरः) विद्वान् लोग तेरा ही स्मरण करते हैं ।

[२३५] अमि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्चं यथा विद् ।

यो जरितृभ्यो यधवा पुरुवसुः सहस्रेणैव शिक्षति ॥ ३ ॥

श्र० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग (सुराधसम्) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पन्न (इन्द्रं) परमेश्वर को (यथा) यथार्थ रूप से (विदे) जानने के लिये (अमि प्र अर्चं) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करो । (यः) जो (यधवा) धन-यज्ञादि से सम्पन्न (पुरुवसुः) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर (सहस्रेण इव) मानो हजारों प्रकारों से (शिक्षति) शिक्षापुं देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

[२३६] न वो दस्ममृत्पिह वसामिन्दानमन्धसः ।

अमि वत्स न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीभिर्नवामहे ॥ ४ ॥

श्र० ८ । ८८ । १ ॥

२३४—‘सातौ’ इति क० ।

भा०—(वः) आपके (दस्मं) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, (ऋतिसहं) बाधाओं को दूर करने वाले, (वसोः) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले (अन्धसः) प्राण धारण कराने वाले अन्नरस को प्राप्त करके (मन्दानं) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले (इन्द्रं) आत्मा को (स्वसरेषु) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण और विद्वान्जन उसी प्रकार (अभिनवामहे) स्तुति करते जिस प्रकार (धेनवः) नवप्रसूता गौपं (वत्सं न) बछड़े के प्रति हम्भारती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३७] तरोमिवो विद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
बृहद्वायन्तः सुतसोमे अश्वर हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥

अ० ८। ६६। १ ॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! साधकजनो ! (वः) तुम्हारे (तरोभिः) वेगों, गतियों द्वारा (विद्वसुम्) ज्ञान के प्राप्त करने हारे (सबाधः) आप लोग जब पीड़ा सहित हों तो (ऊतये) अपनी रक्षा के निमित्त (बृहद्) बृहत्साम द्वारा (अश्वरम्) इस ऐश्वर्यवान् अपने प्रभु (वायन्तः) कीर्तन करते हुए (सुतसोमे अश्वरे) सोम निष्पादन करने योग्य पाग में जिस प्रकार (कारिण भरं न) ऋत्विग् लोग अपने पोषण-कर्त्ता जनमान का धुत्ताते हैं उसी प्रकार धुत्ताया करें, उसका स्मरण किया करो ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२३८] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमि तथैव सुदुवम् ॥ ६ ॥

अ० ७। २२। २० ॥

भा०—(तरणिः) अति वेगवान् वा संसार से तराने वाला, आत्मा (पुरन्ध्या) देहरूप पुर को धारण करने वाली बुद्धि को (युजा) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा (धाजं) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान
पेश्वर्य को (सिपासति) ठीक प्रकार से विवेक करता है । (तष्टा इव) जिस
प्रकार बड़ई (सुब्रुवं) उत्तम गति करने योग्य (नेमि) चक्र के हाल को
झुकाता है । उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक (पुरुहूतं) प्रत्येक देह
में बल संचार करने वाले (व. इन्द्रम्) तुम्हारे स्वामी आत्मा को (गिरा)
घेद की मृत्ता एवं स्तुति से (आ नमे) अपने प्रति झुकाता हूं । यह
आत्मा के मनोवेग को खच करके कहा है ।

[२३६] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १} पिवा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २}
आपिनो बोधि सधमाधे वृधेऽस्मौ अवन्तु ते धियः ॥ ७ ॥
अ० ८ । ३ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) हे आत्मन् ! (न०) हम इन्द्रियों के (गोमत०)
अपनी गति से सम्पादित (रसिनः) भोग या ज्ञान के सुख या बल से
सम्पन्न (सुतस्य) उत्पादित ज्ञान का (पिब) पान कर, उपभोग कर
(मत्स्व) और प्रसन्न और तुष्ट हो । (नः) हमारे (सधमाधे) एक ही
साथ आनन्द भोग करने के स्थान, शरीर में (आपिः) बन्धु के समान
हमें सदा प्राप्त होकर तू (न) हमें (बोधि) ज्ञानवान् कर । (ते धिय)
तेरी ज्ञानमय वृत्तियां (वृधे) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि के लिये
(अस्मौ) हमें (अवन्तु) रक्षा करें ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}
[२४०] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
उद्वावृषस्व भगवन् गविष्ठय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ ८ ॥
अ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (चेरवे) तेरी सेवा परिचर्या करने
हारे अपने संचक के पास (आ इहि) आ, साक्षात् हो । और (वसुत्तये)

सुख से प्राण धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये (भगं) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विदाः) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । हे (मधवन्) शक्तिमन् ! (गविष्टये) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त (उद् वायुपस्व) उत्तम रीति से सुखों की वर्षा कर । (उद् अश्वम् इष्टये) और इन्द्रियों में व्याप्त जा ओजा रूप आत्मा, अश्व है उसके मले के लिये भी उत्तम रीति से बल दान करो ।

[२४१] न हि वश्चरम चन वमिष्टः परि मंसते ।

अस्माकमद्य मरुतः सुतं सचा विश्वं पिवन्तु कामिनः ॥६॥

अ० ७।५९।३॥

भा०—(वसिष्ठः) मुख्य प्राण [वः] तुम इन्द्रियों में से (चरमं चन) अन्तिम भी (न हि) नहीं (परिमंसते) तिरस्कार करता । हे (मरुतः) इन्द्रिय मार्गों में विचरण करने वाले प्राणों ! (अस्माकं सुतं) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में (विश्वे कामिनः) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग (सचा) एक साथ (पिवन्तु) आनन्दामृत का पान करो । इसका विवरण देखो बृहदा० उप० (अ० ६।१) में वसिष्ठ प्राण का प्रकरण । अथवा—(वसिष्ठः) परमेश्वर (चरमं चन नहि परिमंसते) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता । हे (मरुत) मनुष्यों ! (अस्माकम् कामिनः) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे (विश्वे सचा पिवन्तु) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेषु मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (गीता)

अपने को (सदावृधम्) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला (चकार) बना लेता है (तं) उसको (नकिं नशद्) कोई नाश नहीं कर सकता ।

[२४४] यं ऋते चिदभिधिषः पुरा जन्मभ्यः आतृदः ।

सन्धाता सन्धि मधवा पुरुवसुनिष्कर्ता विदुतं पुनः ॥२॥

श्र० ८। १। १० ६

भा०—(यः) जो आत्मा (अभिधिषः) आश्लेषण करने वाले द्रव्य के (ऋते चिद) बिना (पुरा) पूर्व ही (जन्मभ्यः) जीवों के (आतृदः) अलग २ हुए अज्ञों के भी (सन्धिम्) जोड़ों को (संधाता) जोड़ता है वह (पुरुवसु) समस्त इहों में रहने वाला (मधवा) जीवन यज्ञ का स्वाभी आत्मा (विदुतम्) शास्त्र से कोट को भी (पुनः) फिर २ (निष्कर्ता) खूब अच्छी तरह वैसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो ब्राह्मणों के प्रति ब्राह्मवस्व्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। आ० ६। क० २८) और (अथर्ववेद का० ११। सू० १८। म० ११-१४)

[२४५] आ त्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये ।

ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वदन्तु सोमपीनये ॥३॥

श्र० ८। १। २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (हिरण्यये) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त (रथे) रथ में, देह में (युक्ता) लगे हुए (आ सहस्रम्) हजारों और (आ शतम्) सैकड़ों (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म=अन्नकी पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले (केशिनः) ज्ञानतन्तुओं

से सम्पन्न ज्ञानी (हरयः) हरय करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण
पुंवं विद्वानजन (सोमपीतये) सोमरस का पान करने के लिये (त्वा)
तुम्हको (वहन्तु) वहन, धारण करें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[२४६] आ मन्त्रैरिन्द्र हरिमिर्याहि मयूररोमणिः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

मा त्वा केचिन्निरेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव तौ इहि ॥४॥

म० ३ । ४५ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मन्त्रै) अत्यन्त प्रशंसा योग्य, उत्तम
हर्ष के देने वाले, (मयूररोमणिः) मोर के लोमों समान लोमों तथा
आनील विद्युत् कान्ति से सम्पन्न ज्ञानतन्तुओं से युक्त, (हरिभिः) अनु
भवा को तुम्ह तक पहुँचाने वाले ज्ञानसाधनों को (याहि) प्राप्त हो ।
(त्वा) तुम्ह को (केचित्) कोई भी (पाशिनः न) जाल वाले लोगों के
समान बन्धनकारी प्रलोभन (न निरेमु) न बाध लें । और तू (तान्)
उनकां (धन्वा इव) धनुंधारी के समान (अति इहि) अतिक्रमण कर ।
राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२४७] त्वमङ्ग प्रशसिषो देवः शनिष्ठ मर्त्यम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र प्रचीमि ते यच्च ॥५॥

म० ३ । ८४ । १६ ॥

भा०—(अङ्ग) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (देव) स्वयं सच
का प्रकाशक होकर भी हे (शनिष्ठ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों
और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ! (मर्त्यम्) मरुत्तधर्मा देव कां (प्र शंसिष)
प्रशंसा योग्य उत्तम चेतन बनाना है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्य)
तूरे में दूसरा कोई (मर्दिता) मुर्ख का देने हारा (न अस्ति) नहीं है ।

इसलिये (ते) तेरी ही (वचः) स्तुतिपरक वाणी को मैं (ब्रवीमि) कहता हूँ।

[२४८] त्वमिन्द्र यशा अस्यजीपी शवसस्पतिः ।

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुत्रनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥

अ० ८। ६०। ५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (अजीपी) अजु, कुटि-
लता रहित मार्ग में अपने भक्तों को प्रेरणा करने वाला, (शवसस्पतिः)
बल का स्वामी, शक्तिमान्, (यशाः असि) यश.स्वरूप है। (त्वं)
तू (एक इत्) अकेला ही (पुत्र-अनुत्त.) देहों में विना किसी से प्रीति
होकर स्वतन्त्र रूप से, (चर्षणीधृतिः) स्वतः सब मनुष्यों में भारक
प्रयत्न होकर (अप्रतीनि) न दबने वाले (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि)
नाश करता है।

[२४९] इन्द्रमिद्वेतातये इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।

इन्द्रं समीके वनिनो हवामहे इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥

अ० ८। ६१। ५॥

भा०—(देवतातये) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये
(इन्द्रम् इत्) आत्मा या ईश्वर ही हम (हवामहे) पुकारते हैं। (अध्वरे
प्रयति) हिंसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी (इन्द्रं) परमात्मा को हम
पुकारते हैं, (समीके) समान रूप से ध्यान, विचार, ज्ञान गति करने के
अवसर पर या सग्राम में (वनिनः) सब भक्तजन (इन्द्रं) उस
ईश्वर को राजा के समान स्मरण करते हैं और (धनस्य सातये) धन
के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी (इन्द्रं) ईश्वर को (हवामहे)
आह्वान करते हैं।

२४८—एक इत्पुत्रनुत्तश्चर्षणीधृतिः इति अ० ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २४
[२५०] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।

पाचकवर्णा. शुचयो विपश्चिताऽभिस्तोभैरनूषत ॥ ८॥

第 0 号 1 2 3 4 5

भा०—हे (पुरुषसो) बहुत ऐश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को
बसाने और उनमें बसने वाले ईश्वर । (मम) मेरी (याः) जो (इमा
गिरः) ये वाणिया (स्वा) तुम्हको (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं, प्रसिद्ध करती हैं
और (पावकवर्णाः) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहारे, ईश्वर का
वर्णन करने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (विपश्चितः) कर्म और
प्रज्ञा का संशय करने हारे विद्वान् लोग । स्वा) तुम्हको (स्तोमैः) स्तुति-
मन्त्रों से (अभि अभूयत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

[२५१] उ३ ल्ये मधुमत्तमा गिर. स्तोमास ईरते ।

स १ २ ३ १ २ २ ४ ३ २ ३ १ २
सम्राजिनां धनसा अक्षितोत्तयां वाजयन्तो रथा इव ॥६॥

॥ २५ ॥

भा०—(ये) वे (मधुमत्तमा.) ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (गिरः)
वेदमन्त्र और (स्तोमास.) स्तुतिमन्त्र (सत्राक्षितः) पर विजय
पाते हुए, (अक्षितोत्तम.) अक्षय बलशाली (वाजयन्त) ज्ञान से स-
म्पन्न, वेगवान् (रथा इव) रथों के समान (धनव्याः) धनों को प्राप्त
कराते हुए (उव ईरते) उत्पन्न होते हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[२५२] यथा गौरो अयाकृतं नृप्यन्नत्यवेरिणम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥
आदिन्येन प्रपित्वे तृयमागहि कण्वेषु सु सचा पिय ॥ १० ॥

宋 元 明 清

भा०—(यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौर मृग या इन्द्रियों पीछे भागने वाला ब्यसनी पुरुष (तृप्यन्) प्यासा, तृष्णा से सताया हुआ (अपाकृतम्) जल से या रस से भरे (हरियाम्) जलाशय या भोगपदार्थ प्रति (एति) जाता है । उसी प्रकार हे (इन्द्र, आत्मन् ! आप (नः आपिरवे प्रपिधे) हमारी बन्धुता को प्राप्त करने पर (कण्वेषु) मेधावी पुरुषों में (त्वं) शीघ्र ही (आगदि) प्राप्त हो और (सचा) साथ ही (सु पिब) उत्तम रूप से सोमरस का पान कर ।

इति षष्ठी वक्षतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ ६० ७ ॥ अयि — १ भगः । २ रेभः कादयपः । ३ समदभिः । ४, ५ मेधा-
तिभिः । ५, ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७ वसिष्ठः । ८ रेभः । ९ मरद्भामः ।
देवता—१, २, ४—१० इन्द्रः । ३ आदिस्वा ॥
ब्रह्मी छन्द ॥ मध्यमः स्वरः ॥

[२५३] शम्भूऽपु शचीपते इन्द्र विश्वाभिरुतिभिः ।

भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

अ० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) सब शक्तियों और प्रज्ञाओं के पालक ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विश्वाभिः) सब प्रकार (उतिभिः) शक्तियों से (त्वं शम्भु) तू हमारी इष्ट पूर्ति कर । हे (शूर) शूर ! (वसुविद) शायों को प्राप्त करने, कराने और जानने हारे, (यशसं) इन्द्रियों के धीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी (भगं न) ऐश्वर्य के समान (त्वा) तेरे (हि) (अनु चरामसि) हम अनुकूल चलते हैं । इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और भगों की ईश्वर के प्रति उक्ति है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२५४] या इन्द्र भुज आभर स्ववा असुरेभ्यः ।

■ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १ २
स्तोतारभिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तवर्हिष ॥२॥

अ० द० १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (या भुजः) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को (असुरेभ्यः) असुररूप प्राणों से तू (आभर) प्राप्त करता है (स्ववान्) सुख और प्रकाश से युक्त है (मघवन्) यज्ञ के स्वाभिन् । तू अस्य) इसके द्वारा (स्तोतारम् इत्) अपने यथार्थ गुण कथन करने वाले को ही (वर्धय) बड़ा और (ये च , जो (स्व) तेरे लिये ही (वृक्तवर्हिष ,) अपना यज्ञ फैला कर बैठे हैं या तेरे में लीन होने लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बड़ा । आत्मा प्राणों के बलों से साधक को ही आनन्द देता है शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन पेशियों को हुए पुरुषों से छीन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावे ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२५५] प्र मित्राय प्रार्थम्ये सचथ्यमृनावसो ।

३ ■ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
वरुथ्येऽवरुण छन्दं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥

अ० द० १०१ । ५ ॥

भा०—हे (अस्तावसो) सत्य ज्ञान में ही काम करनेहार ज्ञानिन् ! (मित्राय) अपने हृदय के स्नेही के लिये (प्र गायत , उत्तम गान कर । (प्रार्थम्ये) न्यायकारी और अन्तर्यामी , (वरुथ्ये) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी (वरुणे) सच विद्वों के निवारक (राजसु) तजस्वी राजाओं में स्वछन्दता से निचरने वाले राजा के समान । राजसु छुं चं तेजस्वी पदार्थों ■ सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर या प्राणों में व्यापक आत्मा को जप्य करके (छन्दं) वंदानुसार (स्तोत्रं) स्तुतिकारक (सच य , सधन करने

योम्य, हृदयग्राही (वचः) स्तुति वचन का (प्र गायत) उत्तम रूप से गान करो ।

उ १ २ ३ ५ ७ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५६] अभि त्वा पूर्वपीनय इन्द्र स्तोमेभिरायव ।

उ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
समीचीनास ऋभवः समस्वरक्षदा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

अ० ८। १। ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् । [आयवः] दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य (पूर्वपीतये) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभि-प्राय से (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) वेद के स्तोत्रों द्वारा (अभि) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (समीचीनासः) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न (ऋभवः) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग (त्वाम् समस्वरम्) तुमको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं । और (रुदाः) ज्ञान के उपदेष्टा विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी (पूर्व्यं) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुमको ही (गृणन्ते) स्तुति करते हैं ।

उ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

[२५७] प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।

उ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

बृत्रं हनति बृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

अ० ८। २। १ ॥

भा०—हे (मरुतः) प्राणो ! वा विद्वानो ! (वः) आप लोग [बृहते इन्द्राय] बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (ब्रह्म अर्चत) वेद द्वारा स्तुति करो । अथवा उस महान् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल का प्राप्त करो या (ब्रह्म) ब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो । वह (शत-क्रतुः) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (शतपर्वणा वज्रेण) सैकड़ों पावनकारी, एवं वाले ज्ञानवज्र द्वारा (बृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला (बृत्रं हनति) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और ऋषि को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है ।

उ १२ २२ उ १ २ उ १ २
[२५८] वृत्रहन्त्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।

उ २ ३ १ २ उ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येन ज्योतिरजनयन्नुतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥
अ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—(मरुतः) हे प्राणागण ! हे विद्वान् पुरुषो ! (वृत्रहन्तमम्)
वृत्र=अज्ञान पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का (वृहत्-हन्त्राय)
बड़े भारी हन्त्र के लिये (गायत) गान करो । (येन) जिससे (ज्योति-
वृधः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग (देवाय) परमेश्वर की
प्राप्ति के लिये (देव) प्रकाशमान (जागृवि) सदा जागे रहने वाले, अमर
(ज्योतिः) प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[२५९] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रभ्यो यथा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शिक्षा या अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ७
अ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार
(पिता) पिता (पुत्रभ्यः) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि
देता है उसी प्रकार (न) हमारे लिये (क्रतु) प्रज्ञा को (आ भर) प्राप्त
कराओ । हे (पुरुहूत) प्रजाओं द्वारा स्मरण किये गये राजा ! समान
आत्मन् ! परमेश्वर ! (यामनि) इस ब्रह्ममार्ग में (न) हमें (शिक्ष)
शिक्षा दो । हम (जीवा) जीवराज्य (ज्योतिः) ज्ञानमय ज्योति के
(अशीमहि) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ उ १ २
[२६०] मा न इन्द्र परावृणमवा नः सधमाधे ।

१ २ ३ २ ३ उ २ ३ १ २ उ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्न्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥ ८ ॥
अ० ८ । ३७ । ८ ॥

२६०—'सधमाधे' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमें (मा परावृणक्) कभी परित्याग मत कर । (नः) हमारे (सधमाये) एक सग आनन्द प्राप्त करने के स्थान यज्ञ, देह आदि स्थानों में (भव) हमारे सग रह । (त्वं) तू (नः) हमारी (ऊतो) एकमात्र रक्षा है । और (त्वम् इन्) तू ही (नः आप्यम्) हमारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य उद्देश्य, लक्ष्य है । तू (नः) हमें—(मा परावृणक्) कभी मत त्याग ।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और मर्त्तों का भगवान् के प्रति वचन है । देखो उप० बृह० अ० ६ । आ० १ । “ते प्राणा होचुर्मा भगव उत्कमीः न शक्यामस्वदृते जीवितुमिति” ।

उ २ १ उ १ २ उ २ ३ २ उ १ २
[२६१] धयं ध त्वा सुतावन्त आपो न धृक्बर्हिषः ।

उ १ २ उ १ २ उ १ ० ३ १ २

पवित्रस्य प्रसवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥६॥

अ० ८ । ३३ । ॥

भा०—(धयं) हम प्राणगण या मरुज्जन (सुतावन्तः) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके धृक्बर्हिषः) बर्हि—अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट (आपः इव) अपने सट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रसवणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (वृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेवाले देव । तेरे (स्तोतारः) सत्य-गुणों का गान करने वाले (आसते) बैठे ।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोता के रूप में बैठने का अलंकार देखो—

(बृहदा० उप० अ० २ । आ० २ । ३ ।) ‘तस्यासत अपयः सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना’ ।

१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[२६२] यादिन्द्र नाहुषीष्या ओजां नृभ्यां च कृष्टिषु ।

३ १ २ ३ २ ३ १२ २२३ १२ १२ ३ १ २
यद्वा पञ्चद्वितीनां धुम्नमामर सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥१०॥

अ० ६ । ४६ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (नाहुषीषु) शरीर-बन्धनों में बंधी हुई प्राण-धारी प्रजाओं में (यत्) जो (ओज) तेज और (कृष्टिषु) अपने कर्म-फल प्राप्त करनेवाले मनुष्यों में जो (नृभ्याम्) धन है (यत् वा) या जो (पञ्चद्वितीना) आमा की पांचों भूमियों में (धुम्न) कान्ति या ऐश्वर्य है वह और (सत्रा) यद्वा २ (विश्वानि पौंस्या) समस्त बल पराक्रम (आमर) हमें प्राप्त करा ।

लघिमा गरिमा आदि अष्ट सिद्धिमें और नव निधियों तथा अन्यान्य बल की प्रार्थना है ।

इति मासमी दशति । तृतीय खण्ड ।



॥ १० ८ ॥ अथिः—१ मेधातिथिः । २ रेमः । ३ बलमः । ४ भरद्वाजः । ५ नृमेधः । ६ पुरुहन्मा । ७ नृमेधपुरुमेयो । ८ धमिह । मेधातिथिर्मेध्यातिथिम् ।

१० कलि ॥ इन्द्रो देवता-॥ गृह्णी । मध्यम ॥

३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[२६३] सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।

८ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
वृषाह्युग्र शृण्वेषे परावति वृषा अर्वाधनि श्रुतः ॥१॥

अ० ८ । १३ । १० ॥

भा०—हे (उग्र) बलवान् ! (सत्यम्) सत्य ही- (इत्था) इस प्रकार का (वृषा इह् असि) तू सुखों का वर्णक ही है । और (वृषजूति) श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित तू (नः) हमारा (अविता) पालन करने वाला

(वृषा हि शृण्विषे) 'वृषा' साक्षात् धर्ममय ही सुना जाता है और (परावति । दूर और (अर्वावति) समीप भी वृ (वृषा वृ) 'वृषा' अर्थात् आनन्दघन ही (श्रुतः) प्रसिद्ध है ।

२ ३ १ ३ २ १ २ ३ १ २

[२६४] यच्छ्रुत्वासि पञ्चानि यद्वर्वावति वृत्रहन् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अतस्त्वा गीर्मेर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ अविवासति ॥

अ० ८ । १७ । ४ ॥

भा०—हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यद्) चाहे वृ (परावति) दूर, मुक्ति की वशा में हो और (यद्) चाहे हे (वृत्रहन्) हे पापों के नाश करने वाले ! (अर्वावति) समीप, देह में विद्यमान रह, (अतः) तो भी हे (इन्द्र) आत्मन् ! प्रभो ! (केशिभिः) विशेष ज्ञान दीप्तियों से सम्पन्न विद्वानों और (गीर्मे) वेदवाणियों से (द्युगद्) प्रकाश की तरफ शीघ्र जाने वाला होकर (सुतावान्) आनन्दरस का सम्पादक है । साधक पुरुष (त्वा) तुझको ही (अविवासति) प्रकट करता है ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

३ २ ३ १ २ २

[२६५] अभि वां वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महाविचेतसम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्र नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ३ ॥

अ० ८ । ४६ । १४ ॥

भा०—(व०) आप लोग (मन्धसः मदेषु) अन्न या प्राण धारण कराने वाले चिदात्मा, या अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान के द्वारा प्राप्त आनन्द के अवसरो पर (महाविचेतसम्) अत्यन्त अधिक ज्ञान और चेतना युक्त (वीरं) वीरवान्, (श्रुत्यं) श्रुति, वेद में प्रसिद्ध (शाकिन) सर्व शक्तिमान्, (नाम) सबको नम्र करने वाले (इन्द्रं) ईश्वर को (यथा

वच । जिस प्रकार वेदवचन आदेश है उसी प्रकार (गिरा) वेद की ऋचा द्वारा (गाय) स्तुति करो ।

१ २ ३ १ २ ■ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६६] इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरुणं स्वस्तये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वर्दि र्यच्छ मघन्नदभ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमभ्यः ॥ ५ ॥

अ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मघवद्भ्यः) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और (मह्यं च) मेरे लिये (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धातुओं से बने, (त्रिवरुणं) तीनों दोषों का धारण करने हारे (शरणं) देह के (स्वस्तये) कल्याण के निमित्त (यच्छ) प्रदान कर । (एभ्यः) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से (दिद्युम्) वज्रस्वरूप (वर्दिः) आच्छादक बन्धन को (यावया) हटा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ २

[२६७] आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रम्य भक्षत ।

१ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

वसुनि जातो जनिमान्योजसा प्रतिभाग न दधिमः ॥ ५ ॥

अथर्व० ८ । ९९ । ३ ॥

भा०—(सूर्य इव) सूर्य के [] सब [] प्रेरक आत्मा का (आयन्त) आश्रय लेते हुए (विश्वा) समस्त (जाता) उत्पन्न हुए और (जनिमानि) आगे उत्पन्न होने हारे (वसुनि) प्राणी सब (इन्द्रस्य इत्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का (भक्षत) भोग करें । इस कारण उसके ही (ओजसा) बल से हम (भागं न) प्राप्त दायभाग [] समान उसको (प्रति दीधिमः) समझें ।

२६७—'वसुनि जाते जनिमान', 'दीधिम' इति अ० ।

[२६८] न सीमद्वय आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।

एतत्त्वाचिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥

अ० ८ । ७० । ७ ॥

भा०—हे (दीर्घायो) नित्य आत्मन् । (अदेव०) इष्टदेव से रहित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (तत्) उस परम (इपम्) सबके अभिलाषा योग्य लक्ष्य को (न आप) नहीं प्राप्त करता । अथवा—(अदेवः मर्त्यः इपं न आपतत्) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुँचता । अथवा—साधक के मत से—(इपं न आपतत्) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चला सकता । (एतत्त्वा^१) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अन्न आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार (एतशाः) अपने घोड़ों का (युयोजते)रथ में बसाता है और राह पर डाक देता है । उसी प्रकार सबको मन्मार्ग पर लेजाने वाला (इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को (युयोजते) ठीक मार्ग पर ले जाता है ।

‘भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है ।

[२६९] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूपत ।

उय ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीपम ॥७॥

अ० । ९० । १ ॥

२६८—‘हरी इन्द्रो युयोजते’, ‘आपतदिष’ इति ‘य एतशा’ इति अ० । आप तद् इपम् । इति पाठः सायणस्मृतः आप तद् इपमिति (तु० सा०) ‘आप तद् इपम्’ इति मा० वि० ।

१. इपतिगतिरुर्मा (नि० ४ । १३ ।), २. प्राप्तगन्तव्या, इति (मा० वि०)

२६९—‘हव्य इन्द्रः’, ‘भूपतु’, ‘वृत्रहा’, ‘ऋचीपम.’ इति अ० ।

भा०—(विश्वासु) सब (समस्तु) एकत्र आनन्द उत्सवों में (न.) हमारा (इन्द्रं) स्तुतिवचन (इन्द्रम्) उस ईश्वर को (आ भूपत) सु-भूषित करे, उसका गुणगान करे । हे (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करने हारे हे (अर्चापम) सब स्तुतियों में समानरूप से विद्यमान ईश्वर । (ब्रह्माग्नि) वेदस्तवन और वैदिक कर्म (सवनानि) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुम्हको ही (उप भूपत) शोभा देते हैं ।

१४ १४ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २
[२७०] तवेन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।

३ १४ १४ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २

सन्ना विश्वस्य परमस्य राजसि नकिन्द्रा गोषु वृण्वते॥८॥

अ० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (अवमं) सबसे नीचे का (वसु) बसने योग्य पृथिवी लोक भी (तव इद्) तेरा ही है । (त्वं) तू (मध्यमं वसु) बीच के लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी (पुष्यसि) पोषण करता है । और तू आप (परमस्य) सब से उत्कृष्ट (विश्वस्य) ससार में (राजसि) प्रकाशमान है । अथवा—हे आत्मन् ! (अवमं वसु) निकृष्टतम प्राणी तेरा ही विकास है । (मध्यम) मध्यम श्रेणी के प्राणी को भी तू ही पुष्ट करता और (परमस्य) उच्च कोटि के प्राणी में भी तू ही प्रकाशित है । (त्वा) आपको (गोषु) समस्त गतिशील योनियों, लोकों, और आत्मपक्ष में—इन्द्रियों में से भी । नकि । कौन नहीं (वृण्वते) धरण करता । अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—नकि) कोई भी तुम्हें न वृण्वते नहीं रोकता । तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

१२२३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२७१] कंयथ केदासे पुरुत्रा चिद्वि ते मनः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
अलपि युष्म सजकृत्पुनरं गायत्रा अगासिषु ॥९॥

अ० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे (पुरन्दर) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! (क इयय) तू कहां २ गति करता है ? (क इत् असि) और तू कहा २ रहता है । (पुरुषा चित् हि) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में (ते) तेरी (मन०) मननशील स्वरूप शक्ति (अत्तर्हि) गति करती है । हे (युष्म !) हे विषयवापना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे (खजकृत्) ख=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयप्रादक सामर्थ्यों के विधातः ! (गायत्रा०) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणराण (म अगासिषु) तेरी ही महिमा गाते हैं ।

३१२ ३१२ २२ ३२ ३१२
[५७२] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमह वज्रिणम् ।

१ २ ३१२ २२ ३२ ३२ ३१ २ ३०

तस्मा उ अद्य सवने सुतं भय नूनं भूषत श्रुत ॥१०॥

८।६६।७॥

भा०—(वयं) हम (एनम् इत्) इस (वज्रिणम्) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही (हा०) गत काल में (इह) इस देह में (आ अपीपेम) आज ज्ञानरस पान कराते रहे । (अद्य) आज (श्रुते) सवने इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में (तस्मा उ) उस ही इन्द्र के लिये (सुत) ज्ञानरस या आनन्दरस को लाभो और (नून) निश्चय स (भूषत) उसकी शोभा बढाओ ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो । विद्यातपोम्या मृनात्मा । मनु० ।

श्रुति मष्टमी दर्शति । ऋतुयः स्रष्टः ।

॥ ८० ॥ अ०—१, ६ पुनहन्मा । २ भर्गः ३ हरिगिठि० । ४ जमदग्नि ।

५, ७ देवातिथिः । ८ वसिष्ठः । ९ भरद्वाज । १० बालकिल्या ।

देवता-१-३ ४-८ १० इन्द्रः । ९ इन्द्राणी । ४ सूर्यः ॥

बृहती ॥ मध्यमः ॥

[२७७] अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यद्विन्द्र ते सखा ।

इवात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप॥५॥

अ० द० ४ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यदा) जब (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी) बलवान् प्राण, इन्द्रिय सम्पन्न (रथी) उत्तम देहरूप रथ से युक्त (सुरूप) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप युक्त और (गोमान् इद्) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम वाणी से युक्त हो जाता तब वह (सदा) नित्य ही (इवात्रभाजा) धन धान्य से युक्त (वयसा) अपनी आयु से और (चन्द्रैः) आह्लादकारी या चिरकाय तक आनन्दकारी सज्जनों के साथ (सभाम्) तेरे समान काम्ति या सत्संग को (उपयाति) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी, उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्संग से युक्त हो जाता । राजा और ईश्वर पद स्पष्ट है ।

[२७८] यद्व्याव इन्द्र ते शतं शत भूमीरुत स्युः ।

न त्वा वाजिन्सहस्र सूर्या अनु न जातमपरादसी ॥ ६ ॥

अ० ॥ ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यद् व्याव शत) यदि धौलोक भी सैकड़ों (उत भूमीः शत) और भूमिया भी सैकड़ों (स्युः) हों वे और हे (वाजिन्) सर्व शक्तिमन् ! (सहस्र सूर्या) हजारों सूर्य और (अपरादसी) वह सब प्रकाण्ड भी (वि अनु जातम्) तेरे पीछे पैदा हुआ (त्वा न अप) तुम्हें पूरी तरह से व्याप नहीं सकता ।

‘ज्यायान् पृथिव्या ज्यामानन्तरिक्षात् ज्यामान् दिवो ज्यायानेभ्यो लो-
कैः’ इति बृहदा० उप० । ‘एकान्योन स्थित जगत्’ । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः (गी० ११।१२।)

[१७६] यादेन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा ह्यसे नृभिः ।

सिमा पुरु नृपूना अस्यानवसि प्रशस्तं तुर्वशे ॥७॥

ऋ० ८। ४। ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) क्योंकि (प्राग्) प्राची दिशा में, पूर्व में (अपाग्) पश्चिम में, (उदङ्) ऊपर में (न्यग् वा) या नचि सर्वत्र (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (ह्यसे) तेरी स्तुति की जाती है वही पुकारा जाता है । (सिम्-आ) सर्वत्र (पुरु) देहधारियों में (आनवे) प्राणधारियों (तुर्वशे) इन्द्रियों वश करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों में भी वही (नृपूना) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित (असि) है ।

[२८०] कस्तमिन्द्र त्वावसवामर्त्या दधर्षति ।

श्रद्धा हि ते मघवान् पार्ये दिवि वाजं वाजं सिपासति ८

ऋ० ७। ३२। १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (वसो) सबको बसाने और सब में बसाने हारे ! (तं त्वा) उस स्मरण करने योग्य तुझको । कः मर्त्य) कौन पुरुष (आ दधर्षति) अपमानित कर सकता है । (वाजी) जानी पुरुष (श्रद्धा) सत्य धारण करने हारा, (मघवान्) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (पार्ये दिवि) पार करने योग्य प्रकाश में, या संसार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश में रहता हुआ तेरे प्रति (वाजं) अपने ज्ञानमय भेट को (सिपासति) तेरे अर्पण कर देता है ।

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ १

[२८१] इन्द्राग्नौ अपादिय पूर्वांगात्पद्वतीभ्यः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

हित्वा शिरां जिह्वा रारपच्चरत्त्रिशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ॥

श्र० ६ । २५ । ६ ॥

भा०—(इन्द्राग्नौ) इन्द्र वायु और प्राण और आग्नि सूर्य और आत्मा के वक्षपर (इयं) यह उपा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी (पद्वतीभ्यः) चरणवाली प्रजाओं से । पूर्वा) पूर्व ही (आगात्) आजाती है । (हित्वा शिरः) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वा) अपनी व्यापन शक्ति ग्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है ।

यजुर्वेद में इसका उपा देवता है । सायण ने उपा पक्ष में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं । चित्तिशक्ति के पक्ष में ८ वसु ११ रुम और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं । उन पर वश करती है । यद्यपि ये ३१ हैं तो भी एकादश रुद्रों में दश प्राण ११ वा स्वय आत्मा है । अतः वह ३० प्राण ही गिने जायगे । आत्मा स्वतः चित्तिशक्ति से भिन्न नहीं । इन्द्र अग्नि उपा और ३० चरण सब मिलाकर ३३ देवता हुए ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२८२] इन्द्र नदीय एदिहि मितमेधाभिरुतामिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आ शन्तम शन्तमाभिरमिष्टाभरा स्वापे स्वापिभिः ॥१०॥

श्र० ८ । ५३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मितमेधाभिः) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (कृतिभिः) अपनी रचना शक्तियों के साथ तू (आ एहि इत्) हमें प्राप्त हो । (शन्तम) सुखकारक ! (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्तिदायक (अभिष्टिभिः) हमारी सुख कामनाओं सहित और २ (स्वापे) सुख को प्राप्त करने

२८१—‘हित्वा शिरां जिह्वा वाक्पदं’ इति श्र० ।

हारे ■ सुबन्धो ! (स्वापिभिः) सुखदायक शक्तियों द्वारा तू (आ) हमें प्राप्त हो ।

इति नवमी दशति । पञ्चमः पण्ड ।



■ ६० १० ॥ अ० पिः—१ नृमेधः । २, ३ वसिष्ठः । ४ भरद्वाज । ५ परच्छेपः ।
६ वामदेवः । ७ मेघ्यातिथिः । ८ भर्गः । ९, १० मेघातिथिमेघ्यातिथि ॥
देवता १-४, ७-१० इन्द्र । ५ वरुणः ॥ गृह्णी ॥ मध्यमः ॥

३७ ३ १ २ ३ १७ ३७ ३ १ २

[२८३] इत ऊनी वो अजरं प्रहेतारमण्डितम् ।

३ १२ २२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आशुं जेतारं होतारं रथीतममर्तुर्न सुप्रियावृधम् ॥१॥

अ० ८। १६। ७ ॥

भा०—(व) आप लोग (ज्ञाता) अपनी रक्षा ■ निमित्त (अजरं) कभी जीर्ण ■ होने वाले (प्रहेतारं) इन्द्रियों या विद्वानों को उत्तम रीति से प्रेरणा करने वाले, (अप्रहितम्) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, (आशुम्) सर्वव्यापक, शीघ्रगामी, (जेतारं) सबके विजेता, उत्कृष्ट, (होतारम्) ज्ञान और भोग के दाता (रथीतमम्) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, (अमर्तम्) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, (सुप्रियावृधम्) तमोनिवारक, ज्ञान ■ वर्धक, आत्मा की शरण में (इत) आओ । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समाप्त है ।

■ २२ ३ १ २ ■ ३ १२ २२

[२८४] मां पु त्वा वाचतश्च नारे असन्धिरीरमन् ।

३ १ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२

आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ २ ॥

अ० ७। ३२। १ ॥

२८३—'सुप्रियावृधम्' इति ■ ।

२८४—'आरात्ताचित्' ■ अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तेरे लिये (वाधतः) बल
करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को (आरे) समीप
से (मा३ उ सु निरीरमन् चन) क्या तू स्वयं नहीं रमाता है ? रमाता ही
है । इसलिये हे इन्द्र ! (आरात्-तात्) दूर से (वा) भी (नः सधमादं)
हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या कीड़ा भूमि, शरीर में
(आगहि) व्याप्त हो । (इह वा सन्) यहाँ पड़ा रहकर (उप श्रुधि)
हमारे वचन सुन ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८५] सुनोत सं।मपावने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २२ ३ १२ २२ ३ १२ ३२
पचता पक्कीरवसे कृणुध्वमित्पृणस्त्रित्पृणमे मयः ॥३॥

अ० ७ । ३२ । ॥

भा०—हे विहानो ! हे इन्द्रियगण ! (सोमपात्रे) सोम का पान
करने हारे (वज्रिणे) वज्र, समोनाशक या वैराग्यसाधक साधनों
से सम्पन्न (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सोमं) सोम, आनन्दरस को
(सुनोत) वरपन्न करो । उसके (पक्की) पक्वान, पक्वज्ञान परिपुष्ट
अनुभव (पचत) पकाओ, तैयार करो, प्राप्त करो । (अवसे) अपनी
रक्षा के लिये । कृणुध्वम्) बल करो । वह (पृणन् इव) सध को पालन
करता हुआ ही (मय पृणत) सुख कल्याण करता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२८६] य सत्राहा विचर्षणिरिन्द्र तं ह्रमेहे धयम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सहस्रमन्यो तुविचृम्या सत्पते मया समत्सु नो वृधे ॥४॥

अ० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (सत्राहा) सध जन्तुओं का नाशक और
(विचर्षणि) सध का द्रव्य है । (त इन्द्र) उस प्रेक्षार्थवान् को (धयम्)

अर्थ—'सहस्रमुज्य' इति पाठभेदः, अ० ॥

हमारे) हम पुकारते, स्मरण करते हैं । हे (सहस्रमन्यो) सहस्रों
मन्युओं, ज्ञानों से युक्त । हे (तुविनृम्या) बहुधन ! हे (सत्यते) सज्जनों के
प्रतिपालक ! (समस्तु) हमारे आनन्द उत्सवों के अवसरों पर (नः वृधे)
हमारी उन्नति के लिये (भव) हो ।

देखो केनोपनिषद् में देवों की विजय-कथा ।

१ २ ३ २ ३ १ २
[२८७] शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
मा वा रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥

अ० १। १३९। ५ ॥

भा०—हे (शचीवसू) ~~जि~~ स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपने बलपर
सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अपान स्वरूप अश्वियो !
या हे प्रज्ञा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषों, (शचीभिः) अपनी शक्तियों
से (दिवानक्तं) रात दिन (नः दिशस्यतम्) हमें सम्पन्न करो । (वा
रातिः) आप लोगों की दानशीलता या आहुति (मा कदा चन उपदसत्)
कभी नष्ट न हो, न रुके और । अस्मद् रातिः) और हमारी ही आहुति
या दान भी (कदाचन मा उपदसत्) कभी नष्ट न हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८८] यदा कदा च भीदुप स्तोता जरेत मर्त्यः ।

१ २ २ २ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
आदिहन्देत वरुणं विषा गिरा धर्त्तारं विप्रतानाम् ॥६॥

भा०—(भीदुपे) सकल संसार पर सुखों बलों, और ज्ञानों के वर्षक
ईश्वर के लिये (मर्त्यः) मनुष्य (स्तोता) स्तुतिकर्त्ता (यदा कदा च)
जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) तब ही (विप्रतानान् धर्त्तारं)
नाना प्रकार के कर्मों के धारण करने वाले विरुदाचारियों को रोकने वाले

(वरुण) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ इंधर को (विषा गिरा) विशेष रूप से पालन करने वाली वेदवाणी से ही । वन्देत) स्तुति करे ।

■ १२ २ १ ३ २ ३ १ २

[२८६] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यः सन्मिः लो हयोर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥७॥

अ० ■ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (मेध्यातिथे ।) मेधा, बुद्धि से गम्भिरमान, पवित्र अतिथे । बिना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य । या नित्य व्यापक परमात्मन् । (अन्धस, मद) प्राण धारण करनेवाले पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त (इन्द्राय) इस आत्मा के (गाः) इन्द्रियों की (पाहि) रक्षा कर । (य) जो । इन्द्रः) आत्मा (हयों सन्मिः) दोनों प्रकार के वाद्य और भीतरी इन्द्रियों से संनिकर्ष को प्राप्त होकर (हिरण्यय) हित और सुप्तजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही (इन्द्र, वज्री) सब आत्मानों का वर्जन करनेवाला आत्मा, (हिरण्यय) प्रकाशरूप उद्योतिर्भय ज्ञान ■ प्राप्त करनेवाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

[२६०] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

■ १२ २२ ३ १ २

सत्राच्या मधवान्तसोमपीतये त्रिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

अ० ८ । ६१ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा (न) हमारे (अर्वाग्) आभ्यन्तर मानस और (इदं च) इस प्रत्यक्ष, उच्चारण किये हुए, (उभय) दोनों प्रकार के (वच) वचनों को (शृणवत्) सुनने द्वारा (मधवान्) नाना गेयों से सम्पन्न, (शविष्ठ) बलवान् आत्मा (सोमपीतये) परमेश्वर के दिये परमसुप्त

२८९.—‘पाहिगागान्धसो’ इति, एतेऽन्तः इति सचा अलो रथो दिग्ययः’

इति च अ० ।

रूप सोमरस पान करने के लिये (सग्राच्या धिया) सत्यानुकूल धुद्धि से सम्पन्न होकर (आगमन्) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ ■ ३ १ २ ३ १ २

[२६१] मह चन त्वाद्विवः पराशुल्काय दीयसे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

न सहस्राय नायुताय वज्रियो न शताय जतामघ ॥६॥

अ० ८ । १ । ५ ॥

भा०—(त्वाद्विवः) हे अन्धकार का हरण करने हारे ज्ञानवन् ! (वज्रियोः !) वज्र को धारण करनेहारे आत्मन् ! (महं चन शुल्काय) बड़े भारी मूष्य के बदले भी (न परा दीयसे) तुम्हको नहीं दिया जा सकता, तुम्हें त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मी से सम्पन्न ! (न जताय) न सौ के बदले और (न सहस्राय) न हजार के बदले, और (न नायुताय) न लाख के बदले ही तुम्हें दिया जा सकता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ४ १ ३ २

[२६२] घन्यो इन्द्रासि मे पितुरुत आतुरभुञ्जतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

अ० ८ । १ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अभुञ्जत) प्राप्त घन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने हारे (मे पितुः) मेरे पिता से और (आतु) माई से भी आप (वस्यान् अग्नि) अधिक श्रेष्ठ, अधिक ऐश्वर्यवान् हो । हे (वसो) वसो ! भीतर बसेन हारे ! तू और (माता च) मेरी माता अववा सब विश्व को निर्माता तुम दोनों (समा) समान रूप से (मे) मुझ को (वसुत्वनाय) ऐश्वर्य लाभ करने और (राधसे) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये (छदयथः) मेरा भोजन आच्छादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । पष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्ध प्रपाठः, तृतीयः, प्रपाठश्च समाप्तः ॥

२६१—'परा शुल्काय देयाम' इति अ० ।

अथ चतुर्थ. प्रपाठक (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० ॥ अ०—१ वसिष्ठ. । २, ६, ॥ वामदेव. । मेधातिथिमेध्यातिथी
विश्वामित्र इत्येके । ४ नोषाः । ५ मेधातिथि. । ॥ श्रुष्टिगु. काण्वो. ।
बालसित्या. वा । ॥ मेध्यातिथि । १० नृमेधः ॥ देवता—१—६,
८—१० ॥ ७ बहु. ॥ बृहती ॥ मध्यमः ॥

उ १४ २४ ३ १ २ ३ १ २
[२६३] इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।
१२ २२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २
तौ आमदाय वज्रहस्त पीतये हरिम्यां याह्योक आ ॥१॥
अ० ७ । १२ । ४ ॥

भा०—(इमे) ये (दध्याशिर) दधि से मिश्रित या ध्यान योग से
प्राप्त (सोमासः) सोम, ज्ञान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुन्विरे)
सम्पादित किये हैं, हे (वज्रहस्त) हाथ में ज्ञान रूप वज्र धारण किये
हुए आत्मन् ! (मदाय) अपने अन्तः प्रसन्नता दर्प के लिये (तान् आ-
पीतये) उनको साक्षात् पान करने के लिये (हरिम्या) ज्ञान और कर्म
या दोनों प्रकार के इन्द्रियों से (ओकः) इस देह में (या याहि)
तू आ ।

उ १२ ॥ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाधिकित्र उक्थिनः ।
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मधो. पपान उप नो गिर. शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वण ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते मदाय) तेरे दर्प के लिये (इमे) वे
(उक्थिनः सोमा.) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सोम-विद्वान् जन या समस्त ब्रह्मानन्द
रस (अधिकित्रे) प्रतीत होते हैं । तू (मधो. पपान) अक्षविद्या रूप मधु का
पान कर । (न गिर) हमारी वेदवाणियों (उप शृणु) श्रवण कर । हे
(गिर्वण.) वेदवाणियों द्वारा भजन करने योग्य देव ! तू (स्तोत्राय)
गुणकीर्तन करने हारे को (रास्व) अभीष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २

[२६२] आ त्वावेद्य सर्वर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।

१ २ ३२ ३२ ३२ ३२ ३१ २ ३१ २ ३ १ २

इन्द्रं धेनुं सुदुधामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥ ३ ॥

अ० ८।१।१० ॥

भा०—मै (सर्वर्दुघाम्) सब प्रकार के ज्ञानरस को दुग्धरूप से देने वाली, (गायत्रवेपसम्) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, (सुदुधाम्) सुगमता से दुही जाने योग्य (इषम्) अन्नस्वरूप अथवा वनस्वरूप (उरुधाराम्) बड़े भारी ब्रह्माण्ड को भारण करनेहारी या बहुत भाराएँ धराने वाली (अरङ्कृतं) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित । इन्द्रं । परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुम्ह (धेनुं) गाय कामधेनु माता की । हुवे । मैं स्तुति करता हूँ ।

१ २०३२ १ २ ३१२ ३१३

[२६६] न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः ।

१४ २४ ३१४ २२३ २३२ ३१२ २२

यच्छिद्वासि स्तुवते मावते वसु न किपदा मिनाति ते ॥४॥

अ० ८।८८। ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार बिजुली को (बृहन्तः अद्रयः न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत धरण करते हैं उसी प्रकार (त्वा) तुम्हको (वीडवः) धीरे-सम्पन्न, (बृहन्तः) बड़े २ (अद्रयः^१) विद्वान् लोग (न वरन्ते^१) क्या स्वीकार नहीं करते । करते ही हैं । अथवा (न त्वा वरन्ते) तेरा धारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । (यत्) क्योंकि (मावते स्तुवते) मेरे

१ भक्षणार्थस्य अन्तेर्विदारणार्थस्य दृष्टान्तेर्वा रिन् प्रत्ययः । अस्ति तमः

इत्यद्रिर्ज्ञानी । न दीर्यते मोहादिना वा इत्यद्रिः सयमी ।

२९६—'यच्छिद्वासि' इति अ० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू (यत् वसु शिशुमि) जो वासयोग्य धन, बल प्रदान करता है (ते तद्) तेरे दिये उस धन को न कि. आ-मिनाति) कोई भी नाश नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ (अद्रयः) मेघ या पर्वत भी उसको ढाप नहीं सकते ।

[२६७] ^{१ ३ ३ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ ३} क ई वेद सुते सचा पिबन्त कद्रया दधे ।

^{३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २} अयं यः पुरो वि भिनत्योजसा मन्दान शिप्रयन्धसः ॥५॥

म० ङ । ३३ । ७ ॥

भा०—(सुते) जीवनयज्ञ में (सचा) इन्द्रियगण के एक साथ (पिबन्त) सोम का पान करते हुए आत्मा को (क ई वेद) कौन जाने ? और कौन जाने कि (कद्रु ययो दधे) वह किसनी आयु धारण करता है । (य०) जो आत्मा (शिप्री) वेगवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देह-न्तर में गमन करने द्वारा, (अन्धस० मन्दान०) अज्ञ द्वारा हर्ष को प्राप्त होता हुआ (ओजसा) अपने तेज से (पुर०) अपने भोग भूमियों, देहों को (वि भिनति) तोड़ काटता है और मुक्त हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है, परन्तु उसकी उन्न को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में अमण करता और अजरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

[२६८] ^{१ २ ३ १ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} याद्विन्द्र शासो अत्रत व्यावया सदसस्परि ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

अस्माकमंशुं मध्वन्पुरुस्पृहं वसव्ये अत्रिचर्हय ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! (यत्) क्योंकि (सदस०परि) हमारे देह, घर या समा स्थान के पास रहने वाले (अत्रतम्) अत या नियम का पालन न करने हारे पुरुष का तू (शास) शासन कर और (व्यावय) अधिकार से च्युत करदे । हे मध्वन् ! (पुरुस्पृहम्) इन्द्रियों का प्रजा के अग्नि

लापाओं के योग्य, उनके योग्य, (अस्माकं) हमारे (अशु) भाग को (वसव्ये)
इस बात योग्य देह या देश में (अधि वह्य) और अधिक बढ़ा दे।

१ ■ ३ ■ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६६] त्वष्टा नो दैव्यं वचः पञ्चन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पुत्रैर्भ्रातृभिरादितिनं पातु नो दुष्टं त्रामणं वच ॥ ७ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न
(पञ्चन्य) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान अत्यन्त हित करने हारा,
(ब्रह्मणस्पति) वेद और वेदज्ञों का स्वामी, (अदिति) किसी से भी
खण्डित न होने हारा, अखण्ड, परमेश्वर (नः दैव्यं वच) हमारे देव
सम्बन्धी वेदवाणियों की (पातु) रक्षा करे। वही हमारे (पुत्रैः भ्रातृभिः
सह) पुत्रों और भाइयों के साथ (दुष्टं) दुस्तर (त्रामणं) रक्षा करने
योग्य (वचः) प्रतिज्ञा वचन की (पातु) पालन करे।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३००] कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सशसि दाशुषे ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

उपोपन्नु मघवन् भूय इत्तु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ८ ॥

अ० ८।११।७ ॥

भा०—हे आत्मन् ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरी व असि)
'हिंसक नहीं हैं। अथवा—आप (स्तरी) मृतवत्सा गौ के समान दूध न
देने हारे नहीं हैं। प्रत्युत, (दाशुषे सशसि) दानशील पुरुष को और भी
देते हों। हे मघवन् ! (ते देवस्य) 'तुम्हें देव का (दान, दान (उप-उप इत्तु
नु) बराबर समीप ही समीप (पृच्यते इत्तु नु) प्राप्त होता ही रहता है।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३०१] युद्धवाहिं वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतये उग्र क्रुर्न्मिरागदि ॥ ९ ॥

अ० ८।३।१७ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्तम । उत्तम रीति से विघ्नों का नाश करनेहारे (इन्द्र) परमेश्वर । आत्मन् । तू (हमे) दोनों प्रकार के धारण और आकर्षण बलों और दोनों प्रकार के इन्द्रियगण को (शुचि) नियुक्त कर । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् । (परावत) दूर देश या इन्द्रियों से अगम्य दशा से भी तू (उग्र.) अत्यन्त वेगवान् होकर (सोमपीतये) आनन्दरूप सोमपान करने के निमित्त (ऋष्वोभि.) दर्शन करनेहारे इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीन.) साक्षात् रूप में (आगहि) प्राप्त हो ।

१ ३ १२ २२ ३ १ २
[३०२] त्वामिहा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्ययः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ अ २

स इन्द्र स्तामवाहस इह शुध्युप स्वस्तरमागहि ॥ १० ॥

श्रु० ८ । ९२ । १ ॥

भा०—हे (वज्रिन् । वज्र को धारण करने वाले शक्तिमन् । (भूर्ययः नरः) भरण पोषण करनेहारे नेता लोग, (ह्य.) पूर्वकाल में (त्वाम् इत्) तुझको ही (आ अपीप्यन्) पुष्ट करते थे । हे (इन्द्र) आत्मन् । (स्तामवाहसः) स्तुतिकर्ता या अन्न को धारण करने हारे पुरुषों । स्तुतियों को (श्रु.) यहाँ (स) वह तू (शुधि) अवश्य कर और (स्वस्तर) स्वयं कर्मानुसार अर्थात् आत्मा के बल से चलने वाले स्वयं गति करने हारे देहरूप गृह में (आगहि) आ विराजमान हो ।

इति प्रथमा दशतिः । अक्षतः खण्ड ।



॥ द० २ ॥ अथि.—१. , ३, ७, ८ वमिष्ठः । ३ अभिनो वैवस्वतो । ॥ प्रमृष्टवः ।

॥ मेधातिथिमेध्यातिथी । ६ देवातिथिः । ६ नृमेधः । १० नोधा ॥ देवता—४

—१० ॥ उवा. । १, ३ अदिवनो ॥ वृष्टो ॥ धेनः ॥

३०२—‘स्तोनवाहमागहि’ इति श्रु० ।

[३०३] प्रत्यु^{१ २} अदर्श्यायत्यु^{३ २} च्छन्ती^{१ २} दुहिता^{३ २} दिवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमा ज्योतिष्कुर्याति सूनरी॥१॥

अ० ७।८।१।।॥

भा०—(दिवः दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति (उच्छन्ती) अन्धकार को दूर हटाती हुई । प्रति उ (अदर्शि) सबको दिखाई दे रही है । वह (मही) महान् विस्तारयुक्त होकर (तमः) अन्धकार को उपा काल के समान (अप वृणुते उ) दूर हटाती है । और वह (सूनरी) उत्तम नेत्री, पथदर्शिका (ज्योति कुर्याति) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देती है । यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाणी और प्रबुद्ध चित्ति शक्ति और उपा तीनों पर समान रूप से है । साधक की यह दृशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है । यह आदि-त्यग्य पुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है ।

^{३ १ २ ३ २ १ ३ २ १}
[३०४] इमा उ वां दिविष्ट्य उस्मा हवन्ते अश्विनौ ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १}
अयं वामहेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथ ॥२॥

अ० ७।७४।१॥

भा०—हे (अश्विनौ) अग्निदेवो ! प्राण और अपान शक्तियो ! हे (उस्मा) वास कराने हारो ! (इमाः दिविष्ट्यः) ये द्युस्थान या मस्तक में गति करने हारी सात हृन्दिषो (उ) मी (वा) आप दोनों की (हवन्ते) महिमा को बतलाती हैं । (अयं) यह मैं आत्मा या मन (अवसे) अपने जीवन की रक्षा के लिये । वाम्) आप दोनों को (अहे) पुनः २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर बुलाता हूँ । (शचीवसू) शक्ति द्वारा

चास कराने हारो । आप दोनों (विश विश) प्रति देह में (गच्छय०)
गमन कर रहे हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०५] कुष्ठः को वाग्ध्विना तपानो देवा मर्त्य ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ ३ १ ३ १ २

घ्नता वामश्रया क्षयमाणोऽशुनेत्यमु आद्वन्यथा ॥ ३ ॥

भा०—[प्र० १] हे (अभिनौ) देह में व्यापक प्राण और अपान
(वाम्) आप दोनों (कुस्थ) कहा स्थित हो ? [प्र० २] (वाम्)
आप को (को मर्त्य) कौन मरणाधर्मा यदार्थ (तपान०) तप्त करता है ।
[उत्तर १] (वाम्) आप दोनों (अश्रया) शरीर की भोजन करने की
शक्ति द्वारा (घ्नता) तापित होकर गति करते हो । [द० २] (यथा
आद्वन्) जिस प्रकार भोगों और ऐश्वर्यों का भोक्ता राजा, शासक (अशुना)
अपने समस्त देशव्यापी बल से (क्षयमाण) देश भर में विराजमान
होकर मृत्यों को चलाता है और तपाता है (इत्यम् उ) उसी प्रकार
(आद्वन्) व्यापक आत्मा (क्षयमाणः) देह में रहकर (अशुना) अपने
व्यापक भोग-कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति देता है । और
(अश्रया) अशाना और पिपासा द्वारा आप दोनों (घ्नता) पीड़ित होकर
उसके शासन में गति करते हो । (इसका विवरण देखो बृह० उप०
अ० १, ब्राह्मण २)

३ १ ३ १ २ ३ १ २
[३०६] अथ वा मधुमत्तम सुत सोमा दिविष्टिषु ।

१ २ १ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

तमश्विना पिबतं तिरो अन्ध धत्त रक्षानं दाशुष ॥४॥

१ । ४७ । २ ॥

भा०—हे (अभिनौ) अभियो । प्राण और अपान । (वा) आप
दोनों के लिये (दिविष्टिषु) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की एपसाओं में, या

३०६—'साम अनाष्टा गति श्रु० ।

देवयज्ञों में (अयं) यह (मधुमत्तम) अत्यन्त मधुर (सोम०) सोमरस अन्न रस, ज्ञानरस (सुत०) सम्पन्न किया गया है । (तिरः शब्द) विगत काल के सम्पादित (तं) उसके (पिबतं) पान करो शरीर में ग्रहण करते हो और (दाशुषे) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में और अपान को प्राण में हविरूप से दान करने हारे साधक को (रत्नानि) रमणीय, सुखकारी साधन वत्त आरोग्य (यत्तं) प्राप्त कराओ ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता (अ० ४। २६। ३०) और छान्दो० उप० अ० ३।

२ ■ १ २ ३ ■ ७ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नह ज्या ।

१ २ अर २र ३ १र २र ३ १ २

भूर्णि मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिपत् ॥५॥

अ० ८। १। २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (अहं) मैं (ज्या) उत्कृष्ट प्रशसा योग्य (सोमस्य गल्दया) सोम की धारारूप वाणी (त्वा) तुमको (सदा आ याचन्) निरन्तर प्रार्थना करता हूँ । (सवनेषु) यज्ञकर्मों और उपासनाओं में (मृगं न) सिंह ■ समान दुष्टों पर (चुक्रुधं) क्रोध करते हुए (भूर्णिम्) संसार भर के भरण करने हारे । ईशान) स्वामी जगदीश्वर की (क न) कौन नहीं (याचिपत्) प्रार्थना करता ।

१ ७ ३ ७ ३ २ ३ ३ १ २

[३०८] अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्र पिपासनि ।

■ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ■ ७ ३ १

उपो नून युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम घृघ्रहा ॥६॥

अ० ८। ४। ११ ॥

३०७—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च अ० ।

१. गल्देति वाङ्नाम (नि० १। ११) ध्वनयो वा इति (नै० ६। २४)

३०८—'उपनूय' इति अ० ।

भा०—हे (अध्वर्यो) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आ
 त्मस्थित मन ! अहंकार ! (सोम) सोमरूप आनन्दरस को (इन्द्र) आत्मा
 (पिपासति) पान करना चाहता है । (त्वं सोम दात्रय) तू उस आनन्द
 रस को चुम्भा, उत्पन्न कर । (वृषदा) विघ्न और तमों के निवारक आत्मा
 ने (नून) निश्चय से (वृषणा) सब काम्य सुखों की वर्षा करने हारे एवं
 बलवान् (हरी) हरणशील साधन, प्राण और अपान दोनों को (उप
 युयुजे) जोड़ ही लिया है और वह (आ जगाम च) आभी गया है ।
 साधक अपने अहंकारयुक्त आत्मा से सम्बोधन करता है । देखो प्राणाभि-
 होत्र उप० (सू० ■) 'अहंकारोऽध्वर्युः'

■ २ ३ २ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २

[३०६] अभीपतस्तदामरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पुरुवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरे भरे च हव्यः ॥७॥

श्र० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (ज्याय) सबसे भेष्ट, ज्येष्ठ ! (क-
 नीयसः) अपने से छोटे (ईपतः) आप से साहाय्य चाहने हारे मेरे लिये
 (तद् अभि आ भर) अच्छी प्रकार सब ओर से उस अभिलाषा योग्य
 पदार्थ को प्राप्त करा । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (हि) क्योंकि आप (पुरु
 वसुः) अनेक प्रजाओं को वास कराने हारे (भरे भरे च) और प्रत्येक
 यज्ञ में (हव्यः) स्तुति योग्य हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१०] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमाशीय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तोतारमिदधिपे रदावसो न पापत्वाय रंसिपम् ॥८॥

श्र० ७ । ३२ । १८ ॥

३०६—'अभिवन्त्यनामि' इति श्र० ।

३१०—'स्तोतारमिदधिपे रदावसो न पापत्वाय रंसिपम्' इति श्र० ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! [यावत् त्वम्] जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है—(यद्) यदि (एतावद्) इतना ऐश्वर्य (अहम्) मैं (ईशीय) प्राप्त कर लूं तो हे (रदावसो !) समस्त पदार्थों के देने हारे । मैं (स्तोता-रम् इद्) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान वर्शाने हारे विद्वान् को ही (दधिषे) दे डालूं । (पापत्वाय) पाप के कर्मों के लिये (न रंसिषम्) कभी न दूं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३११] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा अभि स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता घृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥६॥

अ० ८। ६६। २।

भा०—हे (इन्द्र त्वं) तू (प्रतूर्तिषु) संग्रामों में या बल के कार्यों में (विश्वा स्पृधः) समस्त स्पर्द्धा हारी सेनाओं या दुर्वासनाओं के (अभि-असि) मुकाबले पर डट जाता है और उनको परास्त करता है । हे (तूर्य) शत्रु के नाश करने हारे ! (त्वं) तू (तरुष्यतः) हिसा करने में चंगा करने वाले शत्रुओं के प्रति (असि) सब उपद्रवों का नाशक है । और तू ही (अशस्तिहा) शासन को न मानने हारे उद्दण्डों को नाश करने हारा (जनिता) प्रजाओं के पिता के समान है ।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४१२] प्र यो रिरिच्छ ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

न त्वा विद्याच्च रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथा ॥१०॥

भा०—(यः) जो तू परमेश्वर (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (दिवः) द्यौलोक के (सदोभ्यः) वास भूमियों से भी (परि) परे तक (प्ररिरिच्छे) दूरतक फैला हुआ है । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! इसलिये

३१२—'प्रहिरिच्छि' 'पिष मन्तेभ्यस्परि' 'अनुस्वया विवक्षिथ' इति च न० ।

■ ■ ३५२ २२ ३७ ५२ ३९ २ ३९२

第 10 卷 第 2 期

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

W I S E | L I N K

३१६-‘वृषेय’ इति श्र० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! ते सदेन) तेरे निवास योग्य गृह, इस देह में (योनिः अकारि) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है । (तम्) उस स्थान पर हे (पुरुहुत) इन्द्रियों या बहुतसे भक्तों द्वारा निरन्तर स्मरण किये गये आत्मन् ! (नृभिः) अपने नेता, प्राणरूप मरुतों के सहित तू (आ प्र याहि) सब और से हटकर वहां ही प्रकट हो और (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारा (वृषः) बढ़ाने हारा (चित्) और (अविता) पालनकर्त्ता (असः) बन और (वसुनि) धन, आनन्द (दद) दान कर (सोमः च) और सोमों द्वारा (ममदः) आनन्द का उप-भोग कर ।

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सा इन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते अपोहा शीर्षकपालं सत्यात्मप्राणारामं ममः आनन्दम् शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्त्व (तैत्तिरीयोपनि० अनु० ५ वल्ली १ ।)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३१५] अद्दत्समसृजो वि खानि त्वमर्थवान् बद्धधानौ अरम्यः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् सृजद्वारा अब यदानवान् हन् ॥३॥
अ० ५ । ३२ । १०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू ने (उत्सम्) ऊर्ध्वस्थान मूर्धा भाग को (अद्दः) विदारण किया, और (खानि) इन्द्रिय द्वारों को (वि-असृज.) तू ने स्वयं रचा और (त्वम्) तू ने (अर्थवान्) गति शील (बद्धधानान्) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को (अरम्यः) व्यवस्थित किया । और (यद्) जब तू ने (महान्तं) बड़ाभारी (पर्वतं) पुरुओं वाला देह (विव.) प्रकट किया और (यत्) जो (दानवान्)

३१५—'अरम्य' इति, सृजोविधार अवदानव इन् इति च अ० ।

ज्ञान देने हारे इन प्राणों को (आवहन्) प्रेरित करता और (धारा-) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अक्षरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नादियों को उन छिद्रों में प्रवाह रूप से (विद्युजद्) विशेष रूप से प्रेरित करता है। इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य, ३य स्कण्ड में देखिये वहा ही इन्द्र का स्पष्टीकरण भी है। और देखो (बृहदारण्यक उप० अ० १ ब्रा० ४)

‘उत्स उत्तरयाद् उत्सहनाद्गोनतेर्वा (निरु० १० । १ । ३) क्षानि इन्द्रियाणि, (~~उत्स~~ उ०) । पराम्नि क्षानि व्यतृणत् स्वयम्भूः ।’ इत्यादि विसर्जनकर्मा, संयमनकर्मा वा (नि० १० । १ । ३)

[३१६] सु^३ष्वा^{१ २}णास^३ इन्द्र^{३ १ २} स्तुम^३सि^{१ २} त्वा^३ मनि^{३ १ २}श्यन्त^३श्चि^३तुवि^{३ १ २}ष्टुम^३ण^{३ १ २} वाज^{३ १ २}म् ।
आ^{१ २} नो^{३ १} भर^{२ १} सुवि^{३ १}त^{२ १} यस्य^{३ १} कोना^{३ १} तना^{३ १}त्मना^{३ १} स^{३ १}ह्यामी^{३ १} त्मोता ॥४॥

२० । २४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम (वाजं सनिष्यन्तः) मोक्ष पदार्थ का सेवन करते हुए भी (त्वा सुष्वाणासः) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम (स्तुमसि) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये (नः) हमारे लिये (सुवितं) उत्तम यज्ञ प्रेषण को (आ भर) प्राप्त करा। (यस्य) जिसकी (कोना) कामना करते हुए हम। (तना) स्वयं आपसे आप (त्वा उता.) तेरे से रहित रहकर या तेरे में विरोधे हुए रहकर (त्मना) मूल्य उत्तम २, विस्तृत अनुभवों को (आ सह्यामी) प्राप्त करें। प्राणों आत्मा के प्रति और भर्ता का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

[३१७] जगृ^३क्षा^२ ते दक्षि^{३ १ २}णामिन्द्र^{३ १ २} हस्तं^{३ १ २} वसू^{३ १ २}य्यो^{३ १ २} वसु^{३ १ २}पने^{३ १ २} वसूनाम् ।
विश^{३ १ २} हि गो^{३ १ २}पनि^{३ १ २} शूर^{३ १ २} गाना^{३ १ २}मस्मभ्यं^{३ १ २} चित्रं^{३ १ २} पुष्यं^{३ १ २} नयि^{३ १ २} दा ५
शु० २० । ४० । १ ॥

३१६—‘वाजं सनिष्यन्तः’ मना मनुष्यान् इति श्रु० ।

३१७—‘वसूय्यो’ इति पाठभेदः श्रु० ।

भा०—हे इन्द्र ! (वयं वसुधवः) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करते हुए (ते) तेरा (दक्षिणं) दाया, क्रिया सम्पन्न (हस्त) हाथ (जगृह्य) ग्रहण करते हैं । (वसुना) वसुओं के बीच में (वसुपते) प्राणों के पालक ! आत्मन् (त्वा) तुमको (गोना गोपति) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों के स्वामी के समान (विद्म हि) निश्चय से जानने हैं । (अस्मभ्यम्) हमें (धिन्) सदा बढ़ने वाले या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने वाले (वृष्यं) सब सुखों देने वाले, पुष्टिकारक (रयिं) प्राण, अन्न, वल (दाः) दा ।

३ १ २ ३ १ २

३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३

[३१८] इन्द्रं नरो नमयिता हवन्ते यत्पार्या युनजते वियस्ता ।

३ १ २ ३ १ २

३ २ ३ १ २

३ ३ १ २ ३ १ २

शूरो नृपाता धवसश्चकाम आ गोमतिं व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥

अ० ७ । २७ । ॥

भा०—(यत्) क्योंकि आत्मा (पार्याः) व्यापार, करने वाले या भरणपोषण करने में समर्थ (विय.) ज्ञान और कर्तृ (युनजते) आयोजना, प्रबन्ध करता है इसलिये (नरः) विद्वान् लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को नमयिता (वियस्ता) सिद्धांत, पक्ष, व्यवस्था की स्थापना के अवसर पर (हवन्ते) डमको बुलाते हैं । शूर.) शूरवीर (नृपाता) मनुष्यों का उचित विभाग करने द्वारा (चकमे) कामना करने वाले (गोमतिं व्रजे) हमारे अभिलषित गोओं के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न व्रज, गोष्ठ या देह में (त्वं) तू (नः) हमें (अवसः) अन्न वल आदि (भज) प्राप्त करा ।

१ २

३ १ २ २ ३ १

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१९] वयः सुवर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमंघ्रा ऋषयो नाधमानाः ।

१ २

३ १ २ ३ २ ३ १ २

२ ३ १ २ ३ २

२ ३ १ २ ३ २

अप ध्वान्तमूर्धुहि पूर्द्धिं चक्षुर्मुमुग्धदेस्मान्निधयेव यद्वान् ॥७॥

अ० ३० । ७३ । १२ ।

भा०—(वय०) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, (सुपर्णा०) उत्तम ज्ञान और बल की याचना करते हुए, (ऋषयः) विद्वान् लोग और आत्म-पक्ष में—इन्द्रिया (इन्द्रम् उपसेदु) इन्द्र आत्मा आचार्य, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुँचे और कहने लगे (ध्वान्त) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को (अप ऊर्णहि) दूर कर । (चक्षुः) हमारी आँख को (पूर्धि) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और (निधया इव वदाम्) ज्ञान में बंधे हुए के समान हमको (मुमुक्षुः) मुक्त कर ।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का गुरुजी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है ।

१ २ ■ २४ ३ १२ २२ ३ १२ २४ ३ १ २
[३२०] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।

१ २ ■ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरग्युम्॥॥

मृ० १० । १२४ । १ ॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप । तेजस्विन् आत्मन् । (नाके) तु तू तू हित मोक्षमार्ग में (हृदा वनन्त) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करते हुए, (उपपतन्त) गमन करते हुए (हिरण्यपक्ष) हितकारी और मनोहर पक्षों या प्रार्थों या साधनों से युक्त, (वरुणस्य दूतं) सब पापों के वारण करने हारे जगदीश्वर के दूत, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कराने हारे (यमस्य) सब के नियन्ता वायु या ईश्वर के (योनौ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में (शकुनं) शक्ति से सम्पन्न, (भुरग्युम्) अमरशील वा सब के पालन पोषण करने हारे (त्वा) तुम्हको (यत्) जो (अभि-अन्न चत) सर्वत्र देखते हैं । इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो तैत्तिरीय उप० (आनन्दवल्ली अनु० १ से ४ तक) वहाँ इस शकुन के पक्षों और पुच्छ आदि का नाना रूप से प्रदर्शन कराया है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२१] ब्रह्म ज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्टा सतश्च योनिमसतश्च त्रिवः ६

अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा (प्रथमं) सबसे प्रथम (ज्ञानं) प्रादुर्भूत या प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (सीमं मतः पुरस्तात्) इस समस्त ससार की रचना के पूर्व ही (सुरुचः) उत्तम कान्तियों का (वि आवः) पुञ्ज बनाकर प्रकट करता है (सः) वह परमात्मा (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (विष्टा) विक्षेप रूप से स्थिति करने हारे ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है । और (सतः च) इस समस्त सत् रूप में प्रकट जगत् (असतः च) और अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल आश्रय को भी (त्रिवः) वही प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२२] अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तद्यसे तुराय ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विरप्शिने वज्रिण्यशन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः २ ॥

अ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—विद्वान् लोग (महे वीराय) धकेभारी वीर, (तद्यसे) बलवान्, (तुराय) वेगवान् (विरप्शिने) ज्ञानवान् (वज्रिणे) चिह्नों और उपद्रवों के निवारक, वज्र बल के धारण करने वाले, (स्थविराय) अचल कूटस्थ (अस्मै) इस परमात्मा के लिये (पुरुतमानि) बहुत से (अपूर्व्या) । उसको पूर्ण रीति से वर्णन करने हारे अपूर्व (वचांसि) नाना वचन (तक्षुः) प्रकट करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । नवमः खण्डः ।



॥ ६०४ ॥ अवि — १ २. ४ तिरश्चीर्धुवानो मरुतो वा । बृहदुक्थः । ॥ वाम
 र्वेव । ॥ ८ वयिष्ठः । ७ विषामित्रः । ३ गोरिवीक्षिः ॥ इन्द्रो देवता ॥
 छन्दः १-५, ७-९ विराट् । निषदा विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३२३] अत्र द्रप्सो अशुमनीमतिष्ठदियान्- कृष्णो दशभिः सहस्रैः
 २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
 आत्रक्षमिन्द्र शच्या धमन्तमप स्नीहिति नृमणा अथ द्वाः ॥
 अ० द । १६ । १३ ॥

भा०—(द्रप्सः) द्रव्यशील, गतिमान्. (कृष्णः) विलेखन संक-
 र्षण वा संश्लिष्य करने द्वारा मुख्य प्राण (दशभिः) अर्थों को प्रकाशित
 करने वाले (सहस्रैः) वेगवान् प्राणों सहित (इयानः) गति करता हुआ
 (अशुमतीम्) व्यापनशील चेतना युक्त चित्तिशक्ति का (अथ अतिष्ठत्)
 आश्रय लेता है । (इन्द्रः) आत्मा । शच्या धमन्तम्) अपनी शक्ति द्वारा
 आस प्रवास लेते हुए (तम्) उसको (आवत्) प्राप्त होता है (नृमणा)
 सब तरों में मग्न शक्ति रूप वह आत्मा (स्नीहिति) अवघात करने हुए
 उस प्राण को (अथ अथ द्वाः) नीचे अर्थात् भी प्रेरित करता है ।

प्राण की गति को अपान तथा अन्यान्य अधोगामी स्थानों में प्रेरण
 करने में आत्मा संकल्प का कारण है । इसको साध्यादि
 आप्यकारों ने कृष्णासुह को मारने की कला गढ़ कर लगाया है, वह
 असंगत है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३२४] वृत्रम्य त्वा इव सथादीपमाणा विश्व देवा अजहुर्ये सन्नाय
 ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 मरुद्भिरिन्द्र सख्यं तं अस्वयेमा विश्वाः पृतना जयासि २
 अ० ॥ १६ । १४ ॥

३२३—'स्नेहितीनृमणा' इति अ० ।

भा०—(वृत्रस्य) आघरणकारी इस तामस देह (असथाद्)
आस प्रभास से (ईयमाणाः) गति करते हुए (विश्वे देवाः) सब देव-
गण, मरुद्गण, असुरगण, चक्षु आदि (वे) जो (सखायः) मित्र
(त्वा) तुम्हको (अजहुः) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख
हो जाते हैं, तो भी हे आत्मन् । (ते सख्य, तेरा मैत्रीभाव (मरुद्भिः) उन
प्राणों इन्द्रियों से (अस्तु) बना ही रहता है । (अस्य) इसी कारण
(इमा) इन (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) मरण पोषण पोष्य प्राणियों
के देहों को (जयासि) तू अपने वश रखता है ।

ईप् गतिर्दिसादर्शनेषु, भ्वादिः । ईप् उञ्छे, भ्वादिः । पृतना इति
मनुष्यनाम, (नि० २।४।)

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३२५] विधुं ददाण समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २२ ३ २ ३ १२ २२

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥३॥

अ० १०।५५।५॥

भा०—(विधुं) विधमनशील, धौकनी सभान विशेष रीति से
शरीर में गति करने वाले, (समने) समान रूप से प्राण धारण करने
के कार्य में (बहूनां) बहुतों को । ददाणं) गति देने वाले, (युवानं
सन्तं) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी (पलितः) पुराण
पुरुष आत्मा (जगार) अपने भीतर लीन कर लेता है । (देवस्य) उस
आत्मदेव के (काव्यं) ज्ञान—सामर्थ्य को (पश्य) देख (ह्यः) जो भूत
काल में (समानः) निरन्तर जीवित रहा, (स अद्य) वह आज भी (म-
हित्वा) उस 'स्व' अपने महिमा का वक्ष्यन में (ममार) अपना प्राण को
त्याग देता है अर्थात् उसमें ही लीन हो मुक्त हो जाता है ।

देखो स्पष्टीकरण उपनिषदों अण्वय-प्रकरण एकायन-प्रकरण और
स्व महिमा में संप्रतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पक्ष में—(विष्णु) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में प्रसन्न होता है उसी प्रकार (बहूनां) बहुत से प्राणों के बीच में सबसे अधिक (युवान सन्तं) युवा अति बलवान् सत् स्वरूप आत्मा (विधुं ददायां) चन्द्र के समान आह्लादकारी एवं गतिशील आत्मा को (पक्षितः) सर्वव्यापक, पुराण परमेश्वर (जगार) अपने भीतर ले लेता है (देवस्य) उस महान् परमेश्वर के बनाये (कार्यं परय) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि (आद्यममार) जा अज मरता (सः) वह (ह्यः) फिर दूसरे दिन (समानः) प्राण धारी होकर जीता है । अर्थात् पुनः जन्म लेता है । और जो ही जरात् अवलट होता है वह पुनः जनता है ।

देखो अथर्व० पक्षित सूक्त । का० २ । १ । १० ॥

१ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२६] त्वं ह त्वत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गूढं द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥४॥
अ० ८ । १६ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं ह) नृ ही (जायमानः) प्रकट होते समय (त्वत्-सप्तभ्यः) उन सातों (अशत्रुभ्यः) कभी न सोने दारे, निरन्तर चलने वाले शीर्षिक प्राणों को (गूढं) एकमात्र सुलाने वाला, अपने में लीन करने द्वारा, या शातयित्वा, उनके वंग को कम करने द्वारा या उनको इन्द्रियरूप में शिरोदेश में फोड़कर बनाने वाला (अभवः) है । और उसके बाद नृ हीं (गूढं) गुहा या बुद्धि में स्थित (द्यावा पृथिवी) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूधाभाग और शेष शरीरभाग को (अनु अविन्दः) प्राप्त करता है । और (विभुमद्भ्यः) सत्तावान् बलवान्, (भुवनेभ्यः) प्राणों से (रणं) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वयं (धाः) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है ।

३ ५८ २२ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 [५२७] मेडिं न त्वा वज्रिणं सृष्टिमन्तं पुरुषस्मानं वृषभं स्थिरप्सुम्
 ३ ५८ ३ १ २ ३ ५८ २२ ३ १ २ ३ १ २
 करोष्यस्तत्पुंरुषस्य रिन्दुं वृषभं गृणीषे ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (दुवस्यु.) परिचर्यो, सेवा की इच्छा करने द्वारा तू (अयं :) अपनी गतिशील इन्द्रियों को (तरुपीः) पदार्थों या भोग्य विषयों तक चले जाने योग्य (करोषि) कर लेता है। इस कारण मैं (मेडिं न) मेल करने हारे योगी के समान (वज्रिणं) वर्जन करने वाले बल वैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक संग त्याग सम्पन्न (सृष्टिमन्तं) पापों को भून देने हारी परिपक्व, सम्यग् बुद्धि से युक्त (पुरुषस्मानं) इन्द्रियों को आश्रय देने हारे (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ (स्थिर-प्सुम्) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव (वृषं) प्रकाशस्वरूप, (वृत्रहणं) तम-स्वरूप देहबन्धन को नाश करने हारे (त्वा) तेरी मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूँ।

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३२८] प्र वां महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमतिं कृणुध्वम् ।
 १ २ ३ १ २ २ ३ २
 विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः ॥ ६ ॥

अ० ७। ३१। १० ॥

भा०—(■) आप लोग (महे वृधे) महिमा से बढ़ने वाले (महे) बड़े सारी आत्मा के लिये (प्र भरध्वं) उत्तमरूप से इष्ट पदार्थ अन्न और ज्ञान का संग्रह करो (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य आत्मा या परमेश्वर के निमित्त । प्र सुमतिं) उत्तम २ विचार या मनन (कृणुध्वम्) किया करो। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चर्षणिप्राः) विद्वानों को ज्ञान से पूर्ण करनेहारे आप (पूर्वीः विशः) पासन करनेहारी श्रेष्ठ धर्मात्मा प्रजाओं के पास (■ चर) उत्तमरूप से आओ, प्राप्त होओ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २
 [३२६] शुन हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नत्तमं वाजसातौ ।
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानि॥७॥

अ० ३ । ३० । २२ ■

भा०—(अस्मिन्) इस (भरे) भरण पोषण करने हारे (वाज-
 सातौ , अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में (शुन) ज्ञानसम्पन्न, सर्व-
 व्यापक, (मघवानम्) ऐश्वर्यसम्पन्न, (नत्तम) सबसे उत्तम नेता, (शृण्व-
 न्त) सबकी प्रार्थनाओं को सुनने हारे । (उग्रम्) दुष्टों ■ प्रति उग्र स्वभाव
 वाले (समत्सु) सम्राटों और उत्सवों में (वृत्राणि) उपद्रवकारियों को
 (घ्नन्तं) नाश करने हारे, (धनानि) नाना विभूतियों को (संजितं)
 स्वयं जीतने हारे (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा के समान । (समत्सु) योगज हथों
 या आनन्द प्राप्ति के अवसरों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) आवरणकारी तामस
 भावों का नाश करने वाले और (धनानि संजितम्) ऐश्वर्यों पर विजय
 करने वाले आत्मा और परमेश्वर को (हुवेम) हम स्मरण करें, पुकारें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३३०] वृ ग्रहाणैरत अवस्येन्द्रं समर्थे महया वलिष्ठ ।
 १४ १४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
 आ यो विश्वानि अवसा ततानांपथोता म ईवतो वचासि ■
 अ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे (वलिष्ठ) बागू ! या विद्वन् ! (अवस्था) ज्ञान की प्राप्ति
 के लिये (ग्रहाणि) वेदमन्त्रों का (उद् पेरत) उच्चस्वर से पाठ कर ।
 (समर्थे) यज्ञ आदि विद्वानों की संगति में (इन्द्रं) उस परमात्मा की
 (महय) उपासना ■ (यः) जो (अवसा) अपने सामर्थ्य से
 (विश्वानि) समस्त ग्रहाण्डों को (आततान) रचता है और (यः) जो
 (मे) मुझ (ईवतः) ज्ञानी पुरुष के (वचासि) वचनों ■ (उप ओता)
 समीपतम होकर अवस्था करता है ।

उ १२ २२ ■ १२ २२ उ १२ २२ उ १२ २२
 [३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिषत्तमुतां तदस्मै मध्विचच्छद्यात् ।
 उ १२ २२ ■ २२ उ २ उ १२ २२ उ १ २
 पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोवदधा ओषधीषु ॥६॥
 अ० १० । ७३ । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर का (यद्) जो (चक्र) सृष्टिक्रम
 (अप्सु) प्रजाओं में (आनिषत्तम्) विद्यमान है । (उत उ) और (अस्मै)
 इस सृष्टिचक्र के लिये (मधु इव) विशेष मधुर, अन्नादि जीवनरस को
 ही (चच्छद्यात्) गुप्तरूप से रखता है और (यद्) जो (ऊधः) ऊपर
 उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत (पृथिव्यां) इस पृथिवी
 पर (अति-सितं) खूब बलपूर्वक बधा हुआ है उससे ही वह (गोषु)
 गौओं में और (ओषधीषु) ओषधियों में (पय) पान करने योग्य रसको
 (यदधाः) आधान करता है ।

अन्न से प्राणिरस, मेघों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, ब्रह्म से
 कर्म, अक्षर से ब्रह्म, ऐसा 'चक्र' है, देखो (गी० अ० ३ । १४, १५)

इति चतुर्थी दशति । दशमः खण्डः ।

॥ द० ७ ॥ अग्निः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः । २ मृगो भरद्वाजो वा । ३ वासुक्रो
 निमदो वा । ४-६, ६ वाग्देवः । ७ विश्वामित्रः । ८ रेणुः । १०
 गोतमः ॥ देवता—१-६, ६, १० इन्द्रः । ७, ८ पर्वतेन्द्रो ॥

त्रिष्टुप् ॥ षेत् ।

उ ३ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
 [३३२] त्यमूषु वाजिनं देवजुतं सहोचानं तरतारं रथानाम् ।
 १ २ उ १ २ उ २ उ २ ३ २ उ १ २
 अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥
 अ० १० । १७८ । १ ॥

३३२—तूर्णमश्नुते इति तार्क्ष्यः । तार्क्ष्य इति अश्वनाम । नि० १ । १४ ॥

भा०—हम लोग (त्व) उस (वाजिन) ज्ञान, वेग, कर्म से युक्त, (देवजूनं) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित, (सहोचानं) सहनशीलता एवं बल युक्त, (रथाना तरुतारं) इन रथरूप देहों या गतिशील नक्षत्रों और ग्रह उपग्रहों की गति तथा परस्पराकर्षण की अद्भुत व्यवस्था द्वारा चलाने हारे, (अरिष्टनेमिं) शुभ मार्गों में सबको नियम में संचालन करने हारे, (पृतनानं) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हारे, (आशुं) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता या भोक्ता (तार्क्ष्यस्) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इह) यहाँ इस अन्तःकरण में (आहुवेम) आह्वान करते हैं ।

[३३३] ^{३ २३ १ २ २ २३ २३ १ २ ३ २३ २३ १} आतारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हुवेहव सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
^{३३४ ३ २ ३१२ २२ ३२ ३ २ ३१ २ ३ १ २} हुवे नु शक्रं पुरुहुतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा धत्विन्द्र ॥२॥
 अ० ६ । ४७ । ११ ॥

भा०—(आतारम् इन्द्रं) असादि से पातक परमेश्वर को, (अवितारम् इन्द्रं) रक्षक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं से (सुहव) सुख से योग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, (शूरं) वीर्यवान् (इन्द्र) परमात्मा को, (शक्रं) शक्तिमान् (पुरुहुत) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित (इन्द्रं) परमात्मा और आत्मा को (नु) ही । हुवे) मैं स्तुति करता हूँ । (इदं हविः) इस योग्य स्तुति को (मघवा) वह ऐश्वर्ययुक्त प्रभु (इन्द्रः) आत्मा (वेतु) स्वीकार करे ।

[३३४] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २} यजामह इन्द्रं वज्रदाक्षिणं हरीणां रथ्याश्च विप्रतानाम् ।
^{१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ १२} प्र शमश्रुमिदो धुवदूधवा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राघवा ॥३॥
 अ० १० । २३ । १ ॥

३३३—'शूरमिन्द्र', 'हवामि शक्र', 'धास्विन्द्र', इति ।

३३४—'रथ्य विप्रतानान्', 'प्रमश्रुमिदो', 'दयमानो' इति अ० ।

भा०—(वज्रदण्डं) विघ्नो और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, (विघ्नतानां) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले (हरीणा) इन्द्रियों के (रथ्या) उत्तम सारथी (इन्द्रं) आत्मा की हम (यजामहे) उपासना करते हैं। वह (इमश्रुभिः^१) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको (दोधुवद्) गति देता हुआ (ऊर्ध्वधा) सब से उच्च (भुवन्) रहना हुआ सेनापति । समान (सेनाभिः) अपनी आसकारिणी सेनाओं, समान बन्धनरज्जुओं द्वारा (विराधसा) विशेष साधना द्वारा (भयमानः) सब को कंपाया करता है।

■ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३३५] सप्राह्यं दाधूर्षि तुघ्नमिन्द्र महामपारं वृषभ सुवज्रम् ।

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २

हन्ता या वृत्रं सनितात वाजं दाता मघानि मघवा सुराधा ॥४॥

अ० ४। १७। ८॥

भा०—(सप्राह्यं) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक (दाधूर्षि) सबको दवाने वाले (तुघ्नं) सबके प्रेरक, (अपारं) अपार, (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ, (सुवज्रं) उत्तम वज्र को धारण करने वाले, (महाम्) बड़े भारी और (य. वृत्रहन्ता) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता (उत वाज सनिता) ज्ञान और अज्ञान का विभाग कर देनेहारा, (सुराधा.) उत्तम साधनों और धर्मों से सम्पन्न या उत्तमरूप । आराधन करने योग्य, (मघानि दाता) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको (इन्द्रं) 'इन्द्र' कहो, जानो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २

[३३६] यां नो वनुष्यन्मभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरा वा ।

३ १ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

क्षिधी युष्मा श्वसा वा तमिन्द्रामी ज्याम वृषमणस्त्वोता ॥५॥

१. इमनि शरीर श्वेत श्वि इमश्रुभिः शिराः । इम शरीर निर० ३।१।५ ।

भा०—(यो मर्त्त) जो मनुष्य (वनुष्यन्) मारने की इच्छा से (न , अभिदाति) हम पर प्रहार करता है । (उगथा वा मन्यमानः) या अपने को बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, (तुरो वा) या आवेश में आया हुआ, (विधी) प्राणविनाशक (युधा) हथियार या (शवसा) बल से हमारे प्रति (अभिदाति) आता और प्रहार करता है, ॥ परमेश्वर ! सेनापते ! (श्रोता.) हम तेरे से रक्षित होकर (वृषमण.) खूब पुष्ट शरीर होकर (तम्) उस हुए प्रति (अभि-स्याम) मुकाबले पर उट जायें और उसे दबावें ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३७] यं वृत्रपु क्षितय स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।

१२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र॥६॥

भा०—(यं) जिसको (वृत्र) उपद्रव और विप्लवों के अवसर पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपस्थित होने पर (क्षितय) देश निवासी प्रजाएं और देह की इन्द्रिया (स्पर्धमानाः) एक दूसरे से बढ़ने की इच्छा करने हारी (हवन्ते) स्तुति करती हैं, (य) जिसका (युक्तेषु) संग्रामों में या योगक्रियाओं में योगरत पुरुषों के बीच (तुर-यन्त) परस्पर हिंसा करते हुए या व्युत्थान दशाओं पर या विघेपों पर विजय करते हुए साधक (हवन्ते) स्मरण करते हैं । (यं शूरसातौ) जिसे शूरवीरों के संग्राम ॥ स्मरण किया जाता है । (यम् अपाम्) जिसको प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और (यम् उपज्मन्) जिसको भूमि पर अन्न आदि लाभ के लिये पाट किया जाता है और (य विप्रास) जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग (वाजयन्ते) स्तुति करते हैं (स इन्द्र.) यह 'इन्द्र' है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २ २ ३ ३ २
 [३३८] इन्द्रापर्वना बृहता रथेन वामीरिष आवहतं सुवीराः ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥

अ० ३ । ५३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! और हे (पर्वत) सबको पूरण,
 पाकन और तृप्त करने द्वारे परमेश्वर ! आप दोनों (बृहता रथेन) बड़े रथ
 या रमण साधन के द्वारा (सुवीराः) उत्तम वीर्यसम्पादक या, उत्तम स-
 न्तानजनक, (वामीः) मनोहर । इषः) अस्त्रादि भोग्य पदार्थ (आवहतं)
 प्राप्त कराओ । हे (देवा) दोनों दानशील देवों ! (अध्वरेषु) यज्ञ आदि
 हिसारहित जीवोपकारी कार्यों में । हव्यानि) आदान योग्य पदार्थों को
 (वीतं) स्वीकार करो । (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (इडया) अन्न
 के उत्तम अंशों से (मदन्ता) प्रसन्न, तृप्त होते हुए (वर्धेथा) पुष्ट होओ ।
 अध्यारम पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=
 सूर्य, पर्वत=मेघ या विद्युत् और पर्वत ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३३९] इन्द्राय गिरो आनशितसर्गा अपः प्रेरयत् सगरस्य बुधात् ।
 १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
 यो अक्षेणोत्र चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत्त द्याम् ॥८॥
 अ० १० । ८६ । ४ ॥

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुधात्) अन्तरिक्ष के प्रदेश या ऐन्द्रा
 से मेघ के समान (अपः प्रेरयत्) जलों को नीचे वर्षण करता है और (यः)
 जो (अक्षेण) धुरे के बल पर (चक्रियौ ॥८॥) दो चक्रों के समान शची-

३३८—'मदन्ताम्' इति पाठः कालिकाणा अजमेरादि मस्तरणात् प्रामादिकः ।

सायणादिभाष्यविरोधादसंगतेषु ।

३३९—'चक्रियौ' इति अ० ।

भिः) अपनी शक्तियों से (पृथिवीम् उत धाम्) पृथिवी और धौलोक को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं । उस (इन्द्राय) सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिये (अनिशितसर्गाः) अखण्डित रचना वाली (गिर.) वेदवाण्या स्तुति करने हारी हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४०] आत्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरुचिदर्शान् जगम्याः॥

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २
पितुर्नपातमादधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरा दीद्यानः ॥६॥

अ० १० । १० । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सखायः) तेरे समान ख्याति चाहने वाले, तेरे स्नेही (सख्या) मित्रभाव से (त्वा) तुम्हको (आववृत्यु.) प्रेम करते हैं या अपनाते हैं । तू (तिर.) तिर्थगुं योनियों में (पुरु) इन्द्रियों या प्रजाओं में (चिद्) चेतनावान् होकर (अर्णवम्) देह में (जगम्याः) प्रविष्ट है, उसको प्राप्त है । तू (अस्मिन् क्षये) इसनिवासयोग्य देह में (प्रतरा) प्रति उत्तम प्रकार से (दीद्यान) प्रकाशमान होता हुआ, (वेधा) ज्ञान सम्पन्न होकर (पितु.) सबके पालन करनेहारे परमेश्वर के समान (पात) हमारी रक्षा (आदधीत) कर । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा या परमेश्वर के प्रति क्यन है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ■ ■ ■
[३४१] को अद्य युक्ते धुरि गा क्रनस्य शिमीधतो भामिनो दुर्हणायून् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आसक्षेवामप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् १०

अ० १ । ८४ । १६ ॥

३४०—' नित्सखाय सख्या, ववृत्या तिरः पुरुचिदर्शान् जगम्यान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अथि क्षमि प्रतर दीद्यान.' । इति अ० ।

१. यमी अपि, अग्वेदे ।

३४१—'आसक्षिभून्हस्वसो' इति अ० ।

भा०—(अद्य) वर्त्तमान में (अतस्य) इस गतिमान् जीवित देह-
रूप रथ के (धुरि) धुरा में (शिमीवतः) कामना करने हारे । (भागिनः)
आवेश से युक्त, (दुः-दृष्टायुन्) दुःशील (अप्सुशहः) अपने अभिलाषित
पटायों में शरीर को खेजाने वाले (मयोभून्) सुख उत्पन्न करनेहारे
(गाः) बैलों के सनान, इन्द्रियों को (कः) कौन (युक्ते) लगाता है ?
(एषां आसन्) इनके मुख में (यः) जो (एषां) इनकी (मृत्या)
मरण पोषण सामग्री को (ज्ञायाधत्) उत्तम रूप से देता । और उनका
पालन पोषण करता है (सः) वह ही (जीवात्) जीवन धारण
करता है ।

इति पञ्चमी दशमिः । एकादशः खण्डः ।



॥ ६० ६ ॥ ऋषिः—१ मधुच्छन्दाः । २ जेना माधुच्छन्दसः । ३, ६ गौतमः ।

४ मन्त्रिः । ५, ८ तिरश्चीः । ७ काण्वो नीपात्तिथिः । ९ विश्वामित्रः ।

१० शंयुर्वर्हिस्तथः ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ १८ २६ ३ २ ३ १ २
[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।

३ १ २

३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्या शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

क० १ । २० । १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! (त्वा) तुमको (गायत्रिणः) गान करनेहारे
उद्गाता, सामगायक (गायन्ति) गान करते हैं । (अर्किणः) ऋग्वेदी
विद्वान् (त्वा अर्चन्ति) वेदमन्त्रों द्वारा तेरे गुणगान करते हैं । (ब्रह्माणः)
और अथर्ववेद या चारों वेदों के विद्वान् ब्रह्म लोग (त्वा) तुमको (वंशम्
इव) अपने वंशधर, प्रथम पुरुषा समान (उद्वंशमिव) उद्वंशकोटि पर
मानते हैं ।

२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
 [३४३] इन्द्रं विश्वा अनीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
 ३ १ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
 रथीतमं रथीना वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

अ० १ । २१ । १ ॥

भा०—(विश्वा- गिरः) समस्त वेदवाणिषां (समुद्रव्यचसं) आकाश के समान सर्वत्र व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी के समान देहधारियों में सब से विराट् देह, ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले, सबके प्रेरक, (वाजानां) सब ज्ञानवान् पुरुषों के (सत्पतिं) सबे स्वामी, या सज्जनों के पातक और (पतिं) सबके पातक (इन्द्रं) परमेश्वर को (अनीवृधन्) बढ़ा कहती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३४४] इममिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा अतस्य सादने ॥ ३ ॥

अ० १ । २४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमे) इस (अमर्त्यं) मरणधर्मी पुरुषों को प्राप्त न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, (ज्येष्ठं) सब से उत्कृष्ट, (मदं) आनन्दस्वरूप, (सुतं) योग्य ज्ञानसम्पन्न रस को (पिब) पान कर । (अतस्य) सत्य ज्ञान के (सादने) उत्पन्न होने की स्थिति में (शुक्रस्य) शुद्धस्वरूप, शुद्ध, कान्ति की (धारा-) धारणाशक्ति, धारा या प्रवाह (त्वा) तेरे प्रति (अभि अक्षरन्) बहते हैं ।

पतञ्जलि योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—‘निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्म-प्रसादः’ । जिस व्यासदेव ने लिखा है “अशुद्ध्यावरणमन्नापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोग्माभनभिभूतः स्वच्छ-स्थितिप्रवाहो वैशारद्यं । यदा निर्विचारस्य समाधिवैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः । मूलार्थविषयः क्रमानुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः” । अतः

भरा तत्र प्रज्ञा । (पात० सू०) तस्मिन् समग्रहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या 'श्रुतंभरा' इति संज्ञा भवति । अन्वया च सा । नच तत्र विषयोसंज्ञानगन्धोऽपि ॥” इयो प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है । अर्थात् निःसंज्ञा चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्य-ज्ञान का प्रज्ञा-नमन खुल जाता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[३४५] यदिन्द्र चित्रं मे ह्यहं नास्ति त्वादानमद्विवः ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
राधस्तन्नो विद्वत्स उभया हस्त्याभर ॥ ४ ॥

अ० ५। ३९। १ ॥

भा०—हे अद्विवः ! सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र ! (मे) मेरा (ह्यहं) इस संसार में (यद्) जो (त्वादानं) तेरे से दानरूप में प्राप्त करने योग्य (नास्ति) नहीं हुआ है (तद् राधः) वह धन या सिद्धि (चित्रं) पूजनीय ! हे (विद्वत्सो) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप ! (न.) हमें (उभया हस्त्या भर) दोनों हाथों से, दिक्षु खोजकर दे ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[३४६] शुभी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यन्ति ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूँद्धिं महौं असि ॥ ५ ॥

अ० ५। ४५। ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (त्वा) तुम्हें (सपर्यन्ति) उपासना करता है उस (तिरश्च्या) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या पूर्ण ज्ञानी साधक की (हवं) स्तुति का । शुधि) अवधारण कर, स्वीकार कर । हे इन्द्र ! तू (महान् असि) बड़ा है, इसलिये (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्यसम्पन्न (गोमतः) पशु एवं इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त (राधः) धनों और ज्ञानों से हमें भर दे ।

३४५—‘यदिन्द्र चित्रं मेह नास्ति’ इति अ० ।

१ २ ३ १ २ ४ १ २ ३ १ २
[३४७] असावि साम इन्द्र ते शनिष्ठ घृण्णवागहि ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्तिन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ६ ॥

अ० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (ते) तेरे दिये (सोमः) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द (असावि) उत्पन्न किया जाता है । हे (शनिष्ठ) अति बलिष्ठ ! हे (घृण्णो) सबको परास्त करनेहारे ! आगहि । आ जा, समीप आ जा । (इन्द्रिय) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तेरी विभूति या ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (सूर्य न) सूर्य जिस प्रकार (रश्मिभिः) अपनी रश्मियों से (रजः) इस ब्रह्माण्ड को पुर वेता है उसी प्रकार (आ पृणक्तु) सब ओर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ७ ॥

अ० २ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने (हरिभिः) ज्ञान प्राप्त करानेहारे साधनों, इन्द्रियों से (कण्वस्य) कर्णों से संचित इस वेद, या देही, या प्रज्ञावान् आत्मा की (सु स्तुति) उत्तम स्तुति या उपभाग को (उप आयाहि) प्राप्त आ और भोग कर । हे (दिवावसो) अपने तेज से प्राणरूप होकर बसनेहारे जीव ! (अमुष्य) उस तेरे (दिव) इस बौलोक (शासतः) शासन करनेवाले जगदीश्वर के (दिव) दिव्य कान्ति को (यय) चला, जा, प्राप्त कर ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३४९] आ न्या गिरो रथीरिवास्थुः सुनेषु गिर्वेण ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अभि त्वा समनूपत गावो घत्स न धेनवः ॥ ८ ॥

अ० ३ । ९५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वयः ! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य (सुतेषु) योगसाधनों में, यज्ञों में (गिरः) वेदवाणियों (रथीः इव) वेगवान् रथारोहियों के समान (त्वा अस्थुः) तेरे ही प्रति आ जाती हैं । (गावः) ये वेदवाणियां (धेनवः चत्सं न) गौपं जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार (त्वा अभि सम् अनूपत) तेरी ही अत्यन्तरूप से स्तुति करती हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५०] एनो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैवावृध्वासं शुद्धैराशीर्वान् ममसु ॥ ॥

अ० ८। ६५। ७ ॥

भा०—हे विद्वानो ! आप लोग (आ इत) आओ, (जु) और (शुद्धं इन्द्रं) विद्या और तप से पवित्र (शुद्धेन साम्ना) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, (शुद्धैः उक्थैः) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (आवृध्वासं) महिमा से बड़े (इन्द्रं) परमेश्वर को (स्तवाम) स्तुति करें । (शुद्धैः) शुद्धिजनक तपों से बड़े (आशीर्वान्) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर (ममसु) आनन्द प्रसन्न रहें ।

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
[३५१] यो रयिं वां रयिन्तमो यो शुर्मैर्गुम्नवत्तमः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमः सुतः इन्द्र तजसि स्वधापने मदः ॥१॥

अ० १। ४४। १ ॥

भा०—(यः) जो स्वयं (रयिन्तमः) सबसे उत्तम ऐश्वर्य, है और (यः शुर्मेः) जो कान्तिषों, ओजों और ऐश्वर्यों से (शुर्मैर्गुम्नवत्तमः) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वान्' इति अ० ।

३५१—'यो रयिवो' इति अ० ।

१ २ १, ३ १ २ ३ २
[३५३] आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ ॥

महान्तं पूर्वनेष्ठाम् । उग्र वचो अपावधीः ॥२॥

भा०—(नः) हम लोग (वयःशयं) जीवन भर को समाप्त करने
हारे, कालरूप. (महान्तं) बड़े भारी, (गह्वरेष्ठाम्) हृदयगुहा में स्थित,
(वय) जीवनप्रद. (वयःशयं) जीवन भर में व्यापक बल को (आ)
हमें प्रदान करे । और (पूर्वनेष्ठाम्) प्रारम्भ काल से संसार को नियम से
चलाने वाले (महान्तं) उग्र महान् परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं । हे
पुरुष ! (उग्र वचः) उग्र वचनों को (अपावधीः) घूर मार मगा ।
और सौम्यगुण सीख के सब हृदयों में महान् प्रभु का आवास जानकर
और उसी को समस्त संसार का व्यवस्थापक जान कर किसी को कठोर
वार्त्ता से मत सता ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३५४] आ त्वा रथं यथोत्तय सुज्ञाय वर्तयामसि ।

३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २

तुविक्राममृतीपहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥ ३ ॥

अ० ८। १॥ १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हमें (रथं) अपने हीस रथयान-
धन=रथरूप देह को (सुज्ञाय) उत्तम मनन करने योग्य ज्ञानरूप धर्म
की प्राप्ति के लिये (वर्तयामसि) पुनः धारण करते हैं, उसी प्रकार हे
(शविष्ठ) बलवान् ! (तुविक्रमिम्) नाना प्रकार के महान् कार्यों में सत्पा-
दन करनेवाले (मृतीसहं) इन्द्रियों और दुःखदायी विषयों के अभिभावक,
(सत्पति) सज्जनों के स्वामी, (त्वा) तूफ परमेश्वर को भी (वर्तयामसि) बार-बार अपने में धारण करते हैं । मोक्षार्थे ज्ञानप्राप्ति के लिये

जहाँ पुनः २ जन्म ग्रहण करना आवश्यक है वहाँ मोक्ष के लिये पुनः भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२

[३५५] स पूर्व्यो महोनां चेन क्रतुभिरानजे ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥ ४ ॥

श्रु० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—(सः) वह (चेनः) विद्वान् (महोनां) पूजनीय पुरुषों में से भी (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, पूजा के योग्य है जो (क्रतुभिः) कर्मों और शानों द्वारा (आनजे) सबको प्रेरित या प्रकट करता है । (यस्य द्वारा) जिसको साधन बनाकर (मनुः पिता) मननशील स्वामी, परमात्मा (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (धियः) अपनी बुद्धियों को (आनजे) प्रेरित करता है ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[३५६] यदी वहन्त्याशवो आजमाना रथेष्व ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

भा०—(यद्) जहाँ और जब भी (रथेषु) रथसाधन या वेग-वाण् साधनों पर, गतिशील इन्द्रियों के आश्रय (आश्रयः) शीघ्रगामी मरुद्गण, प्राणगण (आजमानाः) कान्तिमान्, तेजस्वी होकर (ई) इस आत्मा के (मदिरं) पुष्टिकर (मधु) ज्ञान या आनन्द मात्रा को (पिबन्तः) पान करते हुए (वहन्ति) पहुँचा देते हैं, वे (तत्र) वहाँ (श्रवांसि) वेदवचनों, अनाहत वादों को (कृण्वते) साक्षात् करते हैं ।
जैसा कहा है—

‘आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा क्षमते योगमुत्तमम् ।’

(योग व्या० भा० । सू० ४८)

■ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३५७] त्वमु वो अप्रहृणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ ■ ■ ३ १ २

इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ■ ॥

अ० ६।४४।४ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के प्रति मैं (त्वम् उ) उस ही (इन्द्र)
ऐश्वर्यवान्, (विश्वासाहं) सब को सहन करने हारे, (नरं) नेता,
(शचिष्ठं) सब से अधिक शक्तिमान्, (विश्ववेदसं) सबको जानने हारे,
सर्वज्ञ, (अप्रहृणं) किसी से न मारा जाने हारे, (शवसस्पति) बल के
द्वारा सबके पावन स्वामी की (गृणीषे) स्तुति करता हूं, उसका उप-
देण करता हूं ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३५८] दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुरमि नो मुखा करत् प्र न आर्युषि तारिपत् ॥७॥

अ० ४।३६।६ ॥

भा०—(जिष्णोः) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, (वाजिन
बलवान्, (अश्वस्य) सर्वव्यापक, (दधिक्राव्णः) शरीर को धारण करके
योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा प्रह्लाद भर को स्वयं
धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का (अकारिषं) मैं वर्णन करता हूं ।
वह (नः) हमारे (मुखा) रूपादि विषयों को मीतिर लेने वाले मुख,
इन्द्रियों को (सुरमि) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान्, कर्पा
निपुण, (करत्) करे और (नः आर्युषि) हमारे जीवों को (प्र तारि-
पत्) तार दे, कृतार्थ करे, बढावे ।

३५७—'नर महिष्ठ विश्वचर्षणिम्' इति अ० ।

उ १ उ १२ २४ उ १२ २२
[३५६] पुरां भिन्दुर्युवा कविरामितौजा अजायन ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रा विश्वस्य कर्मणा धर्त्ता वज्री पुरुषदुनः ॥ ८ ॥

अ० १ । १२ । ४ ॥

भा०—(पुरां भिन्दु') समस्त देहों को काटने में लय करके
उनका भेदन कराने द्वारा, सबको मुक्ति देनेद्वारा, (युवा) सबका सगी,
(कवि') सबके हृदयों के भीतर का भी जानने द्वारा, कान्तदर्शी, मेधावी
(अमितौजा') अनन्तशक्ति और बल से युक्त, (विश्वस्य कर्मण धर्त्ता,)
समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने द्वारा (वज्री) सबका संहारक,
सर्वशक्तिमान् (पुरु-स्तुत) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव
(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, ३, ५ प्रियमेधाः । २, १० वामदेवः । ४ मधुच्छन्दाः ।

६ भरद्वाज । ७ अग्निः । ८ प्रस्तावः । ९ आप्त्यक्षिणः ॥

देवता—१-७ इन्द्रः । ८ उषा । ९ विश्वेदेवाः । १०

अश्विनः ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६०] प्र प्र वस्त्रिष्टुममिषं चन्दद्वीरायेन्द्रवे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धिया वो मेघसानये पुरन्द्या विवासति ॥ १ ॥

अ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—(व') आप लोग (चन्दद्वीराय) दीर्घों से सम्मानित, (इन्द्रवे)
ऐश्वर्यशील आत्मा को (त्रिष्टुमं) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा
सहित, (इषं) सोम आदि अन्न वा अभिलाषित कामनाओं को (प्र प्र)

उत्तम रीति से प्रकट करो । (पुरं-धी) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी (धिया) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा (मेघसातये) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये (वः) आप लोगों को (आ विवासति) संयुक्त करता और अभिलषित फल प्रदान करता है ।

३ १ २ ३ २ २ ३, २ ३ २ ३ १ २

[३६१] कश्यपस्य स्वर्विदां याचाहुः सयुजाविति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धारा निचार्य ॥ २ ॥

भा०—(स्वर्विदः) ज्योतिः स्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे (धीरः) विद्वान् लोग (यौ) जिन प्राण और अपान को (कश्यपस्य) योगी, साधक, दृष्ट आत्मा के (सयुजौ) नित्य सहयोगी, साथी (आहुः) बतलाते हैं और (ययोः) जिनके (विश्वम् अपि) सभी (व्रत) कर्मों को (यज्ञं निचार्य आहुः) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

॥ सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आविदैविक पक्ष में मित्रावरुण, सूर्य और मेघ खेने चाहियें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६२] अर्चत प्रार्चना नरः प्रियमेधासो अर्चत ।

१ २ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ २

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् घृण्वर्चत ॥ ३ ॥

अ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) उत्तम बुद्धि वाले (नरः) पुरुषों ! आप (पुरम् घृण्वं ईद्) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही (अर्चत) स्तुति करो, (प्र अर्चत) और उत्तमरूप से गुणगान करो और (अर्चत) उपासना करो । (पुत्रका-)

पुरुषों को हु खो । प्राण करने हारे लोगो ! उसी की (उत अर्चन्तु)
प्रार्थना उपासना किया करो ।

उ १२ २२३ २ ३ १२ ३ १ २
[३६३] उक्थमिन्द्राय शंस्य चर्द्धनं पुरु निष्पिधे ।

उ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शक्रो यथा सुतेषु ना रारणत् सख्येषु च ॥ ४ ॥ ऋ० १ । १० । १ ॥

भा०—(पुरु निष्पिधे) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति
देनेहारे, व्यापक (इन्द्राय) आत्मा की (चर्द्धनं) महिमा दर्शाने वाला,
(उक्थं) वेदमन्त्र (शंस्य) उच्चारण करना चाहिये । (यथा) जिससे
(शक्रः) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर (सुतेषु) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में
और (सख्येषु च) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी (नः) हमें
(रारणत्) प्रसन्न रखे ।

उ १२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] विश्वानरस्य वरुपतिमनानतस्य शवसः ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्पणीनामूनी हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥

ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) इन्द्रियगण ! या प्रजाओ ! (विश्वानरस्य)
समस्त संसार के नेता, (अनानतस्य) किसी से न हारने वाले, (शवसः)
बल के (पति) पालक ईश्वर को (चर्पणीना) सब प्रजाओं के (एवैश्च)
व्यवहारों लिये और (रथाना कृतये) इन देहस्वरूप रथों रक्षा के
लिये (व) आप लोगों को (हुवे) आह्वान करता हूं ।

उ १ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तम्य शमत् ।

उ १२ २२३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो धंहो न तरनि ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । २ । ४ ॥

३६५—'सुदानवे धियामर्त्त शमयते । ऊतीप०' । इति ।

भा०—हे ईश्वर ! (य०) जो (दिवो नरः) द्यौलोक नेता, सूर्य के समान ज्ञान से प्रकाशमान पुरुष (ते) आपके (धिया) ध्यान करने से (शमतः) शान्तवृत्ति (मर्तस्य) पुरुष के (स वा) अनुकूल व्यवहार करता है (सः) वह (बृहतो दिवः) महान् दिव्यस्वरूप, परम पुरुषरूप आपकी (उती) रक्षा में ही (द्विपः) अपने आगे आने वाले सब अप्रिय पदार्थों को (ग्रहः न) पाप के समान (तरति) पारकर जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३६६] विभोष्ट इन्द्र राघसो विभी रातिः शतक्रतो ।

१ २ ३ १ २
अथा नो विश्वचर्षणे शुम्नं सुदन्नं मंहय ॥ ७ ॥

अ० २ । ३८ । ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (विभोः) नाना सामर्थ्यवान् (ते) तेरे (राघसः) धन की (रातिः विभी) दानराशि बड़ी भारी है । (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों और कर्मों से सम्पन्न ! हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के दह ! (सुदन्न) उत्तम दाता ! (नः) हमें भी (शुम्नं) उत्तम धन (मंहय) दान करो ।

यजु० अ० ३० । इस विचित्र धन का विभाग दर्शनीय है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३६७] वयश्चिसे पतत्रिणो द्विपाद्यतुष्पादर्जुनि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उपः प्रारक्षतूरनु दिवो अन्तेभ्यरुपरि ॥ ८ ॥

अ० २ । ४९ । ॥

भा०—हे (अर्जुनि !) गमनशील ! हे रश्मियों, कान्तियों से सम्पन्न (उपः) प्रभात वेला के समान हृदय के अन्धकारों को नाश करने वाली प्रज्ञे ! (ते अतून् अनु) तेरी प्रेरणाओं के पीछे (दिवः) द्यौः, सूर्य के

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित मूर्धाभाग के (अन्तेभ्यः परि) दि-
शाओं के परले सिरे या प्रान्तभागों से। (पतत्रिणः) उड़नेहारे (वयः-)
परिगण के समान परमहंस विद्वान्गण, और अध्यात्म में इन्द्रियगण
(द्विपात्) और दो पाये मनुष्य और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (चित्) भी
(भारन्) गति करते हैं। यह उषा के रूपक में चितिशक्ति का वर्णन किया
गया है। द्यौः=मूर्धा। पतत्रि=ज्ञान इन्द्रियगण। द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद=
पैर आदि। विशोका प्रज्ञा का उदय ही उषा का उदय कहा गया है।

३ १२ २२३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६८] अमी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिवः।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

कद् अतं कद्मृतं का प्रत्ना व आहुतिः ॥ २० ॥

अ० १ । १०५ । २॥

भा०—(ये अमी देवाः) जो ये देवगण (आ रोचने) कान्तिमान्
(दिवः मध्ये) द्यौलोक के मध्य में (स्थन) विद्यमान हैं। हे देवो ! मैं
आप से प्रश्न करता हूँ कि (कद्) आप लोगों का (अतं कद्) सत्य २
तत्त्व क्या है ? (कद् अमृतम्), आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ?
(वः) आपको (प्रत्ना) प्राचीन । आहुतिः) स्मरण करने और तर्पण
करने का पदार्थ क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूलमूल नाम और
वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये अ० १ । सू० १०५ । मन्त्र
१२, १५, १६ ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६९] ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २

वि ते सदसि राजता यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥ २० ॥

भा०—(याभ्यां) जिन ऋग्वेद और सामवेद से (कर्माणि) यज्ञ
आदि समस्त संसार के कर्म (कृण्वते) करते हैं उन (ऋच) ज्ञानमय

जजनुः च) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियों ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो [बृहदारण्यक उप० ६ । १ ।]

१ १ ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २ ३ २
 [३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्दस्युर्नर्यं विवेरपः ।
 २ २ ३ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 उमे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवीचिदद्रिव २
 अ० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (प्रथमाय) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण (मन्यवे) माननीय या ज्ञानस्वरूप (ते) तुम्हें (अत्-दधामि) सत्य रूप मानकर धारण करता हूँ, तुम्हें सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूँ । (यद्) क्योंकि तू (दस्युं) नाशक उपद्रवी को (अहन्यद्) मारता है और (नर्यं) मनुष्यों के हितकारी (अपः) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को (विवे) प्रकट करता है । (यत्) और क्योंकि (रवा) तेरे बल पर ही (रोदसी) आकाश और पृथिवी लोक (उमे) दोनों (धावताम्) गति कर रहे हैं । (अद्रिवः) ज्ञान और बल से युक्त सब के संहारकारिन् ! (पृथिवी चित्) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी (ते शुष्मात्) तेरे बल से (अनु भ्यसात्) भय करता है ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ४ ३ १ २ १ २ ३ १ ३
 [३७२] समेत विश्वा ओजसा पतिदिचो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्
 २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २
 स पूर्यो नूननमाजिगीपन्तं वर्तनीरनुवावृत एक इत् ॥३॥

भा०—हे (विश्वाः) समस्त प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज या तेज से (यः एक एव मू.) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यद् दस्यु' इति 'उमे यत्त्वा भवतो रोदसी अनुरोजते' इति च अ० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, (जनानाम् अतिथि.) और जो समस्त प्राणियों के भीतर व्यापक है, उस (पति) सब पालक परमेश्वर की शरण में (सम्पुत) आजाओ । (स पूर्व.) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर (नूतनम्) पुनः बाद में उत्पन्न (आजिगीपन्तं) इस संसार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये (एक इत्) एक ही (वर्तनी.) मार्ग (अनु वाचते) है ।

‘स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।’ यो० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते अयमाय । यजु० ।

उ १ २ उ २ ३ ■ उ २ उ २ उ १ २
[३७३] इमे ते इन्द्र ते वयं पुरुषस्तुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

उ ३ उ २ उ २ ३ १ २ उ १ २ ३ उ १ २ उ १ २ उ १ २
नहि त्वदन्यो गिर्वयं गिरः सद्यत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्मं नो वचः ।

ऋ० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) ! प्रभूत धनसम्पन्न ! हे (पुरुस्तुत) सय प्रजाओं से स्तुति किये गये ! (ये वयं) जो हम (त्वा आरभ्य) तुझ से ही प्रारम्भ करके (चरामसि) यात्रा कर रहे हैं । (इमे ते) ये वे हम सब (ते) तेरे ही हैं । हे (गिर्वयः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (गिर) इन सब वेदवाणियों (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरों को (नहि सद्यत्) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । (तत्) इसलिये (नः वचः) हमारी वाणी को तू (क्षोणीः इव) माता पृथ्वी के समान (प्रति हर्म्यं) स्वीकार कर, अवश कर । जैसे सब पदार्थ फेंके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणियां ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इस कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

३७३—‘प्रति नो हर्म्यं तद् वचः’ इति ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७४] चर्षणीधृतं मघधानमुक्थ्या३ मिन्द्रं गिरौ घृहीरभ्यनूपत ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
घाघृधानं पुरुहंतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाण दिवेदिवे ॥५॥

श्र० ३ । ५१ । ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (चर्षणीधृतं) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, (मघधान) ऐश्वर्यसम्पन्न, (उक्थ्या) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (घाघृधान) महिमा में बढ़े, (पुरुहंतं) प्रजाओं से पूजित, (अमर्त्यं) अमर, नित्य (दिवेदिवे जरमाण) प्रतिदिन स्तुति किये गये (इन्द्रं) परमेश्वर को (घृहीर गिरः) हमारी घृहीर छन्द की वेदवायियाँ अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियाँ (अभि अनूपत) सत्य स्वरूप वर्णन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७५] अच्छा घ इन्द्रं मतयः स्वर्ग्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूपत
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघधानमूतये ॥६॥

श्र० १० । ५३ । १ ॥

भा०—(अच्छा) जिस प्रकार (मर्यं पतिं) अपने पतिरूप पुरुष को (जनयः) लियाँ (परिष्वजन्ते) आर्निगमन करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये (शुन्ध्यु) व्यवहार में (मघधानं च) महाजन के पास प्रजा आती हैं वही प्रकार (स्वर्ग्युवः) आनन्द और स्वर्ग के सुखका संग कराने हारी, (सध्रीचीः) एकमात्र पड़ी गई (विश्वा मतयः) समस्त स्तुतियों (च) आप लोगों की (अच्छा उशतीर) उत्तम रूप से कामना करती हुई (इन्द्रं अनूपत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ■ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
 [३७८] घृतवती मुवनानामभिश्चर्यां पृथ्वी मधुदुधे सुपेशसा ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 छावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरं भूरिरेतसा ॥

श्र० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(घृतवती) दीप्ति से युक्त, (मुवनानाम् अभिश्चर्या) समस्त मुवनों का आश्रयरूप (उर्वी) बहुत बड़ी, (पृथ्वी) बहुत विस्तृत, (मधुदुधे) समस्त प्राणियों के जीवनरूप रस का बोझ करनेहारी, (सुपेशसा) सुन्दर मनोहारी रूप वाली, (भूरिरेतसा) बहुत प्रकार के स्थावर जगमों के बीजों को धारण करने वाली, (छावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वरुणस्य धर्मणा) सर्वभेद, सबके धरण करने योग्य परमेश्वर के सामर्थ्य से (विष्कभिते) अधर आकाश में बड़ी हैं ।

३ १ २ ■ १ २ ३ २ ३ १ २
 [३७९] उमे यादन्त्र रोदसी आपप्राथोपा इव ।

३ १ २ ३ १ २ ■ १ २ ३ २
 महान्तं त्वा महीनां सम्म्राज चर्पणीनाम् ।

३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २
 दवी जनित्र्यजीजनद्द्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ १० ॥

श्र० १० । १३४ । ■ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) जो (उमे) दोनों (रोदसी) घौ और पृथिवी को (उपाः इव) प्रातः कालिक सूर्यप्रभा के समान (आपप्राथ) चारों ओर से प्रकाशित कर देते हो इसी कारण (महीना महान्तं) बड़े में बड़े (चर्पणीना) मनुष्यों के (सम्म्राजं) राजारूप आपको (देवी जनित्री) दिव्य गुणवाली वेदमाता (अजीजनद्) वैसा ही प्रकट करती, (अद्रा जनित्री) कल्याणकारिणी वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है ।

२३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३८०] प्रमन्दिने पितुमर्चता वचां यः कृण्वगर्भा नरहृन्निजिभिना ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 अवस्यथो वृषणं च ज्ञदक्षिणं मरुत्वन्तं स एषाय हुवेमहि ॥ ११ ॥
 अ० १ । १०१ । ॥ ॥

भा०—(प्रमन्दिने) उत्कृष्ट हर्षे, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये (पितु-
 मत्) सारवान् (वचः) वाणिया (अर्चत) उच्चारण करो । (यः) जो
 अपने प्रभाव से (कृण्वगर्भा) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों
 को (नरहृन्निजिभिना) सरल ज्ञान से (नि-अहत्) नाश करता है । (अव-
 स्यथः) रक्षण की इच्छा करने हारे (वृषणं) सुख वर्षण करने हारे
 (ज्ञदक्षिणं) विप्रविनाशकों में श्रेष्ठ (मरुत्वन्तं) प्राणों के और प्रजाओं
 के आश्रय परमेश्वर को हम (स एषाय) अपने मित्रभाव के लिये
 (हुवेमहि) आह्वान करते हैं ।

इति नवमी दशति । सुनीष सण्डः ।



॥ ४० १० ॥ अथे — १ नागदः । २, गोशुक्तप्रवृत्तिर्नौ । ३ पर्वतः ।
 ४-७, १० विश्वमना वैषधः । ८ नृमेधः । ९ गौत्रम् ॥ इन्द्रो
 देवता ॥ उष्णिक् । आत्मः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विदे वृषस्य दक्षस्य महौ हि पः ॥ १॥ अ० ८ । १३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सुतेषु सोमेषु) सोमरूप हर्षकारी
 ज्ञान-दशाएँ वरयज्ञ होने पर (उक्थ्य क्रतु) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को
 (दक्षस्य वृषस्य विदे) अत्यन्त बड़े हुए बल के लाभ के लिये (पुनीषे)

३८०—'इवामहे' इति ॥ ॥

इन्द्र—दक्षता महान्निह सः इति अ० ।

प्राप्त करता है । क्योंकि ('महान् हि स') वह ईश्वर महान् है । सचिस्-
द्वियों की प्राप्ति के अनन्तर अग्निमादे सिद्धियों का जय होता है, तभी
वह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[३८२] नमु अभि प्र गायन गुरुह्वनं गुरुष्टुतम् ।

१ २ ३ १ २, ३ १२ २२

इन्द्र गीर्भिस्ताविषमाविवासत ॥२॥ अ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—('गुरुह्वनं') समस्त प्राणों या प्रजाओं से स्मरण किया गया
('गुरुष्टुतम्') प्राणों या प्रजाओं द्वारा स्तुति किया गया ('तम् उ') उसका
ही ('अभि प्रगायत') कीर्तन करो । 'इन्द्र' विद्वान् लोगों । ('तविष') महान्
('इन्द्र') ईश्वर को ही ('आविवासत') सब के सामने प्रकट करो, उसकी
उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३८३] तं त मद् गृणीमसि वृषणं पृष्ठु सासहिम् ।

उ लोककृत्स्नमाद्रिवा हरिषियम् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—इ ('अद्रिष') ज्ञानसम्पन्न । ('तं') तेरे ('त') उस ('वृषणं')
सब प्राणियों के पोषक ('पृष्ठु सासहिम्') सब सघनों में भी कभी नष्ट न
होने वाले, सब से बढ़कर ('लोककृत्स्नम्') संसार के उत्पादक ('हरिषियम्')
हरणशाल, ज्ञानियों के आश्रय देने योग्य ('मद्') आनन्द-रस की ('उ')
ही ('गृणीमसि') चर्चा करें ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
[३८४] यत्सामिमिन्द्र त्रिपुण्यं यद्वा घ त्रित आप्नये ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

यद्वा मरुत्सु मत्स्ये समिन्दुभिः ॥४॥ अ० ८ । १२ । १६ ॥

३८३—'पृष्ठु' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यत् सोमम्) जिस सोम, सघेक प्रेरक, सर्वोत्पादक चीये या परमानन्दरस को (विष्णुभिः) सर्वव्यापक ईश्वर में (यद् वा) या (आप्ये) परम समाधि में प्राप्त (भित्ते) तीनों भूमियों को क्रमशः करने वाले योगी आत्मा में, (यद् वा मरुसु) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सब (इन्दुभिः) आनन्दों से हे देव ! तू ही (सुमन्दसे) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है ।

आनन्द की मीमांसा देखो (तैत्तिरीय उप० आनन्दवल्ली)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[३८५] एद् मभोर्भदिन्तरं सिञ्च्यध्वर्यो अन्धसः ।

३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २
एवा हि वीर स्तवते सदाधृजः ॥५॥ अ० ८। २४। १६ ॥

भा०—हे (ध्वर्यो) अद्वैतक पातक (सदाधृजः) सदा बढ़ने वाला, महामहिम, (वीरः) सामर्थ्यवान्, प्रभु । एवा हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है । अतः (मभोः अन्धसः) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (भदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद भुक्तिकारी अंग को इसी के लिये (आ सिञ्च) आ से चन कर । और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि० में स्पष्ट की है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३८६] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चन पिवाति सोम्यं मधु ।
१ २ २ ३ २

प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥ अ० ८। २४। १७ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (इन्द्राय) उस इन्द्र के लिये (इन्दुम्) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का (आसिञ्चत) सेचन करो, वह (सोम्यं) कान्तिदायक मधु का (पिवाति) पान करे, वही (महित्वना) अपनी महिमा से ही (राधांसि) बहुतसी विभूतियां (प्र चोदयते) प्रकट करता है, प्रदान करता है ।

३८५—'मभो,' 'अध्वर्यो अन्धसः' इति च ।

२ ३ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३८७] एतौन्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।

३ १ २ २ २ ■ २ २ ३ २

कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ अ० ८ । २४ । ६६ ॥

भा०—हे (सखायः) ■ मित्रो ! (एत उ तु) आओ । और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नरं) नेता, (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें । (यः) जो (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) झकेला ही (अभि-अस्ति) व्यापक शासक है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३८८] इन्द्राय साम गायन विषाय बृहते बृहत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ अ० ८ । २८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायको ! (बृहते) महान् (विषाय) विद्वान् (ब्रह्मकृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाले (विपश्चिते) मेधावी, (पनस्यवे) स्तुति ■ योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत् नामक साम (गायत) गान करो ।

२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३८९] य एक इद्विद्यते वसु मर्ताय दाशुपे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

ईशानो अप्रतिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ अ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(■) जो (एक इत्) झकेला ही (दाशुपे मर्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विद्यते) नाना रूप से धनधान्य देता है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्रतिष्कृतः) सयमे बढ़कर, किसी से भी पराजित न होने वाला (ईशानः) सबका स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[३९०] सखाय आशिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तुष ऊषु वा नृत्तमाय धृष्णाय ॥१०॥ अ० ८ । २४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजने ! (वज्रिणे) सर्व विद्वानेवारक, वज्ररूप ज्ञान को धारण करने हारे (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रतिपादन लिये (ब्रह्म) वेद प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की (आशीषामहे) कथा चर्चा करते हैं । (व.) आप लोगों के प्रति मैं (उ नृतमाय) उस पुरुषोत्तम (धृण्यवे) सबसे बढ़ जाने और सबको पराजय करने हारे परम वशी परमेश्वर के (सुरतुपे) यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता हूँ ।

इति दशमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । चतुर्थं प्रपाठकञ्च समाप्तः ॥



अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

॥३० १॥ अथि.—१ प्रणयः । २ मरदानः । ३ नृमेघः । ४ पर्वतः । ५

७ इरिमिठिः ६ निश्वमना । ८ वर्मिष्ठः ॥ देवता-१-४, ८

इन्द्रः । ७ मादिन्याः । ६ अग्निः ॥ छन्दाः-१-७

उष्णिक् । ८ विराडुष्णिक् ॥ अथमः ॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३६१] गृणं तदिन्द्र ते शत्रु उपमा देवतातये ।

१ २ २ ३ १ २ २ ३

यद्वंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥ अ० ८। ६० । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्) क्योंकि तू (ओजसा) अपने सामर्थ्य और बल से (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार को (वंसि) विनाश करता है । हे (शचीपते) सर्वशक्तिमान् ! (ते) तेरे (शत्रु) बल की (देवतातये) विद्वानों के लिये (उपमा) अनुरूप (गृणं) स्तुति करता हूँ । अर्थात् बल के सभी कार्यों में इन्द्र की ही उपमा दी जाती है ।

३०१—'उपम' इति श्रुते । 'मदाः इन्द्रस्य रात्रयः' इति सूक्तं यापि प्रवपदमधिकम् अ० ।

■ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ ■ ३ १ २
 [३६०] यस्य त्यच्छम्बरं मेदे दिवोदासाय रन्धयन् ।

३ १२ २२ ३ १२ २२
 अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिव ॥ २ ॥

श्रु० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—(यस्य मेदे) जिसके वृत्तिकारक प्रसाद और आनन्द स्वरूप (दिवोदासाय) प्रकाश के आश्रयस्थान सूर्य, आदित्य ब्रह्मचारी के लिये (त्यत् शम्बरं) उस शान्तिवर्षक मेघ या धर्ममेघस्थ आत्मा के स्वरूप को (रन्धयन्) साधता हुआ, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स. सोम.) वह सोम, साधक योगी ओषधिरस के समान (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (अयं) वह (सुतः) तैयार हुआ है । तू उसे (पिव) पान कर, अपने शरण में ले, स्वीकार कर।

१ २ ३ १ २
 [३६३] एन्द्र मो गधि प्रिय सन्नाजिदगोहा ।

३ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २

गिरिर्न विश्वतः पृथुः पानर्दिवः ॥३॥ श्रु० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबसे उत्कृष्ट ! हे (सन्नाजिद्) सबको विजय करने वाले ! हे (अगोहा) अगोप्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न छिड़ने वाले ! तू (दिवः पतिः) सूर्य का भी स्वामी (गिरिः न) पर्वत के समान (विश्वतः पृथुः) सब प्रकार से विशाल है । तू (न.) हमारे समीप (आ गधि) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [३६४] य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।

३ १ ३ २ ३ १ ३ १ २

येनाहंसि न्यरात्रयं तमीमहे ॥४॥ श्रु० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! (य) जो (सोमपातम) अति अधिक सोम, आनन्दरस पान करने में श्रेष्ठ (मदः) अत्यन्त मृग, हृष्ट या दत्तचित्त होकर तू (चेतति) ज्ञानवान् हो जाता है

(येन) जिससे तू (आग्नेयां) दूसरों के कर्मफल को छीनकर स्वयं खाजाने वाले ढाफू के समान तुझ्या, काम, क्रोध या लोभ युक्त चित्त को (निःश्रांसे) विनाश करता है इस (तं) उसको (ईमहे), ज्ञान करते हैं ।

३ १२ २२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६५] तुभे तुनाय तत्सु नो द्वाधीय आयुजोविसे ।
१ २ ३ १ २

आदित्यासः सुमहसः कृणोन्न ॥५॥ अ० ८ । २४ । २५ ॥

भा०—हे (सुमहसः) तेजस्वी (आदित्यासः) आदित्यरश्मियों के समान तेजस्वी विद्वान् गुरुओं ! (नः तुभे) हमारे पुत्र (तुनाय) और सन्धान चलाने वाले पौत्र और (नः) हमारे (जीवसे), जीवन के निमित्त (तव) वह (द्वाधीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (सु कृणोन्न) करो ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३६६] वेत्था हि निर्ऋताना वज्रहस्त पारवृजम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥ अ० ८ । २४ । २५ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र को हाथ में लिये वीरके समान बलवान् 'ज्ञान वन् । (निर्ऋताना) दृष्ट चित्तवृत्तियों के (पारवृजम्) परित्याग करने (वेत्था हि) तुम वैसे ही निश्चय जान जैसे (शुन्ध्युः) शोध लगाने वाला दृष्टेविटव, गुरुचर या परिशोध करने द्वारा आदित्य (परिपदाम्) चारों तरफ जाने वाले चोरों या पक्षियों को जानता है ।

१२ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[३६७] अपाभीवामप सधमप सेधत दुर्मोतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

आदित्यासोऽयुयांसना नो अहसः ॥७॥ अ० ८ । १८ । १०

भा०—हे (आदित्यासः) आदित्य रश्मियों ! 'विद्वान् पुरुषों ! प्राणों ! (नः) हमारे (अपाभीवाम्) रोगों को (अप सेधत) दूर करो, (सधम् अप)

हमारे आधाजनक भीतरी शत्रु को दूर करो और (दुर्मतिम्) दुष्ट मति वाले पुरुष, तथा दुःखदायी दुःसंख्य को (अप सेधस) दूर करो । (न) हमें (अहस) पापों से (युषोतन) पृथक् करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३६८] पिंचा सोममिन्द्र मन्दतु त्वाऽय ते सुपाव हर्यश्वादि ।

३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सोतुर्गोडुभ्या सुयतो नार्वा ॥ ८ ॥ म० ७ । २२ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमम् विष) सोम, आनन्दरस का पान कर । हे (हर्यश्वा) हरयाशील अश्वरूप प्राणों से युक्त ! (सोतु) प्रेरणा करने वाले सारथि के (गोडुभ्या) गोडुओं से (सुयत) उत्तम रूप से नियन्त्रित (नार्वा न) घोड़ों के समान (स) वह आनन्दरस (यम्) जिसको (अदि) मेघ के सदृश वर्षण करने वाला धर्ममेघ समाधि (ते) तेरे दिये (सुपाव) उन्पन्न करता है वह (त्वा मन्दतु) तुम्हको आनन्दित करे ।

इति प्रथमा दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

॥ १० २ ॥ अथि — १ — ६, ६, १० मौमरिः । ७, ८ नृमेषः ॥ देवता—१, २, ४, ५, ७ — १० इन्द्र । ३, ६ मरुतः ॥ कर्तृणः ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६९] अभ्रातृभ्या अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

३ १ २ ३ १ २
युधद्वारित्वमिच्छसे ॥ १ ॥ म० ८ । २१ । ११ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्व) तू (जनुषा) अरुने प्रकाट होने के काल से ही (अभ्रातृभ्या) शत्रुरहित, अभ्रातृशत्रु (अना) बिना नेता के, बिनायक, (अनापि) बन्धु बान्धवों से रहित, अद्वितीय, (सनाद्) पुराण पुरुष ।

३६९—उभयतिगतिरुर्मा । नि० २ । ११ ॥

(आसि) है। तो भी (युधा इत्) योग द्वारा ही (आपित्वम्) तुम बन्धुता को (हृत्क्षसे) चाहते हो, स्वीकार करते हो।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[४००] या न इदमिदं पुरा प्रवस्य आनिनाय तमु व. स्तुषे ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! जो (न.) हमारे लिये (इदम्-इदम्)

यह, यह, जाना प्रकार का, उत्तम उत्तम, (पुरा)-पहले काल में, पूर्व जन्म में (वस्य.) आस्थादन योग्य, या निवामयोग्य भोग्य वेद आर्ध (अ आनिनाय) प्राप्त कराता रहा, (तम् उ इन्दं) उसी आत्मा या परमे-
श्वर की (न) आप के प्रति । स्तुषे) स्तुति करता हू ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[४०१] आगन्तः मा रिपययत प्रस्थावाना मापस्थात समन्यवः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

भा०—हे मरुतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरयो ! आप लोग (आगन्तः)

आओ, (मा रिपययत) मरो मत, दुरी मत होओ । हे (प्रस्थावानः) निरन्तर गति करने हारो ! (समन्यव) क्रोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर (मा अपस्थात) धुरे मार्ग पर मत भटकां, क्योंकि आप लोग (इदा चित्) दृढ़, बलवान् पदार्थों को भी (यमायेष्णव.) नियमन कर लेते हो, बश करने में समर्थ हैं ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[४०२] आयाह्वयमिन्दवे श्वपते गोपते उर्वरापते ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

भा०—हे (श्वपते !) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे (गोपते) चायी

के माजिक ! हे (उर्वरापते) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे (सोमपते !)

ज्ञानवान् । तू (सोमं पिब) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २ ■ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०३] त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषम ध्रुवीमहि ।

३ १ २ २ २ ■ १ २

संस्थे जनस्य गोमर्तः ॥ ५ ॥ ऋ० ऋ । ११ । ११ ॥

भा०—हे (वृषम) सर्वश्रेष्ठ ! (त्वया ■ स्विट्) तुम्हें ही (युजा) सहायक द्वारा (गोमर्तः) बायीं से सम्पन्न (जनस्य) पुरुषों के (संस्थे) संघ में (श्वसन्तं प्रति) आस लेते हुए प्राणी के प्रति (ध्रुवीमहि) तेरी स्तुति करते ।

१ २

अङ्क २२ ३ २ ३ १ २

[४०४] गावश्चिद् वा समन्यवः सजात्येन मरुतः सवन्धवः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ ■

रिहते ककुभां मिथः ॥ ६ ॥ ऋ० ■ । २० । २१ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गण ! प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग (गावश्चिद्) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही (समन्यवः) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति युक्त (सवन्धवः) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बंधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान जाति में उत्पन्न होने के कारण (मिथः) परस्पर (ककुभाः) विस्तृत होकर भी (रिहते) परस्पर मिलते हैं ।

■ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०५] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्यां शतक्रतो विचर्षणे ।

३ १ २ ३ १ २

आ वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥ ऋ० ऋ । १८ । १० ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! (विचर्षणे) सब लोकों के द्रष्टा ! हे (इन्द्र) आत्मन् ! हमें (नृम्यां) धन और (ओजः) बल (आभर) प्राप्त करा । और (पृतनासहं) सेनाओं ■ मुक्तावला

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीर) वीर, सामर्थ्यवान् पुरुष को (आ भर) प्राप्त करा ।

१ उ० २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०६] अधा हीन्द्र गिर्वैरा उप त्वा काम इमहे ससृग्महे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

उदेव वयन्त उदभिः ॥ ८ ॥

अ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (गिर्वैराः) वायियों के एकमात्र पात्र ! (उदा इव) जिस प्रकार जल (उदभिः) अन्य जलों में (वयन्त) मिल जाते हैं वसी प्रकार हम (काम) अपनी कामनाओं द्वारा (त्वा उप इमहे) तेरे पास आते हैं और (ससृग्महे) तेरे साथ मिल जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ॥

[४०७] सीदन्तस्ते वया यथा गोभीत मधौ मदिरे विषक्षणे ।

३ १ २ २ २

अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥

अ० ८ । २१ । ५ ॥

भा०—(यथा वयः) हरिमयों के समान (गोभीते) दूधरस से मिश्रित, (मधौ) मधुर, (मदिरे) आनन्दप्रद, (विषक्षणे) विशेष सुख या मुक्ति में लेजाने वाले, (ते) तेरे स्वरूप [] (सीदन्तः) विराजमान होकर हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तेरी (अभि नोनुमः) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे आनन्द-रस में मग्न होकर हम तेरी स्तुति करते हैं ।

३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०८] वयमु त्वामपूर्य स्थूरं न कश्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।

१ २ ३ १ २

वर्जिश्चित्रं हवामहे ॥ १० ॥

अ० ८ । २२ । १ ॥

भा०—हे वर्जिन् ! (अपूर्य) अपूर्व । सभसे आदि में विद्यमान (वयं) हम लोग (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहने हारे, (स्थूरं न)

गुणों में अधिक स्थितिमान् पुरुष को जिस प्रकार (दक्षिण) कोई प्रजा
लोग भरण पोषण करते हैं उसी प्रकार (चित्र) पूजायोग्य (स्वा) युक्त
को (भरन्त) भरण या धारण करते हुए (हवामहे) हम तेरी स्तुति
करते हैं ।

इति द्वितीया दशतिः । पष्ठ खण्ड ॥



॥ द० ३ ॥ अ० १—१—८ गौतमः । ९ प्रितः । १० अवस्यु ॥ देवताः—१—८
इन्द्रः । २ विभेक्षः । १० अश्विनौ ॥ पत्तिरुच्छन्द ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३ ॥ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४०६] स्वादोरिस्था विष्वक्तो मधोः पियन्ति गौर्यः ।
उर २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १
या इन्द्राय सयावरीर्दृष्ट्या मदन्ति शोभथा वस्थीरन् स्वराज्यम् १
अ० १ । ८४ । १० ।

भा०—सूर्य और राजा के वृष्टान्त से आत्मा और ईश्वर का वर्णन
करते हैं । (गौर्य) धूप किरणों या गमनशील सेनाओं के समान इन्द्रिया
या चित्तवृत्तियाँ, और प्रजापु (विष्वक्त) सर्वव्यापक, (मधोः) सब
मनोहर गुणों से युक्त, मधुर, (स्वादो) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का
(इस्था) इस प्रकार से (पियन्ति) पान करती हैं कि (या) जो वे
(दृष्ट्या) परम आनन्द धरसानेहारे इस इन्द्र साय (सयावरी)
गमन करती हुई (मदन्ति) आनन्द लाभ करती और (वस्थी)
आवास करने वाली वे (स्वराज्यम्) अपने ही राष्ट्र के समान देह या इस
संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की (अनु शोभथा) शोभा बढ़ाती ।
[मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५]

अ० १—'शोभते' इति अ० ।

३ २४ ३ २४ ३ १ २ ■ २ ३ १ २
[४१०] इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ यजिज्ञाजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् २
अ० १ । ८० । १ ।

भा०—हे यजिन् ! हे (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! (इत्था) इन प्रकार से (हि) निश्चय (सोमे) उस आनन्दरस के बल पर (इव) ही (मदः) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार (ब्रह्म) वेद द्वारा (वर्धनम्) अपने ज्ञान की वृद्धि या वसति (चकार) करता है । (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेष को भेदन करता है उसी प्रकार (स्वराज्यं) अपने राष्ट्र या प्रताप को (अनु अर्चन्) प्रकट करते हुए आप अपने (आजसा) बल से (पृथिव्या) इस पृथिवी के आवरणकारी विल को (नि शशाः) विनाश करते हैं । अस्यात्म वेदियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ४
[३११] इन्द्रो मदाय वावृषे शवसे वृत्रहा नृभिः ।

२ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ४ ३ १ २ २ ४ १ २
तामेन्महत्स्वाजिपूतमर्मे हवामहे स वांजेषु प्र नोऽविपत् ॥३॥
अ० १ । ८१ । १ ।

भा०—(इन्द्रः) परमेश्वर ! (मदाय) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और (शवसे) बल के लिये (वावृषे) बहुत बड़ा है । वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का नाश करने वाला (नृभिः) अपनी प्रजाओं के साथ (वांजेषु) संग्रामों और ज्ञान-यज्ञों में (नः प्र आविपत्) हमारी रक्षा करता है । (ऊचिम्) अपनी रक्षा स्वरूप (तम् इत्) उसको ही (महत्सु) बड़े २ (आजिषु) ज्ञान चर्चा स्थानों या संग्रामों, और यज्ञों में और (अर्मे) सूक्ष्म हृदयावास ■ मी (हवामहे) हम उसका स्मरण करते हैं ।

४१०—'मदे मदा' इति अ० ।

अर्म, अल्प, दम्र, दहर आदि का विवरण छान्दोग्य, और केन दोनों उप-
निषदों में स्पष्ट है । आजि=चरम सीमा । राजा के पक्ष में—आजि=सग्राम ।

२ ३ ■ ३ १ २ ३ १ ■ ३ २ २

[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम् ।

२ ३ ■ ३ १ २ ३ २ ■ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यद्ध त्वं मायिनं मृगं तव त्वन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

श्र० १ । द० । ■ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर । हे (अद्रिवः) भेषपति के समान
आनन्द और ज्ञान के धन ! अक्षय्य या अस्त्राण्डित शक्तिशालिन् ! हे (व-
ज्रिन्) वीर्यसम्पन्न । (तुभ्यम् इत् । तेरा ही (वीर्यम्) बल सामर्थ्य
(अनुत्तम्) कहीं रुका नहीं है । (यत् ह) क्योंकि (त्वं) उस (मायिनं)
माया, अज्ञान या प्रकृति के जाल में पड़े (मृगं) ज्ञान ■ विलोपक चोर
के समान वेह और मनको अथवा (मृगं) सुख के खोजी पशु के समान
प्यासे तृष्णासे जीव को (मायया) अपने प्रज्ञा के बल से (स्वराज्य
अनु अर्चन्) स्व-महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू । (वधीः)
विनाश करता है, मारता है । या प्राप्त होता है, (तव त्वत् वीर्यम्) वह
भी तेरा ही बल, प्रताप है ।

२ ३ ■ ३ २ २ ३ १ २

[४१३] प्रह्यभीदि धृष्टुहि न ते वज्रो नि यंसते ।

१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्र नृम्यं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥

श्र० ■ । द० । ३ ॥

भा०—(स्वराज्यम् अनु) आत्मा के मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करने
किये (अर्चन्) माधना करते हुए, हे (इन्द्र) आत्मन् । (अेदि) आगे आओ ।
(अभि इदि) सम्मुख आओ ! (धृष्टुहि) बाधाओं को दबाओ । (ते वज्रः)
तेरा वज्र (न) कभी नहीं (नियसते) दगता । हे (इन्द्र) आत्मन् ।

(ते) तुम्हें (नृम्यां हि) निश्चय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा । तू (शवः) अपने बल से (वृत्र हन.) वृत्र रूप विघ्न अज्ञान को मार और (अप- जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४१४] यदुदीरत आजयो धृश्वं धायत धनम् ।

३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
युद्धा मदच्युता हरी कंहन. कंवसौ दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दध दि
अ० १। ८२। ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजय) संग्राम या अक्षय्य प्राप्त (उद्-
ईरते) उठ खड़े होते । तब (धृश्वे) सब का पराभव करनेहारे के
सन्मुख (धनं) धन, प्राप्त्य पदार्थ (धीयते) रक्खा जाता है । हे
(इन्द्र) आत्मन् ! (मदच्युता हरी) हर्ष वर्णने वाले और हरणशील
अपने प्राण और अपान दोनों अर्धों को (युद्ध) अपने रथ में लगा ।
[प्र० १] (क हन.) तू किस शत्रु या विघ्न का नाश करता है ? और [प्र० २]
(वसौ दध.) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को (वसौ)
अपने देह या चित्त में (दधः) धारण करता है ? [उ० १] इन्द्र !
(वसौ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में (दधः) धारण कर और
[उ० २] हमें धारण कर । यह भर्त्ता ।। भगवान् के प्रति, इन्द्रियों का
आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा के प्रति समान रूप से वचन है ।

२ ३ १ ३ १ २ ३ १
[४१५] अक्षन्मीमदन्त ह्यवप्रिया अधूपत ।

१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अस्तोपत स्वभानवा विप्रा नविष्टया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७
अ० १। ८२। २ ॥

भा०—(स्वभानव- विप्रा.) स्वयं योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त
'होने वाले, विद्वान्, मेधावी लोग (अक्षन्) सब प्रकार के आनन्दों
का भोग करते हैं, (अमीमदन्त) और हर्ष को प्राप्त होते हैं । वे

(प्रिया) सबको प्रिय लगाने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अवा-
अधूपत) परित्याग करते, भाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्वत्यागी, अवधूत हो
जाते हैं । (इन्द्र) परमात्मन् ! वे (नविष्ठया) अत्यन्त प्रशंसनीय
(मती) शुभ संकल्प या स्तुति से (अस्तोपत) तेरी स्तुति करते हैं । अतः
उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अश्वों, हरशशील वाहनों ज्ञान
और कर्म रूप घोड़ों को या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों की
(अनु योज) साधना कर ।

३ । ३२४ ३ १ २ ३ १ २
[४१६] उपो पु शृणुही गिरो मघवन्माऽतथा इव ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्यंजान्विन्द्र ते हरी ॥॥
श्र० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! (उप पु शृणुहि उ)
तू सावधान होकर सुन (गिर) तू हमारी वाणियों की । अतथा इव, प्रति
कृत, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा मत कर । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सूनृता
वतः) सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाले (न) हमको तू (कदा इद्) कब
(कर) अपनाएगा ॥ (अर्थयासे इत्) आपसे प्रार्थना ही जाती है । हे
(इन्द्र) आत्मन् ! (ते हरी योजा नु) तू अपने अश्वों, व्यापक साधन प्राण
अपान को अन्न लगा । अथवा सभीज निर्बीज दोनों का अभ्यास ।

३ १ २ ३ २ १२ २२३ १ २ ३ २
[४१७] चन्द्रमा अप्स्वाऽन्तरा सुपर्णो धावतं दिवि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न वो द्विरयनंमयः पद विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसीः

श्र० १ । २०५ । १ । ॥

भा०—(अ-सु अन्तरा) ध्यान धारणाओं, संकल्पों, विकल्पों या
वासना जालों में से, (चन्द्रमाः) अत्यन्त आश्चर्यकारी, (सुपर्णः) उत्तम
गतिशील आत्मा, (द्विवि) चौ लोक में चन्द्र के समान, या, सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत्) विशेषरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो ! हे (हिरण्यनेमयः) सुवर्ण के समान चित्ताकर्षक धाराओं वाली कान्तियां ! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से (वः पद न विन्दन्ति) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदसी) सौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी सौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान (मे वित्तं) मुझे लाभ कराओ।

[४१८] प्रति प्रियतमं रथं धृषण्या वसु वाहनम् ।

स्तोत्रां वामश्विनावृषिः स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्
अ० ५। ७६। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! (वसु-वाहनं) आवासकारी आत्मा को वहन करने हारे, (धृषण्यां) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतमं) अत्यंत प्रिय, (प्रतिरथं) प्रत्येक रथ रूप देह में (अपि.) तत्त्वदर्शी (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभिः) वेदमन्त्रों द्वारा (वा) आप दोनों को (प्रति भूषति) उत्तम रूप से अलंकृत करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, ब्रह्म विद्या के जानने हारो ! (मम हव) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) श्रवण करो।

इति तृतीयो दशतिः । सप्तमः पण्ड. ।

॥ १०४ ॥ अपि —१, ■ वसुश्रुत आत्रेयः । २, ४ विमल ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुश्रुत् वासुक्रो वा । ३ सत्यव्रताः आत्रेयः । ५, ६ गौतमो राष्ट्रगण । कुल्मलः शैलपिः । ■ अहोमुखावामदेव्यः ॥ देवता—१, २, ■ अग्निः । ३ उषाः । ४ सोमः । ५, ६ इन्द्रः । ८ विभेदेवाः ॥ छन्दः—१—७ पक्तिः । ८ उपरिष्टाद् गृह्यती ॥ स्वरः—१—७ पञ्चमः । ८ मध्यमः ॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूषति' इति अ० ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
 [४१६] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
 ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २
 यद्ध स्या ते पनायसी समिद्धीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर१
 अ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) ज्ञानवन् ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (अजरम्) आविनाशी (ते) आपको (इधीमहे) प्रदीप्त करते हैं, चेतन्य करते हैं । (णवि) सुलोक में (यद्) जो (स्या) गद् (ते) आपकी (पनीयसी) प्रशस्तनीय (समिद्ध) काम्ति (दीदयति) चमक रही है । (स्तोतृभ्य) मत्स्य गुण वर्णन करने द्वारा को हे देव ! आप (इषं) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा (आ भर) प्राप्त कराओ ।

१ २ २ २ ३ १ २
 [४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 शीरं पावकशोचिषं विधो मदे यज्ञेषु स्तीर्यवर्हिषं विवक्षसे ॥२॥
 अ० २० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! (विवक्षसे) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो । इमलिये (स्ववृक्तिभिः) उत्तम, दोष रहित निज स्तुतियों का हम लोग (शीर) सबके भीतर ज्ञानरस रूप से शयन करने हारे, (पावक-शोचिष) पवित्र करने वाली दीप्ति से युक्त, (व) हमारे और तुम्हारे (विमदे) विशेष आनन्द काम करने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (स्तीर्यवर्हिषम्) वर्हिः=धान्य या कुश, आसन या इम वेद को फेंकाये हुए (होतारं) सबको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सबको अपने पास बुलाने वाले (त्वा) तुम्ह (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ईश्वर का (होतारं न) अपने यज्ञ के होता के समान (आवृणीमहे) वरण करते हैं ।

४२०—'यज्ञाय स्तीर्य वर्हिषं विधो ॥ शीरं पावकशोचिषं विवक्षते' इति ॥ १ ॥

३१ ■ ३१ २३१ २ ३२ ३१ २

[४२१] महे नां अद्य बोधयोषो राये दिवित्मनी ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
यथाचिन्ना अवोधयः सत्यश्रवसि वार्य्ये सुजाते अश्वसूते ॥३॥

अ० ५।७९।१॥

भा०—हे (अश्वसूते) आत्मा की सत्यस्वरूप वाणि ! हे (सुजाते) उत्तमरूप से प्रकट होने वाली ! (वार्य्ये) वरण करने योग्य ! (सत्य-श्रवसि) सत्य वेदज्ञान में (यथाचित्) जिस प्रकार पहले (नः अवोधयः) हमें ज्ञानवान्, प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार हे उपः । सब पापों के इहान करने वाली (दिवित्मनी) उपोतिः स्वरूपा तू (महे) बड़े भारी (राये) दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति लिये (अद्य) आज (बोधय) हमें, जगा, ज्ञानवान् कर ।

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२

[४२२] भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।

१ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ ३ २ २ ३ ३ १ २ २२ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसो वि धो मद् रणा गावो न यवसे विवक्षसे ॥४॥

अ० १०।२५।१॥

भा०—हे परमेश्वर ! (विवक्षसे) आप महान् हो । आप (न.) हमारे (मनः) मन और (दक्षम्) आत्मा या बल को (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (भद्र) कल्याण प्रति (अपि वातय) प्रेरित करो । (अथा) और (ते) तुम (अन्धसः) अन्धकार को दूर करने और प्राण धारण करानेहारे शत्रु के (मदे) हर्षकारी (सख्ये) प्रेम में हमें (यवसे) घास के प्रेम में (रणा गावो न) आनन्द प्रसन्न गौवों के समान (विव.) स्वीकार करो, अपनाओ ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २२ ३ १ २

[४२३] क्रत्वा महां अनुष्वध भीम आ वाचुते शवः ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
श्रिय ऋष्व उपाकयोनिशिर्मा हरिवान् दधे हस्तयेविजमायसम् ५

अ० १।८१।४॥

४२२—'रण गावो' इतिपाठः, अ० । अग्वेदे (१०।२०।५) इत्यत्र 'भद्रा' दि 'मनो'न्तः पाठ एव केवलम् ।

भा०—(महान्) सबसे बड़ा वह परमात्मा (भीमः) सबको भय से चलावे और कपावे वाला (अनुभवधम्) स्वधा स्वरूप जीव या प्रकृति के प्रति (ऋत्वा) अपनी क्रिया शक्ति और प्रज्ञा से (शयः) अपनी क्रिया शक्ति या बल या ज्ञान सामर्थ्य को (आ वायुते) प्रेरित करता है और (श्रिये) समस्त संसार को आश्रय देने के लिये (भ्रष्टव) वह महान् (शिप्री) शक्तिशाली (हरिवान्) हरण करने वाला या आकर्षण करने वाला, (उपाकयोः) समीपतम (हस्तयोः) आघातकारी साधनों, हाथों में (आयसं वज्र) लोहे के बने वज्र को धीर के समान (आयसम्) अथः अर्थात् सोह और वेग के बने (वज्रं) पतन और पाप निवारक साधन को (आदधे) धारण करता है ।

ईश्वरने अपनी शक्ति प्रकृति में दी । समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया प्रत्येक परमाणु और पियूष में आघात प्रयत्न उत्पन्न किया और ऐसी 'निरन्तर की गति उत्पन्न की कि अपनी गति' पर ही प्रत्येक आकाश का पियूष निराश्रय सदा है । 'हस्तयोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग उपमावश है । धीर राजा और भ्रष्टात्म पक्ष में स्पष्ट है ।

३ १६ २२ ३ २ ३ १ २ । ३ १ २ ।
[४२४] स धा तं वृषण रथमधितिष्ठति गोविदम् ।
११ २६ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २६ २२ ३ १ ३
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजान्विन्द्र से हरी ॥६॥
। अ० १ । ८३ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (हारियोजनं) इन्द्रियों को वश करने हारे योग साधन और (पात्रं) क्रिया साधन को (पूर्णं) उचित प्रकार से पूर्ण रूप से (चिकेतति) जानता है (स ध) वही (तं) उम (वृषणं) सुखप्रद, (गोविद) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले चेतन (रथम्) रथपर (अधि तिष्ठति) स्वामी होकर सवारी करता है । (इन्द्र)

आत्मन् (ते हरी) तुम अपने अर्धो=प्राण अपान दोनों को (योज तु) इस समय समाधि योग से जोड़ो ।

३ १ २ २ ३ २ ३ ३ २ १ २ २ २ ३ १ २
[४२५] अग्निं तं मन्ये या वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोस्तं नित्यासो वाजिनं इषं स्तोतुभ्य आभर ॥७
अ० ५। ६। १ ॥

भा०—(तं) उसको (अग्निः) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर (मन्ये) मानता हूं या उसको अग्नि-तेज रूप से सनन करता हूं (यः वसु.) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करने द्वारा, सबको वास देने द्वारा है । (यं) जिसमें (धेनव.) बाणियों, इन्द्रियों और रश्मियों हैं उसी प्रकार जैसे गौर्षे (अस्तं) घर में (यन्ति) जाती हैं या (अस्तं यन्ति) आश्रय को प्राप्त होती हैं और (आशवः) व्यापन स्वभाव वाले (अर्वन्तः) प्राण या वायु आदि पञ्च भूत (अस्त) गृहस्वरूप जिसमें आश्रय होते हैं और (नित्यास.) नित्य, अविनाशी, (वाजिनः) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसको (अस्तं) अपना गृह या शरण समझ कर आश्रय करते हैं । हे सर्वाश्रय ! (स्तोतुभ्यः) स्तोता विद्वान् लोगों को (इषं) अन्न एवं अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ (आभर) प्राप्त कराओ ।

२ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
[४२६] न तमंहो न दुरितं देवानो अपृ मर्त्यम् ।

३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २
सजोपसो यमर्यमा मित्रो नयनि वरुणो अतिद्विषः ॥८॥

अ० १०। १२६। १ ॥

भा०—हे (देवास) विद्वान् पुरुषो ! (यम्) जिस (मर्त्य) भरणधर्मा देहवान् पुरुष को (अर्यमा) वह न्यायकारी, (मित्र.) सब का प्रेमी, (वरुणः) सबको पाप से बचाने द्वारा जगदीश्वर (सजोपस,)

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विष , अति) विघ्न या बाधाकारिणों या अप्रीति करने
हारों से दूर सेता है (तं) उसको (अह न अष्ट) पाप नहीं स्पर्श
करता, (दुरित) और दुष्ट चरित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।

■ द० ५ ॥ अपि — ६ अयस्य वसदस्यु । ७ वसिष्ठः । ■ वामदेव । ३ वाजिना
स्तुतिः । १, ३-५, २० ऐश्वरा विष्ण्या अन्नयः ॥ देवता-१-६, २० पवमान ।
■ मरुतः । ■ अग्निः । ९ वाजिनः ॥ छन्द — १, ३, ४, ५, ७, १०
द्विषा पक्ति । ८ पदपक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टु-
पपिपोलिकामध्या ॥ स्वर-—१, ३-८, १० पञ्चमः । २, ५
गान्धारः । ६ श्रपमः ॥

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्य भगाय ॥१॥
अ० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस बहाने वाले, सब दुःखों के
ओषधिरूप, परमरस स्वरूप ऐश्वर्यवन् ! (स्वादुः) ओषधिरस के समान
परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबको स्नेह करनेहार (पूष्ये) आप
को पोषण करनेहार (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्द्राय)
उस ऐश्वर्य के हृच्छुक जीव के लिये (परि प्र धन्व') चारों ओर उत्तमरूप
से गति कर, बहो ।

२ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
[४२८] पर्यु पु प्र धन्व वाजमातय परि वृत्राणे सदाणिः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या क्रणयो न ईरसे ॥२॥ अ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—१, धन्वतिगतिर्मा, (नि०) रिधि रवि धवि गत्यर्थाः । भा० ।

४२८—'ईरसे' इति अ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आचरणकारी विघ्नो को (सदाशिवः) सहनशील होकर आप (परि ~~समस्त~~) चारों ओर से भार मगाओ । (अश्वत्था) अश्वों के नाश करने हारे आप (द्विपः) अमीति से बर्तने वाले शत्रुओं के (तरण्यै) विनाश करने के लिये (नः) हमें (ईरसे) प्रारत्ते करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[४२६] पवस्व सोम महान्तसमुद्रः पिता दैवानां विश्वाभि धाम ॥ ३ ॥
अ० ६। १०६। ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (दैवानां) समस्त देवों, मूर्तों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २ ३ २ ४ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[४३०] पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो घाजी धनाय ॥ ४ ॥
अ० ६। १०६। १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्तः) स्नात किया हुआ, निष्कृत (घाजी) ज्ञानवान् विद्वान्, (अश्वः) क्रियानिष्ठ, सघाया हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार (धनाय) धनापार्जन, या सग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (महे) बड़े (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ० ३ १ २ २ २
[४३१] इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥ ५ ॥
अ० ६। १०६। ११ ॥

भा०—(अपाम् उपस्ये) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में (मदाय चारुः) हर्ष उत्पन्न करने में श्रेष्ठ, (कविः । क्रान्तदर्शी विद्वान् (मगाय) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त (इन्द्रुः) ऐश्वर्यशील सोम (पविष्ट) गति करता है या प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३२] अनु हि त्वा सुनं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजो अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ अ० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम ! (महे) बड़े भारी तेरे (समर्यराज्ये) श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में (स्वाप् अनु) तेरे अनुकूल (समदामसि) रहने में स्वयं प्रसन्न होते हैं । हे (पवमान) सबके प्रेरक शासक ! (वाजान् अभि) वाजुओं या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के प्रति तू निर्विघ्न होकर (प्र गाहसे) गति करता है, उनमें रमण करता है । राजा, आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भक्तों का वचन है ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४३३] क व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वा० ॥७॥
अ० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—(ई) ये (व्यक्ता०) प्रकट हुए, (सनीडा०) एक ही ढेह में आश्रय किये हुए, (मर्या०) देहधारी प्राणियों हितकारी (अथ) और (स्वश्वा०) सुख से पदार्थों का भोग करने हारे, (रुद्रस्य) इस समस्त ससार को रूताने हारे, उस देव, मुख्य प्राण क (ई) कौन हैं ? इस आश्रय से किये प्रभवा उत्तर अ० मं० ६।२६ सूक्त का अगली ऋचाओं में दिया है ।

३ २ ३ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[४३४] अग्न तमद्याश्वं स्तोमैः क्रतुं न मद्रं हृदिस्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २

क्रायामा त शोहैः ॥८॥ अ० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अथ) आज हम (ओहैः) आह्वान करने योग्य (स्तोमैः) स्तुतिपूर्ण सुक्तों द्वारा (अश्वं न) अश्व के समान समस्त संसार के वहन करने हारे, (ऋतुं) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, (भद्रं) कल्याणकारी, (हृदिस्पृशं) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम (तं) उस प्रसिद्ध तुम्हको सपथ कर (अभ्याम) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

३ १ २ ॥ १२ १ ३ १ २ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २ -
[४३५] आधिर्मर्या आ वाजं वाजिना अग्मन् देवस्य सवितुः सवम् ।
३ १ २
स्वर्गा ५ अर्वन्तो जयत ॥४॥

भा०—(वाजिनः) ज्ञानवान् (मर्या) मर्याधर्मों प्राणी, (देवस्य) सबके दाता, (सवितुः) सबके प्रेरक परमात्मा के (वाजं सर्वं) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को (आधिः अग्मन्) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं ।
(अर्वन्तः) ज्ञानशील पुरुषों ! (स्वर्गान्) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उस मुक्ति सुक्तों को (जयत) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

१ २ ३ १ ॥ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[४३६] पवस्व सोम शुम्नी सुधारो महा अवीनामनु पूर्व्यः ॥१०॥
अ० १।१०६।७॥

भा०—हे सोम ! (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, (शुम्नी) कान्तिमान्, (सुधारः) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेद्वारा (अवीना) गतिशील, आत्माओं में सबसे (महान्) बड़ा परम-आत्मा तू (अनु पवस्व) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशति । नवमः ॥

॥ ४०-६ ॥ अपिः—३ प्रसदस्युः । ७ सम्पातः ॥ ओषाणा अययो नोपलभ्यन्ते ।

देवता—१—५, ६—१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषाः । पक्षि ॥ पञ्चमः ॥

भा०—जिस प्रकार (अनव-) प्राणधारण करनेहारे मनुष्य (अश्वाय) समस्त देश में गमन करने के निमित्त (रथं) रथ साधन या गमन साधन या वेगवान् यान=रथ को (तद्यु.) बनाते हैं । उसी प्रकार (अनव) विद्वान् जन (अश्वाय) भोक्ता जीव के लिये (रथ तद्यु.) रसस्वरूप परमेश्वर की साधना करते हैं । (त्वष्टा) सबको रचने द्वारा शिल्पी विश्वविधाता (पुरुहूतं) सबसे स्तुति किया गया, (शुमन्तं) दीप्तिमान् (वज्रं) सर्व विघ्ननिवारक, तमोनिवारक सूर्य रूप वज्र को बनाता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ २ ३ २
[४४१] शं पदं मघं रयीपिये न काममघतो हिनोति न स्पृशद्रथिम् ॥

भा०—(शं) शान्तिकारक (पदं) स्थान और ज्ञान, (मघं) धन धान्य और क्रतु योगादि का उत्कृष्ट फल पहले (रयीपिये) सुखसामग्री या ऐश्वर्य को अन्यों के लिये परोपकार में लगा देने वाले के लिये होता है । (अघत.) निकम्मा, मूर्ख, तपस्या आदि न करने द्वारा, अकर्म और निषिद्ध कर्म करने द्वारा पुरुष (कामम्) उत्कृष्ट फल को (न हिनोति) नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि (रथिम्) वह धन धान्य को (न स्पृशत्) छूता भी नहीं अर्थात् दान भी नहीं करता ।

२ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४२] सदा गात्र शुचया विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

भा०—(गात्र.) ज्ञानी परिव्राजक, गमनशील किरण या गौण (शुचयः) सदा ज्ञान प्रकाश से युक्त, कान्तिमान् सदा शुद्ध और (विश्वधायस) समस्त संसार को ज्ञान रसपान कराने वाले, सबको पुष्ट करने हारे और सबको रस पिलाने हारे होते हैं । क्योंकि (देवा.) विद्वान्, दानी और प्रकाशमान पदार्थ (सदा) सदा (अरेपस.) निर्दोष और निष्पाप होते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४४३] आयाहि वनसा सह गात्रः सचन्त वर्तन्ति यदूधभिः ॥७॥

अ० १० । १७२ । १ ॥

भा०—हे उप ! तू (वनसा) तेज के साथ (आयाहि) आ, प्रकट हो । (गाव.) जिस प्रकार गौवें दूध भरे थनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (गाव.) तेरी रश्मिया (ऊधमि-) वहनशील शक्तियों द्वारा सबको पालन पोषण करके (वर्त्तन्ति) तेरे मार्ग को (सचन्त) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४४४] उप प्रक्षं मधुमति क्षियन्तः पुण्यं रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (मधुमति) मधुर फल से सम्पन्न (प्रक्षे) बट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार पक्षिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (प्रक्षे) विशाल ब्रह्माण्ड में (क्षियन्तः) निवास करते हुए हम जीव (रयिम्) अपने उत्तम कर्मफल को (पुण्यम्) प्राप्त करें और उन से वृद्धि को प्राप्त हों और (ते आयाहि) हम तेरा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्णन उपनिषदों में तथा वेद-सन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से पौ भूमि बनाई गई है । वहा कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । देखो बृहदारण्यक और छान्दोग्य के मधुविद्याप्रकरण जिसमें पृथिवी आदि को मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में वैसे इन्द्रिय गण का आभा प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १२ २२ ३ १ १ १ २२
[४४५] अर्चन्त्यर्क मरुतः स्वर्का आस्तोमति श्रुता युवास इन्द्र-६॥

भा०—(स्वर्का) उत्तम कान्तिसम्पन्न ज्ञानी (मरुतः) प्रजापति या प्राणगण (अर्क) अपने शक्तिदाता सूर्यरूप आत्मा या परमात्मा को (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (इन्द्र.)

४४४—'पुण्यन्तो' इति ।

परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात कीर्ति वाक्ता, (आस्तोभति) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों सब दिशाओं में विनाश करता है ।

२ ३ १ २ , ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २
[४४६] प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते १०

भा०—(व.) आप लोग (वृत्रहन्तमाय) वृत्रों को विनाश करने में श्रेष्ठ, (विप्राय) ज्ञानवान्, (इन्द्राय) परमेश्वर को किये (गाथं) ऐसी गान या स्तुति को (प्र गायत) गाओ (यं) जिसको वह (जुजोषते) चाहता है, स्वीकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है ।

इति पृथ्वी दशतिः । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

—(७) (८)—

॥ ६० ७ ॥ ऋषिः—१ पृथक्-काण्वः सम्पातो वा । २ वन्धुः । ३, ४ वन्धुः सुवन्धुर्विप्रवन्धुश्च । गौपायना लौपायना वा । ५ सम्मर्त्तः । ६ भौवन आप्तयः । ७ कवय ऐल्य । ८ भरद्वाजः । ९ आभेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ५, १० इन्द्रः । ६ व्या. । ६, ७, ८ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ६, ७ द्विपदापक्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० एकपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप् ॥ स्वर—१, २, ६, ७ पञ्चमः । ३, ४, १० षड्जः । ६, ८, ९ वैवस्वतः ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २
[४४७] अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाह न सुमद्रथः ॥ १ ॥

अ० ८ । २६ । ६ ॥

भा०—(सुमद्रथः) शोभायुक्त, रमणीय, तृप्तिकारी रस से युक्त या पशु कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, (चिकितिः) ज्ञानवान्, (अग्निः) परमात्मा हृदय या ब्रह्माण्ड में और आत्मा देह में (हव्यवाह न) अज्ञादि चरु खाने वाले भौतिक अग्नि के समान (अचेति) चैतन्य है, जागृत है ।

४४७—'चिकितुः' 'हव्यवाहसः' इति अ० ।

[४४८] अग्ने त्वं नो अन्तमः उन प्राता शिवो भुवा वरूथ्यः ॥ २ ॥
 अ० १ । २४ । १ । पूर्वभिः ॥ यजु० ३ । २५ । १५ । ४८ पू० ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (त्वं) तू (न.) हमारा
 (अन्तमः) समीपतम (प्राता) रक्षक, (शिवः) कल्याणकारी, शिवस्वरूप
 (वरूथ्यः) सेनानायक के समान वरण करने योग्य (भुव.) हो ।

[४४९] भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(महोनां) बड़े २ देवों के बीच में (अग्निः) महान् परमेश्वर
 (भगो नः) सूर्य के समान (चित्रः) चयन करने योग्य, अमृत या पूजा करने
 योग्य है । वह (रत्नम्) रमणीय शक्ति को (दधाति) धारण करता है ।

[४५०] विश्वस्य प्रस्तोभ पुरो वा सन्याद् बहू नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्वस्य प्रस्तोभ) सबके संहारक, सबके उत्कृष्ट पूजा-
 पात्र ! तू (पुरो वा) पूर्वकाल में भी (सन्) विद्यमान रहा (यदि वा)
 और (बहू) इस वर्तमान काल में भी (नूनम्) तू निश्चय से विद्यमान
 है । अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है । तू भ्रिकाल में सत् है ।

[४५१] उपा अप स्वसुष्टमः सं वर्त्तयति वर्त्तनि सुजातता ॥ ५ ॥
 अ० १० । १७२ । ॥

भा०—(उपा) अन्धकार को नष्ट करने वाली उपा (स्वसु) जिस
 प्रकार रात्रि (तमः) अन्धकार को (सुजातता) अपने उत्तम प्रादुर्भाव
 के कारण (अप) दूर कर देती है और राहगीर को (वर्त्तनि) सन्मार्ग में
 (भ्रवर्त्तयति) रखती है, उसी प्रकार विशोका प्रज्ञा का उदय भी (स्वसु)
 स्वयं सरण करने वाली अविद्या के अन्धकार को दूर करती और आत्मा
 परम गन्तव्य ब्रह्म मार्ग को प्रकाशित कर देती है ।

उ २४ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २
[४५२] इमा नु कं भुवना सीषधेमन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ ६ ॥
अ० २० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) आत्मा और (विश्वे देवाः च) सद्य इन्द्रियरूप देव मिलकर (इमा भुवना) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीषधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें ।

उ २ उ १ २ उ ३ उ ३ उ १ २ उ २ उ १ २
[४५३] वि स्रुतया यथापथा इन्द्र त्वघन्तु रातयः ॥ ७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पथा) 'मार्ग' पाकर (रातयः) बहने वाली जलधाराएं बह जाती हैं उसी प्रकार (रातयः) नाना पदार्थों की दानराशियां, (इन्द्र) परमेश्वर (त्वद्) तुम्ह से (वि घन्तु) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों ।

उ १२ उ २२ उ १ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[४५४] अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८ ॥
अ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—(अया) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति (देवहितं) परमेश्वर के दिये हुए (वाजं) ज्ञान, बल और अस्त्र को (सनेम) हम प्राप्त करें, करावें और (सुवीरा) उत्तम पुत्रों से युक्त, धीर्यवान् सामर्थ्यवान् होकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्तुष्ट होकर रहें ।

उ २ उ १२ २२ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[४५५] ऊर्जा मित्रो वरुण पिन्वतेढाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ६

भा०—(मित्रो वरुणः) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर (ऊर्जा) विद्युतरूप बल, पराक्रम से युक्त होकर (इन्द्र) जिस प्रकार भूमियों को जलों से (पिन्वत) सेचन करते हैं उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिकाल में आत्मा की मनों भूमियों को धर्म-

मेघ के रस से आ सेवित करें । और हे (इन्द्र) मेघ ! आप (इयं) अन्न की फसल को (पीवरीं) खूब अधिक मात्रा में, जोरों पर कसरत से (कृणुहि) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन् ! आप (इयं) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को (कृणुहि) उत्पन्न करो ।

[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ॥ (विश्वस्य) समस्त प्र-
काश को (राजति) प्रकाशित करता है । और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है ।

इति सप्तमी दशतिः । पञ्चादश खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः । २ गौराङ्गिरसः । ३, ५, ९ पुरुच्छेपः ।
४ रेमः । ६ पवयामसः । ७ अनानतः पाकृष्टेपि । ८ नकुलः ॥ देवता—१, ३,
४, १० इन्द्रः । २ सूर्यः । ५ विश्वेदेवाः । ६ मरुतः । ७ पवमानः । ८ सविता ।
९ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७, ९ अत्यष्टिः । २, ४ ६ अतिजगती ।
८, १० अतिशकरी ॥ म्बरः—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः । २, ४, ६
निषादः । ८ १० पञ्चमः ॥

[४५७] त्रिकहुकेषु महिषां यथाशिरं तुविशुप्सस्तृप्सः सोममपिय
द्विण्णुना सुनं यथावशम् । स ई ममाद् महिकर्म कर्तव्यं
महामुरु सैनं सञ्चदेवो देवं सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
अ० १० । द० ८ । ४ ॥

भा०—(महिषः) यदा पूजनीय, (तुविशुप्सः) यदा यज्ञशाली,
(तृप्सः) सप्तको वृत्त करने द्वारा आत्मा (त्रिकहुकेषु) तीनों लोकों

४५७—'तृप्सोम', 'यथावशम्' 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु' इति अ० ।

(विष्णुना) सर्वव्यापक परमेश्वर से (सुतं) प्रेरित या उत्पादित, (यवा-
शिर) यव आदि अन्नों में मिले हुए (सोमं) ओषधिरसों के समान ज्ञान
और आनन्द को (यथावश) अपनी शक्ति के अनुसार (अपिबद्) पान
करता है । (स ई) वही इस प्रकार (महि कर्म) बड़े २ काम (कर्त्तव्ये)
करने के लिये भी (ममाद्) सदा प्रसन्नाचित रहता है । वह (महाम्
उरु सैन) बड़े भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं
के स्वामी, विश्वसैन (देवं) परमात्म देव को (देवः) प्रकाशमान, ज्ञान-
वान् होकर (सश्चत्) प्राप्त होता है । वह (सत्यः इन्द्रुः) सच्चा, सब का
आह्लाद करने हारा, या ऐश्वर्य और विभूतिमान् होकर (सधम्) सत्यस्वरूप
(इन्द्रस्) परमेश्वरवान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे—“स एतान् स्तोमान् अपश्यत् ज्योतिर्गौरायुरिति ।
इमे वै लोकाः स्तोमाः । अथमेव ज्योतिरयन्मध्यमो गौरसावुत्तम आयुः ।
अतमाप्ये दयानन्दस्तु 'त्रिकटुकेषु लोकेषु' ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ २ १ २
[४५८] अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मनिज्योतिर्विधर्म ।
३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ १
ब्रध्न समीचीरुपसः समैर्यदरेपसः सचेतसः स्वसरे
३ १ २ ३ २
मन्युमन्ताश्रिता गो ॥ २ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्रमानवः) सहस्रों मननशील विद्वानों
से उपासित, (दृशः) दर्शनीय, (कवीनां) कान्तिदर्शी, मेधावी लोगों से
(मतिः) एकमात्र मनन करने योग्य, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप, (विधर्म)
नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, (ब्रध्नः) सबको प्राणसूत्र
में बाधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा (स्वसरे) स्वयं सरण
करने हारे, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में (समीची-) उत्तम प्रकार
से हृदय में प्रवेश करने हारा, (अरेपसः) तम और पाप के क्षेत्र से रहित,

रजो भाव से शुद्ध, (सचेतसः) ज्ञानयुक्त, (उपसः) विशुद्ध ज्योतिर्मय दशाओं, उपाओं, प्रज्ञाओं को (सम् ऐयरत्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है । जो (गो०) सूर्य के (मन्युमन्तः) अत्यन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना (चित्ताः) एकत्र हुए किरणों के समान होता है ।

[४५६] एन्द्र याशुप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्यतिरस्ता ।
 राजेव सत्पति । हवामहे त्वा प्रयस्वन्त सुतेष्वापुत्रासो
 न पितर वाजसातये मंहिष्ठ वाजसातये ॥३॥ अ० ६ । १६ । १॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार (अयम्) यह (सत्पति०) सज्जनों का या सत्य का प्रतिपादक यजमान (विदथानि) यज्ञों में (राजा इव) राजा के समान (सत्पति०) सज्जनों का पालक होकर (अस्ता राजा इव) शत्रुओं पर बाण आदि फेंकने वाला, वीर धनुर्धारी राजा जिन प्रकार शत्रु आदि के संकटों को दूर करने के लिये प्राप्त होता है उसी प्रकार तू (न) हमारे पास (परावतः) दूर देशों से भी (उप आयाहि न) आ हीं तो आ । (पुत्रासः पितरं न) जिस प्रकार पुत्र लोग पिता की (वाजसातये) दायभाग की प्राप्ति के लिये स्तुति करते हैं उसी प्रकार हम भी (प्रयस्वन्तः) अस्त्रादि हवि को आपके अर्पण करने के लिये अपने हाथों में लिये हुए (वाजसातये) अस्त्र और ज्ञान के लाभ के लिये (सुतेषु) इन यज्ञ स्थानों में (मंहिष्ठ) सबसे बड़े दानशील (त्वा) तुम्हको (आ हवामहे) आह्वान करते हैं, आदर से याद करते हैं ।

[४६०] तमिन्द्र जाह्नवीमे मघवानमग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कृत
 अवांसि भूरि । माहेष्टा गीर्भिरा च यज्ञिया वधर्न रायं नो
 विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥ अ० ८ । १७ । १६ ॥

४६०—'यज्ञियो अस्तद्' इति अ० ।

भा०—(तं) वस (मघधानं) धन धान्य, सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, (उग्रं) वीरवान्, (सत्रा) सत् पुरुषों के ज्ञाना, (भूरि अत्रांसि) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद ऋचाओं को (दधानम्) धारण करते हुए (अप्रतिष्कृतम्) किसी से भी न पराजित, (इन्द्रं) वीर राजा के समान परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूँ। वह (मंहिष्ठः) सबसे महान् दानशील (गीर्भिः) वेदमन्त्रों द्वारा (यज्ञिया) यज्ञ के कार्यों में (आ ववत्) पुनः २ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह (वज्री) सब विघ्नों का नाशक (नः) हमारे लिये (राये) धन प्राप्त करने के लिये (विधा) सब (सुपथा) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन (कृणोतु) करे, खोज दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[४६१] अस्तु श्रीषद् पुरो अग्नि धिया दध आ नु त्यच्छ्रद्धो दिव्यं
३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वृणीमहे इन्द्रवाय वृणीमहे । यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
सन्दाय नव्यसे । अध प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवो
३ २ ३ १ २

अच्छ न धीतयः ॥५॥ अ० १। १३६। १॥

भा०—(धिया) आधानकर्म या ज्ञानबल से (पुरः) साक्षात् (अग्निं) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को (दधे) धारण करता हूँ, (त्यत् शर्द्धा) उसके बल में (दिव्य) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृणीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष वरण करते या प्राप्त करते हैं और (इन्द्रवायू) आत्मा और प्राण दोनों का (वृणीमहे) साक्षात् करते हैं। (यत्) जो दोनों (ह) निश्चय से (नव्यसे) सदा नवीन (विवस्वते) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के (नाभौ) आकर्षण शक्ति में (सन्दाय) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर (क्राणा) समस्त देहों को रचते हैं। (अध)

४६१—'तच्छ्रद्धो,' 'विवस्वति,' 'सदायिनव्यसा,' 'प्र नूनमुपयन्ति' इति ऋ० ।

और हम (धीतय) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अध्ययन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे (धीतय इव) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अंगुलियों या शिष्यों के समान (देवान्) देवों विद्वानों के (नूनं प्र उपयन्ति) आत्यन्त समीप पहुँचते हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
[४६२] प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवया-
२ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
मरुत् । प्र शर्द्धाय यज्यव सुखादये तवसे मन्ददिष्टये

१ २ ३ १ २
धुनिप्रताय शवसे ॥६॥ अ० ५ । द० ८ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार (मरुत्वते) पवनों वाले मेघ के लिये (गिरिजाः) विजुलियां चलती हैं । उसी प्रकार (वः मतयः) आपकी बुद्धिया या स्तुतिया (गिरिजाः) जो मस्तक वाले विद्वान् प्रवक्ताओं से उरपन्न हुई हुई (महे) बड़े (मरुत्वते) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त, या प्रजाओं से युक्त, (विष्णवे) व्यापक जगदीश्वर को (यन्तु) पहुँचे । (एवयामरुत्) और प्राणों को चलानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी (शर्द्धाय) बलवान्, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के सम्पादक, (सुखादये) उत्तम आयुधों से भूषित (तवसे) वीर्यवान् (मन्दद्-इष्टये) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र (धुनि-प्रताय) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे (शवसे) बल-स्वरूप उस ईश्वर के (प्र यातु) खोज में प्रवृत्त होजायें ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १
[४६३] अया रुचा हरिरया पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयु-
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्वभिः सूरौ न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियास्युक्रमिः सप्तास्येभि-
१ २
र्गक्रमिः ॥ ७ ॥ अ० ५ । ११ । १ । १ ।

भा०—(सयुग्वभिः) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा (सूरः न) जिस प्रकार प्रेरक नेता (विश्वा द्वेषासि तरति) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार (सयुग्वभिः) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अश्वों, योग-साधनों द्वारा (सूर) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य के समान तेजस्वी (हरिः) गतिशील आत्मा (अया) इस (हरिया) अज्ञान हरने वाली (रुचा) ज्योति से (पुनानः) मल आदि का परिशोधन करता हुआ (विश्वा द्वेषासि) सब प्रकार के विरोधियों को (तरति) पार कर जाता है । उस (पृष्ठस्य) सबके धारण करने हारे सोम की (धारा) धारण पोषण करनेहारी शक्ति (रोचते) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हरिः) सर्व-व्यापक, सर्वदुःखहारक, (अरुणः) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, (पुनान) सबको प्रेरित करता हुआ, (यद्) जो वह (विश्वा रुपा) सब पदार्थों या आकाशस्थ पिण्डों को (अरुणिः) प्रकाश ज्ञानयुक्त (सप्तस्योभिः) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल महापेट में सब नक्षत्रों को चक्षाने हारे सात महावायुओं द्वारा (परि यासि) घेरे बैठा है, व्यापक है ।

उ० २४ उ २ ३ १२ ३४ २२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[४६४] आभि त्वं देवं सवितारमोण्यो कविक्रतुमर्चाभि सत्यमर्चं
■ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ २४ ३ २ ३ १२ २२ ३
रत्नधामभिप्रियं मतिम् । ऊर्ध्वं यस्यार्मातिमा अदिद्युत-
१ २ ■ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
त्सवीमनि हिरण्यपाणिरभिमीत सुक्रतु कृपाम्ब ॥ ८ ॥
यजु० ४ । २५ ॥ अथर्व० ७ । १४ । १, २ ॥

भा०—(ओण्योः सवितारं) औ और पृथिवी के उत्पादक, (कवि-
क्रतुं) क्रान्तदर्शी, एव ज्ञानसम्पन्न मेधावी, (सत्यमर्चं) सत्य को प्रकट
करने हारे, (रत्नधाम्) रमणीय विभूतियों को धारण करने वाले, (■)

४६४—प्रजाम्यस्त्वा प्रजास्त्वा अनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि इत्यधिक. पाठः,
यजु० 'कृपास्व' इति अथर्व० ।

अभिप्रियं) सबके प्रिय, (भर्ति) मनन योग्य (त्वं देव) उस देव की (अभि अर्चामि) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान (भा०) सूर्यरूप तेजःकान्ति, (अमतिः) अचिन्त्य, अद्वितीय, (सर्वीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में । अदिद्युतत्) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हिरण्यपाणिः) क्रियारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला, (सुकृत्) उत्तम कारीगर (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्व०) सब प्रकाशमान सूर्य आदि बौलोक और परमसुख को (नि-अमिमीत) बनाता और देता है ।

उ १२ २२ उ १ २ उ १ २ उ १२ २२ उ १ २ उ
[४६५] अग्निं होतार मन्ये दास्वन्तं वसोः सृनु सहसो जानवेदस
२ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या
उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुधानस्य
उ १ २
सर्पिषः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (दास्वन्तं) दान करने हारे, सबके दाता, (वसो) उस वास करने वाले (सहसः) वज्ररूप जीवामा (सृनुं) प्रेरक, (जात वेदसं) समस्त भूतिमान् घनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हारे, (विप्रं न) विप्र, मेधावी पुरुष के समान (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे (अग्निं) परमेश्वर को (होतारं) इस महा ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का कर्त्ता (मन्ये) स्वीकार करता हूं (य०) जो (ऊर्ध्वया) ऊपर या काश में स्थित उवाला द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम अहिंसित, अग्निनाशी, हिंमारहित यज्ञ करनेद्वारा (देवाच्या) देवों तक पहुँचने हारे (कृपा) सामर्थ्य से (शुकशोचिष) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, (सर्पिषः) सर्प-रूपायी, प्रवरणर्गल (घृतस्य) कान्तियुक्त सूर्य या अन्न में आहुति दिये

४६५—'विभ्राष्टिमनुशुक्र' इति । 'सृनुं' इति ४० ।

धी के समान (विभ्राष्टिम्-अनु) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं (वहि) विराजमान, प्रकाशित हो रहा है ।

२ ३ १२ २२ ३ १ ७ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४६६] तव त्वं नयं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्वं दिवि प्रवाच्य
३ २ ३ ३ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३
कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिण्यपः । भुवो
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
विश्वमभ्यदेवमाजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिपम् ॥१०॥
अ० २ । २२ । ४ ॥

भा०— हे (नृत) समस्त संसार को नचाने या अपनी इच्छानुकूल चला देने वाले । (त्वत्) वह (अप०) कर्म (प्रथमं) सबसे उत्कृष्ट (दिवि) दैतलोक में भी (पूर्वं) सबसे पूर्व (प्रवाच्यं) उत्तम रीति से भर्जन करने योग्य (कृतं) किया हुआ सर्ग (तव) तेरा ही है । (य०) जो (शवसा) अपने वेग या बल से (देवस्य) प्रकाशमान, विजिगीषु, महाप्राणधारी हिरण्यगर्भ के (असुम्) पवनरूप प्राण को (रिण्य०) गति देता हुआ (अप०) नाना लोकों को (प्र अरिण०) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव (विश्वम्) समस्त (अदेव) न प्रकाशित होने वाले, मृतप्राय, नाना पृथिवी आदि लोकों, पितृलोकों को भी (आजसा) अपने बल से, कान्ति से (भुवत्) व्याप्त होकर उनमें (ऊर्जम्) अस्त्रादि स्वाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ । विदेद् । प्राप्त कराता है, बरप्रा करता है वह (शतक्रतु०) सैकड़ों कर्मों का करने वाला शिल्पी (इपं विदेत्) हमें जीवन, प्राण और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशतिः । इति द्वादशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पाचमानकाण्डम् ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।



॥ ६० ६ ॥ अथि—१, ॥ अमहीयु । २ मधुच्छन्दा । ३ शृगुर्गणिः जमः
मिर्षा । ४ त्रितः आस्य । ५ कश्यप । ६ अमदग्निः । ७ षट्च्युत आगस्त्य ।
८, १० काश्यपोऽसित । पचमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[४६७] उच्चा ते जातमन्वसो दिवि सन्मूल्याददे ।

उत्तम ■ २ ३ १ २

उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १ ॥

अ० ९ । ६१ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्वसः) प्राणधारण सामर्थ्य
से (जातं) उत्पन्न हुए (दिविसद्) बौलोक, सूर्य में विद्यमान (उग्र)
उग्र, उत्कृष्ट, (शर्म) सुख, शरण और (महि श्रवः) महान् ज्ञान या
बल, अज्ञ को (भूमि) भूमि पर के पुरुष भी (आददे) प्राप्त करते हैं ।
अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि
पर भी प्राप्त करते हैं ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६८] स्वादिष्ठया मादृष्टया पवस्व सोम धारया ।

■ २ ३ १ २ ३ १

इन्द्राय पातवे सुनः ॥ २ ॥

अ० ९ । ११ । ११ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ईश्वर ! आप (स्वादिष्ठया) अत्यन्त
रस दायक (मादृष्टया) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक (धारया) अपनी
धारण शक्ति से (पवस्व) सब में व्यापक हो । (इन्द्राय) इन्द्र आत्मा के

४६७—'दिविसद्' इति ।

४६८—१. पञ्चिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४)

(पातवे) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस (सुत.) उत्पन्न किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६६] वृषा पचस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।

विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वृषा) धर्मस्वरूप, सुखों का धर्मक, सबसे श्रेष्ठ, (मत्सरः) सबको नष्ट करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके हृदयों में स्थापक, (मरुत्वते) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये (धारया) अपनी धारक पोषक शक्ति द्वारा (विश्वा) समस्त प्राणियों, लोकों और प्रजाओं को अपने (ओजसा) बल से (दधान.) धारण करता हुआ (पचस्व) प्रकाशित हो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७०] यस्त मदो वरेण्यस्तेनापचस्वान्धसा ।

देवावीरघशसहा ॥ ४ ॥ अ० ९ । ६२ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (मद.) आनन्द या हर्ष प्रकाश, (देवावीः) देवों, विद्वानों या इन्द्रियगण में प्रकट होता है और जो (अघ-शसहा) पाप की शिखा देने वाले दुष्ट पुरुष या अचेतनता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधादि दुष्ट भावों का भी नाश करता है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणशक्ति से (आ पचस्व) प्रकट हो ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७१] तिस्रो वाच उदीरते गावो मिसन्ति धेनवः ।

हरिरेति कनिकदत् ॥ ५ ॥ अ० ९ । ३३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (धेनवः) बुधवार (गाव.) गौएँ (मिसन्ति) अपना दूध देने के लिये इमारती हैं वही प्रकार (तिस्रः वाच.) तीनों

वेदसहितार्थे अपना २ विज्ञान, ज्ञान और कर्म का रस पान कराने के लिये (उद्-ईरते) अपना २ अभिप्राय प्रकट करती हैं और (हरिः) सर्व-व्यापक जगदीश्वर, एवं विद्वान् (कनिकदत्) अपनी ध्वनि या उपदेश मेघ के समान करता हुआ, ज्ञान और सुखों के वर्णक रूप से (एति) हमें प्रतीत होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४७२] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥ अ० ९ । ६४ । २१ ॥

भा०—हे इन्दो ! ऐश्वर्यशील ! (मरुत्वते) मरुत् प्राणों, वायुओं और समस्त तीव्र, वेगवान् बलशाली पदार्थों के स्वामी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमः) मधु के उत्तम रूप से धारण करने द्वारा तू (अर्कस्य) ज्ञान के सूर्य, प्रकाश या जीवन रूप यज्ञ के (योनि) उत्पत्ति स्थान पर (आसदम्) विराजमान होने के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २

[४७३] असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्ष्णा गिरिष्ठाः ।

३ २ ३ १ २ ३

श्येनो न योनिमासदत् ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६२ । ४ ॥

भा०—(गिरिष्ठाः) पर्वतों या मेघों में स्थित और विद्वानों वाणियों में स्थित, या विद्वानों में रहने वाला, (अशुः) सर्वव्यापक ('अप्सु') कर्मों और ज्ञानों को उत्पन्न करने में (दक्षः) बलशाली, सोम, आनन्दरस (असावि) प्रकट होता है । वह (योनिस्) अपने प्रादुर्भाव होने के स्थान में (श्येनः न) श्येनस्वरूप आत्मा के समान ही (आसदत्) विराजमान होता है । आत्मा के समान परमात्मा भी हृदय में विराजमान है ।

४७२—'अतस्व' इति अ० ।

^{२ ३ १० ३ १ २ ३ १ २}
[४७४] पचस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २}
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥ अ० १। २५। १ ॥

भा०—हे (हरे) हरितवर्य ! अथवा पापहरणशील, गतिशील, सर्वव्यापक ! (दक्षसाधनः) समस्त कार्यों को करने द्वारा (मदः) आनन्द रूप तू (मरुद्भ्यः) प्राणस्वरूप या प्रजारूप (देवेभ्यः) दानशील पुरुषों या इन्द्रियों को और (वायवे) सर्वव्यापक आत्मा (पीतये) उपभोग के लिये (पचस्व) प्रकट हो ।

^{१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २}
[४७५] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।

^{१ २ ३ १ २}
मदेषु सर्वथा असि ॥९॥ अ० १। २८। २ ॥

भा०—(सोमः) सोम, वह आनन्दमय (स्वानः) सबको प्रेरित करता हुआ, या स्वयं प्रकाशित होता हुआ (गिरिष्ठाः) वाणी और हृदय में विद्यमान भी (पवित्रे) पवन साधन, बोधक या स्वतः पवित्र हृदय में (अक्षरत्) करित होता है द्रवित होता है, प्रकट होता है । हे (सोम) हे सर्वप्रेरक ! आनन्दमय ! तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वथा) सब रूपों से उनको धारण करता हुआ, तन्मय होकर (असि) विद्यमान है ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ २}
[४७६] परि प्रियां दिवं कविर्वयासि नप्त्योर्हितः ।

^{३ १ २ ३ १ २}
स्वानैर्याति कविर्कतुः ॥१०॥ अ० १। २९। १ ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सोम, आत्मा (नप्त्योः) अधिसवन करने के फलकों, या धौ और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों के

४७४—१ हरे पापहर्त्ता, इति सायणः ।

४७५—सुवानः, 'अक्षरा' इति ॥

४७६—सुवाना, इति अ० ।

धीच (हितः) विद्यमान (दिव.) सूर्य या ज्योति के (प्रिया) प्रिय (वयासि) आत्माओं जीवों तक वह (कविकृतु.) ज्ञानानुसार कार्य करने द्वारा (स्वान.) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने वाले विद्वानों द्वारा (परि याति) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है ।

इति नवमी दशति । प्रथम. खण्डः ।



॥६० १०॥ अ०पि.—१ कविर्मेधावी । २ श्यावाश्वः । ३ अिन. । ४, ५ अमहीयु । ६ मृगु. । ६ काश्यपः । ७ निम्विः काश्यप । ८, ९ काश्यपोऽसित ॥ १० ॥
पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज. ॥

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७७] प्र सोमासो मदच्युतः अथसे नो मघोनाम् ।
३ २ ३ १ २
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ अ० ३ । ३२ । १ ॥

भा०—(मदच्युत.) आनन्द को महाने वाले (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस । विदथे) यज्ञ या ज्ञान । अथसर पर (सुता.) नियुक्त या अभिषिक्त, द्रवित होकर (मघोना) इषि या धनादिसम्पत्ति () हमारे (अथसे) ज्ञान, कीर्ति, प्राप्त करने के लिये (प्र अक्रमुः) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७८] प्र सोमासो त्रिपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्ध्वम् ।
१ २ ३ १ २
वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ अ० ६ । ३३ । १ ॥

भा०—(ऊर्ध्वम्) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र में नाना देशों के भीतर पहुंचा देती हैं या जैसे (महिषा.) यक्ष । सावृ पशु

४७७—'मघोन.' इति ।

४७८—'नयन्ति' इति ।

भैसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार (विपक्षितः) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् (सोमास) सौम्य स्वभाव वाले जन (अपः) प्रजाओं को (वनानि) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति (नयन्त) प्राप्त कराते हैं।

[४७६] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २} पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधो नो यशसो जने ।

^{३ २ ३ १ १} विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ अ० ३ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! (सुतः) तू तैयार होकर (जने) राष्ट्र में (पवस्व) प्रकट हो। और (नः) हमें (यशसः) कीर्तिसम्पन्न (कृधि) बना, (विष्वा द्विष) समस्त द्वेष करने वालों को (अप जहि) नाश कर।

[४८०] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वृषा ह्यसि भानुना घुमन्तं त्वा हवामहे ।

^{१ २ ३ ३ १ २} पवमान स्वर्दशम् ॥ ४ ॥ अ० ३ । ६२ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे (पवमान) सबको पवित्र करने-हारे ! (वृषा हि असि) तू सब सुखों के वर्णन करनेहारा है। (भानुना) सूर्य, या कान्ति से (घुमन्तं) घूमसिमान् (स्वर्दशम्) सुख या सब के दृष्टा (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं।

[४८१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} सृजदश्व रथीरिव ॥ ५ ॥ अ० ३ । ६४ । १० ॥

भा०—(चेतनः) चेतनास्वरूप (कवीनां) कान्तदर्शी तत्त्वज्ञों का (प्रियः) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र (मतिः) मननशील । रथीः हव) सारथी समान (अश्वम्) अश्व=इन्द्रियगण को (सृजद) प्रेरण करता हुआ (पवते) व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

४८१—'मती' इति अ० ।

[४८२] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २} असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

^{३ १ २ ३ १ २ २} शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ६ ॥

अ० १ । ६४ । ४ ॥

भा०—(वाजिनः) बलवान् (आशवः) अधिकारी आलस्यरहित (शुक्रासः) कान्तिमान् (सोमासः) योगिजन, (गव्या) गौ या वाणी की कामना से (अश्वया) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को वश करने की इच्छा से और (वीरया) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से (प्र असृक्षत) प्रयत्न करते हैं ।

[४८३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २} पवस्व देव आयुषगिन्द्र गच्छतु ते मदः ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥

अ० १ । ६५ । २२ ॥

भा०—हे (देव) शीतमान रसस्वरूप आत्मन् ! (पवस्व) तू प्रकट हो और (आयुषक्) साथ ही (ते मदः) तेरा आनन्दप्रवाह (इन्द्रं गच्छतु) आत्मा के पास जावे । और तू (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न से (वायुं) प्राणवायु को (आरोह) वश कर, ~~जस~~ पर आरुढ़ हो ।

[४८४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २} पवमानो अजीजनोऽद्विभ्रं न तन्यतुम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥

अ० १ । ६६ । १६ ॥

भा०—(पवमानः) अन्तःकरण और बुद्धितत्त्व को विमल करने वाला साधक योगी सूर्य के समान (दिव) ध्रुलोक, मूर्धा के (विभ्रं) विचित्र आदर योग्य (वैश्वानर) सब नरों में व्यापक, (बृहत्) विशाल (ज्योतिः) प्रकाश को (तन्यतुं न) बिजली के समान (अजीजनत्) प्रकट करता है ।

[४८५] ^{१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २} परि स्वानास इन्द्रो मदाय वह्निर्वा गिरा ।

^{१ २ ३ १ २} मधो अर्षन्ति आरया ॥ ९ ॥

अ० १ । १० । ४ ॥

४८५—'परि स्वानास', 'मदा अर्षन्ति' इति अ० ।

भा०—(स्वादासः) सवन किये, सुसम्पादित, (इन्द्रवः) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान्जन (मदाय) अति आनन्द के लिये (बर्हणा) बहुत बड़ी (गिरा) वेदवाणी से (मधोः) मधु, सारभूत आनन्दरस की (धारया) धारा या धारणा शक्ति से [परि अर्पन्ति] सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं ।

[४८६] परिप्राप्तिष्यदत्कवि. सिन्धोः कर्मविधिधितः ।

कारुं विभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ अ० ६ । १४ । १ ॥

भा०—(कवि) तत्त्वदर्शी, विद्वान् (सिन्धोः) आनन्दमय समुद्र के (कर्मों) तरङ्ग में (अधिभ्रित) बहता हुआ (पुरुस्पृहं) प्रजा के प्रेमपात्र (कारुं) आत्मारूप शिल्पी को (विभ्रत्) धारण करते हुए जहाज़ के समान (परि प्र असिष्यदत्) सब ओर वेग से गमन करता है ।

इति दशमी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥



अथ पष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ ८० १ ॥ अथिः—१, ८, ६ अमहीयुः । २ इन्द्रमतिराक्षिरमः । ३ काश्यपोऽ-

सिपुः । ४ प्रभूवसुः । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निध्रुवि काश्यपः । १०

उच्यते ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ वज्रः ॥

[४८७] उपोपु जातमप्युतं गोभिर्भक्तं परिष्कृतम् ।

इन्द्रं देवा अयासिपुः ॥ १ ॥ अ० ६ । ६१ । १३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुजातं) उत्तम गुणों से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, (अप्युतं) प्रजाओं या इन्द्रियों या कर्मों, ज्ञानों में व्यापक, गतिमान्, (गोभिः) गौओं, उनके दुग्धों, वाणियों, रश्मियों से (परिष्कृतम्) सुशोभित, सुमिश्रित, (भक्तं) सब दु.खों और

शत्रुओं के तोड़ने हारे (इन्द्र) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को (उप अयासिषु) प्राप्त करते हैं । ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस चारों पक्षों में स्पष्ट है ।

[४८८] पुनानो अकमीदिभि विश्वा मृधो विचर्पणि ।

शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ २ ॥ अ० ६ । ४० । १ ॥

भा०—(विचर्पणि) विविध प्रजाओं का द्रष्टा (सोम.) आत्मा (विश्वा.) समस्त (मृध) संग्रामों को (पुनान्) पवित्र करता हुआ, सबके कलह मिटाता हुआ (अभि अकमीत्) प्रत्यक्षरूप से सबको व्यवस्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊँचा होकर विराजता है । उस (विप्र) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी को विद्वान्जन (धीतिभिः) अपनी मत्तियों और स्तुतियों से (शुम्भन्ति) अलंकृत करते हैं ।

[४८९] आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्धज्ञमि श्रियः ।

इन्द्रुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ अ० ६ । ४२ । १६ ॥

भा०—(इन्द्रा.) अभिषिक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा (कलश) सोलह कलाओं में बने इस औंधे मस्तक या ग्रहणचक्र में (आविशन्) व्याप्त होता हुआ (विश्वा.) समस्त (श्रियः) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाओं, ज्ञाननादियों एवं सब लोकभूमियों (अभि अर्पत्) व्याप्त होता है । (इन्द्र.) वही इन्द्र परमेश्वरसम्पन्न सिद्धयोगी, (इन्द्राय) उस महान् पुरुषार्थवान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये (धीयते) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है ।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्बोः सुतः ।

कामन्वाजी न्यकमीत् ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४६ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्यः) रथयोग्य (वाजी) वेगवान्
अश्व (कार्मन्) आकर्षण करनेहारा (सुतः) प्रेरित होकर (चम्बोः) दोनों
सेनाओं के बीच (पवित्रे) पैंतरे पर (नि-अक्रमीत्) वेग से दौड़ता है ।
इसी प्रकार यह आत्मा (सुतः) ऐश्वर्य से युक्त होकर (चम्बोः) निष्पादन
फलकों, सौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच (पवित्रे) पवित्र करने
हारे प्राण वायु में (कार्मन्) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ (रथ्यः)
इस देह के योग्य (वाजी) वेगवान् अति बलवान् (असर्जि) होकर
(नि-अक्रमीत्) जाना स्थानों में गमन करता है । सोम और रथ के
घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु
का वर्णन है ।

२४ ३ १ २ १ ४ २ ३ २ ३ १ २
[४६१] प्र यद्गावो न भूर्ययस्त्वेपा अयासो अक्रमु ।
१ २ ३ २४ ३ २ २

अन्तः कृष्णामपत्वचम् ॥ ५ ॥ अ० ५ । ४१ । २ ॥

भा०—(यत्) जो (गावः न) किरणों के समान (भूर्ययः) सब
प्राक्कन करने हारे वा विप्रगामी, (स्वेपाः) कान्तिमान् (अयासः)
गतिशील, (कृष्णां) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक (त्वचम्)
त्वचा, ऊपर की सतह या देखावे, अन्धकार, ढोंग, देहबन्धन को (अन्तः)
विनाश करते हुए (प्र अक्रमुः) विचरते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६२] अप घ्नन्पत्रसं मृधः क्रतुचित्साम मत्सरः ।
३ १ २ २ १ २

तुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । ४२ । २४ ॥

४६१—प्रये गावो' इति अ० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने आदिः, उन्दनं कृषेदन । मृधः सङ्गदीपाः, बन्धनानि
कर्मासङ्गा इति वा ।

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! हे रसरूप (मत्सर-) हर्षकारी होकर विचरने द्वारा तू (क्रतुवित्) सब उत्कृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने द्वारा (मृष-) परस्पर के कलहों, सम्भारों या बन्धनों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अवेधुं) देवों, विद्वानों के प्रतिकूल नास्तिक (जनं) पुरुष को (नुदत्थ) परे कर ।

[४६३] अया पवस्व धारया यथा सूर्यमरोचयः ।

दिन्वानो मानुषीरपः ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । ६३ । ॥

भा०—हे विद्वन् ! रसरूप (यथा) जिस (धारया) धारा या धारण पोषण शक्ति से (मानुषी-) मनुष्य (अप) प्रजाओं या प्राणों को (दिन्वानः) प्रेरित करता है (यथा) जिससे (सूर्य) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरुको (अरोचय-) सब में प्रकाशित करता है (अया) उस धारा से (पवस्व) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४६४] स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।

वयिर्वासं महीरपः ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप ! (य) जो (मही-) बहुत सारे (अपः) जलों, कर्मों, प्राणों या लिंग-शरीरों और प्रजाओं को (वयिर्वासं) आवरण किये, रोके हुए (वृत्राय) आवरणकारी मेघ के अज्ञान अन्धकार कर्मबन्धन को (हन्तवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रं) सूर्य के समान आत्मा की (आविथ) रक्षा करता है (सः) वह तू (पवस्व) प्रकाशमान हो ।

[४६५] अया चीती पारस्रव यस्त इन्द्रो मदप्ला ।

अवाहन्नघतर्निव ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १ ॥

भा०—हे रसरूप ! (ते) तेरे (मदेपु) आनन्द-रसों (यद्वा) (इन्द्रः) आत्मा (नवतीः नव) ६६ वर्ष (व-) जो (अवाहन्) पार

कर जाता है (अया) इस (धीती) रीति से (परित्व) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पक्ष में इन्द्र का ६६ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आत्मकारिक है ।

[४६६] परि सुक्ष्मं सनद्रयि भरद्वाजं नो अन्धसा ।

स्वानां अर्पे पवित्र आ ॥ १० ॥ अ० ६ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण, सामर्थ्य से, (सुक्ष्मं सनद्रयि) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (न. वाजं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेहारे दया पवित्र नामक बल्लस्यपद के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या ब्रह्म में तू (आ अर्पे) स्वयं व्यापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥



॥ ५० २ ॥ अपिः—१ मेध्यातिथिः । २, ७ मृगुः । ३ उच्यः । ४ जम्भारः । ५, ६ निम्बुवि. काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० असितः । ११ कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ अमहीयुः ।

पचमानो देवता ॥ गायत्री । पङ्क्तः ॥

[४६७] अचित्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।

स सूर्येण दिद्युमे ॥ १ ॥ अ० ९ । २ । ६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने हारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति जेही, सूर्य के समान

४६६—'परीष्ण' 'सनद्रयि' 'स्वानो' इति. अ० ।

४६७—'सूर्येण रोचते' इति अ० ।

(दर्शतः) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (दिष्टुते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४६८] आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमधा वृणीमहे ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥

अ० ६ । ६५ । २८ ॥

भा०—हे प्रमो ! (ते) तेरे (मयोभुवं) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्तं) पालक, (पुरुस्पृहं) सबके अभिलाषा योग्य, (दक्षं) बल की (अध) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से आचना करते हैं ।

[४६९] अश्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय ।

पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥

अ० ६ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (अश्वर्यो) यज्ञनिष्पादक ! (अद्रिभिः) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुतं), निष्पादन किये (सोमं) ज्ञान या आनन्द रस को (पवित्रे) वशा पवित्र नामक बल खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करा और (पातवे) पान करनेहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इसे विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥

अ० ६ । २८ । २ ॥

भा०—(सः) वह (मन्दी) स्तुति करने द्वारा, स्वतः तृप्त आत्मा (तरत्स) इस देहबन्धन को तर जाता है । वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) 'धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही (तरत्स) अज्ञान

को पार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०१] आ पवस्व सहस्रिणं रयि सोम सुवीर्यम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्मे अवांसि धारय ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन् ! तू (सहस्रिणं) सहस्रों (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयिं) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा । (अस्मे) हमें (अवांसि) जाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०२] अनु प्रत्नास आयवः पद नवीयो अक्रमु ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
रुचं जनन्त सूर्यम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नासः) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयवः) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीयः) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम (पदं) प्राप्त्य प्रद पद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमु) अनुसरण करते हैं । वे (रुचे) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त (सूर्यं) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[५०३] अर्पा सोम शुमत्तमोऽमि द्राणानि योरुवत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६५ । १६ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! तू (शुमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्माण्डों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्राणानि अमि) द्रव्यशक्ति, विनाशशील

इन कलशस्वरूप देहों में भी (रोखत्) प्राणरूप से नाद करता हुआ तू
(आ अर्प) व्याप्त हो ।

[५०४] वृषा सोम धुमो असि वृषा देव वृषवतः ।

वृषा धर्माणि दधिषे ॥ ८ ॥

ऋ० ९ । ६४ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (वृषा) सब काम्य-सुखों के वर्षक
आप (धुमान्) दीहि से युक्त (असि) हो । हे (देव) सुखों के देनेहारे !
(वृषा) तू सबसे श्रेष्ठ (वृषवतः) धर्मानुकूल कार्य करने और सुखों के
वर्षाने वाले मेघ के समान (वृषा) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ रूप
रूप होकर (धर्माणि) सबको धारण करने वाले नियमों को (दधिषे)
धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है ।

[५०५] इये पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।

इन्द्रो रुचाभि गा इहि ॥ ९ ॥

ऋ० १० । ६४ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (मनीषिभिः) मनन करने वाले
या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा (मृज्यमानः)
विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर (धारया) निरन्तर
आनन्द के प्रवाह रूप में (इये) और तत्त्व सम्पादन निमित्त
(पवस्व) प्रकट हो । और (रुचा) अपनी कान्ति द्वारा ही हे (इन्द्रो)
श्रेष्ठ्यसम्पन्न ! प्राणशाल ! तू (गा) वाणियों या इन्द्रियों के प्रति भी
(अभि इहि) प्राप्त हो ।

[५०६] मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।

अव्या वारभिरस्मयुः ॥ १० ॥

ऋ० ११ । ६ । १ ॥

५०४—'दधिषे' इति ऋ० ।

५०६—'अव्या वारभिरस्मयुः' इति ऋ० ।

भा०—हे सोम ! (वृषा) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, (देवयु.) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू (मन्दया) आनन्ददायक (धारया) रसरूप धारा से (पवस्व) प्रवाहित हो, और (अस्मयु) हमारा हितकारी (वारोभिः) विघ्ननिवारक बलों से (अग्न्याः) हमारी रक्षा कर ।
अथवा—(अग्न्याः) चित्ति शक्ति के (वारोभिः) आवरण करनेहारों कोशों में से भी तू (पवस्व) चरित होकर प्रकट हो ।

[५०७] अया सोम सुकृत्ययः महान्तसन्नभ्यवर्द्धया ।

मन्दान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ अ० ६ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (साम) आत्मन् ! (अया) इस (सुकृत्यया) उत्तम सदाचाररूप विधि तू (महान् सन्) बड़ा होता हुआ (अभि अवर्द्धयाः) साक्षात् बड़ा और (मन्दान.) हर्ष से (इद्) ही (वृषायसे) मेघ समान नाद कर ।

[५०८] अयं विचर्पणिरहितः पवमानः स चेतति ।

हिन्वान आप्य बृहत् ॥ १२ ॥ अ० ९ । ६२ । १० ॥

भा०—(अयं) यह आत्मा (विचर्पणि) सबको विशेष रूप से देखने वाला, (पवमान.) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वव्यापक (सः) वह (बृहत्) बहुत अधिक (आप्यं) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (चेतति) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान प्रहण करता है ।

[५०९] प्र न इन्दा मह तुन ऊर्मि न विभ्रदर्पामि ।

अभि देवा अयाम्यः ॥ १३ ॥ अ० ६ । ४४ । १ ॥

५०७—'सोम', 'महान्तिदम्भवन्त', 'मन्दान उ-वृषायसे' इति अ० ।

५०९—'महेतल' इति अ० ।

भा०—हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप (महे तुने) विशाल ज्ञान प्राप्त करने लिये (नः) हमारे लिये (ऊर्मिम् न) तरङ्ग के समान (विभ्रद्) हर्ष उत्पन्न करते हुए (अर्पसि) प्रकट हो और (देवान् अभि) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति (अयास्यः) 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होते हो । 'अयास्य' का वर्णन बृहदा० उप० में देखो ।

[५१०] ^{३ १ २ ३ २ ४ २ ३ १ २} अप जन्पधने मृधोप सामो अराव्या ।

^{३ १ २ ३ २} गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ अ० ३ । ६१ । २५ ॥

भा०—(सोम.) ज्ञानवान् आत्मा (मृध.) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आन्तर शत्रुओं को (अपजन्) विनाश करता हुआ (अराव्या.) अज्ञानशील, कृपण वृत्तियों को भी (अप) दूर करता हुआ (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (निष्कृतम्) मोक्षपद को (गच्छन्) प्राप्त होता है ।

इति द्वितीया दशतिः । चतुर्थे खण्डे ।

॥ व० ॥ अथि —अथान्नं काश्यपो गोतमोऽग्निर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चेते
सप्तर्षयः । पवमानो देवता । वृत्ती । मध्यमः ॥

[५११] ^{१ २ ३ १२ २२} पुनान साम आरयापा वसानो अर्पसि ।

^{१ २ ३ १२ २२ ३१ ३ २ ३१ २३ १ २} आ रत्नवा योनिमृत्नस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्यस्य ॥ १॥

अ० ३ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (आरया) धारा से (अप. वसानः) कर्मों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर मयको (पुनान) पवित्र करता हुआ (अर्पसि) विराजता है । (रत्नवा) रमणीय पदार्थों

का पोषक (अतस्य) इस जीवन या ज्ञान के (योनिम्) मूलकारण में (आ सीदसि) स्थित है । और स्वयं (हिरण्यय.) कान्तिस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमणीय होता हुआ (देव.) सबका तर्पक, सबके प्रति (उत्सः) रस का सञ्चार कराने हारा है । यहा श्रुत, ज्ञान और योगसाधन से प्राप्त विशेष आनन्दमय अनुभव का वर्णन है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५१२] परीनो विन्वना सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।

३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुपाव सोममग्निभि ॥२॥

अ० ६ । १०७ । १ ॥

भा०—(अप्सर्युः) इस जीवनयज्ञ या योगयज्ञ का सम्पादक, (सोमम्) अन्तरात्मा के आनन्द को (अग्निभि.) मेघों से जल के समान, और विद्वानों से ज्ञानों के समान योगसाधनों द्वारा (सुपाव) पैदा करता है । (यः) जो सोम (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (अप्सु) प्रजाओं या कर्मों या प्रज्ञाओं प्राणों के (अन्तरा) बीच में (दधन्वान्) व्याप्त रहता है, (यः सोम.) ओ सोम (उत्तमं) उत्तम (हविः) हविः=तृप्ति परम संतोष और परम आनन्द का साधन है उसको वह योगी (इतः) इस हृदय स्थान से (सुतं) उत्पन्न हुए को (परिविन्वति) सब ओर को बहाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१३] आ सोम स्वानो अग्निभिस्तिरा चाराण्यन्यया ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
जनो न पुरि चम्वाविशद्वरिः सदो वनेषु नग्निषे ॥ ३ ॥

अ० ६ । १०७ । २० ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अग्निभि.) योगसाधनों या योनिधियों द्वारा (सुवान.) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर (अन्यया) अवि-भेद के बातों के बने, ज्ञानने के कपड़े के समान तमोमय (चाराणि) आवरणों

५१३—'सुवानो', 'दग्निषे' न अ० ।

को (तिर०) पार करता हुआ (जन न पुरि) जिस प्रकार वीर पुरुष
कोट लाघता हुआ नगर में प्रवेश करता है उसी प्रकार (चम्बो.) चमसों
या धौ और पृथिवी में और आत्मा मस्तक के दोनों भागों में (विशट्)
प्रवेश करता हुआ, (हरि) सब तमोमय बाधाओं को दूर करता हुआ
(चनेपु) सेवन करने योग्य स्थान, हृदय में (सद) स्थिति (दधिपे)
प्राप्त करता है । प्रधानन्द, आत्मानन्द या योगज सुख का समान रूप
से वर्णन है ।

[५१४] प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।

अंशा पयसा मदिरौ न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥

श्र० ६ । १०७ । २९ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों
के अथवा परमेश्वर के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अर्णसा) जल के
समान ज्ञान, विशेष अनुभव, या प्राणशक्ति से (सिन्धु० न) महान् नदी
या समुद्र के समान (पिप्यसे) बढ़ता है । और (मदिरः) हर्ष का
उत्पादक, (जागृवि) निरन्तर जागने वाला, (अंशोः) व्यापनशील
आत्मा के (पयसा) ज्ञान या स्वाभाविक आनन्द रस से मिलकर
(मधुश्चुर्न) मधुर आत्मज्ञान को बहाने वाले (कोश) आनन्दमय कोश
या परमसुख की निधि (अच्छ) प्राप्त हो ।

मधु और देवों के मधुच्युत् कोश का वर्णन अथर्ववेद और बृहदारण्यक
(बृहदा० उप० अ० २ । ५) में उत्तम रूप से वर्णित है ।

[५१५] सोम उ प्वाण सोतमिरधिष्णुमिरचीनाम् ।

अश्वमेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥

श्र० ६ । १०७ । ८ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (सोतृभि.) सवन करनेहारे साधकों द्वारा (अवीनां) इन्द्रियों के (अधिष्णुभि.) मार्गों से (स्वानः उ) सवन किया जाता हुआ (हरितया) गतिशील (अश्वया) व्यापक चेतना से (मन्द्रया) आनन्दजनक (धारा) प्रवाह के रूप में (याति) हृदय में प्रकट होता है और (मन्द्रया धारया याति) उत्तम अश्व के समान आनन्दजनक धारा के रूप में प्रकट होता है अर्थात्, जैसे राजा तेज घोड़ी पर घुड़की चाल से चलकर नगर में सर्वत्र जाता है उसी प्रकार (सोम) आत्मानन्द भी मन्द्रा-धारा से हृदय में प्रकट होता है ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २
[५१६] तवाहं सोम शरणं सख्य इन्द्रो दिवेदिवे ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ २ २ उ २ ३ उ १ २
पुरुषो यन्नो निचरन्ति मायव परिधी रति तौ इहि ॥६॥

अ० ६। २०७। २६ ॥

भा०—हे (सोम) परम रस ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (अह) मैं (इन्द्र) आत्मा (शरण) निरन्तर रमण करूं । हे (यन्नो !) समस्त प्रजा के भरण पोषण करने हारे ! (पुरुषो) ये इन्द्रियां या प्रजायें (मा) मुझ को (नि-अव चरन्ति) नीची धृत्तियों में न दौड़ती हैं । इसलिये (तान्) उन (परिधीन्) चारों ओर से घेरे हुए वैरी रूप इन इन्द्रियों को (अति इहि) पार करके, वश करके उनपर विजय कर जिससे वे विषयरसों में न भागकर भीतरी आनन्द की ओर ही अन्तर्मुख होजायें ।

उ १ २ उ १ २ २ २
[५१७] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वासि ।

उ २ उ १ २ उ १ २ ३ २ ३ १ ३ उ ३ ३ २ ३
रयि पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्पसि ॥ ७ ॥

अ० ९। १०७। २१ ॥

भा०—हे (सुहस्त्या) उत्तम हाथ की अंगुलियों के समान दशप्राण साधनों से युक्त ! अथवा अज्ञान को उत्तम रीति से हनन करनेहारे कुशल ! (सोम) आयन् । तू (समुद्रे) समुद्र, आनन्द-रस के उत्पत्तिस्थान हृदया-काश में (मृज्यमानः) पवित्र होता हुआ (वाच) व्यक्त वेदवाणी को (इन्वासे) प्रेरित करता है । हे (पवमान) हृदय को पाप से शून्य, एवं पवित्र करनेहारे ! आप (पिशङ्ग) पीले, सुवर्ण के समान कान्तिमान । (बहुलं) अति अधिक (पुरुस्पृहं) प्रजाओं और इन्द्रियों के स्पृहा, अभिलाषा के विषय (रथि) मोक्ष पदार्थ, ऐश्वर्य विभूति को (अभि अर्पसि) स्वतः व्यापता है ।

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[५१८] अभि सोमास आयव. पवन्ते मद्यं मदम् ।

■ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ■ १ २

समुद्रस्या धिविष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः । ८॥

अ० ९ । १०७ । १४ ॥

भा०—(सोमासः) सोम=सौम्य स्वभाव के, शान्त, तपस्वी (आयव) दीर्घजीवी, (मदच्युतः) हर्ष, सुख का प्रकाश करनेहारे मौजी (मत्सरासः) स्वयं गौरव से परिपूर्ण, आनन्दयुक्त, (मनीषिणः) मन को अपने घरा करने हारे, योगी जन (समुद्रस्य) डमड़ते हुए आनन्दसागर की (अधिविष्टपे) चरम सीमा में स्थित होकर (मद्यं) हर्षजनक (मदं) आनन्दरस को (अभि पवन्ते) चारों ओर बहाते या साक्षात् करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २

[५१९] पुनान सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २

त्वं विप्रो अमचोङ्गिरस्तम मध्वा यदं मिमिक्ष नः ॥६॥

अ० ९ । १०७ । ६ ॥

५१८—'अधिविष्टपि', 'मत्सरास स्वर्दिः' इति अ० ।

५१९—'जागृविरव्यो' 'वारै' अभिर्गोमिरस्तमो' 'मिमिक्ष नः' इति च अ० ।

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (जागृविः) जागरणशील, (अध्या)
अवि, चेतना या प्राण ■ (वारैः) घृत्तियों, चेष्टाओं या ऊहापोहों द्वारा
(पुनानः) पवित्र करना हुआ (प्रियः) सबका प्रिय, (विप्रः) मेधावी,
(त्वं । तू (अङ्गिरस्तमः) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस
में (परि असवः) प्रकट होता है । तू (न. । हमारे (यज्ञं) जीवन-यज्ञ
को (मध्वा) उस आनन्दरूप मधु से (मिमिक्ष) सँच दें, भर दें ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५२०] इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।

३ १ २ ■ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तर्मी मृजन्त्यायवः ॥ १० ॥

अ० ६। १०७। २७ ॥

भा०—(सुतः,) सोमरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ,
परिष्ठांवा हुआ (मदः) आनन्दस्वरूप (सोमः) सोम (मरुत्वते) प्राणों,
प्रजाओं और मध्यस्थानीय मरुद्गण के अधिपति (इन्द्राय) आत्मा, राजा
और परमात्मा के लिये (पवते) बहता है । वह (सहस्रधारः) सहस्रों
शक्तियों के रूप में (अव्यम्) अवि=चेतनामय मन-साधन को (अति)
अतिक्रमण करके (अर्पति) प्रकट होता है । (तम्) उस (ई) इस सोम
रस को (आयवः) परम आयु से सम्पन्न साधक लोग (मृजन्ति) और
भी परिष्कृत करते हैं । अवि मेरी रूप चेतना का वर्णन अथर्व में विस्तार
से है । जैसे—अविर्दे नाम देवतर्त्तेन परीषुता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा
हरिता हरितक्षतः । अथर्व० (१०८। ३१)

इसीका वर्णन वशा, ब्रह्मगवी, मेपी, शतौदना, मधुकशा आदि नाना
नामों से वेदों में आया है । वही सप्तर्षियों की ब्रह्मयवती ■ जिसका सोम
वत्स और छन्दः पात्र है, पात्र और तप उसका दूध है । इत्यादि । अथर्व०
८। १० (४) १४ ॥

[५२१] ^{१ २}पवस्व ^{३ १ २ ३ १ २}वाजसानमोऽभि ^{२ २ ३ १ २}विश्वानि ^{३ १}वार्या ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २}त्वं समुद्रः ^{३ १}प्रथमे ^{३ १}विधर्मन् ^{३ १}देवेभ्यः ^{३ १}सोम ^{३ १}मत्सरः ॥११॥

ऋ० ६ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मानन्द ! (विश्वानि) समस्त (वार्या) आवरणकारी बाधाओं को (अभि) मुकाबला करके, उनको हटाकर (वाजसानमः) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर (पवस्व) प्रकाशित हो। (त्वं) तू हे (सोम) परमरस ! हे (विधर्मन्) नाना प्रकार से पोषण करने वाले (मत्सरः) आनन्द रस में बहने वाला, (समुद्रः) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला (देवेभ्यः) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी (प्रथमे) श्रेष्ठ कर्म, मुख्य उपदेश (पवस्व) प्रकट हो ।

[५२२] ^{१ २}पवमाना ^{३ २ ३ २ ३ १ २}असृक्षत ^{३ १ २}पवित्रमतिधारया ।

^{३ १ २}मरुत्वन्तो ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३}मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋ० ६ । १०७ । २५ ॥

भा०—(पवमानाः) पवित्र, परिशोधित किये गये, (मत्सरा.) आनन्दरस में विचरण करने वाले (धारया) अपनी धारणा के बल से (पवित्रं) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान (अभि) अतिक्रमण करके (मरुत्वन्तः) मरुत्, प्रायों से युक्त (इन्द्रियाः) आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त (हया.) गतिशील ज्ञानी होकर (मेधाम्) मेधा (प्रयांसि) और बलों को (अभि) साक्षात् प्राप्त करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

५२१—'वाजसानये' 'काव्या' 'समुद्र' इति ऋ० ।

५२२—'पवमाना' 'अभिप्रयांसि' इति ऋ० ।

॥ ५० ४ ॥ ऋषिः—१, ९ सप्तमाः काण्वः । २ वृषगो वामिष्ठः । ३, ७ पराशरः
शाक्यः । ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५, १० मनस्वो देवोदासिः ।

प्रत्नगवः काण्वः । पचमानो देवता । त्रिष्टुप् । देवतः ॥

[५२३] प्र तु द्रव परि कोशं निपीद नृभिः पुनानो अभिवाजमर्थं ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छ्रायर्हि रश्मनाभिर्नयन्ति ॥१॥
अ० ६। ८७। १ ॥

भा०—हे (सोम) परम आनन्दरस ! (प्र द्रव) तू चरित हो । और
(कोशं) कोश, ग्रन्थारण्य, मूर्धास्थान को (परि निपीद) व्यास करके वि-
राजमान हो और (नृभिः पुनानः) विद्वान् पुरुषों से पवित्र या विवेचित,
परिशोधित होकर (वाजम्) ज्ञान के प्रति (अभि अर्थ) साक्षात् प्रवाहित
हो, ज्ञान को प्राप्त हो । (वाजिन) गलवान्, वेगवान् (अश्व न) अश्व को
जिस प्रकार (मर्जयन्तः) परिमार्जन करते हुए, झड़ते पोंछते हुए, या
सान्त्वना देते हुए (रश्मनाभिः) धारों से पकड़ कर संग्राह में ले जाते हैं
वसी प्रकार (वाजिनं) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप आत्मा को परिमा-
र्जन, या शोधन करते हुए (रश्मनाभिः) योगसाधनाओं से (यर्हिः)
हृदयरूप यज्ञ में या वृक्ष मण्ड में (नयन्ति) लेजाते हैं ।

[५२४] प्र काव्यमुजनेव ब्रुवाणो देवो देवाना जनिमाविचक्ति ।
महिमतः शुचिवन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् २
अ० ९। १७। ७ ॥

भा०—(उशना इव) विद्वान् मेधावी, सोम्यस्वभाव, (देवः) विद्वान्,
सुखप्रद होकर (काव्यं) सुन्दर काव्य, वेदज्ञान या संसार के रहस्य को
(प्र ब्रुवाणः) उत्तम रीति से वर्णन, उपदेश करता हुआ (देवानां) वरुणों,
रुद्रों और आदित्यों, एवं इन्द्रिय गण, और प्राण अपानादि नव प्राणों के

(जनिम्) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को (आ विवक्ति) स्पष्ट रूप से बत-
लाता है । और (महिघ्नतः) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला,
(शुचिवन्धु.) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बाधने द्वारा, सब
पवित्र हृदयों का बन्धु, (पावकः) सबको पवित्र करने द्वारा, अभिस्वरूप
(वराह = वर-आह.) श्रेष्ठ उत्तम वाणी का बोलने द्वारा (रेभन्) उत्तम
ज्ञानोपदेश करता हुआ (पदा) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम
स्थानों, ज्ञानदशा और सुखप्रद दशाओं को (अभि एति) प्राप्त होता है ।

‘उशनाः—वशे, कनसिरौश्यादिः । वश कन्तौ अदादि ।

[५२५] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्भूतस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम् ।

गावो यन्ति गोपति पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतया

वाचशानाः ॥ ३ ॥

अ० ९ । ३४ ॥

भा०—(वह्नि) ज्ञान का वहन करने वाला (तिस्र वाच) अग्नि,
यजुः, साम स्वरूप तीन वेदवाणियों को । प्र-ईरयति) उत्तम रूप से प्रकट
करता है । (अतस्य) सत्य, ज्ञान और यज्ञ को धारण करने वाली
(ब्रह्मण) ब्रह्म या वेदज्ञ की (मनीषा) मनको प्रेरणा करने वाली
वाणी स्तुति को भी प्रेरित करता है । जिस प्रकार गौपं गोपाल के पास
आजाती हैं उसी प्रकार (गावः) गोरूप वेदवाणियां मानो अपना रहस्य-
तत्त्व (पृच्छमाना.) पूछती हुई (गोपति) वेदवाणियों के परिपालक
'विद्वान्' के पास (यन्ति) पहुंच जाती हैं (मतया) मननशक्तियां या
सुन्दर विचार धाराएं भी (वाचशाना.) अपने अनुकूल पातक की कामना
करती हुई (सोम) उस शम, दम आदि गुणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी के पास
(यन्ति) चली जाती हैं ।

अपि शारक के मत से वह्निरात्मा भवति । स तिस्रो वाच ईरयति
‘प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम् । अतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि ।

अयमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात्-बहि आत्मा है । वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या, मति और बुद्धि को । अतः अर्थात् आत्मा के कर्म ब्रह्म को अभिमत हैं । यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है । विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्त्व, बुद्धि अर्थात् अहंकार, मन अर्थात् प्रधानता से पाँचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनको प्रेरित करता है । अतः आत्मा को धारण करने वाली मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है । इन्द्रिय रूप गौण गोपति आत्मा से उसको पूछती । अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना से वसी में तीन हो जाती है ।

ॐ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ० ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ।
[५२६] अस्य प्रया हेमना पूयमानो देवा देवेभिः समपृक्त रसम् ।

ॐ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ०
सुतः पवित्रं पर्येति रेमन् मितेव सद्यः पशुमन्ति होता॥४॥

अ० ६ । १ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस विद्वान् आत्मा के (प्रया) प्रेरण करने वाले (हेमना) स्वर्ण के समान कान्ति वाले तेज से (पूयमानः), पवित्र, परि-
शुद्ध होता हुआ (देवः) अति दीप्तिमान्, या सबको आनन्दरस का देने
हारा, (देवेभिः) इन्द्रियगण के साथ (रसं) आनन्द का (सम् अपृक्त)
सम्पर्क करा देता है । उस आत्मा (सुतः) वह आत्मा होकर (रेमन्)
उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनादित एवमि जाता हुआ (पवित्रम्)
परम पावन पद को (परि-पुति) प्राप्त होता है और (मितेव) जिस
प्रकार कार्यकर्ता आकर (पशुमान्तः) पशुओं से युक्त (सद्यः) घर में
जाता है और पशु को जोतकर रथ में लगाता है उसी प्रकार वह (होता),
साधक (मितेव) ज्ञानी होकर (पशुमन्ति) पशुरूप इन्द्रियगण से युक्त,
(सद्यः) इस शरीर को (परि-पुति) पूर्य कर लेता है । सोमरस

प्रादुर्भाव होने पर साधक की वृत्तियाँ स्वयं ससार के भोगों से विरत होकर आत्मानन्द में लग जाती हैं, उसी दशा को दर्शोष्ण गया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ॥
[५२७] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवां जनिता पृथिव्या ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितात विष्णोः ॥५॥

अ० १ । १६ । ५ ॥

भा०—(मतीनां) सब मनोवृत्तियों का (जनिता) प्रादुर्भाव करने हारा, (दिवां) सूर्य के समान प्रकाशमान, तेजः पुष्प का (जनिता) उत्पादक, (पृथिव्या) पृथिवी के समान विस्तृत त्वचा का (जनिता) उत्पादक, (अग्नेः) अग्निरूप वायु का (जनिता) उत्पादक, (सूर्यस्य) सूर्यरूप चक्षु का (जनिता) उत्पादक, (इन्द्रस्य) प्राणरूप इन्द्र का उत्पादक, (विष्णोः) सर्वव्यापक आकाश के समान ओत्र या हृदयाकार का (जनिता) उत्पादक यह (सोम) आत्मा (पवते) प्रकट होता है । (देखो निरुक्त यास्क परि० २ । २२)

समष्टि व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड में परमात्मा और पितृ में आत्मा समा नरूप से स्पष्ट हैं । इसका विवरण देखो (कौपीतकी ब्राह्मणोपनिषद् अ० १, प्रतर्दनेन्द्र संवाद)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५२८] अभि त्रिपृष्ठं वृषयं वयोऽधामङ्गोपिणमवावशन्त वाणीः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसाना वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥

अ० ॥ १० । २ ॥

भा०—(वाणी) वेद की वाणियाँ, या आत्मा का निरूपण करने वाली सब वाणियाँ । त्रिपृष्ठं) वाणी, मनः और काय तीनों स्थानों पर स्पर्श करने वाले, (वृषयं) सब सुखों, ज्ञानों और बलों के वर्धक, (वयोः—धाम्) प्राणरूप बल को धारण करने वाले, (अङ्गोपिणम्)

प्रत्येक भङ्ग में निवास करने वाले, आत्मा को (अभि वाचशान्त)
नित्य कामना करती है अर्थात् अपना सब गुप्त रहस्य उसी के
प्रति प्रकट करती है और वह (वना) सब देहों में (वसानः)
निवास करता हुआ (धरुणः) सबको व्याप्त करने वाला, सबके
धरुण योग्य, नदियों के लिये, (सिन्धुः न) महासमुद्र के समान
(वार्याणि) सबके मनन हरने हारे, धरुण योग्य धनों को (रत्नधा) रत्नों
को धारण करनेद्वारा, होकर (वि-दयते) नाना प्रकार से प्रदान करता या
पालन करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ ३ १२ २२ १ २
[५२६] अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।

१ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वृषा पवित्रे अभिसानो अभ्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अधिः ॥७॥

६ । ६७ । ४० ॥

भा०—(बृहत् सोमः) वह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और
उत्पादक परमात्मा और आत्मा (स्वानः) आवाज होता हुआ (अधि)
कभी न टूटने वाला, अभेद्य, नित्य, अमर आत्मा (वृषा) सब सुखों के
वर्षाने हारा, (अभ्ये) अविनाशी, चिन्मय (पवित्रे) सबको पवित्र करने
हारे (सानोः अधि) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में या मूर्धा प्रदेश में (वावृधे)
बढ़ता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है । वह (समुद्रः) समुद्र के
समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, (प्रथमे) अति उत्कृष्ट
(विधर्मन्) नाना आश्रयस्थानों में या अन्तरिक्ष स्थानों में वा इन्द्रियों के
छिद्र देशों में (प्रजाः) अपनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, (जनयन्)
उत्पन्न करता हुआ, (भुवनस्य) इस ब्रह्माण्ड और इस देह का (गोपाः)
पालक (अक्रान्) सबको छाँव कर बैठा है, वह सबसे परे विद्यमान है ।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने जगाया है (यास्क परि० ■ अ०) ।

[५३०] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २} कनिष्कन्ति हरिरासृज्यमान सीदन्वनस्य जठरे पुनानः ।

^{१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजे गामतां मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥

अ० ६ । ६५ । १ ॥

भा०—(आसृज्यमानः) सब ओर से प्रकट होना हुआ (पुनानः) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर (हरिः) सर्वव्यापक, आत्मा (वनस्य) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के (जठरे) मध्य भाग में (सीदन्) विद्यमान, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा, (यतः) संयत होकर (गाम्) चाखी को (निर्णिजे) अति शुद्ध, परिमार्जित (कृणुते) कर देता है । (अतः) इसलिये आप लोग (स्वधाभिः) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व=आत्मा को धारण करनेवाली चित्ति शक्तिद्वारा (मतिं , मनन, विचार (जनयत) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो ।

[५३१] ^{३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} एष स्य ते मधुर्मा इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १} सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तम बहिरावाज्यस्थात् ॥९॥

अ० ■ । ८७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आरामन् ! (वृष्ण) वर्षणशील (ते) तेरे लिये (एषः एषः) यह वह (सोमः) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस (वृषा) आनन्द का वर्षक (मधुमान्) अमृतज्ञान रूप मधु से युक्त (पवित्रे) पवित्र ज्योतिर्मय रूप में (परि अक्षाः) चारों ओर से संचित होता है । वह (सहस्रदाः) हजारों सुखों का देने वाला, (शतदाः) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, (भूरि-दावा) बहुत आनन्द को देने वाला, (शश्वत्तमं) निरन्तर, स्थायी, नित्य, (बहिः) महान् आत्मा में (वाजी) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है ।

[५३२] ^{१ २}पवस्व ^{३ १ २}सोम ^{३ २}मधुर्माँ ^{१ २}क्रतावापो ^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २}वसानो अधि ^{३ १}सानो ^{३ १ १}अव्ये ।

अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सरः इन्द्रपानः ॥१०॥

अ० ६।६६।१३॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (मधुमान्) मधुर ब्रह्मरस से युक्त, (क्रतावा) सत्यज्ञान से युक्त, (सानोः अधि) हृदय देश या मस्तक भाग में (अव्ये) अवि-चेतना या प्राण के बने चित्त पर भी (अपः) ज्ञान ज्ञान वृत्तियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ । (घृतवन्ति) दीप्ति या ज्योति से सम्पन्न (द्रोणानि) कलशों, मस्तकों में (मदिन्तमः) अति आनन्द या आत्मा में संतोष उत्पन्न करने वाला (मत्सरः) हर्ष रूप में हृदय में स्थापने वाला (इन्द्रपानः) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर (अव रोह) नीचे की ओर बह आ ।

इति चतुर्थी दशतिः । पष्ठः खण्डः ।

॥ ६० ५ ॥ अवि — १ प्रतर्दनः । २, १० पराशरः शाक्यः । ३ इन्द्रप्रमत्तिर्वा-
मिष्ठः । ४ वमिष्ठो मैत्रावरुणः । ५ कर्णश्रुर् मृडीको वा वासिष्ठः । ६ नोभाः गौतमः ।
७ कण्वो थोरः । ८ मन्युर्वासिष्ठः । ९ कुत्स आह्निरसः । ११ कश्यपो मारीचः ।

१० प्रस्कम्बः काण्वः ॥ पवसानो देवता ॥ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

[५३३] ^{१ २ ३ २ २ ३ १ २}सेनानीः ^{३ १ २ ३ १ २ ३}शूरो ^{१ २}अग्रे ^{३ १ २ ३ १ २}रथानां ^{३ १ २}गव्यजेति ^{३ १ २}हर्षते ^{३ १ २}अस्य ^{३ १ २}सेना ।

भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहृद्वान्तसस्त्रिभ्य आ सोमो वरुणा रमसानि दत्ते ॥१॥

अ० ६।६७।१॥

भा०—(सेनानीः) सेना का नायक, (शूरः) वलवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार (रथानां अग्रे) रथों, रथारोही सैनिकों के आगे (गव्यन्) पृथिवी के विजय के लिये (अ एति) आगे बढ़ता है और

५३२—'वृषावृष्णो' 'सहस्रसाः कृत्सा' इति अ० ।

(अस्य सेना) इसकी सेना (हर्षते) उत्साह से प्रसन्न होती है, वह (सोम०) वीर राजा (सखिभ्यः) अपन मित्रों के लिये (भद्रान्) अति कल्याणकारी, सुखदायक (इन्द्र-हवान्) ऐश्वर्ययुक्त रागोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों का (कृण्वन्) करता हुआ (रभसानि) अति वेग वाले (वज्रा) डक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को (आदत्ते) हटा देता है उसी प्रकार (सेनानी०) इन्द्रियगणों का नेता (रथानासु अग्रे) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर (गन्धन्) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आत्मभूमियों पर धरा करता हुआ (प्रपुति) आगे बढ़ता है । (अस्य सेना हर्षते) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं । (सखिभ्यः) मित्र साधकों या प्राणगण को वह (भद्रान्) ऐश्वर्ययुक्त (इन्द्रह-वान्) आत्मा के ज्ञाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ (रभसानि वस्त्राणि) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों को (आदत्ते) दूर कर देता है । इन्द्रिया तन्मुख होजाती हैं । इन्द्र अर्थात् आत्मा के संस्मरण उस समय मंगल-जनक जंचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[५३४] प्र ते धारा मधुमतीरसुग्रन्थारं यत्पूतो अत्येज्यव्यम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

पवमान पवसे धाम गोना जनयन्त्सूर्यमग्निवो अर्के ॥ २ ॥

अ० ६ । ॥ ५३४ ॥ २१ ॥

भा०—हे सोम आनन्दमय ! (मधुमती०) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई, ब्रह्मज्ञान की (ते धाराः) तेरी रस-धाराएं तब (प्र अस्तमन्) खूब उत्पन्न होती हैं (यत्) जब तू (पूत०) छूने हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर (अज्यम्) प्राणमय कोश में से (अति पृथि) पार होकर प्रकट होता है । (पवमान) पवित्रकारक ! (गोना) इन्द्रियों के

५३४—'अत्येज्यव्यान्' 'जगान्' इति अ० ।

भीतर तू अपना (धाम) तेजो रूप रस- (पवसे) जुआता है और वहां प्रकट होकर (अर्कैः) अपनी पवित्र किरणों से (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को (अर्पिन्वः) आनन्दरस से पूर्ण करता है । इस दशा में आदित्य के समान साधक तमतामाता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५३५] प्र गायताभ्यर्चाम देवान्सोमं दिनोत महने धनाय ।

३ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

स्वादुः पवतामतिवारमन्यमासीदतु कलश देव इन्दुः ॥३॥
अ० ६ । ६० । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (महते) बड़े भारी (धनाय) सजाने के प्राप्त करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से स्तुति गान करो । और (देवान्) विद्वानों की हम (अभि अर्चाम) सब प्रकार से अर्चा, पूजा, सत्कार और प्रार्थनों की माधना करें । (सोमं दिनोत) सोम, आत्मानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो । (अभ्यं वार) प्राणमय आवरण को (अति) पार करके (स्वादुः) आनन्दकारक आनन्दरस (पवताम्) प्रक्षवित हो और (इन्दुः, देवः) वह प्रकाशमान, ऐश्वर्यवान् देव (कलशं) इस घट, देह हृदयाकाश, या सोलहोंकला वाले आत्मा में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर, (आसीदतु) राष्ट्र में राजा के समान आ विराजमान हो ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिपन्नयासीत् ।

३ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥
अ० ६ । ६० । १ ॥

भा०—(हिन्वानः) सबको प्रेरण करने वाला, (रोदस्योः जनिता) सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों उत्पादक, या प्रेरक

५३५—'स्वादुः पवते' 'देवसुनः' इति ।

५३६—'सनिष्यन्' इति ।

(वाजं सनिपन्) ज्ञान, बल और शक्त का विभाग या प्रदान करता हुआ
 (रथ. न) रथ, या रमणीय सूर्य के समान योगी या स्वच्छ आत्मा (प्र
 अयासीत्) उत्कृष्ट मार्ग से गति करता है और (आयुधा) उत्तम हथि
 पार, योगसाधनों से (इन्द्रम्) आत्मा या परमात्मा की ओर (गच्छत्)
 जाता हुआ (सशिशानः) अच्छी प्रकार और भी तीव्र, प्रखर तेजस्वी
 होता हुआ (विश्वा वसु) समस्त जीवन के वास हेतु सम्पदाओं को
 (हस्तयो०) अपने वश में (आदधानः) करता हुआ (प्र अयासीत्)
 आगे २ बढ़ता चला जाता है ।

[५३७] तच्चद्यदी मनसो वेनता वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं शुशोरनीके ।

आदीमायन्वरमावावशाना जुष्ट पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥
 अ० ६ । ६७ । २२ ॥

भा०—(वेनत०) कान्तिमान्, अज्ञान, तम से पार जानी (मनस०)
 मननशील योगी की (वाग्) वाणी (यदि) जब आनन्दरस को (ज्येष्ठस्य)
 इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा के (धर्मन्) धारण करनेहारे, (शुशो०) प्रदीप्त,
 प्रकाशित तेज के (अनीके) प्रमुख स्थान में (तच्चत्) प्रकट करता है ।
 (आत्) तब (वर्षं) वर्षण करने योग्य (जुष्ट) सेवनीय, (पतिं) अपने पालक
 (इन्दुम् ई) इस हृदय में साक्षात् दबित होने वाले आनन्दमय ~~रस~~ के पास
 (गाव) इन्द्रिय या प्राणगण (आ वावशाना०) अत्यन्त कामना करती
 हुई गौओं के समान (आयन्) आजाते हैं । आनन्द रस के वर्षण में जब
 वाणी मग्न होजाती है तब और इन्द्रिय वृत्तियाँ भी अन्तर्मुख होजाती हैं ।

[५३८] साकमुक्षा मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुषी ।

हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणे ननक्ष अत्यो न वाजी ॥६॥
 अ० ६ । ६३ । १ ॥

५३७—'धर्मशुशोरनीके' इति अ० १ ।

भा०—(धीरस्य) ध्यानवान् योगी की (साकमुद्यः) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सेवन करने वाली (दश स्वसारः) दश बहनों के समान स्वयं सरण करनेहारी दश (धनुत्रीः) प्रेरण करने वाली (धीतियः) ध्यानवृत्तिया, इन्द्रिया, या स्तुतिया (मर्जयन्त) आत्मा को निरन्तर अधि-काधिक पवित्र करती हैं । (हरिः) सब दुःखों को हरण करनेहारा आ-त्मानन्दरस (सूर्यस्य) कान्तिमान्, मुख्य, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा के (जाः) स्त्रियों के समान उसके अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों के प्रति (पर्यदधत्) बढ़ता है । और वह स्वयं (आस्यः न वाजी) वेगवान् अश्व के समान (घोषं) पात्र या कलश में सोम रस के समान होनेवाली आत्मा में (ननचे) व्याप्त हो जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[५३६] अभियवस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्द्धन्तं धियः सुरे न विशः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अपा घृणानः पवतं कवीयान्व्रजं न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

अ० ६ । ६४ । २ ।

भा०—(वाजिनि-इव शुभः) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देते हैं और (सुरे न विशः) जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के समक्ष प्रजा के लोग भेट चढ़ाने में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार (विशः) अन्तःप्रवेश करनेहारी (शुभः) शोभा-दायक, कल्याणकारिणी (धियः) चित्तवृत्तिया भी (अरिमन्) इसक राजा रूप आत्मा के समक्ष [अधि स्पर्द्धन्ते] एक से एक बढ़ने का यत्न करती हैं । और (मन्म) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले (व्रजं न) गौवों के बाड़े में गोपालक (पशुवर्द्धनाय) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार (कवीयान्) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

आत्मा (अपः वृणान.) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ (पशु-वर्धनाय) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति को बढ़ाने के लिये (मन्म) मनोमय सकल्पमय (ब्रज) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद, आत्मस्वरूप ब्रह्म में (पचते) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ■ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५४०] इन्द्रुर्वाजी पचने गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ■ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कुण्वन्वृजनस्य राजा ॥६॥
श्र० ६ । ६० । १० ॥

भा०—(वाजी) ज्ञान और बल से सम्पन्न (इन्दुः) हृदय में व्यवशील (सोम.) आत्मानन्दरस (मदाय) आनन्द इर्ष की वृद्धि करने के लिये (सह.) सहन करने योग्य बल को (इन्द्राय) आत्मा में (इन्वन्) प्रेरित करता हुआ (गो नि ओघा) रश्मियों या ज्ञान वाणियों, स्तुतियों को नीची तरफ बढ़ाने वाला होकर चन्द्र के समान अथवा दुग्ध-मिश्रित सोमरस के समान (पचते) चरित होता है । उस समय वह आनन्दरस (रक्ष) आत्मोन्नति के बाधक, विघ्न करने वाले, कारण को भी (बाधते) दूर करता है और (पर्यरातिं) प्रिय न लगने वाले अभिय कारण को (परि बाधते) दूर करता है । (वृजनस्य) समस्त बल का (राजा) स्वामी होकर वही (वरिव.) वरणीय आत्मगुप्त धन, अग्निमादि सिद्धि और नववृष्टियों को (कुण्वन्) प्रकट करता है ।

१ २ ■ १ २ ३ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४१] अया पवा पवस्वैना वसुनि मांश्चत्व इन्द्रो सरसि प्रधन्व ।

३ १ ३ ३ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ २
वभश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमं धाश्चित्तकव नरं धात ॥६॥
श्र० ६ । ६० । १२ ॥

५४०—‘पर्यरातीर्वरिवः’ इति श्र० ।

५४१—‘वभश्चिद्यस्य वातो न जूतिः’ इति श्र० ।

भा०—हे (इन्दो) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! (अथा) इस (पवा) पवित्र करने वाली धारा से (एना) इन (वसुनि) वास या जीवन के साधन प्राण या ऐश्वर्यों को (पवस्व) प्रेरित कर, प्रकट कर । हे (इन्दो) सोम ! (माश्रत्वे) मन एकमात्र गमनस्थान, मनोहर (सरसि) जलाशय में जल के समान, कलश में ओषधि रस के समान, मानस हृदय में (प्रधन्व) द्रवित हो । (वस्य) जिस तेरे (जूर्ति) वेग को (ब्रह्मः) सूर्य समान रश्मियों और आकर्षण से अपने साथ इन्द्रियों को बांध रखने वाला आत्मा (धित्) भी । वातः न) वायु के समान (धात्) धारण करता है और (पुरुमेधाः) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक (नरं) नायक आत्मा को । तकधे) परमपद तक पहुँचाने के लिये (धात्) धारण करता है ।

ब्रह्मः—ब्रह्मातेरौद्यादिर्नक्, बन्नेस्व ब्रज्जादेशः (उद्या० ३ । ५)

उ२२ २५ ३ १ २ २ ३ १२ २२ ३ २
[५४२] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापा यद्भर्माऽवृणीत देवान् ।

१२ ३ २ २ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥

अ० ६ । ३० ४१ ॥

भा०—(महिषः) महान् आत्मा (महत्) बड़ा भारी कार्य तो (तत्) यह (चकार) करता है (यद्) कि (अथा गर्भः) सब कर्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपने भीतर ग्रहण करने । समर्थ होकर (देवान्) सब इन्द्रियों को (अवृणीत) अपने भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है । (पवमान) व्यापनशील प्राण (इन्दे) आत्मा में (ओजः) बल और तेज (अदधात्) प्रदान करता है । यत्) जिससे (इन्दुः) शरीर में व्यापक एवं द्रवणशील वीर्य, (सूर्ये) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्य प्राण में (ज्योतिः) प्रकाश, कान्ति, को (अजनयत्) उत्पन्न करना है ।

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[५४३] असर्जि वक्त्रा रथ्ये यथाजौ धियामनाता प्रथमामनीषा ।

२ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दश स्वसारो अत्रि सानो अग्रे मृजन्ति वाङ्मे सद्ने वञ्छ ॥११॥

ऋ० ११ । ६१ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्ये) रथों से विजय करने योग्य (आनौ) संग्राम में (धिया) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्वक (वक्त्रा) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति (असर्जि) नियत किए जाता है, उसी प्रकार इस (रथ्ये) शरीर-साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाले पुरु से दूसरे देह में जान वाले आत्मा के हितकारी (आनौ) योग साधनों के यज्ञ रूप संग्राम में (धिया) ध्यान, धारणा द्वारा (वक्त्रा) ओंकारादि जप और स्तुति मन्त्रों को बोलने वाला साधक ही (असर्जि) सेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं (प्रथमा) सब से श्रेष्ठ, (मनीषा) मन या मनन करने वाले साधन की ईषा-प्रेरणा, चेष्टा की आश्रय वित्त शक्ति है जिसमें (मनोता) मनकी सब वृत्तिया ओत प्रोत हैं। (अत्रि सानो) अति उत्तम प्रदेश में—(दश स्वसार) दश बहनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने वाली दश प्राण वृत्तिया (वाङ्मे) सबके बहन करने वाले आत्मा को (मृजन्ति) परिष्कृत, सुशोभित करती हैं और (सद्नेषु) अपने २ स्थानों में (वञ्छ) प्राप्त होती हैं।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४४] अपामिनेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नमस्यन्तीरुप च यन्ति शं चाचविशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥

ऋ० ॥ । ९६ । ॥

भा०—(मनीषाः) मनन करने वाले आत्मा की ईषा अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही (अपा उर्मय इव) जलों की तरङ्गों के समान,

५४३—‘प्रथमो मनीषा’ ‘सद्नानि’ इति ऋ० ।

प्राणों की तरङ्ग (तर्तुराणाः) अति वेगवती होकर (सोमं) आनन्द-
रस रूप आत्मा को (अच्छ) उत्तम रीति से (प्र-ह्वरते) द्रवित
करती है । वे ध्यानमयी बुद्धिवृत्तियाँ ही (नमस्यन्तीः) उस आत्मा को
आवर से नमस्कार करती हुई, उसके प्रति झुकती हुई, अन्तर्मुख होकर
(उग्रान्तम् उग्रतीः) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के
समान, मानो स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के
समान चमकती हुई स्वयं वे (उग्रान्तम् प्रकाश के पुंजस्वरूप आत्मा को
ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही (सं विशन्ति च) लीन हो
जाती हैं, उसके संग सो सी जाती हैं । और (आ च विशन्ति) उसी रूप
में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं ।

इति पञ्चमी दशति । सप्तम. खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः समाप्तः ।

॥८०॥ अ० ॥ अधिः—१ आन्धीगु. दयावाभिः । २, ३ ययातिर्नाहुषः । ४ मनुः सावरणः ।

५, ८ अम्बरीषश्चजिह्वातौ । ६, ७ अमरुतः काश्यपौ । प्रजापतिर्वाइयः ॥

पवमानो देवता ॥ छन्दः—१—६, ८ अनुष्टुप् । ७ बृहती ॥ स्वरः—

१-६, ८, ९ गान्धार. । मध्यम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५४५] पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्तवे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अप श्वानं शयिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥ १ ॥

अ० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—हे (सखाय.) मित्रो ! (वः) आप लोग (पुरोजिती) आगे
बहिर्मुखता को विजय करने वाली (अन्धसः) जीवन को धारण करने वाली
शक्ति से सम्पन्न सोम के (सुताय) उत्पन्न, (मादयित्तवे) अतिपरम आनन्द-
जनक रस को प्राप्त करने और उसकी रक्षा के लिये (दीर्घजिह्वयम्) लम्बी

जीम वाले, दूर तक विषय-रस लेने हारे । अतिमृण्यालु इस (श्वानम्) कुक्कुर के समान लोभी, भोगी मनको (अप आयिष्टम्) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करो ।

■ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४६] अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्पति ।

■ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यस्यद्रोदसी उमे ॥ २ ॥

श्र० ८ । १०१ । ७ ॥

भा०—(पूषा) पुष्टिकारक, (भग०) सब के भजन सेवन योग्य, कल्याणकारी, ऐश्वर्यवान्, (रयि०) कालिभनक, परम धनस्वरूप (अप) यह (सोमः) परमानन्द (पुनानः) सब बाह्याभ्यन्तर को पवित्र करता हुआ या स्वयं-शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होता हुआ (अर्पति) द्रवित होता है । (विश्वस्य) समस्त (भूमन०) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का (पतिः) पालक होकर (रोदसी) औ और पृथिवी दोनों को (वि व्यस्यत्) अपने तेज से प्रकाशित करता है ।

॥ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४७] सुतासो मधुमत्तमा सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदा ॥ ३ ॥

श्र० ९ । १०२ । ४ ॥

भा०—(मधुमत्तमाः) आत्मारसानुभव से युक्त (मन्दिनः) आनन्द और हर्ष के जनक (सुतास०) तैयार किये, प्रकट हुए (सोमा०) परमानन्दरस और विद्वान् जन (पवित्रवन्तः) पवित्रस्वरूप को धारण करने वाले, दीप्तिदशा में वर्तमान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (अक्षरन्) चरित होते हैं । हे सोमरसो ! (व) तुम्हारे (मदा०) आनन्द, हर्ष (देवान्) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों को (गच्छन्तु) प्राप्त हों जिससे वे अन्तर्मुख हो जायें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४८] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गतुवित्तमाः ।

३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥ ४ ॥

अ० ९। २०२। २० ॥

भा०—(गतुवित्तमाः) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे,
(इन्दवः) आत्मा के प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप,
(सोमाः) ग्रहारस या योगिजन (मित्राः) हृदय अन्तःकरण के या
सब के मित्र, (अरेपसः) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, (स्वाध्यः) उत्तम
ध्यानयोग के साधक (स्वर्विदः) प्रकाश के प्रापक, सर्वज्ञता के दायक,
(स्वानाः) प्रकट होते हुए (पवन्ते) सरित्त होते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और योगियों का समानरूप से बर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४९] अभी नो वाजसातमं रायिमर्पं शतस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २

३ १ २ ३ १ २

इन्द्रो सहस्रमर्षंसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ ५ ॥

अ० १०। २८। २ ॥

भा०—हे (इन्द्रो) दीप्यमान ! सोम ! विद्यु ! (नः) हमें (वाज-
सातमं) अन्न, ज्ञान, बल को देने वाले, (शतस्पृह) लैक्यों की अभि-
क्षापा के पात्र, (सहस्रमर्षंसं) सहस्रों का पोषण करनेहारे,
(तुविद्युम्न) बहुत ऐश्वर्य या तेज से सम्पन्न (विभासहम्) विशेष दीप्ति को
भी भात करने वाले (रथि) उस दिव्य धन आत्मा का (अभि अर्प)
प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उम तक पहुच ।

५४८—सुवानाः, इति अ० ।

५४९—'अभि' 'पुस्तृहन्' 'विभासहम्' इति अ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ ■
[५५०] अभी नवन्ते अद्भुहः प्रियामेन्द्रस्य काम्यम् ।

३ २ ३ ■ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं न पूर्वं आयुनि जातं रिहन्ति मानरः ॥ ६ ॥

शु० ६ । २० । १ ॥

भा०—(मातरः) गौए, माताएं (पूर्वं आयुनि) पूर्व, बाबू अवस्था में (जातं) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बच्चे को (न) जिस प्रकार (रिहन्ति) चादती हैं, स्नेह से घूमती हैं, उसी प्रकार (अद्भुहः) समस्त संसार के प्राणियों प्रति दोह का त्याग करनेहारे, अहिंसा के पावन, साधक (इन्द्रस्य) भीतरी आत्मा (■) आयन्त कामना या स्नेह क विषय, जीवनरस के (अभी नवन्ते) निमित्त झुकते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसको स्नेह करते हैं । योग के प्रथम भंग अहिंसा का निरूपण किया है ।

‘अहिंसा, सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः’ । इति व्यासभाष्यम् ।
अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्संश्लिष्यौ वैरत्यागः सर्वप्राणिना भवति’ । (यो० सू० ।
व्या० भा०) सब काशों में सब प्रकार प्राणियों का दोह न करना अहिंसा है । अहिंसा पावन से समस्त प्राणी वैर त्याग देते ।

■ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ ■
[५५१] आ हर्यताय धृष्णवे धनुस्तन्वन्ति पौंस्यम् ।
■ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ १ २
शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिजे त्रिपामग्रे मर्हयुव ॥ ७ ॥

शु० ६ । २२ । १ ॥

भा०—(हर्यताय धृष्णवे) अति प्रेमयुक्त राजा के लिये जिस प्रकार उसके सैनिक । पौंस्यं धनु तन्वन्ति) बलयुक्त धनुष तानते हैं, जी-जान से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्जन (हर्यताय) सबके भिक्षापा के योग्य कमनीय (धृष्णवे) सब वृत्तियों को दबाने हारे, उस सोम अर्थात् आत्मा के हित के लिये (पौंस्यं) भवन्तगी दर्शने वाले (धनुः)

५५१—‘धनुस्तन्वन्ति’, ‘शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिज’ इति न० ।

धनुष कामरूप धनु को (तन्वन्ति) साधते, वश करते हैं । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते हैं उसका जप और मनन करते हैं । और (महीयुव.) महत्त्व की आकांक्षा करने वाले साधक (विषाम् अग्रे) विद्वान् मेधावी पुरुषों के समक्ष (असुराय) प्राणों के परेक हृन् आत्मा के (निर्णिजे) स्वरूप को शोधन करने के लिये (वि यन्ति) विशेष रूप से जाते हैं । पौंस्य धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पावन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थसयम. । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यस्य-
लाभादप्रतिबान् गुणान् अग्निमादीन् उत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-
माधातुं समर्थो भवति (व्यासभाष्ये) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासप्रयोग. (यो०
मू०) तस्य वाचकः प्रणवः । २७ । तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ । ततः प्रत्यक्
चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ उपस्थ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है ।
इससे वीर्य प्राप्त होता है । इससे अस्त्ररत्न वल प्राप्त होता है इसी के बल
पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में
भक्ति होती है । 'ओ३म्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र
आत्मा साक्षात् होता और सब विघ्न दूर होते हैं ।

२३ १ २ ३१४ २२ १ ३ २ ३ १ २

[५५२] परि त्य हर्यतं हरिं वसुं पुनन्ति वारेण ।

३ २४ ३ २४ ३ १ २ ३१२ २२

यो देवान् विश्वा इत्परि मदन सह गच्छति ॥ ८ ॥

श्र० ६ । सू० ९ । ७ ॥

भा०—(हर्यतं) सब के मनो को हरनेवाले अति कान्तियुक्त (हरिं)
सर्वव्यापक, सब दुःखों के हरणकारी (वसुं) कान्तिमान्, सबके भरण
प्रापण करने वाले, (त्यं) उस आत्मा को (वारेण) वरण करने वाले
भीतरी अन्तःकरण द्वारा या दोषों का वरण करने वाले प्रतिपक्ष-भावना
या वितर्क-बाधन द्वारा स्वच्छ करते हैं । (यः) जो आत्मा (विश्वान्

देवान्) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी (मदेन) आनन्द-रस के (सह) साथ (परि गच्छति) भर देता है, प्राप्त होता है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वितर्कं हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता
लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष-
भावनम् । (यो० सू० २ । ३३, ३४) । प्रतिपक्षभावना से वितर्कों के नष्ट
हो जाने पर योगी को सिद्धि के शीघ्र ही लक्ष्य प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[५५३] प्रसुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १२ २२

अप भवानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ६ ॥

अ० ६ । २०१ । २३ ॥

भा०—(अन्धस) अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले, परमा-
नन्दस्वरूप सोमरस को (प्रसुन्वानाय) उत्पन्न करने वाले साधक । लिये
प्रकट हुई (तत् वचः) उस सोम की अनाहत वाणी को (मर्त) साधारण
मरणधर्मा पुरुष जिसको अमृत, सोमरस प्राप्त नहीं हुआ, वह (वष्ट)
नहीं प्राप्त कर सकता । (भृगवः) ज्ञानप्रेम से अज्ञान और पाप को भून डालने
वाले ज्ञानी लोग जिस प्रकार (मख न) कर्मकारण को दूर कर देते हैं
उसी प्रकार (अराधसं) साधना न करने हारे, (भान) कर्मफल के लोभी
कुतूहल से समान, त्यक्तभोगों को पुनः २ चाहने वाले, वान्ताशी, वित्त को
(अप हत) मारो ।

इति षष्ठी दक्षति । अष्टमः खण्डः ।

॥ ६० ॥ अष्टिः—१—३, कविर्मर्गिणः । २ अपिगणः । ३ भिक्षता निवा-
वरीः, खि [अपि]गणो (१) वा । ४ वेणुर्वैश्यामिषः । ५ वेनो भार्गवः । ६ मारुद्वाजो
वसुः । ७ वत्सः । ८ अत्रिर्मोमः । ९ पवित्र आङ्गिरस । पवमानो देवता ॥

काली ॥ निषाठः ॥

५५३—'प्र सुन्वानस्य' वृत्तवचः' इति अ० ।

उ २ ३ ॥ २ ३ १ ॥ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३
 [५५४] अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यद्वा अधि येषु
 १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 वर्द्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नाधिरथं विष्वञ्चमरुहद्वि-
 २ ३
 चक्षयः ॥ १ ॥ अ० ३।७५।१॥

भा०—(चनोहितः) पाकयोग्य अन्न के समान प्रवचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारणा किया गया, (यद्वा) महान् आत्मा (येषु) जिन विशेष गुणों के आधार पर (अधि वर्द्धते) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब (प्रियाणि) अत्यन्त प्रिय (नामानि) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में (अभि पवते) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही (बृहतः) सबको बढ़ाने वाले (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा के बनावे (विष्वञ्चं) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले (रथं) इय वेद-रथ को (विचक्षणः) साक्षी, द्रष्टास्वरूप होकर (अधि-आ-अरुहद्) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 [५५५] अचोदसो नो धन्वन्तित्वन्दवः प्र स्वानासो बृहदेवेषु हरयः ।
 १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
 वि त्रिदशाना इपया अरातयोर्यो नः सन्तु सनिपन्तु नो
 १ २
 धियः ॥ २ ॥ अ० ३।७६।१॥

भा०—(अचोदसः) स्वयं हरणशील, गतिशील, (अचोदसः) बिना किसी के वाद्य बल के स्वयं प्रेरित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् जीव, (स्वानासः) प्रकृष्ट रूप से प्रकट हुए (देवेषु) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में (नः) हमें (बृहत्) सब (धन्वन्तु) प्राप्त हों और (नः) हमारे (अयः) अग्नि-शत्रुस्वरूप, (अरातयः) सुख, काम्यफल के न देने

५५५—‘प्रसुवानासो बृहदेवेषु हरयः । विचक्षन् इमे अरातयाऽर्यो नान्त सनि-
 पन्त नो धियः’ इति अ० ।

वाले (इष्य.) केवल कामोपभोग या अन्न की कामना करने वाले, कामी, तृष्णालु इन्द्रियगण (अमानाः) भोग करते हुए (वि. चित्) न (सन्तु) रहें । (नः । हमें (धियः) उत्तम ध्यानवृत्तियों, ज्ञान और उत्तम कर्मों का (सनिपन्तु) प्रदान करें ।

[५५६] एष प्र कोशे मधुमौ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः॥
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभ्युत्थनस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाधा अर्पन्ति पयसा

३ १ २
 च धेनवः ॥३॥ ऋ० ३ । ७७ । १ ॥

भा०—(एषः) यह सोम (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्र.) वज्र के समान सब विघ्नों और पापों का नाशक (वपुषः) धीनों को वपन करने हारे से भी अधिक (वपुष्टमः) धीज वपन करने वाला, धीर्यवान् (कोशे) हृदय-कोश, आभ्यन्तर मनोमय कोश के बीच में (मधुमान्) प्रज्ञानन्द के मधुर रस से पूर्ण (प्र अचिक्रद्) उत्कृष्ट रूप से अनाहत नाद उत्पन्न करता है । जिस प्रकार (वाधा.) हममारव करती हुई (सुदुघाः) उत्तम दूध देने वाली (धेनव.) दूध पिलाने वाली गौएं (पयसा) दूध से (अर्पन्ति) धाराएं बहाती हैं वसी प्रकार ये (घृतश्चुतः) कान्ति की धाराएं बहाने वाले (अतस्य) ज्ञान के (सुदुघाः) दोहने वाले परमा-नन्दरस (च) भी (अर्पन्ति) हृदय में चरित होते हैं, प्रकट होते हैं ।

‘अतम्मरा तत्र प्रज्ञा’ । (पातं० सू०)

[५५७] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रभिनानि
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सङ्गिरम् । मयै इव युवातिमिः समर्पति सोमः कलशे
 ३ १ २ ३ १ २
 शतयामना पथा ॥४॥ ऋ० ९ । ७६ । १ ॥

५५६—‘वपुषो वपुष्टमः’ ‘अभीमृत्स्य’ ‘पयसः’ इति ऋ० ।

५५७—‘शतयामना’ इति ऋ० ।

भा०—(इन्दुः) प्रकाशमय जीव, आत्मा (इन्द्रस्य) इन्द्र परमेश्वर का (सखा) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके (निष्कृतं) पद, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी (अयासीद्) प्राप्त हो जाता है तो भी (सत्युः) अपने सखा परमात्मा की (संगिर) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को (न) नहीं (प्र मिनाति) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लंघन करता । वह (सोमः) सोम्य स्वभाव होकर (युवतिभिः) युवा स्त्रियों के साथ (मयं इव) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष (सम् अर्पति) संग करता । उसी प्रकार वह अपनी (युवतिभिः) सदा साथ रहने वाली प्राण और ज्ञानवृत्तियों सहित (शतयामना) सैकड़ों प्रकार से जाने योग्य (पथा) मार्ग से (कलाशं) पौष्य-कलासम्पन्न ग्रह या आनन्दमय कोश में (सम् अर्पति) विचरण करता है ।

[५५] धत्ता दिवः पवत कृत्यो रसा दत्तो देवानामनुमाद्यो नृभिः
हरिं सृजाना अत्यो न सत्त्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुपे
नदीष्वा ॥५॥ अ० ६। ७६। १ ॥

भा०—(दिवः) घौलोक के समान देहमें मूधाभावा, या प्रकाशरूप सूर्य या ज्ञान का (धत्ता) धारण करने वाला (कृत्यः) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनन्दरस स्वरूप (देवानाम्) देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दत्तः) वस्तुदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्यः) हर्ष प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने हारे अश्व या आत्मा के समान (सत्त्वभिः) अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनाहन नाद करने वाली धाराओं में, नदियों में जल के समान (वृथा) बिना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजांसि) नाना प्रकार के बल (कृणुपे) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ २
 [५५६] वृषामतीनां पवने विनक्ष्ण लोमो अद्वा प्रतरीनोपसा
 ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 दिवः । प्राणा सिन्धूनां कण्ठांश्चो अचिक्रददिन्द्रस्य हाद्यां
 ३ १ २ ३ १ २
 विशन्मनीषिभि ॥६॥ * ऋ० ६ । ६६ १ ॥

भा०—(वृषा) सुखों का वर्णन करने वाला (लोमः) सोम (म
 तीना) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों को (विनक्ष्णः) विविध प्रकार
 से साक्षात् करने वाला (अद्वा) दिनों, (दिवः) आकाश और (उपसा)
 प्रभात वेलाओं के समान, प्राणों, मूर्धोभाग और तेज दासियोंके (प्रतरीता)
 खूब बढ़ाने वाला (सिन्धूना) देह की नादियों में (प्राणा) जीवन सञ्चार
 करने वाला आनन्दरस (इन्द्रस्य) आत्मा के (हादिं) हृदय में (मनीषिभिः)
 मन की प्रेरणाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (अचिक्रद्) भीतर २
 नाद करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
 [५६०] त्रिरन्मै सप्तधेनवो दुदुहिरे सत्यामागिरं परमे व्योमनि ।
 ३ २ ३ १ २ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे यदृतेरयद्वत् ७
 ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(यद्) अथ (ऋते) सत्य ज्ञानों से आत्मा स्वयं (अयर्धत)
 समृद्ध हो जाता है तथ (अन्मै) इस के लिये (सप्त) सात (धेनवः)
 रसपान कराने वाली गौयों के समान ये सात इन्द्रियां जो मस्तक के सान
 छिदों में विराजमान हैं (परमे) सत्य से उत्पन्न (व्योमनि) अपने
 रक्षास्थान मूर्धो, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर (सत्याम्)
 सत्यस्वरूप, यथार्थ (आगिरः) ज्ञानधारा को (वि) ज्ञाता, जेव और ज्ञान
 इन तीनों प्रकारों से (दुदुहिरे) दोहन करता है । और (अन्याः) अन्य
 (चत्वारि भुवनानि) चारों देह के भागों या अवस्थाओं में (निर्णिजे)

५६०—'दुदुहिरे' 'पूर्व' इति ऋ० ।

परिशोधन करने लिये वह (चारुणि) उत्तम कान्ति और बल से युक्त कर देता है ।

[५६१] इन्द्राय सोमं सुपुनः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।

मा ते रसस्य मत्सत द्रयाविना द्रविणस्थन्त इह सन्निवन्दयः ॥८॥

अ० ५ । सू० ६ । १ ॥

भा०—हे (सोम) अज्ञानन्दरस ! (सुपुनः) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) यह, प्रकट हो (अमीवा) शरीरगत रोग (रक्षसा) मनोगत बाधक विघ्नों के (सह) साथ (अप भवतु) दूर हो । (द्रयाविनः) अमीवा और रसः अर्थात् शरीरगत रोग और मन की झटखता दोनों से भरे हुए पापी लोग (ते रसस्य) तेरे रस को (मा मत्सत) पाकर कभी प्रसन्न न हों । (इह) इस योगसाधना में (इन्द्राय) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस (द्रविणस्थन्तः) पुनः गति वाले होकर बहते (सन्तु) रहें ।

[५६२] असावि सोमा अरुपा वृषा हरी राजेव दस्मा अभि गा

अचिक्रदत् । पुनानो वारमत्यव्ययं श्येनो न योनि

धृतवन्तमासदत् ॥ ६ ॥

अ० ६ । सू० ६ । २ ॥

भा०—(राजा इव) राजा के समान (दस्म) दर्शनीय, सबका शरण्य, (अरुपः) अरुणवर्ण, देदीप्यमान, कान्तिमान्, । वृषा) मेघ के समान सुर्जों का चपक (हरिः) सबको हरण करने वाला, या सर्वव्यापक नेता, (सोमः) योगी आत्मा (असावि) तय्यार किया गया है । जो (गा अभि) इन्द्रियों, वाणियों और जलों के प्रति (अचिक्रदत्) अपना जादू करता है । और (पुनानः) प्रकाशमान होता हुआ (अत्यय) कभी

छोण न होने वाले, अभेद्य (वार) निवारक, रुकावट को भी (अति-युधि) पार कर जाता है । और (श्येन न) गतिशील आत्मा बाज के समान अपने (घृतवन्तं) अत्यन्त दोगति युक्त (योनिं) मूलकारण, आश्रय परमेश्वर को (आसदत्) प्राप्त करता है ।

३१३ ३ १ २ ३ २ ३ १ ■ ३ २ ३ २३
[५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्द्रवाऽसिष्यदन्त गाव आ न

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

धेनवः । वर्हिषदो वचनवन्त ऊधमिः परि सुतमुत्तिया

३ १ २

निर्णिजं धिरे ॥ १० ॥ अ० ॥ ६८ । १ ॥

भा०—(मधुमन्त) मधुर रस वाले, ब्रह्मज्ञानी (इन्द्रवः) सौम्य-गुणसम्पन्न, सबके आलहादक, ब्रह्म की तरफ जानेहारें योगी, (धेनवः गावः न) दूध देनेहारी गौएं जिस प्रकार अपने बख्क के प्रति (प्र असिष्यदन्त) अपना दूध प्रवाहित करती हैं उसी प्रकार (देव) प्रकाशस्वरूप उपास्य देव के प्रति (अच्छा) साक्षात् (प्र-असिष्यदन्त) गति करते हैं । और वे (वर्हिषदः) महान् ब्रह्म में रमना करने वाले, (वचनवन्तः) वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, (ऊधमिः) ऊर्ध्व, सूर्यस्थान में आनन्दरस धारण करने वाले स्थानों से (परिस्तुत) चुप हुए (निर्णिज) अति शुद्ध पवित्र आनन्दरस को (उत्तियाः) सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होकर (धिरे) धारण करते हैं, या पान करते हैं ।

१ २ ३ २ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५६४] अञ्जत व्यञ्जने समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सिन्धोरुऽच्छ्वास पतयन्तमुक्ष्ण हिरण्यपावाः पशुमप्सु

२

गृह्णन्ते ॥ ११ ॥

अ० १ । ४६ । ४६ ॥

५६३—'वचनवन्त' इति अ० ।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुमासु' इति अ० ।

भा०—योगी, साधक, भजजन (भजते) साक्षात् करते हैं, (वि-
भजते) उसको नाना प्रकार में प्रकट करते हैं (सम्-भजते) उसमें
उत्तम रीति से अपने को लीन करते हैं, तब (कर्तुं) कर्म करनेहारे आत्मा
के आनन्द को (रिहन्ति) आस्वादन करते हैं, उसका रस लेते हैं, उसको
समस्त हृदयों में पान करते हैं । (मध्वा अभि-भजते) उसको भीतरी
आनन्दरस के साथ एकरस कर लेते हैं । वे (हिरण्यपावा., ज्ञान से आत्मा
को परिष्कार करने वाले (सिन्धो.) समुद्र समान सर्वत्र गतिशील, धा
कर्मवन्धनों से बंधे जीवों का धारण करनेहारे आनन्द के अगाध सागर
परमात्मा के (उद-भासे) अपनी नीचे ऊपरकी तरफ प्रयत्न आस या प्राण
के आकर्षण बल में (पतयन्त) गति करते हुए (उद-भा) आनन्दवर्षी
(पशुम्) दृष्टा जीव को (अप्सु) अपने ही प्रज्ञानों में (गृभ्यते) ग्रहण करते
हैं, ज्ञान करते हैं । अथवा (सिन्धो.) गतिशील प्राणों के (उद-भासे)
ऊर्ध्व अर्थात् प्रह्वरन्ध्र की ओर की गति में (पतयन्त उद-भा पशुं) धावन
करते हुए आनन्दवर्षी दृष्टा जीवात्मा को (हिरण्यपावा., हिरण्यमय, दीप्ति-
मान्) ठकने को भी पार करने हारे साधक (अप्सु गृभ्यते) अपने ही
प्रज्ञानों या प्राणों के बीच में साक्षात् करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[५६५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुगात्राणि पर्येदि विश्वतः ।

१ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २ ३ १२ २२
अतस्तनूनं तदामो अश्नुते श्रुतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥ १२॥

अ० ९। ८३। १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानरूप ब्रह्म के स्वामिन् ! प्रभो ! (ते)
तेरा (पवित्र) पवित्र ज्ञान (विततं) पता विस्तृत, सर्वत्र व्यापक है ।
(प्रभुः) प्रकृत सामर्थ्यवान् आप (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि)

५६५—'तत्समाशत' इति अ० ।

सब देहों में (परि-पुवि) व्यापक हो । (अतस्तन्) इस शरीर को तप-
स्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (भाम०) कच्चा पुरुष
(तद्) उस तेरे पवित्र ज्ञानमय स्वरूप को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त
करता । (शृतासः) तपोमय अग्नि में परिष्कृत विद्वान् (इव) ही (वहन्तः)
ज्ञान को स्वयं धारण करने हारे । (तद्) उस सुख को (सम् आशत)
उत्तम रीति से प्राप्त करते और भोगते हैं ।

इति मत्तमी दशति । नवम खण्डः ।



॥ द० ८ ॥ ऋषि.—१, ७, ११ अग्निशास्त्रः । २ चक्षुर्मानव । ३, ४, ९, १०
पर्वतनारदो काश्यपावप्सरसौ वा । ५ त्रित आप्त्य । ६ मनुराप्सवः । ८, १२

द्वि आप्त्यः । इन्द्रो देवता । उगिक् । अपम० ॥

० ३ १ २ ३ ० ३ १ २ २ ३ १ २

[५६६] इन्द्रमच्छ सुता इमं वृषणं यन्तु हरयः ।

३ ० ३ २ ३ १ २ ३ १ २

श्रुष्टे जातास इन्द्रवः स्वर्विद० ॥ १ ॥ अ० ९ । ५८ । १ ॥

भा०—(इमे) वे (सुताः) उत्पन्न किये हुए (वृषणः) हरयशील,
मनोहर (श्रुष्टे जातास) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव हुए, या सुखस्वरूप
ईश्वर में लीन हुए, (स्वर्विद) प्रकाश, ज्ञान, और आनन्द का लालन करनेहारे,
(इन्द्रवः) सौम्य गुण वाले, साधक योगी (वृषणं) सुखों के धर्षक
(इन्द्रम्) उस परमात्मा को (यन्तु) भली प्रकार प्राप्त होते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५६७] प्र धन्वा साम जागृविरिन्द्रायेन्द्रो परिक्षव ।

३ १ ३ ० ३ १ २ ३ १ २

द्युमन्तं शुष्ममानरे स्वर्विदम् ॥ २ ॥ अ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—हे (मोम) सौम्यगुण वाले ! (इन्द्रो) ईश्वर के प्रति रम्य
प्रवाह के समान गति करनेहारे साधक ! (जागृविः, जागरणशील, कर्मा

५६६—'श्रुष्टी जातास' इति अ० ।

आत्मस्य तन्मा को न प्राप्त होकर, (इन्द्राय) उस ईश्वर या आत्मा को लक्ष्य करके (परिस्त्रव । वह, आगे बढ़ । (द्युमन्तं) कान्तियुक्त, (स्वार्विंदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले (शुष्मम्) आत्मज्ञान रूप बल को (आ भर) सन्वित कर ।

१ २ ३ १ २३ ३ २ ३ १ २
[५६८] सखाय आ निपीदत पुनानाय प्रगायत ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २
शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ॥३॥ अ० ६ । १०४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! (आ निपीदत) आओ बैठो । (पुनानाय) योग-साधन द्वारा अपने त्रिविध मल्लों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में (प्र गायत) उत्तम रूप से सदा स्तुति करो उसका वर्णन करो । और (शिशुं न) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सजाते हैं वही प्रकार उस (शिशुम्) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को (यज्ञैः) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के यज्ञों द्वारा (श्रिये) आत्म सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (परि भूषत) सब प्रकार से अलंकृत करो, उसकी शोभा बढ़ाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६९] तं सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥४॥ अ० ६ । १०५ । १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (य.) आप लोग (तं) उस (पुनानं) तपस्या आदि से मल्लों को शोधन करने हारे साधक, या मुख्य प्राण की (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये (अभि गायत) साक्षात् गुण स्तुति करो । और (गूर्तिभिः) स्तुतियों द्वारा और (हव्यै) उत्तम साहित्यिक पदार्थों और विचारों द्वारा (शिशुम् न) जिस प्रकार मधुर अन्नों का (स्वदयन्त) रस चखाकर बालक को वश करते हैं वही प्रकार

(शिशुम्) सबके भीतर विद्यमान आत्मा को (स्वदयन्तः) अमृत का रस स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुंचा ।

[५७०] प्राणा शिशुर्मर्द्दनां हिन्वन्ननस्य दीधितिम् ।

विश्वा परिप्रिया भुवदध द्विता ॥५॥ ऋ० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्राणा) देहों को प्राण देने वाली (मर्द्दनाम्) बड़ी भारी ईश्वरीय शक्तियों में (शिशु) प्रसुप्त रूप से विद्यमान, व्यापक चित् रूप आत्मा (ननस्य) सत्य ज्ञान की (दीधितिम्) दीप्ति किरण या धारणा को (हिन्वन्) प्रेरित करता हुआ (विश्वा) समस्त (प्रिया) उत्तम त्रिप पदार्थों को (द्विता) दो प्रकार से, समष्टि व्यष्टि रूप से, स्थूल और सूक्ष्म भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद से (परि भुवत्) व्याप्त करता है ।

[५७१] पवस्व देववीतये इन्दो धारामिरोजसा ।

आ कलशं मधुमान्स्सोम नः सदा ॥७॥ ऋ० १।१०६।७॥

भा०—हे (सोम) रस स्वरूप ! (इन्दो) ऐश्वर्यवान् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों, पञ्चभूतों को काम्तिमान्, बलवान्, ज्ञानवान् करने के लिये तू (धारामिः) अपनी धारण पोषण करने वाली शक्तियों द्वारा (ओजसा) अपने बल से (पवस्व) प्रकट हो । और (मधुमान्) ज्ञानवान् तू (नः) हमारे (कलश) देह या अन्तःकरण में (सदा) अधिष्ठित रूप में आ विराजमान हो ।

[५७२] सोमः पुनान् आमणाव्य वारं विधावति ।

अग्ने वाचः पवमानः कानेकदत् ॥७॥ ऋ० १ । १०६ । १० ॥

५७०—'प्राणा' इति । ५७१—'अन्वो वारं' इति ऋ० ।

भा०—(पुनानः सोमः) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मत्तादि रहित अन्तःकरण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन (उर्मिणा) अपनी कर्च गति से (अन्य धारं) अज्ञान के आवरण को (विधावति) पार कर जाता है । (पवमान) वह और भी अधिक दृज्ज और पवित्र होकर (वाचः) वेदवाणी के (अग्रे) उत्तम, रहस्य भाग में (कनिष्ठदत्) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

मृति न भरा मतिभिर्जुजोपते ॥८॥ अ० ६।१०३।१॥

भा०—(वेधसे) स्वयं कर्म के विधाता मेधावी (पुनानाय) अन्तःकरण को मत्तादि से रहित करने (सोमाय) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगीजन के लिये (वचः) सब अध्यात्म वाक्यों का (प्र उच्यते) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है । (मतिभिः) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक (जुजोपते) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है । हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार (मृति न) भरी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आजीविका दी जाती उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली (मृति) भरण पोषणकारिणी चित्ति शक्ति को (भर) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ ।

द्वितो नाम ऋषिः स्वामान प्रत्याह, इति सायणः । सोमाय 'मेधाविने' इति माधवः ।

५७३—'वच उच्यते' इति अ० । 'उच्यते' इति सायणः ।

[५७४] गोमन्त इन्दो अश्वमत्सुतः सुदक्ष धनिव ।

शुचि च वर्णमवि गोषु धारय ॥६॥ ऋ० ६ । १०५ । ४ ॥

भा०—हे इन्दो ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । सुदक्ष ! उत्तम कर्म के साधक ! (नः) हमें (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (अश्वमत्) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों से युक्त धन (धनिव) दो । और (गोषु) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में (शुचि वर्णं च) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ण को (धारय) धारण करो ।

[५७५] अस्मभ्य त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।

गोभिष्ट वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥ ऋ० ६ । १०५ । ४ ॥

भा०—(अस्मभ्यं) हमें (वसुविदं) प्राणों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ कराने हारे (त्वा) तुझको (वाणीः) सब वेदवाणियाँ (अनूषत) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! (ते वर्णम्) तेरे वर्णन करने योग्य स्वरूप (गोभिः) इन वेदस्तुतियों द्वारा (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं, उकते हैं, अलंकृत करते हैं ।

[५७६] पवते हर्यतो हरिरतिहरासि रंहा ।

अभ्यर्पे स्तोतृभ्यो वीरवदश ॥११॥ ऋ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—(हर्यतः) हरण-गमन करने योग्य, सब का प्राप्य, (हरिः) सोम, आत्मा (रंहा) वेग से (हरासि) कुटिल, कष्टकारी धिनों को भी (अति पवते) अतिक्रमण करके चमचमाता है । हे सोम ! (स्तोतृभ्य) स्तुति करनेहारे, यथार्थ गुणवक्ताओं को (वीरवद्) सामर्थ्यसम्पन्न (वश) तेज (अभि अभ्यं) प्रदान कर ।

५७४—'धन्व' 'शुचि ते' 'गोषुतोषम्' ॥६॥ ऋ० ।

५७६—'जन्दया' इति ॥

[५७७] परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति ।
 ३७८ ३ १ २ ३ १ २

अभिवाणीर्षीणां सप्तानूषत ॥१२॥ अ० ९ । १०३ । ३ ॥

भा०—(पुनानः) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या चरित होनेवाला (सोम.) आत्मा (मधुश्चुतं) मधुर आनन्द रस को चुसाने वाले आनन्दमय (कोश) कोश को (परि अर्षति) व्याप्त कर लेता है । (अर्षीणां) ब्रह्माण्ड या मूर्धादेश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों की (सप्त वाणी.) सात वाणिया, सातों ज्ञानप्रवाह (अभि-अनूपत) आत्मा की साक्षात् स्तुति करते हैं ।

इति अष्टमी दशतिः । इति दशमः खण्डः ।

—॥१॥—

॥ ६० ॥ ऋषिः—१ गौरिदीति-शाक्यः । २ ऊर्ध्वमशा आङ्गिरसः । ३, ८ ऋषिषा भरद्वाजः । ४ कृतयशा आङ्गिरसः । ५ ऋणव आङ्गिरसः । ६ वासि-
 र्वासिष्ठः । ७ उग्ररङ्गिरसः । पवमानो देवता । १-४, ५ ककुप् ।
 यवमध्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथः । १-४, ६ अणमः ।
 ५ षड्जः । ७, ८ मध्यमः ॥

[५७८] एवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोमः क्रतुवित्तमो मदः ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

महि शुक्लतमा मदः ॥ १ ॥ अ० ६ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द और ज्ञानसम्पन्न ! (क्रतुवित्तमः) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का ज्ञान करने का कराने ढाँहों में सबसे श्रेष्ठ (मदः) आनन्दस्वरूप आप (इन्द्राय) विभूतिमय आत्मा के द्वारे (एवस्व) प्रकट होइये, आप (मदः)

३ २ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ ७
[५७६] अभिद्युम्नं बृहद्यग इपस्पत दीदिहि देव देवयुम् ।

॥ १०८ ॥

■ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ ■ ३ १ २
[५०] आ साता परि विश्वताम्बस स्ताममहुर रजस्तुरम् ।
३ १ २ ३ १ २

ਸ਼ੁ. ੧, ੧੦੨, ੪ ॥

५७६—'दयः' इति श्रु० ।

५८०—'वनस्पधन्' इति श्रु० । 'वनस्पधन्' इति केचित् ।

[५८१] एतसु^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} त्व मद्युतं^{३ १ २ ३ १ २} सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहम् ।

विश्वा वसूनि विभ्रनम् ॥ ४ ॥ अ० १ । १०८ । ११ ॥

भा०—(एतम् ४) इस ही (मद्युतं) हर्ष रस के घरसाने हारे (सहस्रधारं) सहस्रों लोकों को धारण करने वाले, या सहस्रों सुखधाराओं के बहाने वाले, (वृषभं) सुखों के वर्धक, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का (दुहम्) दोहन करने वाले (विश्वा वसूनि) सब प्राणों और समस्त वास के देने हारे वसु रूप लोकों को (विभ्रतं) धारण करने वाले आत्मा, परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

[५८२] स सुन्वे^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} यो वसूनां^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} यो रायामानेना^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} य इळानाम् ।

सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ अ० १ । १०८ । १२ ॥

भा०—(य) जो (रायां) ऐश्वर्यों, (वसूनां) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों के और (इळाना) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अर्थों का (आनेता) प्राप्त कराने द्वारा है और (यः सुक्षितीना) जो उत्तम निवास योग्य शरीरों, क्षेत्रों का नेता, निर्माणाकर्त्ता है (सः सोमः) वह सबका प्रेरक आत्मा और परमात्मा (सुन्वे) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

[५८३] त्वं ह्यंशे^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} गदैव्यं पवमानं^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} जनिमानि शुभ्रतमः ।

अमृतत्वाय घाषयन् ॥ ६ ॥ अ० १ । १०८ । १३ ॥

भा०—(अंग पवमान) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (शुभ्रतमः) सबसे अधिक कान्तिमान् (त्वं हि) तू ही (दैव्यं) दिव्=अन्तरिक्ष शुलोक या देव, पञ्चभूतों और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की (जनिमानि) उत्पत्तियों और प्रकट होने वाले अद्भुत २ विकासों के मूल-

५८१—'दिवो दुहः' इति अ० । 'दिवदुह' इति सा० ।

५८३—'त्वं ह्यं' ॥ 'दैव्या', 'घोषयः' इति अ० । 'घोषः' इति सा० ।

कारणों का (अमृतत्वम्) नित्य, निरन्तर विद्यमान अमृतस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (घोषयन्) उपदेश करता है ।

[५८४] एष स्य धारया सुतोऽप्या वारैभिः पवते मदिन्तमः ।

क्रीडन्नुर्मिरपामिव ॥ ७ ॥

श्र० ॥ १०६ । ५ ॥

भा०—(सुतः) निष्पन्न, अभिव्यक्त आनन्दरस (अप्या वारैभिः) चितिशक्ति के आवरणों से पार होकर (मदिन्तमः) अति अधिक आनन्द से समृद्ध (अपा) जलों के (क्रीडन् इव) प्रवाह या तरंग के समान ज्ञानों, कर्मों का तरंग (धारया) अपनी निरन्तर धारा या धारक शक्ति से (क्रीडन्) संसार में क्रीड़ा सी करता हुआ, लीला करता हुआ (स्यः एष) जिसको झुंझते हैं वह यह (पवते) हृदय देश में प्रकाशित होता है ।

[५८५] य उक्षिया अपिया अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।

अभि प्रजं तलिषे गव्यमश्व्यं वर्मवि धृष्णवाकज ॥ ८ ॥ श्र० ६ । १०८ । ६ ॥

भा०—(यः) जो सोम (उक्षिया) ऊर्ध्व गति करने वाली (अप्या) कर्म और ज्ञान की बनी हुई (गाः) गतिशील इन्द्रियों को (ओजसा) अपने से (अन्तः अश्मनि) अश्मा=अप्यपक या प्रस्तर के समान किसी व हारने वाले, परिपक्व 'अश्माखण्ड' नामक सुण्य प्राण के भीतर (निर्-अकृन्तत्) बनाता है, निर्माण करता है और जो (गव्यं) ज्ञान-सम्बन्धी और (अश्व्यं) कर्म या मनः सम्बन्धी (ध्रजं) इन्द्रियगण को (अभि तलिषे) अपने चारों ओर विस्तारित करता है, (धृष्णो) सबको विजय करने वाले परमात्मन् ! तू हमारे (वर्मो) कवचधारी सुरक्षित योद्धा के समान (वाकज) सब विघ्न बाधाओं को दूर करता है ।

इति नवमी दशति । एतादृशं पण्ड ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पाचमानकाण्डं समाप्तम् ।

५८५—'अप्या अन्तरश्मनो' इति श्र० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् *

श ८० १० ॥ ऋषिः—१ भरद्वाजः । २ वसिष्ठ । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेषः ।
 ५ गृत्समदः । ७, ८ अमहीयुः । ९ आत्मा । १०—१ इन्द्रः । २ वरुणः । ३, ७,
 ८ पवमानः । ६ विभेदेवाः । ९ अन्नम् । १० इहती । ११, १२ त्रिष्टुप् । १३, ७, ८
 गायत्री । १४, ५ चतुष्पद गायत्री । ६ एकपद गायत्री । १५ मध्यमः । १६,
 १७ धैवतः । १८, १९ पद्मः ।

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [५८६] इन्द्र ज्येष्ठं न आभर आंजिष्ठं पुपुरि अघः ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ १ २२
 यदिष्टुक्षेम वज्रहस्त रोदसी उमे सुशिप्र पपाः ॥ १ ॥
 ऋ० २ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्येष्ठं) अत्यन्त प्रशंसनीय (ओजिष्ठं)
 काम्ति और बल से युक्त, (पुपुरि) पूर्य करने वाला, (अघः) ज्ञान
 (नः) हमें (आभर) प्राप्त कराओ । हे (वज्रहस्त) सब विघ्नों को नि-
 वारण करने वाले ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, या
 ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने वाले परमात्मन् ! हे (सुशिप्र)
 उत्तम दाढ़ों या शरिर्मयों वाले तेजस्विन् ! समस्त ससार के प्रलयकाल में
 मर्त्य करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! (पद्) जिसको

* कचिस्पृष्टासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत एव तासु 'य उल्लिया' इति
 ऋचोऽन्त्यपादाम्यासो दृश्यते इति हेतो रत्रैव पूर्वार्चिकस्य समाप्तिरिति विज्ञायते, कचि-
 चाभ्यामो न दृश्यते, षष्ठोऽध्यायश्च तृतीयार्धप्रपाठकरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममध्याय
 परिशिष्टमिव मन्वते । विविधा हि हेतता अत्र स्तूयन्ते इति प्राक्परिगणितकाण्डत्रयाद्
 भिन्नमिदमारण्यक काण्डं व्यवहरन्ति ।

५८६—'आभर', 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओमे' इति ऋ० ।

[५८६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} उत्तमं वरुण पाशमसदधमं वि मध्यमं अथाय ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अथादित्य व्रते वयन्तवानागसा अदितये स्याम ॥ ५८६ ॥

अ० १ । २४ । ५ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वव्यापक, सब पापों के निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् । (उत्तमं) उत्कृष्ट अपने (पाशं) पाश, प्राकृतिक तेजोमय सात्विक बन्धन को (उत् अथाय) उत्तम भोगों, द्वारा शिथिल कर और (अधमं) निकृष्ट सामग्री, काम मोहादि बन्धन को (अध अथाय) नीचे निम्न कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर । और (मध्यमं) मध्यस्थानीय राजस-बन्धन-आवेश, क्रोध, लोकायणा आदि को (विअथाय) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सब को अपने भीतर लेने हारे ! तेजस्विन् ! (तव व्रते) तेरी नियम व्यवस्था में (वयं, हम (अनागसा)) निरपराध, निष्पाप होकर (अदितये) दीनतारहित होने में (स्याम) समर्थ हों ।

[५६०] ^{१ २ ३ -२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृत विचिनुयाम शश्वत् ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} तन्नो मित्रा वरुणो मामहन्तामादेति. सिन्धु पृथिवी उत द्यौः ॥५६०॥

भा०—हे सोम ! जगदीश्वर ! (पवमानेन) समस्त संसार को पवित्र करने हारे (त्वया) तुझ सहायक से (भरे) फल प्राप्त कराने हारे । इस जीवन में (शश्वत्) निरन्तर (कृत) अपने उत्तम किये कर्म हो (वि चिनुयाम) विशेष रूप से सग्रह करें । (मित्र) स्नेहवान्, (वरुण) सब पापों का निवारक (आदिति) कभी न क्षयित होनेवाला अम्वरुह, (सिन्धु) समुद्र । समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, (पृथिवी) पृथिवी के समान सबको धारण करने हारा (उत) और

५८६—'अथा वयमादित्य व्रते तवा०' इति अ० ।

(चौ०) सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप (नः) हमें (तत्) ' वह अभिल-
षित उत्तम फल (मामहन्ता) प्रदान करे ।

[५६१] ^{१ १२ २२} इमं वृषणं ^{३ २३ ३ २} कृणुतैकमिन्माम् ॥ ६ ॥

भा०—हे प्राणो ! विद्वानो ! (इमं मां) इस मुक्त (एकं) अकेले
को (वृषणं) सब सुखों का वर्षण करने द्वारा (कृणुत इत्) बनाओ ।

[५६२] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} स न इन्द्राय यज्यं वरुणाय मरुद्भ्यः ।

^{३ १२ २२} धारिवोवित्परिस्तव ॥ ७ ॥ अ० ॥ ६१ । १२ ॥

भा०—(सः) यज्ञ सोम (नः) हमारे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील,
(यज्यं) जीवनपञ्च के कर्ता, (वरुणाय) व्यवस्थापक वरुणस्वरूप
आत्मा (मरुद्भ्यः) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों
लिए (धारिवोवित्) हितकारी पदार्थों को दाता होकर (परिस्तव) हमारे
प्रति प्रकट हो ।

[५६३] ^{३ १२ २२ ३ २ ३ १ २} एना विश्वान्यर्यं शुम्नानि मानुषाणाम् ।

^{१ २} सिषामन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ अ० ॥ ६१ । १२ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप (अर्यः) सब का स्वामी (मानुषाणां)
मनुष्यों (विश्वानि) समस्त (एना) ये (शुम्नानि) धन, राज आदि
(आ) हमें प्राप्त करावें । हम (सिषामन्तः) उनको सेवन करने या सब
में बाट देने की इच्छा से (वनामहे) याचना करते हैं ।

[५६४] ^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अहमस्मि प्रथमजा क्रतुस्य पूर्व दधेभ्यो अमृतस्य नाम ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} या मा ददाति ॥ इदेव मावदहमजमक्षमदन्तमग्नि ॥ ९ ॥

भा०—(अहम्) मैं महान् आत्मा, परमात्मा (अतस्य) इस सत् आभिन्न्यक्त जगत् से (प्रथमजा) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ (अस्मि) हूँ । (देवेभ्य) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी (पूर्वं) पूर्व में विद्यमान रहा । मैं ही (अमृतस्य) कभी विनाश न होने वाले, नित्य आत्मा का (नाम) स्वरूप हूँ । (यः) जो (मां) मुझको, मेरे स्वरूप को अन्यो के प्रति (एव) इस प्रकार से । ददाति) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म वा आत्म ज्ञान का उपदेश करता है (सः इत्) वही (मा) मेरी (धावत्) रक्षा करता है । (अहम् अन्नम्) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूँ । मैं ही (अन्नम्) अन्न रूप से सबको धारण कराता हूँ । मैं ही (अदन्तम्) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को (अग्नि) अपने में भग्न कर लेता हूँ ।

ब्रह्म की असोपासना उपनिषदों में कही है । 'अप्ता चराचरमह याव' (वेदा० सू०)

इति दशमी दशतिः । प्रथम खण्डः ।



॥ ४०२१ ॥ अग्निः—१ अतस्त्यः । २ पवित्रः । ३, ४ मधुच्छन्ने वैश्वामित्रः । ५ प्रथः । ६ गुत्समदः । ७ नृमेघपुरुषो ॥ देवता—१, ३, ४, ७, ८ पञ्चमानः । ९ विभेदेवा । १० वायुः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री । जगती । ७ त्रिष्टुप् ॥ ८ अनुष्टुप् ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ पञ्च । ७ निपादः । ८ धैवतः । ९ गान्धारः ॥

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६५] त्वमेतदधाय कृणासु रोहिणीषु च ।

१ २ ३ २ ३ १ २

परुष्णीषु कशत्पयः ॥ १ ॥ अ० ६ । ६३ । १४ ॥

५६५—१ शरावती परुष्णीत्याह । पूर्ववती भास्वती, कुटिलगामिनी (निर० ६।२६)

भा०—हे आत्मन्^१ (त्व) तू ही (कृष्णासु) प्राणों को कर्पण करने वाली पिङ्गला नाम नादियों और (रोहिणीषु) प्राणों का रोहण, परिवर्धन करने वाली इडा नादियों में और (परुष्णीषु^२) पौरु २, या अग २ में निवास करने वाली, ज्ञानवाहिनी चित्कण्डाक्षिणी सुषुम्ना आदि नादियों में [रसात्) कान्तिमय (पय) तेज या रस को सूर्य के समान (आधारयः) धारण करता है^३। सूर्यपक्षमें—कृष्णा=रात्रियें, रोहिणी=वषाट्, परुष्णी^३=दिन मध्याह्नवत्ता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५६६] अरुरुचदुपस. पृश्निरग्रिय उक्षा।ममंति भुवनेषु वाजयु ।

■ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरा गर्भमादधु ॥२॥

अ० ■ । ८३ । ■ ॥

भा०—(उषस) साधक की साधना के अवसर पर त्रिपुटी में प्रकट होने वाली कान्ति का (पृश्निः) आदित्य ही (अग्रिय उष^१) सब से प्रथम सुखों का सेवन करने द्वारा, (भुवनेषु) समस्त प्राणों और प्राण कोशों में (वाजयु.) बल की कामना करने द्वारा आनन्दधन आत्मा, (अरुरुचद्) प्रकाशित होता है । (मायाविन) चित्ति शक्ति या प्रज्ञा, प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न देवरूप इन्द्रिया या अग्नि आदि पाचों भूत (अस्य मायया) इसकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर (नृचक्षस) मनुष्यों के दृष्टा (पितर) सबके पालन करने वाले (ममिरे) पदार्थों का ज्ञान करते हैं, या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और (गर्भम्) हिरण्य गर्भस्वरूप विराटरूप को (आदधु.) धारण करते हैं। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है। अध्यात्म में—(पितर) प्राणगण ।

२ द्रष्टव्यं अग्नेवेदाभिभाष्यभूमिनायाम् इमं मे गङ्गे यमुने इत्यादि व्याख्यानम्

(प्र० ३०) । ३। परम उज्ज्वलस्यो षटिका ।

५०६—'उक्षा निभेति भुवनानि' इति अ० ।

२ ३ २४ ३ २ ३१ २ २२ ३१ २
[५६७] इन्द्र इन्द्रियोः सचा सम्मिश्र आ वचो युजा ।

१ ३ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रा वज्री हिरण्यय ॥३॥ अ० १। ११। २ ॥

भा०—(इन्द्र इत्) आत्मा ही (वचोयुजा) वाणीमात्र से योग रखने वाले (हयोः) हरण करने वाले अश्वों, शक्तियों ज्ञान, कर्म और इन्द्रियों को (सचा) एक साथ (सम्मिश्र) मिला कर रखने वाला है । वही (वज्री) संहारक शक्ति से युक्त और (हिरण्ययः) सूर्य के समान का-
न्तिमानुरूप वाला या स्वतः हित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है ।

१ ३ १ २ ३ १ २

[५६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

उग्र उग्राभिरुतभिः ॥४॥ अ० १। १२। ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उग्र.) उग्र स्वभाव के आप (उग्राभि कृतिभिः) अति बेगवाली शक्तियों द्वारा (वाजेषु) शानों और घोड़ों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) बलशाली सहस्रों अश्वों के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में (नः) हमारी (अव) रक्षा करो ।

१ २ १ २ २ १ २ ३ १४ २२ ३ १ २ ३ २

[५६९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हवियत् ।

३ १ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २४ ३ १ २

धातुर्धृतानात्सवितुश्च त्रिणो रथन्तरमाजिमारा वसिष्ठः ॥५॥

अ० १०। १८१। १ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रथः) विस्तार करने वाला, प्राण और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही (नाम) स्वरूप हैं (वसिष्ठ) मुख्य आत्मा (आनुष्टुभस्य) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य (यत्) जो (हविषः) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उग्रम है उस 'अमृत' (रथन्तरं) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण को (धातु.) उसके प्रवृत्त पोषण करने

हारे और (सवितु) सबके उत्पादक (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा ■
पास से ही (आ जगार) प्राप्त करता है ।

उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २
[६००] नियुत्वान्वायवागह्यं शुक्रं अयाभि ते ।

१ २ उ २ उ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ अ० २ । ४१ । २ ॥

भा०—हे (वायो) प्राण ! आ व्यापक आत्मन् ! आप (नियुत्वान्)
नियमकारी बलों से सम्यक् (आ गहि) हमें प्राप्त हों । (अय) यह
(शुक्रः) कान्तिमान् सूर्य, और ■ में वीर्य, आज (ते) तेरे (अयाभि)
नियम में बंधा है । आप (सुन्वतः) योग साधना करने हारे, (गृहम्)
ग्रहण करने वाले आन्तर इन्द्रिय, ■ में भी (गन्तासि)
प्राप्त होते हैं ।

१ २२ उ १ २ १ ■ ■
[६०१] यज्ञायथा अपूर्ण्य मधवन् वृत्रहत्याय ।

१ २ ३ २ २ उ २ १ उ १ २२
तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभा उत्तो दिवम् ॥ ७ ॥

अ० ८ । ■ । ५ ॥

भा०—हे (अपूर्ण्य) अद्वितीय ! आदि मूलकारण ! हे (मधवन्)
समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! (यत्) जो तू (वृत्रहत्याय) आवरण-
कारी तामस मन्धन को नाश करने के लिये (यज्ञायथा) प्रकट होता
है (तत्) वह तू (पृथिवीम्) इस विशाल भूमि को भी (अप्रथयः)
प्रकट करता है और (दिवम् उत्) चौलोक को भी (अस्तभा) ■
आकाश में धामता है ।

इति एकादशी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः ।

॥ ६० १२ ॥ ऋषि.—२, ५, ७, १० वामदेवः । २, ॥ गौतमः । ॥ मधुच्छन्दाः ।
६ गृत्समद । ८, ६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ११ हिरण्यस्तूपः । १२, १३ विश्व-
मित्रः । देवता—१ प्रजापतिः । २, ॥ पवमानः । ४-६, १३ अग्निः । ७ रात्रिः ।
८ वैश्वानरः । विश्वेदेवाः । १० लिङ्गोक्तः । ११ इन्द्रः । १२ सर्वात्मा । छन्दः—
१, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ८, ११-१३ त्रिष्टुप् । ॥ गायत्री । ॥ कात्ती ।
१० महापक्तिः । स्वरः—१, ७ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ९, ११-१३ धैवतः ।

४ षड्जः । ८ निषादः । १० पञ्चमः ॥

२ ३ १ ३ २ ३ १ २२ ३ २ ३ १ २२

[६०२] मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २२

परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि धामिव दंहतु ॥१॥ अथर्व० ६ । ६६ । ३ ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा (प्रजा-
पतिः) समस्त स्थावर और अंगाम प्रजा का पाक्षक (दिवि) आकाश में
जिस प्रकार (धाम् इव) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार (मयि)
मुझ में (वर्चः) बल, तेज, (अथो) और (यशः) पशु (अथो) और
(यज्ञस्य) आत्मा या परमेश्वर का (यत्) जो (पयः) मोक्ष नामक
परम आनन्दरस है उसको (दंहतु) नित्य बनाये रखे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २

[६०३] सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः संवृणयान्यभिमातिपाह ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि अवास्युत्तमानि त्रिष्व ॥ २ ॥

अ० १ । १२ । १८ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (अभिमातिपाहः) अभिमान करने
हारे पुरुषों को दण्ड देने वाले (ते) तेरे (पयांसि) पोषक ज्ञानरस,
(वाजाः) समस्त ऐश्वर्य और अन्न, (वृणयानि) समस्त बल (सं यन्तु)
प्राप्त हों और तू आप (आप्यायमान) खूब परिपूर्ण होता हुआ (अमृताय)

६०२—'तन्मयि प्रजापतिर्दिवि' इति अथर्व० ।

इस अमृत, जीव के लिये (दिवि) मोक्षरूप स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्तम (अवाप्ति) ज्ञानों, बलों और सुखों को (धिन्व) धारण करा ।

१ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ १ ३
[६०४] त्वानिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजयनयस्त्वं गाः ।
१२ २२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
त्वमातनेरुर्ध्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषो वि तमो ववर्ध ॥३॥
अ० १ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (त्वं) तू (इमा.) इन (विश्वाः) समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों, वनस्पतियों को (अजयनय.) उत्पन्न करता है । (त्वम् अप.) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है । और (त्वं गा) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है । (त्व) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य आदि के प्रकाश से (तम.) अन्धकार को (वि ववर्ध) विविध प्रकारों से करता है । अभ्यामपस में—ओषधि—देह । अप.—ज्ञान और कर्म । गा.—इन्द्रिय, चित्तवृत्ति । सोम—आत्मा । तम.—तामस आवरण ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[६०५] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य दधमृत्विजम् ।
१ २ ३ १ २
दोतारं रत्नघानमम् ॥४॥ अ० १ । १ । २ ॥

भा०—(यज्ञस्य देवम्) समस्त यज्ञों, उपासनाओं के उपास्य देव (पुरोहितम्) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, सार्वरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुख्य स्थान पर स्थापित (मृत्विजम्) ऋतुओं आदियों और प्राणों द्वारा पूजनीय, (दोतारं) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेहारे, सबके प्रतिपालक (रत्नघानमम्) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, (अग्निम्) ज्ञानेश्वर सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की (ईडे) स्तुति करता हूँ ।

१ ■ २३ ३ २ ३ ७ ३१ २३ १२ २२
 [६०६] ते मन्वन् प्रथमन्नाम गोनाम्निः सप्त परमन्नाम जानन् ।
 १ ७ ३ ७ ३६ २२ ३ ■ ३ १ २ ■ १४ २२ ३ १ २
 ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥ ५ ॥

अ० ४। २। १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् लोग (गोनां) वेद वाणियों के (प्रथमं) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल (नाम) उत्पत्ति स्थान को (मन्वन्) मनन करते हैं और वे (नि. सप्त) इक्कीस प्रकार से (परमं नाम) परम नाम को (जानन्) जिज्ञासा करते हैं । (ताः) वे वाणियाँ (जानती) सब रहस्य जानती हुई (क्षा.) अपनी निवासभूमियों आदि मूलकारणों की (अभिनूषत) स्तुति करती हैं । और (यशसा) तेज से (अरुणीः) अरुण वर्ण वाली, (गावः) किरणों के समान वाणियों में (आविर्भुवन्) प्रकट होती हैं ।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार ■ छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्टिक्, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात । अतिजगती, शक्ती अतिशक्ती, अष्टि, अत्यष्टि, छति, अतिछति ये सात । और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, अस्कृति, अतिकृति, उत्कृति ये सात । सब मिला कर २१ हुए ।

२ ३ १२ २४ ३ १ २ ३ २ ३ ७ ३६ २२
 [६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्धन्नद्यस्पृणन्ति ।
 ७ ३ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ १ २
 तमू शुचिं शुचयो दीदिवा समपात्रपातमुपयन्त्यापः ॥ ६ ॥

अ० २। ३५। ३ ॥

६०६—'नाम वेनो ' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'सज्जानतीरभ्यनूषत मा आविः' 'मन्दरुणीर्यशसा गोः, इति अ० ।

६०७—'अपा नपात परित्युरापः' इति अ० ।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्यः) भिन्न नदिया (सं यन्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न नदिया (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती हैं और (समान) समानरूप से एक ही (ऊर्ध्व) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आपः) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्यः) समृद्ध स्तुति वाणिया अथवा आस प्रजापुं (अन्याः) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रजापुं (संयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्याः, उपयन्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के अर्थ का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्ध्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और का उपदेश करने वाली वाणिया (शुचयः) शुद्ध प्रकाश करनेवाली (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दीदिवासम्) देदीप्यमान (अपा नपात्तम्) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं । (आपः=वाणिया, बुद्धिया, प्रजापुं, आसनन, लोक, नद्यः=स्तुतियां, वाणिया, नदिया) ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २२
[६०८] आप्रागाद्भद्रा युवतिरहः केतून्समीर्त्सति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अमूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनेवाली रात्रि के समान ब्रह्मविद्या (विश्वस्य) समस्त (जगत) जगत् ससार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है । वह (अह) कभी नाश न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवति) उदयकालीन सूर्य के साथ संगत उषा और तेजस्वी पुरुष के संग त्री के समान ही सदा सत्संगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेवाली (आ) सच और

(प्रागात्) प्रकट होती है और (केतून्) किरणों के समान ज्ञानों को (सम् इत्संति) प्राप्त कराती है ।

[६०६] प्रक्षस्य वृणो अरुपस्य नू महः प्र नो वचो विदथा
जातवेदसे । वैश्वानराय मतिर्न्यसे शुचिः सोम इव
पवने चारुरग्रये ॥ ८ ॥

अ० ६ । अ० ३ । ८ ॥

भा०—(प्रक्षस्य) सब के भीतर सम्पर्क करने हारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, (वृणोः) सुखों के वर्षक, (अरुपस्य) कान्तिमान्, (जात-वेदसे) समस्त पदार्थों के जाननेहारे परमेश्वर के (महः) पूजनीय तेज को (विदथा) ज्ञान काल में, या यज्ञ में (नः) हमारी (वचः प्र) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, (न्यसे) स्तुति करने योग्य (वैश्वानराय) समस्त जगत् में जाना प्रकार से व्यापक (अग्रये) उस ज्ञानस्वरूप, सबके आग्रणी, परमात्मा के लिये (शुचिः) शुद्ध, (मतिः) ज्ञान, संकल्प, (सोम इव) प्रेरक ब्रह्मानन्द के समान (चारु) अत्यन्त उत्तम रूप में (पवते) प्रकट होता है ।

[६१०] विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपा नपा च
मन्म । मा वो वचांसि पांचदयाणि वोचं सुम्नोष्विहो
अन्तमा मदेम ॥ ६ ॥

अ० ६ । अ० ३ । १४ ॥

भा०—हे (विश्वेदेवा) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग (मम) मेरे (मन्म) मनन करने योग्य (यज्ञम्) इष्ट उपासना को (शृण्वन्तु) सुनो । वह (उभे रोदसी) धै और पृथिवी दोनों लोक और (अपा नपा च) समस्त प्रजाओं, प्रजाओं और कर्मों का आश्रय ईश्वर भी उसको अवगण करता है । (वः) आपके (वचांसि) वचनों को (मा

परित्रय्याणि) मैं परित्याग न करूँ, प्रत्युत उनको (सुग्नेषु इत्) सुख के अवसरों में भी (बोध) उच्चारण करूँ । (व अन्तमा.) आप लोगों के अत्यन्त समीप होकर हम (मदेम) आनन्दित रहूँ ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[६११] यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ।

३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यशस्क्यदे स्याः संसदोऽहम् प्रचदिता स्याम् ॥ १० ॥

भा०—(मा) मुझको (द्यावापृथिवी) बौलोक और पृथिवी का (यशः) यश प्राप्त हो । मुझे (इन्द्र-बृहस्पती) सूर्य और वायु का (यशः) यश प्राप्त हो । (भगस्य) ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर का (यशः) यश (विन्दतु) प्राप्त हो । (यशः) यश मुझे (मा) मत (प्रतिमुच्यताम्) छोड़े । (अहम्) मैं (यशस्वी) कीर्तिमान् होकर (स्याः) इस (संसदः) उत्तम प्रकार से विद्वानों को अपने से स्थिति प्राप्त कराने हारी सभा या हम ब्रह्मविद्या का (चदिता) प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशक (स्याम्) होजाऊँ ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६१२] इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ११ ॥

श्र० २ । १२ । ॥

भा०—(इन्द्रस्य) निष्ठुत् या सूर्य के समान बलवान्, शक्तिमान् परमेश्वर के (वीर्याणि) नात्ता पराक्रम के उन कार्यों को मैं (प्रवोचं तु) कहता हूँ (यानि) जिन (प्रथमानि) अतिश्रेष्ठ महात्वपूर्ण कार्यों को (वज्री) अणु से अणु तक को पृथक् करने द्वारा परमेश्वर (चकार) किया करता है । वह (अहिम्) कभी नष्ट न होनेवाले, स्वभावतः विद्यमान शब्दकार को (अहन्) त्वनाश करता है, स्वयं (अणु) बिजुली जिय प्रकार मेघों

६१०—'यशिया' इति द० ।

मे जलों और पर्वतों से झरनों को पैदा कर देती है उसी प्रकार वह भी अज्ञानरूप 'अहि' का नाश करके [अप.] प्रज्ञानों को (तत्तद्) प्रवाहित करता है। और (पर्वताना) षडे २ पर्वतों के (वहण्याः) नदियों के समान विद्वानों के हृदय ग्रन्थियों या अंगों से बने देहादि बन्धनों को (प्र-अभिनत्) काट देता ।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६१३] अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे अक्षुरमृतम् आसन्

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिधातुरको रजसो विमानोऽजस्रञ्ज्यातिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥

अ० ३।२६।७॥

भा०—मैं (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (जन्मना) श्रवण, मनन, निदिध्यासन की अपेक्षा बिना किये ही, स्वभावतः (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने वाला (अस्मि) हूँ। (मे) मेरा (अक्षु) सबको देखने और डिङ्गाने वाला साधन (घृतं) अतिदीप्तिमान् है। (मे आसन्) मेरे मुख्य स्थान या गुप्त अर्थात् स्वरूप में (अमृतम्) कभी नाश न होने वाला अमृत मोक्ष है। और मैं (त्रिधातुः) समस्त पदार्थों को तीन यत्नों से धारण करने वाला (अर्क) तेज स्वरूप सूर्य, (अजस्र) समस्त लोकों को (विमान) निर्माण करता हुआ (अजस्र) कभी नाश न होने वाला, अविनाशी, सदा वर्तमान, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप और (सर्व) सर्वव्यापक (हवि) हवि=भोग्य पदार्थों का दाता भी मैं ही (अस्मि) हूँ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६१४] पात्यग्निर्विपो अग्रस्पन्द वे पाति यद्वक्षरण सूर्यस्य ।

२ १ २ ३ १ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पाति नामा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुग्रमादमण्व ॥१३॥

अ० ३।२६।८॥

६१३—'विमानो यमो' इति अ० ।

६१४—'पाति प्रिय रिपो अग्र' इति अ० ।

भा०—(विप०) मेधावी, ज्ञानी (अग्नि०) परमेश्वर (वे) गति शील पृथिवी के (अग्रम्) गमन के (पठं) मार्ग को (पाति) सुरक्षित करता है । (यद्वा) वह महान् (सूर्यस्व) सूर्य के (चरण) चलने के मार्ग को भी (पाति) पालन करता है (नामा) नाभिस्थान, केन्द्र अथवा अन्तरिक्ष या बन्धनस्थान मूर्धा में (अग्नि०) यह अग्नि ही । सप्तशीर्षा-याम्) सात शिर के चारों प्राणों के स्वामी जीव को भी (पाति) रक्षा करता है । (ऋष्व०) दर्शनीय देव-या । देवानाम्) अग्नि आदि देवों और विद्वानों को आनन्दकारक आत्मा या इन्द्रियों के आह्लादिषय को भी (पाति) रक्षा करता है ।

इति द्वावशी दशतिः । तृतीय खण्डः ।



॥ दृ० १३ ॥ ऋषि०—१, २, द-१२ वामदेवः । ३-७ नारायणः । देवा-
अग्नि० । २ ऋतु० । ३-६ पुरुष० । ७ सद्यः । द-यावापृथिवी । ९, ११ ऋतु० ।
१० आत्मा । १३ गौ ॥ छन्दः—१, २ पङ्क्ति । ३-७, ९, १० अनुष्टुप् ।
१, २ पञ्चम० । ४-७, ९, १० गान्धारः । ७, ११, १२ वैवत० ॥

१ २ ■ १ २ ■ २ ३ १ १
[६१५] आजन्म्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्नरासनि ।
१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
स त्वन्नो अग्ने पयसा वसुभिर्द्रयि वध्नो दशे दा ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् । हे (समिधान) प्रकाशमान । हे (दीदिवः) देदीप्यमान । (अन्नं , आसनि) प्रत्येक आश्रय स्थान देह में, मुख में जीभ के समान (आजन्ती) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चित्-शक्तिरूप (जिह्वा) ज्ञान ग्रहण करने वाली शक्ति (चरति) विचर रही है । हे अग्ने । (स त्व) वह तू (वसुभिर्द्रयि) वास कराने वाले प्राणों या ऐश्वर्यमय लोकों को जानने, या कर्मानुसार प्राप्त कराने द्वारा (नः) हम

(पवमा) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ (रयि) जीवन और (वचः) बल और कान्ति, रचा सामर्थ्य (अदा०) प्रदान कर ।

उ १२ २२ ३ १२ २२
[६१६] वसन्त इक्षु रन्त्यो ग्रीष्म इक्षु रन्त्यः ।

उ १ २ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इक्षु रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—(वसन्त इत्) वसन्त ही (नु) निश्चय से रमण करने योग्य है । और (ग्रीष्म.) ग्रीष्म भी (इत् नु) निश्चय से (रन्त्य०) आनन्द लाभ करने योग्य है । (वर्षाणि) वर्षाकाल और (अनु शरद०) बाद में आने वाले शरद के दिन और (हेमन्तः) हेमन्त और (शिशिरः) शिशिर (इत्) ये सभी (नु) निश्चय से (रन्त्यः) जीवन का आनन्द लाभ करने के लिये ही हैं ।

ऋतुनामों से ईश्वर को याद किया गया है । (वसन्तः) सब प्राणियों को बसाने द्वारा वह परमात्मा (इत् नु) ही तो केवल (रन्त्य) आनन्द लाभ करने योग्य है । (ग्रीष्मः) सबको आस करने द्वारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है । (वर्षाणि) सब सुखों की वर्षा करने वाली (अनु शरद०) तथा उनके समान ही सब दुखों का नाश करने वाली शक्तियों और (हे मन्तः) सब पदार्थों को प्रेरणा या ताड़ना करने वाला और (शिशिर.) शनैः । प्रत्येक पदार्थ की आयुबल और शरीर को घिसाने वाला काल रूप परमात्मा (इत् नु) ही (रन्त्यः) एकमात्र आनन्द लाभ कराने वाला है ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशदिगुलम् ॥ ३ ॥

१० । २० । ४ ॥ यजु० ३१ । ४ ॥

६१७—‘स भूमिं निश्चया वृत्वा’ इति ऋ० । ‘सर्वतः स्पृष्ट्वा’ इति पाठभेद.
यजु० । ‘सहस्रशीर्षा’ इति यजु० ।

भा०—(सहस्रशीर्षाः) सहस्रों शिरों वाला, (सहस्राक्षः) हज़ारों आँखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों पैरों वाला, (पुरुष) पुरुष, ईश्वर विराट् (सः) वह (भूमिम्) ब्रह्माण्ड नामक भुवन को (वृत्वा) घेरकर, व्याप्त होकर और भी (दशाङ्गुलम्) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी (अति अतिष्ठत्) परे तक विराजमान है ।

१० अङ्गुल—परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्ति-या हैं । आत्मपक्ष में भूमि—नाभि, दश अङ्गुल दश इन्द्रिय । सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों के सिरों शिर, आँखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर को सहस्रशीर्षा आदि विशेष-पणों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा ब्रह्माण्डगत नाना दौलोक उस के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुः और नाना वास योग्य भूमियाँ उसके चरण हैं ।

■ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१८] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्य द्वाभयत्पुनः ।
२ ३ २ ३ ३ २ २ ३ २ ३ २
तथा विष्वक् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥ ४ ॥

■ १० । ६० । ४ । यजु० ३१ । ■ ॥

भा—(पुरुषः) इस महान् ब्रह्माण्डरूप पुरु में शयन करने द्वारा सर्वव्यापक, परमात्मा (त्रिपात्) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप (उदैत्) सबसे उत्कृष्ट होकर, सब पर वश किये हुए अधिष्ठाता । समान होकर वर्तमान है । (अस्य) इसका (पादः) ज्ञान और कियारूप शासन ही (इह) इस ब्रह्माण्ड पर (पुनः) बार बार (अभयत्) सत्तारूप में प्रकट होता और विजित होता है । (तथा) और वही (विष्वक्) सर्वत्र (दशनानशने अभि) भोजन करने वाले प्राणियों और न भोजन करने वाले स्थावर, जड़ पदार्थों में भी (वि-व्यक्रामत्) व्यापक है ।

६१८—‘साशनानशने’ ■ अ० यजुः० ।

[६१६] ^{१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २} पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भान्यम् ।

^{१ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥

श्र० १० । ६० । ■ पूर्वार्ध, ३ उत्तरार्ध, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—(यद् भूतं) जो अवतक उत्पन्न जगत् है, (यत् च भान्यं) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है (इदं सर्वं) यह सब (पुरुष एव) पुरुष ही है । अर्थात् (सर्वा) समस्त (भूतानि) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिगण (अस्य पादः) इसके चरण हैं, इससे व्याप्त हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और (अस्य त्रिपाद्) इसके तीन चरण (दिवि) अपने प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म का एक पाद है और अमृतस्वरूप तीन शक्तियाँ सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, आविकारी कारणस्वरूप हैं ।

^{१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २} [६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पुरुषः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

उतामृतत्वस्येशानो यदक्षेनानिरोहति ॥ ■ ॥

श्र० १० । ६० । १ ॥ यजु० ३१ । ३ पू०, २ उ० ॥

भा०—(तावान्) इस संसार में जितना (अस्य) इस जगत् का (महिमा) विस्तार है (तत्) उससे भी (ज्यायान्) बड़ा वह (पुरुष) पुरुष परमेश्वर है । (उत) और वही (अमृतत्वस्य) इस अमर जीव संसार का (ईशानः) स्वामी है (यत्) जो (अक्षेन) अक्ष या कर्मफल भोग के द्वारा (अनिरोहति) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

६२०—'तावानस्य' 'महो ज्याया' इति क०, यजु० ।

१ २ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[६२१] ततो विराडजायत विराजो अवि पूरुषः ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
स जाना अत्यरिच्यत पश्चान्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥

१० । ३ । ६ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(ततः) उस पुरुष से (विराट्) हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मा
यह (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराज अवि) उस विराट् से (पूरुषः)
पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, (सः) वह विराट् ही (अति
अरिच्यत) सबसे बड़ा रहा । (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्)
इस भूमि को और (मथो पुरः) इन दोनों को या इन सौर जगत्‌ों को भी
उत्पन्न किया ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६२२] मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेयाममितम-
१ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
भियोजनम् । द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चत-

१ २
महसः ॥ ८ ॥

अथर्व० ४ । २६ । १ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सबको प्रकाश देनेहारे गुरु ! सूर्य से स
मान प्रकाशक परमात्मन् । और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति ।
मैं (वाम्) आप दोनों को । सुभोजसौ) उत्तम पोषण करने वाले (मन्ये)
सागता व जानना हूँ । आप दोनों (अमित) अपरिमित अनन्त (भोजन)
इस संसार को (अप्रथेयाम्) विस्तृत कर रहे हो । हे (द्यावापृथिवी)
पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति । आप हमारे लिये । स्योने) सुखकारक (भवत)
होगो । (ते) वे दोनों आप (नः) हमें (अहसः) पाप से (मुञ्चतम्)
मुक्त करो ।

६२२—“मन्ये वां द्यावा • भक्षिता भोजनानि । प्रतिष्ठे दमवत वयना ते नो०”

इति अथर्व० ॥

[६२३] ^{१ २} हरो न ^३ इन्द्र ^{१ २ ३ १ २, ३} श्मश्रूयुना ^{१ २} त हारतो हरी ।

^{१ २} तन्त्वा ^{३ १ २} स्तुवन्ति ^{३ १ २} कवयः ^{३ १ २} पुरुपासां ^{३ १ २} वनगवः ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (ते) तेरा (श्मश्रूयि) किरणों (हरी) हरणशील, सर्वव्यापक है (उत उ) और (ते हरी) तेरे गतिमान् अश्व, प्राण और अपान (हारितो) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं । (तं त्वा) तम परम स्मरणाद्य तुम्हको (वनगवः) सुन्दर घाण्डियों वाले (कवयः) मेधावी (पुरुपासः) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुत करतें हैं ।

[६२४] ^{१ २} यद्वर्चो ^{३ १ २} हिरण्यम्य ^{३ १ २} यद्वा ^{३ १ २} वर्चो ^{३ १ २} गवामुत ।

^{३ १ २} सत्यस्य ^{३ १ २} ब्रह्मणा ^{३ १ २} वर्चस्तेन ^{३ १ २} मा ससृजामसि ॥ १० ॥

भा०—(हिरण्यस्य) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का (यद् वर्चः) जो बल, तेज है (उत वा) और (यत्) जो (वर्च) तेज, बल (गवा) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो (वर्च) तेज (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मणा) वेद का है (तेन) उससे हम (मा) अपने आत्मा को (ससृजामसि) युक्त करें ।

[६२५] ^{१ २} महस्तन ^{३ १ २} इन्द्र ^{३ १ २} ददध्याज ^{३ १ २} इणे ^{३ १ २} ह्यम्य ^{३ १ २} महता ^{३ १ २} विरणिन् ।

^{१ २} क्रतुं न ^{३ १ २} नृम्यां ^{३ १ २} स्याविरञ्च ^{३ १ २} आज ^{३ १ २} वृत्रपु ^{३ १ २} शत्रून्महता ^{३ १ २} कृधी न ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! हे (विरणिन्) हे सत्यज्ञानमय ! (नः) हमें (तत्) वह (सह) बाधक, दोषों को दवाने वाला सहन बल और (आजः) तज पराक्रम (दाहि) प्रदान कगे जिसमे आप (अस्य महतः) इस महान् समार पर (इणे) प्रमुत्ता करतें हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! स्वामिन् ! (नः) हमारे आप (क्रतुं न) कर्म के समान ही (नृम्या) उपभाग योग्य धन धान्य और (स्याविरम्) स्थिर (आजं) बल, अज और

ऐश्वर्यं (कृधि) करो और (न०) हमारे (स-हना) हाथियों वाल
हैंसक (शत्रून्) शत्रुओं को (वृत्रेषु) नाना विघ्नों में (कृधि) डाल ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २

[६२६] सद्वर्षमा. सद्वत्सा उदेन विश्वा रूपानि विभ्रतीर्द्व्यूधी ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

उरु. पृथुरय वो अन्तु लोक इमा आप सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौत्रो ! आप (सद्वर्षमा) साढ़ों के साथ और (सद्वत्सा)
बछड़ों के साथ (द्व्यूधीः) । दोहरे स्तनमण्डल का बहन करती हुई
(विश्वा) नाना प्रकार के (रूपानि) रूप (विभ्रतीः) धारण करती हुई
(उत् पेत) उन्नति को प्राप्त होंगे । (अय लोक.) यह लोक (वः) तुम्हारे
लिये (उरु पृथु) सूत्र बड़ा विशाल (अस्तु) रहे । (इमाः) ये (आप.)
जल (सु प्र-पाणा) उत्तम पान करने वाले स्थानों से साजित रहे । (इह
स्त) तुम यहां रहो । रश्मियों के पक्ष में—ऋषभ, सूर्य, वत्स, प्रहादि और
रश्म धारण करने हारे दो ऊधस् मेघ और पर्वत हैं । इन्द्रियों के पक्ष में—
ऋषभ आत्मा परमात्मा । वत्स—मन, दो ऊधस् ज्ञान और कर्म, आप—
प्रज्ञान और लोक ।

इति त्रयोदशी दसतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥द० १४॥ अथि.—१ वैश्वानसः । विभ्राद् सूर्यपुत्रः । ३ कुत्स । ४-६ सार्व
राशी । ७-१४ प्रस्कण्य काण्वः ॥द्वता—१ अग्निः पवमान । २-१४
सूर्यः ॥ छन्दः ॥ जगती । १ त्रिष्टुप् । १, ४-१४ गायत्री ॥ स्वर
१ निषाद । ३ धैवतः । १, ४-१४ पङ्क्त्यः ॥

३ २ १ २ २ ३ २ ३ १ २

६२७] अग्न आयूंवि पवस आसुवोर्जमिप च नः ।

३ १ २ १ २

आरे वायस्व दुष्कुनाम् ॥१॥ अ० ६ । ६६ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (न०) हमें (आयूपि) आयु (पवसे) प्रदान कर । (न०) हमें (ऊर्जम्) बल और (इष) अन्न (च) भी दो । (दुच्छुनाम्) दुरे पागल कुक्कुर के समान लोभ और क्रोध से अन्धे पुरुषों को (आरे) दूर ही (बाधस्व) पीड़ित कर ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६२८] विभ्राद् बृहत्पिबतु सोम्यमध्नायुर्देवद्यक्षपतावविहृतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वातजूतो या अभिरक्षति त्मना प्रजा पिपसि बहुधा

विराजति ॥२॥ अ० १० । १७० । २ ॥ यजु० ३४ । ३० ॥

भा०—(विभ्राद्) विशेषरूप से देदीप्यमान सूर्य के समान स्वतःप्रकाश, परमात्मा (बृहत्) बड़ा भारी (सोम्य) उत्पादक और प्रेरक गुणों से युक्त (मधु) जलिनरस को (पिबतु) पान कर्यात् अपने भीतर धारण करे । और (यक्षपता) यक्ष जीवनयक्ष या अन्य देवपूजा आदि सत्कर्मों के अनुष्ठाता पुरुष को (अविहृतम्) सरल, अकुटिल धार्मिक (आयु) जीवन (दधन) धारण कराता है । (य०) जो परमात्मा (वातजूत) वात, वायु के समान गतिमान् शक्तियों से युक्त होकर (त्मना) स्वयं (प्रजा) प्रजाओं को (अभि रक्षति , रक्षा करता है, (पिपसि) पालन पोषण करता है और (बहुधा विराजति) बहुत प्रकारों से सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६२९] चित्रं देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्मित्रस्य चरुणम्याग्रे ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य अत्मा जगतस्तस्थुपश्च ॥३॥

अ० १ । ११ । २१ ॥

भा०—(देवाना) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राणादि रुद्रों और १२ आदित्यों के (अनीकं) प्राण,

६२८—'प्रजाः पुपोष गुरुणा' इति अ० ।

बल देनेहारे, प्रमुख (चित्रं) पूजनीय, (मित्रस्य) स्नेहवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक (अग्ने.) प्रकाशस्वरूप लोकों के (चक्षुः) प्रकाशक या दृष्टा और (द्यावापृथिवी) चौलोक, पृथिवीलोक और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष को भी (आप्रा) व्याप्त करनेहारा (जगत.) जगत् ससार और (तस्थुष च) स्थावर ससार का (आत्मा) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, (सूर्य.) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

१२ २२ ३१ २ ३ ३१ २ ३ २
[६३०] आयङ्गौ. पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुरः ।

३१ २ ३१ २
पितरञ्च प्रयन्त्स्व ॥ ४ ॥

॥ १० । १८६ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—(अयं) यह (गौ.) गमनशील, सर्वत्रव्यापक या वेद-वाणीस्वरूप, (पृश्नि) सर्वान्तर्यामी समस्त ससार के तेज. पुष्पों को स्पर्श करनेहारा, (पुरः) साक्षात् (आ अक्रमीत्) प्रकट होता है । और (मातरं) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ज्ञाता के (पुर.) समस्त ही (असदत्) विराजता है और (पितरं) अपनी प्रजाओं और तत्स्थानीय इन्द्रियों के पालक को भी (स्व) सुखस्वरूप होकर (प्रयन्) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, माता पिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के हृदय में प्रकट होता है । वे ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

३ १ २ ३२४ ३ १ २ ३ ■
[६३१] अन्तश्चरति रञ्चनास्यप्राणादपानती ।

२२ ३ १ २२
व्यस्यन्माहिपो दिवम् ॥ ५ ॥ अ०० ॥ १८६ । २ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (रञ्चना) सयफो रुचिकर, प्रेम मयी दीप्ति (प्राणद्) प्राण प्रदान करती हुई (अपानती) प्राण वायु को बाहर करती हुई (अन्त.) देह के भीतर (चरति) गति करती है,

कर्मफल-भोग करती है । (महिष.) वह महान् परमात्मा (दिवम्)
सूर्य को भी (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है ।

३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३२] त्रिशद्धाम त्रिराजति चाक् पतङ्गाय धीयते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

प्रति वस्तोरह शुभिः । ६ ॥ ऋ० १० । १८६ । ३ ॥

भा०—वह परमात्मा (वस्तो) दिन के (त्रिशद् धाम) तीसों
स्थान, तीसों घड़ियों तक (शुभिः) दीप्ति से (त्रिराजति) हृदय में विरा
जता है । (चाक्) यह वेदवाणी, उसी (पतङ्गाय) सर्वव्यापक ईश्वर के
लिये (प्रति धीयते) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३३] अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यकुभिः ।

१ १ ३ १ २

सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥ ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अक्षुभिः) रात्रियों के साथ २ (न-
क्षत्रा) नक्षत्र (विश्वचक्षसे) सब के दर्शक, प्रकाशक, (सूराय) सूर्य
कारण (अप यन्ति) लोप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ॥ परमात्मन् !
(विश्वचक्षसे सूराय) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब के प्रेरक आपके
हृदय होने ॥ कारण (त्ये) वे (तायवः) हृदय के चोर काम, क्रोध,
लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि ॥ पाप (अप यन्ति) दूर भाग
जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३४] अदृशन्नस्य केतवा वि रश्मयो जर्णो अनु ।

१ २ ३ १ २

आजन्तो अग्नयो यथा ॥ द्वा० ॥ १५० । ३ ॥

भा०—(आजन्तः) प्रकाशमान् (अग्नयः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष
(यथा) जिस प्रकार सय प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार (अस्य)

६३४—'अदृशन्नस्य' इति ऋ० ।

इस परब्रह्म परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किशु (जनान् अनु) जन्म लेने वाले प्राणियों को (अदृशन्) बराबर देखते हैं ।

३ १ २ ३ १ २

३ १ २

[६३५] तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

० ३ १ २ ३ २

विश्वमाभासि राचनम् ॥१॥ अ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (तरणि) मनुष्यको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, (विश्वदर्शतः) समस्त संसार में एकमात्र दर्शनीय, (ज्योतिष्कृद्) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योतियों को पैदा करने वाले, (असि) हैं । आप ही (विश्व) समस्त [राचन] मनोहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों को (आभासि) प्रकाशित करते हो । सूर्य एक सैकड़ में २२०० योजन जाने से और रोगों से पार करने के कारण 'तरणि' और ग्रहों को प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृद्' कहाता है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ ०

[६३६] प्रत्यङ् देवाना विशः प्रत्यङ्मुदेपि मानुषान् ।

३ २ ३ २ ३ १ २

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दशे ॥१०॥ अ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (देवाना) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के (विश्व) भीतर निवास करने वाली प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सामने और (मानुषान्) मनन करने वाले प्राणियों के (प्रत्यङ्) सम्मुख और (स्व.) बौलोक आनन्दमय मोक्ष के (दृशे) दर्शन करने के निमित्त (विश्वम्) समस्त संसार के (प्रत्यङ्) प्रति (उद्-एपि) उदय को प्राप्त होते हैं ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३७] येना पात्रक चक्षसा भुरगयन्तं जर्नो अनु ।

१ २ ३ १ ०

त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥ अ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे ! हे (वरुण) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (चक्षुषा) चक्षु से (जनान्) जन्तुओं को (भुरग्यन्तं) भरण पोषण करने हारे तुमको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से (त्व) तू समस्त जीवों को (पश्यसि) देखता है ।

१५ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३८] उ घामेपि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्षुभिः ।

२ ३ १ २
पश्यज्जन्मानि सूर्य ॥१२॥ अ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! (अक्षुभिः) व्यापकशील, शक्तियों द्वारा (पृथु) विशाल (रजः) समस्त लोकसमूह को (अह) और (घाम् उ) समस्त सूर्य और बौलोक के भी (जन्मानि) जन्म लेने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को (पश्यन्) देखता (पृषि) रहता है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ कर
[६३९] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरौ रथस्य नप्त्यः ।

१ २ ३ १ २
ताभिर्घाति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ अ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूर) सबको प्रेरणा करने हारा परमात्मा (रथस्य) सब देहों में आत्मा माध (शुन्ध्युवः) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, (नप्त्यः) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को (अयुक्त) जोड़ देता है और (ताभिः) उन द्वारा ही (स्वयुक्तिभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (घाति) वह सर्वत्र व्यापक है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६४०] सप्त त्वा हरितां रथे वहन्ति देव सूर्य ।

३ १ २
शौचिष्केशं त्रिचक्षण ॥ १४ ॥ अ० १ । ५० । ८ ॥

६३८—'वि घामेपि' इति ।

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक । हे (देव) प्रकाश
मान ! हे (विश्वया) सबके आत्मन् ! (रथे) इस शरीररूप रथ में
(त्वा) तुम्हको (शोचिष्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले । सप्त हरितः) सात
ज्ञान प्राप्त कराने वाले इन्द्रियगण (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी
शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

इति षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपद्धतीविभूषितेन मीमासातीर्थोपाध्यलङ्कितेन श्री पण्डितनयदेव-
शर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये आग्नेयैन्द्रपावमानाग्न्यक्काण्डचतुष्टयात्मकः

सामवेदसंहितायाः पूर्वार्चिकाख्यो भागः समाप्तः ।



ओ३म्.

अथ महानाम्यार्चिकः *

प्रजापतिर्भृषि. । इन्द्रस्यैलोऽस्यात्मा देवता ।

[१]

[६४१] वि३दा॑ म३घ॑व॒न वि३दा॑ गा॒तुम॑नु॒शसि॑षा दि॒श ।

शि॒ला श॑ची॒नाम्प॑ते पूर्॒वाणां॑गुरु॒वसो॑ ॥१॥

[६४२] आ॑भि॒ष्ट्वम॑भिष्टि॒भे. स्वा॑ऽउ॒त्राशु॑ ।

प्र॒च॒न॒न प्र॒च॒न॒येन्द्र॑ शु॒म्नाय॑ न ड॒पे ॥२॥

[६४३] ए॒वा हि॑ श॒क्रो रा॑ये वा॒जाय॑ वज्रि॒व ।

श॒वि॒ष्ट वज्रि॑न्न॒क्ष्मे म॑हि॒ष्ट वज्रि॑न्नृ॒जसे॑ ।

आ॑ या॒हि पि॒य म॑त्स्य ॥३॥

भा०—(१) हे । मघवन् । परमेश्वर । (विदा) आप सब कुछ जानते हैं ।
अन० (गातुं) मार्ग का (विदाः) आप प्राप्त कराने, आप (दिश) दिशाओं
का (अनुशमिष०) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुँचने की दिशा दर्शावें ।
हे (पूर्वाणां) पूर्ण (शचीना) शक्तियों के (पते) स्वामिन् ! हे (गुरु॒वसो)
समस्त प्रजाओं के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या
अति अधिक धन सम्पन्न ! (शिव) हमें विद्या करो, नियमों का उपदेश करो

■ अथमार्चिकं नत्तु छन्दमार्चिके नाप्युत्तमार्चिके । सर्वत्र प्रथमेव पूर्वोत्तरयोर्मध्ये
पठित्वान्परिशिष्टमिति केचित् । तदुक्तम् । सर्वत्र माममहितासु तथोपरन्धे । यज्ञे
च होतुः पृष्ठेऽत्य विनियोगजनान्च । १. सोममर्गाया अस्या शक्त्या सामगैः खगद्वय
कृतम् । तत्र प्रथमे आद्यपाद्वयनुपमर्गे द्वितीये मध्यपाद्वयनुपमर्गे तृतीये त्रान्निगपाद
उपमर्गे । शेषे मत्स्यमि० पादैरष्टाक्षरः पट्पचाशदक्षरा शक्ती पूर्यते । सर्वत्र रेखाङ्किताः
पादा उपरुर्गाः श्रेयाः ।

(२) हे प्रैलोक्यपते ! हे (प्रचेतन) उत्कृष्ट चेतनासम्पन्न !
चिन्तय जगदीश्वर ! हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ! आप (स्वः न) सबको
प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान (अंशु) सर्वव्यापक, (आभिः) इन
(अभिष्टिभिः) अभीष्ट उपासनाओं से (इषे) अन्न और जीवन प्राप्त
करने के लिये और (शुम्नाय) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये (नः)
हमें (प्रचेतय) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो ।

(३) हे (मंहिष्ठ) सबसे महान् ! सबसे बड़े दाता और पूजा
के योग्य ! हे (वज्रिवः) पापों का वजन करने वाले, ज्ञान से सम्पन्न !
आप (शक्र) शक्तिमान् (एव हि) ही हैं । अतः हे (शविष्ठ) सबसे
अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें (राये) धन, ज्ञान,
शक्ति, तेज और (वाजाय) बल, अन्न के निमित्त (अम्जसे) समर्थ
करो । हे वज्रिन् ! (अम्जसे) आप हमें समर्थ बनाओ । (आयामहे) आप
हमारे हृदय में प्रकट होओ । (पिब) यह ज्ञान, स्तुतिमय भक्तिरस मेरे
हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करो (मत्स्व) और आनन्दमय
होकर बिराजा ।

[२]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६४४-६५६] विदा राये सुधीर्यम्भवा वाजानाम्पातिर्वशां अनु ॥

१ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ १ २
मंहिष्ठ वज्रिभृजसे य. शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
या मादष्टो मघोनामंशुर्न ज्ञां चिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ २
त्रिकत्वो अभि नो नयेन्द्रा विदे तमु स्तुहि ॥५॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इश हि शक्रस्तमूनये हवामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
स नः स्वर्पदति द्विपः क्रतुश्छन्द धृत पृहत् ॥६॥

६४४-६४६—रेखाङ्किता, पादा उपमार्गाः । उपे मसमि. पादेः शकरी ।

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें (राये) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम (सुवीर्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य, ब्रह्मचर्य को (विदाः) प्राप्त कराओ । () जो (शूरायाम्) शूरवीरों में भी (शविष्ठ) सब से अधिक बलवान् है, हे (महिष्ठ) सबसे महान् ! (वज्रिन्) बलवान् ! पापनाशक ! आप (वाजाना पति.) समस्त ऐश्वर्यों, ज्ञानों और बलों के पति () हैं । और (वशान्) आपके वशीभूत समस्त लोकों के (अनु) अनुकूल हितके लिये उनपर (अभ्यसे) वश करते हो ॥४॥

भा०—(य.) जो (मधोना) समस्त ऐश्वर्य वालों में (महिष्ठः) सबसे बड़ा दाता है वही (अंशु न) समस्त संपार में अपनी प्रसरणशील शक्तियों से व्यापक सूर्य के समान (शोचि.) शुद्ध, कांक्षितमान् है । हे (चिकित्स्व) सर्वज्ञ ! आप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यशास्त्री (न.) हमें भी (विदे) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये (अभि नय) आगे ले चलो । हे मनुष्य ! तू (तम्) उसकी ही (स्तुति) स्तुति कर ॥५॥

भा०—' हि) क्योंकि (शक्र.) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही (ईशे) सब का शासन करता है इमलिये (उत्तये) अपनी रक्षा के लिये (अपराजितं) किसी से भी हारे हुए, (जेतार) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को (हवामहे) हम स्मरण करते हैं । (स.) वह (न.) (हमारे (द्विप.) शत्रुओं को (सु अर्पद्) विनाश करे । वह महान् परमेश्वर ही (क्रतु) सब दुनिया का कर्ता (छन्द.) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, (अतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा है ॥६॥

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४७] इन्द्रं धनस्य सानये हवामहे जनारमपराजिनम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स न स्वर्पदति द्विपः स न स्वर्षदति द्विपः ॥७॥ ।

[६४८] पूर्वस्य यत्त आदिवोऽशुम्भेभ्यः ।

सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्ति शविष्ठ शस्यते ।

वशी हि शक्रो नूनं तन्नय्य सन्नयसे ॥८॥

[६४९] प्रभा जनस्य वृत्रहन्त्समर्थेषु ब्रधानहै ।

शूरो यो गोपु गच्छति मखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥

भा०—(धनस्य) परमेश्वर्य को (सातये) प्राप्त करने के लिये हम (अपराजित जेतारं) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता (इन्द्रं) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं । (स न द्विष अति स्वर्पद् २) वह हमें शत्रुओं से पार कर, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे (आदिव) ज्ञानस्वरूप, अक्षय्य ! सबके प्रलय करने हारे ! (पूर्वस्य) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा (यद्) जो स्वरूप (अशुम्भे) सर्वव्यापक (मदाय) आनन्द देने के लिये है, हे (वसो) सबको बसाने हारे ! वह (न सुम्ने) हमारे सुख के लिय हमें (आ धेहि) प्रदान कर । हे (शविष्ठ) सर्व शक्तिमान् ! तेरा (पूर्ति) सबका पावन पोषण करने वाला स्वरूप ही (शस्यते) प्रशंसा किया जाता है । (नूनं) निश्चय से आप (शक्र) शक्तिमान् होकर (वशी) सब पर बसा करने हारे हो । (तत्) इसीलिये उस (नय्य) स्तुतिर्योग्य आपको ही (स नयसे) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हूँ ॥८॥

भा०—हे (प्रभा, वृत्रहन्) समर्थ ! हे विघ्नविनाशक ! हम स्त्री पुत्र, गुरु या शिष्य (जनस्य) प्राणियों के (अर्थेषु) बड़े २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान (ब्रधानहै) तेरी स्तुति करते हैं । (य) जो आप (गोपु) घेदवाणियों में गच्छति । प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वह (मखा) हमारे आत्मा के मित्र, (सुशेव) उत्तम शक्ति से सदा करन योग्य (अद्वयुः) एकमात्र अद्वितीय ॥ ९ ॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि

SSS SS

[६५०] (१) एवा^{३ २}ह्योऽ^३देऽ^२देव

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर आप (एव) ऐसे (हि) ही (एव) निश्चय से हो ।

(२) एवा^{२ ३ १ ३}ह्यग्ने

हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (एवं हि) आप ऐसे प्रकाशस्वरूप ही हो ।

(३) एवा^{३ १ २}ह्यिन्द्र

हे (इन्द्र) सर्वेश्वर्यमग्न ! सब के प्रकाशक, स्वयं प्रकाशमान ! (एव हि) निश्चय आप ऐसे ही हो ।

(४) एवा^{३ १२ २२}ह्यि पूषन्

■ (पूषन्) सबके पोषण करने हारे परमात्मन् ! (एव हि) आप ऐसे ही हो ।

(५) एवा^{३ १२ २२}ह्यि देवाः

हे (देवा.) हे समस्त देवगण 'दिव्यगुणों से सम्पन्न पदार्थों ! एवं विद्वानो ! (एव हि) आप सब परमेश्वर के गुणों से ही इस प्रकार के हो ।

इति पञ्च पुरीषपदानि ।

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थोपाध्यायकृतेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते

सामवेदस्थालोकभाष्ये सामवेदसंज्ञितायाः महानाम्न्यार्चिकारण्यो

भागः पूर्तिमाद्यः ॥

• ओ३म् •

सामवेदसंहितायाः



उत्तरार्चिके

प्रथमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

प्रथमोऽध्यायः

अपिः—१ असितः काश्यपो देवको वा । २ कश्यपो मारीचः । ३ वैजानमा
आङ्गिरसः । ४ भरद्वाजः । ५ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा । ६ हरिमिठः । ७ विश्वामित्रो
गायिनः । ८—१० अमहीवुराङ्गिरसः । ११ वसिष्ठः । १२ वामदेवः । १३
नोधा नाक्षीवसः । १४ कलिः प्रागाधः । १५ पुण्ड्रकोऽग्निः । १६ सदिता । १७
शफः । १८ श्यावाम्बः । १९ आन्धीगवः । २० अग्निर्वैश्वानरः । २१ साकमम्बः ।
२२ सौमरिः । २३ नृमेष ॥ देवता—१-३, ८—१०, १५—१९ सोमः ।
४, १०, २१ अग्निः । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १२, १४, २२, २३ इन्द्रः ।
७ इन्द्राग्नी । ८ सर्वे देवाः ॥ छन्दः—१—८, १२, १५, २१ गायत्री । ६,
११, १३, १४, २० बृहती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ वकुप् । १७
वज्रिक् । १८ अनुष्टुप् । १९ जगती ॥ स्वरः—१—८, १२, १५, २१
षड्वः । ९, ११, १३, १४, २० मध्यमः । १० धैवतः । १६, १७, २२,
२३ ऋषभः । १८ गान्धारः । निषादः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५१] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३ १ २
अभि देवा इयजते ॥ ॥

[६५२] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २२} अभि नै मधुना पयोऽथर्वाणो अशिभ्रयुः ।

^{३ २ ३ १ २ ३ २} देव देवाय देवयुः ॥ २ ॥

[६५३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ १ २२} स नः पचस्व शं गवे श जनाय शमर्वते ।

^{१ २ ३ १ २} शं राजन्नाषधीभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० २। ११। १-३ ॥

भा०— (१) हे (नरः) मनुष्यो ! (यस्मै) इस (पचमानाय) शुद्धिकारक (देवा अभि इयधते) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) (ते) तेरे (देवं) दिव्यगुणसम्पन्न (देवयुः) देवों, विद्वानों से अभिलषित, (पच) पोषणकारी आनन्द रस को (अथर्वाणः) अहिंसक सपत्नी लोग (मधुना) मनन करने ~~द्वारा~~ ब्रह्मज्ञान के संग (अशिभ्रयुः) मिश्रकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे (राजन्) देदीप्यमान परमेश्वर ! (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में (श) कल्याण, सुख (पचस्व) प्रदान ~~कर~~ । (जनाय) हमारी समस्त प्रजाजन को, (श) कल्याण हो और (शमर्वते) कर्मेन्द्रियों या अश्वदि सेनाओं में (शं) शान्ति सुख हो । और हमारे (ओषधीभ्यः) उष्यता, प्रताप या तेज को धारने वाले लोगों को भी (शं) सुख हो ।

[६५४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} दविद्युतन्या रुचा परिष्टोभन्त्या रुपा ।

^{१ २ ३ १ २२} सामा. शुक्रा गवाशिर. ॥ १ ॥

[६५५] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ २} हिन्वानो हेतुभिर्हित आ वाज्र घान्यक्रमीत् ।

^{१ २ ३ १ २} सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

[६५६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २} अथक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २} पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । ६४ । २८-३०॥

भा०—(१) (सोमा) सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगीजन, (शुक्लः) शुक्ल कर्म अर्थात् निष्पाप कर्म करने हारे, (गवाशिरः) अपनी हृन्दियों पर वश करने हारे, (दविद्युतत्या) अधिक प्रकाशमान (रुचा) कान्ति और (परिष्टोभन्या) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे (कृपा) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (वनुषः) हिंसक घोड़ा लोग (सीदन्तः) विशेष पैसरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार (वाजी) जलवान् घोड़ा (हेतुभिः) हथोरों से (हिन्वान) ताड़ा गया (वाजं) युद्ध के मैदान में (अक्रमीत्) दौड़ता है उसी प्रकार (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (हेतुभिः) लौकिक कष्टों या हेय, त्याज्य वृत्तियों से (हिन्वानः) प्रेरित होकर (हितः) सन्मार्गों में आकर (वाजः) ज्ञानपथ पर (अक्रमीत्) क्रदम रख देता है ।

(३) हे (कवे) अन्तर्दर्शिन् ! मेघाभिन् ! हे (सोम) सौम्यगुणों से युक्त महानुभाव ! विद्वन् ! (दिवा) प्रकाश, ज्ञान के बल पर (अथक्) दूर १ भी, लोक (स्वस्तये) कल्याण लिये (संजग्मानः) गमन करता हुआ तू (सूर्य) सूर्य के समान (दृशे) सबको साथ पदार्थों के दर्शाने लिये (पवस्व) सर्वत्र जा ।

[६५७] ^{१ २ ३ ३ ३ १ २} पवमानस्य ने कवे वाजिन्तसर्गो असृक्षत ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १} अर्चन्तो न अवस्यच ॥ १ ॥

[६५८] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} अच्छा कोशे मधुश्रुतमसृग्र वारे अग्नये ।

^{१ २ ३ १ २} अथावशन्त घीतये ॥ २ ॥

१ २ ३ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६५६] अचक्षा समुद्रमिन्दवाऽस्तं गावो न धेनवः ।

१ २ ३ ४ ३ २ ३ २

अगमघृतस्य यानिमा ॥ ३० ॥ ३॥ अ० ६ । ६६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वान् पुरुष ! हे (वाजिन) ज्ञान-
धन् ! (अवेन्त० न) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष के घोड़े बराबर
सरपट होजाते हैं उसी प्रकार (ते पवमानस्य) योगसाधना के मार्ग पर
गमन करते हुए तेरे (अवस्यव । ज्ञान को प्राप्त करने हारे (सर्गा) प्रयत्न
(असृजत) आप से आप सफल होने लगते हैं ।

(२) (धीतय०) ध्यान करने हारे साधक लोग (अभ्यये) कभी न
धीया होने वाले, या प्राणमय (धारे) आवरण के ऊपर (मधुरक्षुतं) मधु,
ब्रह्मानन्द रस को चुबाने वाले (कोशं । आनन्दमय कोश को (अचक्षा)
उत्तम रीति से (असृग्रं) प्रकट करते हैं और (अवावशान्त) उसी की कामना
करते हैं । अर्थात् तामस आवरण पार करके वे ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त
करते हैं और उसी में भग्न होजाते हैं ।

(३) (धेनव० गाव) दुधारी गौपं जिस प्रकार (अस्तं न) घर को
स्वयं आजाती है उसी प्रकार (इन्दव) ऐश्वर्यसम्पन्न, ज्ञान से प्रकाशित
चित्त वाले विद्वान् लोग (समुद्र । उत्तम रीति से उमड़ने वाले आनन्द-
सागर, परम धाम, (अतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान और समस्त यज्ञ के मूल
कारण परमेश्वर को (अचक्षुः) भली प्रकार (आ, अगमन्) प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथमः ।

— ० —

■ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ■

[६६०] अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातय ।

३ १ २ ३ १ २

नि होता सति यद्विपि ॥ १ ॥

[६६१] तं त्वा समिद्धिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि ।

बृहन्नोत्रा यविष्य ॥ २ ॥

[६६२] स न पृथु श्रवाच्यमच्छा देव विवाससि ।

बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकल संख्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे (अगिरः) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (तं) तस्य प्रसिद्ध (त्वा) तुम्हें परमेश्वर को (समिद्धिः) दीप्ति साधन ज्ञानों और (घृतेन) वेदीप्यमान तेज से (वर्धयामसि) हम आपको बढ़ाते हैं, आपकी विशालता प्रकट करते हैं, अतः हे (यविष्य) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ! सर्वशक्तिमन् ! (बृहत्) आप अधिक (शोच, हृदय में प्रकाशित हो) ।

(३) हे देव ! अग्ने ! विद्वन् ! प्रभो ! आप हमें (पृथु) अति विशाल (बृहत्) बढ़े, (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (श्रवाच्य) श्रवण करने योग्य वेदज्ञान को (अच्छा) मन्त्री प्रकार (विवाससि) प्रकट करें ।

[६६३] आनो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षनम् ।

मध्वा रजासि सुक्रतू ॥ १ ॥

[६६४] उरुशसा नमोवृधा मदा दक्षस्य राजध ।

प्राधिष्ठाभिः शुचित्रना ॥ २ ॥

[६६५] गृणाना जमःप्रिना यानावुनस्य सीदतम् ।

पात सोममृतावृधा ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ३ । ६२ । ६१-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकल संख्या [२००] पृ० ११३ ॥

(२) (मित्रावरुणा) प्राण और अपान ! तुम दोनों (शुधिप्रतौ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेहार, (उरुशसौ) अति प्रशंसनीय, (नमोवृधा) ज्ञान

यज्ञ, यज्ञ और स्तुति से बढ़ने वाले (दक्षस्य) आत्मा के (महा) महान् सामर्थ्य से और (दाघिष्ठाभि) अति दीर्घ दृष्टियों से आप (राज्य.) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हों ।

(३) तुम दोनों (अतावृधा) सत्य और ज्ञानयज्ञ के बढ़ाने हारे, (जमदग्निना) हृदय में भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रज्वलित आत्मा वाले ~~नीति~~ द्वारा । गृयानौ) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान (अतस्य) इस जीवनयज्ञ या उपासना या योगयज्ञ के (योनौ) मूल भाग में (सीदतम्) स्थिति को प्राप्त करो और (सोमं) सर्वप्रेरक यज्ञ को (पातं) प्राप्त करो ।

[६६६] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} आयाहि सुपुमाहि न इन्द्र सोम पिबा इमम् ।

^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} एवं बर्हिः सदा मम ॥ १ ॥

[६६७] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।

^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

[६६८] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।

^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००} सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६॥ ऋ० ६। १७। १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र सत्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्रह्मयुजा हरी) ब्रह्म, ब्रह्मविद्या या वेद मन्त्रों ■ ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले (हरी) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय (केशिना) दीप्तियों से ■ होकर (त्वा) तुम्हको (वहताम्) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें । और तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को (शृणु) सुन और मनन कर । ज्ञानी पुरुषों का अपने आत्मा ■ प्रति सम्बोधन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (सोमपाः) सोमरस का पान करने वाले (सुतावन्तः) सम्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुम्ह (सोमपाय्) सोम, समस्त विश्व का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (इवामहे) पुकारते हैं ।

[६६६] इन्द्राग्नी आगतं सुने गीर्भर्नभो वरेण्यम् :
अस्य पातं धियेषिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्निं जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
अया पातामिमं सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छ्रुदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।

ता सोमस्येह तृप्ताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । १, ३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, वही प्रकार (अस्य मध्ये) इस ससार के बीच में (इषिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीर्भिः) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि से (नभ) समस्त जगत् की ओर (वरेण्यं सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पात) रक्षा करो । अथवा—(नभः) सब को एक सूत्र में बाधने वाले (वरेण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्यों को कराओ, उपदेश करो ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेतनाः) चेतनास्वरूप (यज्ञः) आत्मा (युवा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप सब (जरितु) सत्य गुणगान करने हारे पुरुष के (सचा) साथ रहकर (अया) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इमं सुतं) इस उत्पन्न संसार का (पात) पालन करो ।

(३) मैं (कविरुद्रौ) मेधाभि पुरुष के आच्छादन, सत्संग और रक्षा करने वाले (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् और (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष को (यज्ञस्य) इस पूज्य आत्मा में (जूया) सीतरी ज्योति से (वृणो) धरण करता हू, अपनाता हूँ । (तौ) ये दोनों (इष्ट) इम संसार में (सोमस्य) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा (नृपता) स्वयं हों, और सबको नृप करें ।

३० द्वितीय- मण्ड. ।

[६७२] उवा से जातमन्त्रसो दिवि सद्भूम्यादवे ।

उग्र शर्म महि श्रव. ।

[६७३] न इन्द्राय यज्यं च वरुणाय मरुद्भ्यः ।

वरिवो वित्परिस्त्रय ॥२॥

[६७४] एना विश्वान्यथ आ धुम्नानि मानुषाणाम् ।

सिपासन्तो वनामहे ॥३॥ अ० ६। ६१। २०, १२, २२॥

भा०—इन तीनों आवाओं का व्याख्यान क्रम से देखो अधिकृत संख्या [४६०] पृ० २३६, और [४६२, ४६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनानः सोमं धारयापो वसानो अर्पसि ।

आ रत्नया यानिमृत्तस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्यय ॥१॥

[६७६] दुहान ऊग्रदिव्यं मधुभिर्धु प्रतनं सधस्यमासदत् ।

आ पृच्छ्य धरुणं वाज्यपांसि नृभिर्द्धौते विचक्षणः ॥२॥६॥

अ० ६। २०७। ४, ५ ॥

भा०—(१) इसकी व्याख्या देखो अधिकृत संख्या [४११] पृ० २५२।

(२) (विचक्षणः) चतुर, बुद्धिमान्, (वाजी) ज्ञानी, (ऊधः) उन्नति के पथ में ले जाने वाले, (दिव्यं) दिव्य (धौतम्) मल और

भीतिरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र, (धियं) उत्तम, (प्रज्ञं) प्राचीन आनादि
(सधस्यं) नित्य साथ रहने वाला, (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या
ज्ञान को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है और बाद में वही योगी (नृभिः)
ज्ञानवान् पुरुषों से भी (आपृच्छ्य) पुरुषों से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने
योग्य (धरुणं) सबके आश्रयभूत ईश्वर को (अर्यसि) प्राप्त होता है ।

[६७७] प्रो तु द्रव परिवोश निषीद नृभिः पुनानो अभिवाजमर्च ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

अभ्य न स्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छ्रा वडिरशनामर्नयन्ति ।

[६७८] स्वायुधः पवत द्रव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणाः ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

पितृ दवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः

पृथिव्या ॥२॥

[६७९] आपिर्विप्रः पुरयता जनानामृभुधर उशना काव्यन ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

स त्विद्विषद निहित यदासामपाव्यशुभं नाम गोताम् ।

॥३॥१०॥

॥३॥१०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत संख्या [५२३] पृ० २५६ ॥

(२) (इन्दुः) परमेश्वरी, (देवाः) देव, ईश्वर और राजा (स्वा-
युधः) उत्तम आयुधों से युक्त (अशस्तिहा) शासन न मानने वालों का
नाश करने वाला, (वृजना) सेनापतियों (रक्षमाणाः) रक्षा करता हुआ,
(देवानां पिता) सब देवों, विद्वानों का पालक (सुदक्षः) उत्तम बल-
शाली, कार्यकर्ता (दिवः) ज्ञान प्रकाश, और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, धौलोक
और सात्विक पुरुषों को (विष्टम्भः) धामने वाला, वशकारक (पृथिव्याः)
पृथिवी, और राष्ट्र एकमात्र धारण करने द्वारा है ।

६७८—(२) 'वृजिता' इति श्रु० ।

(३) (अपिः) अतीन्द्रिय ज्ञानों का द्रष्टा, (विप्रः) ज्ञानवान् मेधावी,
(जनानां पुरः एता) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्रेसर,
(अमुः) सत्य ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीरः) कर्म और प्रज्ञानों का दाता,
(उशनाः) सब पर वश करने वाला, एकमात्र योगी (काव्येन) ज्ञान-
मय वेद साहित्य द्वारा (आसा । इन । गोना) वेदवाणियों का (अपीच्यं)
मनोहर, गुप्त, (गुह्यं) हृदय से जानने योग्य (निहितं) भीतर रक्खा हुआ
(नाम चिद्) सार (विवेद) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[दि००] अ० त्वा^{३ १ २} नानुमो^{३ १ २} दुग्धा इव^{३ १ २} धेनवः ।

^{१ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १} ईशानमस्य जगतः स्वर्द्धेशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

[दि०१] न त्वार्थो^{१२ १२ ३ २ ३ १२} अन्यो दिव्यो^{२२ ३ २ ३ १२ १२} न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अश्वायन्तो मधवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

॥११॥

अ० ७।३२।२२-२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

(२) हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे
जैसा (अन्य.) दूसरा (दिव्य.) दिव्य गुणों से युक्त (न जात.) न
पैदा हुआ और (न जनिष्यते) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य
(पार्थिव.) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का मातृक भी (न जातः
न जनिष्यते) न हुआ और न होगा । हम (अश्वायन्तः गव्यन्तः) अश्व
और गौओं या प्राण्य और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, (वाजिनः) ज्ञान
और बल के इच्छुक होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

दि०१—(३) 'सप्तं भवास्तूतिभिः' इति अ० ।

॥ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृयः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २

कया शचिष्ठया घृता ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[६८३] कस्त्वा सत्यो मदाना मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २

दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[६८४] अभी पु यः सखीनामविता जरितृणाम् ।
३ १ २ ३ १ २

शते भवास्यूनये ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ४ । ३१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६६] पृ० ६३ ।

(२) (मंहिष्ठः) पूजनीय, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (मदाना) इषों, आमन्त्रों के बीच में (क) कौनसा (अन्धस) जीवन धारण कराने वाला या अन्धकार का नाश करने वाला परम रस है जो (आरुजे) आरोग्य के लिये और (दृढ चिद् वसु) दृढ वास योग्य जीवनरूप धन होकर (या) आपको (मत्सत्) आनन्दित करे ।

(३) हे इन्द्र ! आप (नः) हमारे (मरीना) मित्र (जरितृणा) सद्धिष्ठा का उपदेश करने वाले विद्वानों के (ऊनये) रक्षा के लिये (शते) सौ वर्षों तक (अविता) रक्षक (भवामि) बने रहें ।

॥ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२
[६८५] तं वो दस्ममृतीपहं वमोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अभि वत्सं न स्वसरेषु येनघ इन्द्रं गीर्भिर्नयामहे ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २
[६८६] द्युक्षं सुदानं तावर्पाभिरावृत गिरिं न पुरुभाजसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २

क्षुमन्त वाज शतिन सहस्रिण मन्त्रु गोमन्तमीषहे ॥ २ ॥

॥ १३ ॥

अ० ८ । ८८ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।

(२) (शुचं) दिव्य गुणों में निवास करने हारे (सुदानु) उत्तम दाता, (तविपीमि.) बलों से (आवृतम्) घिरे हुए, परिपूर्ण, (पुरुभोजस) प्रजाओं के पात्रक से हम (कुमन्तं) निवास योग्य गृहादिसम्पन्न, (शतिन) सैकड़ों (सहस्रिण) सहस्रों सुखों और लाभों से युक्त (गोमन्तं) गो धन से पूर्ण (बाज) ज्ञान और ऐश्वर्य को (ईमहे) याचना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८७] नरोभिर्वो वेदद्वसुमिन्द्र सवाथ ऊनये ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

बृहदायन्नः सुतसामे अध्वरे दृवे भरं न कारियाम् ॥१॥

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८८] न यं दुधा वरन्ते न स्थिरा मुरा मदे सुशिप्रमन्धमः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

य आदृत्या शशमानाय सुन्वत दाता जरित्रे उक्थ्यम् ॥२॥

॥ १४ ॥

अ० ८ । ६६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल संख्या [२३७] पृ० १२१ ।

(२) (य) जिस (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को (दुधाः) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य क्रोध, काम आदि के बेश भी (न वरन्ते) वारण नहीं करते, या नहीं घेरते और (स्थिराः न) स्थिर, सामसभाव या आलस्य आदि भी जिसको शंक नहीं सकते । और जिसको (मुर) मरणशील क्षणिकभाव भी विचलित नहीं कर सकते वह आत्मा (अन्धम) सोमरम, जीवनदायक, अज्ञान नाशक ज्योति कं (मदे) आनन्द में (शशमानाय) स्तुति उपासना करते हुए (सुन्वते) योग साधना करनेहारे (जरित्रे) अन्यो को सन्विष्टा का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को (उक्थ्य) वेदमय ज्ञान को (आदृत्य) आदरपूर्वक (दाता) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[६८६] स्वादिष्टया मदिष्टया प॒स्त्र सोम धारया ।

इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥

[६८७] रक्षोहा विश्वचर्पणिरभियोनिमयोहते ।

द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

[६८८] वरिवो धातमो भुवो मदिष्टो वृत्रहन्तम ।

परि राधा मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । १ । १-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४६८] पृ० २३६ ।

(२) (रक्षोहा) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्पणि.) ससार का द्रष्टा, प्रभु (अयोहते द्रोणे) जोह के बने फूटे में नजराशि के समान (अयोहते) गतिदायक शक्ति से गतिमान् (मदिष्टे) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले, स्वाभाविक (योनि) इस अन्तरिक्ष में (अभि आसदत्) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) है (वृत्रहन्तम) आवरणाकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् । आप (वरिवः धातमः) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धनों, रत्नों को धारण करने वाले, (मदिष्टः) और सब से बड़े दानी (भुव) हैं । आप ही (मघोनाम्) बड़े २ घनाक्षों को भी (राधा) धन (परि) देकर पूर्ण करते हो ।

[६८९] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।

माह धुक्षन्मो मदः ॥ १ ॥

[६९०] यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।

स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिवोच्चैः वाजं नैतशः ॥ २ ॥ १६ ॥

अ० ६ । १७८ । १-२ ॥

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को (चेतति) ऐसे जान लेता है (यथा चिदे) मानो उसे साक्षात् प्राप्त ही कर लेता है ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मर्त्येषु) अपने आत्मिक ज्ञान से आनन्द प्रवाहों में (सानभिः) सेवन भजन करने और (आभ) ग्रहण करने योग्य (वज्रं) काम क्रोधादि के वर्जन करने में समर्थ ज्ञानशक्ति को (आभस्येत्) चारों ओर फेंके, फैलावे । (अभ्युजित्) क्रियाओं, प्रज्ञाओं और प्राणों पर विजय प्राप्त करन द्वारा योगी (स भरत्) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का संग्रह करता हुआ (वृषण) सुखों की वर्षा करने हारे उस परमात्मा को (गृभ्याति) पकड़ता, उसका आश्रय लेता या प्राप्त हो जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६७] पुरोजिनी वा अन्धसः सुताय मादयित्तवे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ एक २२
अप श्वान श्रथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥

१ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६८] यो धारया पावकया परि प्र स्थन्दते सुतः ।

२ ३ २ ३ २
इन्द्रुरश्वो न कृत्व्य ॥ २ ॥

१ ३ १ २ ३ २२ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६९] तं दुरोपमभी नर सोमं विश्वाच्या धिया ।

३ १ २ ३ १ २
यज्ञाय सन्त्वद्रयः ॥३॥६८॥ श्र० ६ । २०२ । २-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [२४५] पृ० २७३ ।

(२) (इन्द्र) वह परम ऐश्वर्य, विभूतियों से सम्पन्न योगी (अश्व न) अश्व के समान (कृत्व्यः) कर्म करने में कुशल होता है । (य) जो (पावकया) पवित्र करने वाली (धारया) धारया या ज्ञान धारा में (सुतः) निष्पन्न, निष्पात, उसमें निष्ट होकर (परि प्र स्थन्दते) चारों तरफ अपने ज्ञान-उपदेशों द्वारा विचरता करना है ।

६६७—(३) 'यश्च दिन्वन्त्यद्रिभिः' इति '२०' ।

(३) (तं) वस (दुरोपं) दुःखकारी रोप या दाह, प्रताप या तेज वाले (सोमं) सोम्य योगी के पास (नरः) लोग (विश्वाच्या धिया) विश्वव्यापी प्रेमबुद्धि से (अभि) आते हैं । मनुष्यों को चाहिये कि वे (अदयः) पर्वत के समान स्थिर, अभेद्य हृदय या मेघ के समान आवरपूर्ण, उदार हृदय होकर (यज्ञाय) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त (सन्तु) लगे रहें ।

[७००] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३} अमि प्रियाणि पवते चनो हितो नामानि यद्वा अधि येषु
^{३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २} वर्धते । आ सूर्यस्य बृहन् बृहन्नधि रथं विष्णञ्चमरुह
^{३ २} द्विचक्षुः ॥ १ ॥

[७०१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या-
^{२ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} अदाभ्य । दधानि पुत्रः पित्रोरपीक्यं नाम तृतीयमधि-
^{२ ३ २ ३ २} रौचनं दिवः ॥ २ ॥

[७०२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} अत्र घृतानः कलशां अचिक्रद्भूमिर्यमाणं कोशं आ
^{३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} हिरण्यये । अभी ऋतस्य दीहना अनूपताधि त्रिपृष्ठ
^{३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १} उपसो विराजति ॥ ३ ॥ १६ ॥ ७५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५४] पृ० २७६ ।

(२) (ऋतस्य) सत्यवादी, योगाभ्यासी की (जिह्वा) वाणी (प्रियं) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करने वाले, (मधु) आनन्दजनक रस और ज्ञान को (पवते) बहानी है । (अस्याः) इस (धियः पतिः) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और (वक्ता) सत्य वाणी का बोलने द्वारा (अदाभ्य) कभी नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता ।

७००—(२) 'अपिरोचने' इति अ० ।

(३) 'अभीमृतस्य' 'विराजति', इति अ० ।

तव वह योगी (पुत्रः) अपने मा बाप का सुपुत्र (पित्रोः) मा बाप से भी (अपीच्यं) अज्ञात, (तृतीयं) तीसरे (दिवः अधि रोचनं) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश से युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला (नामः) स्वरूप या तेजस्वी पद (दधति) प्राप्त करता है । एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, तीसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा, लोकमान्य, देशबन्धु आदि । यहा सत्यवाणी सोम है ।

(३) वह योगी आत्मा (शुतानः) दीप्तिमान् होकर (नृभिः) नयन करने हारे प्राणों से (येमायः) नियन्त्रित होकर (हिरण्यये) हिरण्यमय, आनन्दमय (कोशे) कोश में (अवः अधिक्रवद्) शनैः २ प्रवेश करता है । (ऋतस्य) सत्यमय ज्ञान के (दोहनाः) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाह (इम्) इसका (अभिः अनुषत) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं । (त्रिपृष्ठे) तीन प्राणों के स्पर्श या संगम-स्थान त्रिपुटी स्थल पर (उपस) प्रातःप्रभा के समान विशोका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विराजसि) विराजमान होता है ।

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

[७०३] यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥

३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०४] ऊर्जो नपात स हिनायमस्मयुर्दाशेम हज्यदातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

भुवद्वाजेष्वविता भुवद्बृध उत आता तनूनाम् ॥ २० ॥

ऋ० ६ । ४८ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५] पृ० १५ ।

(२) (ऊर्जं) बल को (नपातं) न क्षीण होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हूँ । (सः) वह (हिना) तो सदा (अस्मयुः)

हमारा हितकारी है । (हव्यशतये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ठान करने वाले उस परमात्मा को हम ॥ (दाशेम) अपना आत्मा सम्पन्न करें । वह (वाजेषु) संग्रामों या बल के कार्यों में (अविता) रुक (भुवद्) होता है और (वृधे) हमारी उन्नति के अवसरों पर (तनूनाम्) देहों और देहधारियों का (प्राता) पालक (उत) भी (भुवद्) होता है ।

१ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[७०४] पशुषु ब्रह्मणि तंऽग्न इत्येतरा गिरः ।

३ १ २ ३ १ ३

एभिर्वर्धाम इन्दुभिः ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०५] यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।

१ ३ १ २

तत्र योनिं कृणवसे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[७०६] न हि ते पूर्वमक्षिपद्भुवञ्जमाना पते ।

१ ३ १ २

अथा दुयो वनवसे ॥ ३ ॥ २१ ॥ क० ६ । १६ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानी आत्मन् ! हे परमात्मन् ! तू (ते) अपने (मन) चित्त या मनन करनेहारे आत्मा का (उत्तरं) उत्तर (दध) कर्म (दधसे) धारण कर । (तत्र) वहाँ तू (योनिं) आश्रयस्थान (कृणवसे) बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन् ! हे (नेमानां) इन्द्रियों और शरीर के (पते) पालक ! प्रभो ! (ते पूर्वम्) तेरा पूर्ति या वृत्ति करने वाला तेज या बल (अक्षिपद्) इन्द्रियों का नाश करने वाला (नहि) न (भुवद्) हो । (अथ) और इस कारण (दुवः) परिश्रमों, सेवा या साधना को (वनवसे) स्वीकार कर ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०७] वयमु त्वामपूर्य स्थूर न कश्चिद्भूरन्तोऽवस्थवः ।

१ २ ३ १ २

वज्रिश्चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०६] उप त्वा कर्मभूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
 त्वामिद्वयवितारं ववृमह सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥
 ऋ० ङ । २२ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०८] पृ० २०७ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कर्मन्) समस्त कर्मों (ऊतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको (उप) उपासना करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (उग्र.) तेजस्वी है (य) जो (धृषत्) शत्रु, काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वामिद् हि) तुम्हको ही हम (सखाय.) मित्र जीवगण मिलकर (सानसि) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करने योग्य (अवितार) रक्षक रूप से (ववृमहे) धरते हैं ।

[७१०] अधाहीन्द्र गर्विण्य उप त्वा काम ईमहे ससुग्महे ।
 उदेव गमन्त उद्भिः ॥ १ ॥

[७११] वार्य त्वा यन्याभिर्वर्द्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
 वावृध्वासं चिदद्विचो दिव्येदिवे ॥ २ ॥

[७१२] युञ्जन्ति हरी अपिरस्य गाथयारौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।
 इन्द्रवाहा स्वर्विदा ॥३॥२३॥ ऋ० ङ । २३ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०६] पृ० २०७

(२) हे (अदिव) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने वाले । हे शूर ! नदियों से (वा न) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान या वेदमन्त्र (वावृध्वास) सबसे बड़े महान् (त्वा) तुम्हको (यन्याभिः) तुम तक पहुँचने वाली स्तुतियों (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं, अर्थात् वे तेरी महिमा को उससे और बढ़ाते हैं ।

(१) (इषिरस्य) सबको प्रेरणा करने वाले ईश्वर की (गायया) स्तुति द्वारा ही योगी लोग (उच्युते) विशाल २ समाधि वाले (रथे) रमण-योग्य स्थान इस देह या रसस्वरूप आत्मा में, रथ में, घोड़ों के समान (चचोयुजा) वाणी द्वारा ही समाहित या वश होजाने वाले (हरी) हरणशील प्राण और अपान दोनों को (युज्वन्ति) योग से अपने वश कर लेते हैं । वे ही दोनों (स्वर्विदा) ज्योति और सुख को प्राप्त कराने वाले (इन्द्रवाहा) आत्मा के बहन करने वाले दो अश्व समान हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः । इति प्रथमोर्वः प्रपाठकः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयोर्वः प्रपाठकः ।

श्रुतिः—१, ४ अतस्त्वः । २ १४, १५ वसिष्ठः । ७ मेघातिथिप्रियमेधौ । ८ शरिमिठि । ९ कुम्भीदः काण्वः । १० त्रिशोकः । ११ काण्व प्रियमेध । १२ विश्वामित्रः । १३ मधुच्छन्दाः । १४ शुनःशेषः । १५ नारदः । १६ वामदेव । १७ अवत्सारः । १८ अक्षितः काश्यपो अमहीशुर्भा । १९, २० दयावाचः । २१ मरदाजादयः सप्त श्रपयः । २२ प्रथममन्त्रस्य दयावाचः द्वितीयमन्त्रस्य प्रजापतिः, तृतीयमन्त्रस्य अम्बरीषः ॥ देवता—१-२२ इन्द्र । २३, २४ अग्निः । २५ तपाः । २६ अश्विनौ । २७-२८ सोमः ॥ छन्दः—१, ११, २६-२८, २९ गायत्री । ३० उष्णिक् । ३१-३५, ३७ बृहती । ३६ प्रथमद्वितीयमन्त्रयो रश्मिक् तृतीयस्था रुद्रम् ॥ स्वरः—१-११, १६-१९, २१ २२ षड्जः । १२ ऋषभः ।

३३-३५, ३७ मध्यमः ॥

[७१३] ^{२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २} पान्तमा वा अन्धम इन्द्रमाभि प्र गायन ।
^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २} विश्वासाह शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

[७१४] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २} पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्याऽऽसनश्रुतम् ।
^{२ ३ १ २} इन्द्र इति प्रवीतन ॥ २ ॥

[७१५] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} इन्द्र इक्षो महोना दाता वाजाना नृतुः ।
^{३ १ २ ३ १ २} महो अभिहशायमत् ॥ ३ ॥ १ ऽ अ० ८ । ६२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१५५] पृ० ८७ ।

(२) (पुरुहूतं) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा निमित्त पुकारे गये, (पुरुष्टुत) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, (गाथान्यं) गाथारूप, वेदवाणियों द्वारा अवश द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सन-श्रुत) सदाकाल से गुरुपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा (इन्द्र) इन्द्र. (इति) इस प्रकार (प्रवीतन) कहो । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान ।

(३) (इन्द्र इक्ष) परमेश्वर ही (न) हमें (महोना) दिव्य सेजों से युक्त महान् (वाजाना) अश्वों और बलों दाता, (नृतु) सबको अपने बल पर नचाने वाला (महान्) सबसे बड़ा (अभिह) सर्वज्ञ (आ-यमत्) सबको व्यवस्था में बाधता है ।

[७१६] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र व इन्द्राय मादन इर्यश्वाय गायत ।
^{१ २ ३ १ २} सखायः सोमपात ॥ २ ॥

[७१७] ^{२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २} असेदुक्थ मुदानत्र उन दुक्षं यथा नरः ।
^{३ २ ३ १ २} चक्रमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

७१३—(२) 'गाथान्य' (३) 'महोना' इति अ० ।

^{१ २} [७१२] त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो ।

^{१ २ ३ १ २} त्वं हिरण्ययुर्वेसा ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ७ । ३१ । १-३ ॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५६] पृ० ८७ ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (नर) नेता लोग (सुदानवे) उत्तम दानी के लिये (शुचं) दिव्य विशेषणों से युक्त (उच्य) स्तुति करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस (सुदानवे) उत्तम दानी परमेश्वर के लिये (शुचं) श्रेष्ठ दिव्य, (उच्यं) ओंकार पद वाली वेदमन्त्रमय स्तुति (शसेद्) उच्चारण करे । हम भी (सत्यरश्मि) सत्य ही से प्रकट होने वाले, या सत्यरूप उसी परमात्मा की स्तुति (चक्रम) ।

(३) हे (इन्द्र) ईश्वर ! (त्वं) तू (न) हमारे (वाजयु) ज्ञान और अस्त्र, बल के देने वाला (त्वं गव्यु) तू आप ही इन्द्रिय, वाणी और रहस्यों गौबों के देने वाला है । और हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रजाओं और कर्मों के करने वाले ! हे (वेसा) सबको बसाने वाले परमात्मन् ! (त्वं) तू ही (हिरण्ययु) स्वर्ण के समान मनोहर हितकारी भिय, काम्य पदार्थों का भी देने वाला है ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} [७१६] वयमु त्वा तदिदं दत्ता इन्द्र त्वा यन्त सखाय ।

^{१ २ ३ २ ३ १} कणा उक्तोभर्जन्ते ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} [७२०] नद्यमन्यदापपन वज्रिचपसो नविष्टौ ।

^{२ ३ २ १} तवेदु स्तोमैश्चिकेत ॥ २ ॥

^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २} [७२१] इच्छन्ति देवा सुन्वन्त स्वनाय स्पृहयन्ति ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २} यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । २ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५७] पृ० ८८ ।

(२) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान-वज्र के धारक इन्द्र ! (अप्स-) कर्म (नविष्टौ) भारस्म में मैं (अन्यद्) और किसी की (न घ ईम्, आपपन) स्तुति नहीं करता । (तव इत् उ) तेरा ही (स्तोमै.) स्तुतियों द्वारा (धिकेत) ज्ञान करता हूँ ।

(३) (देवा.) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुन्वन्तं) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या सोम सवन या इश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान-ऐश्वर्य लाभ करते हुए पुरुष को ही (स्पृहयन्ति) प्रेम करते हैं । (स्वप्नाय) सोते हुए आलसी पुरुष को (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । (अतन्दा) आलस्य रहित होकर ही ये विद्वान्, देव या इन्द्रियगण (प्र-मादं) अत्यन्त हर्ष को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

[७२२] इन्द्राय मध्वने सुतं परिष्टोमन्तु ना गिरः ।

अर्कमर्चन्तु कारव ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् विश्वा अधिभिर्यो रणन्ति सप्त ससदः ।

इन्द्रं सुतं हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकटुकेषु चैतनं देवासो यच्चमत्नत ।

तामिद्वर्द्धन्तु ना गिरः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ६२ । १६-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५८] पृ० ८८ ।

(२) (यस्मिन्) जिस इन्द्र में (विश्वा भिर्य.) समस्त विभूतियाँ (अधि) अधिक शोभा देती हैं और जिसमें (सप्त संसदः) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किये हुए होता स्वरूप सात इन्द्रियगण (रणन्ति) ज्ञान-यज्ञ में आनन्दलाभ करते हैं उस (इन्द्रम्) आत्मा को (सुतं) योग यज्ञ में अतन्मरा सिद्ध होने पर (हवामहे) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं ।

[७२८] आ तू न इन्द्र क्षुमन्ते चित्रं ग्रामं सङ्कृष्टभाय ।

महाहस्ती दाक्षिणेन ॥१॥

[७२९] विद्यां हि त्वां तुविकूर्भिन्तुर्विदंष्यं तुवीमघम् ।

तुविमात्रमधोभिः ॥२॥

[७३०] न हि त्वां शूरदेवानं मत्तांसो वित्सन्मम् ।

भीमं न गां चारयन्ते ॥३॥ क० ८ । ८१ । १ ३०

भा०—(१) व्याख्या देखो अविक्ल संख्या [३६०] पृ० ६३ ।

(२) इन्द्र (त्वां) तुक्को हम [अधोभिः] तेरी इच्छाओं, ज्ञानों और कृपाओं के कारण (तुविकूर्भिन्म्) बहुत से कर्मों के करनेद्वारा (तुविदंष्यं) बहुतसे धन सम्पदाओं का दाता, (तुवीमघम्) बहुत उद्यम धनों, ज्ञानों से सम्पन्न (तुविमात्र हि) बहुतसे ज्ञान माधनों से युक्त भी (विद्य) जानते हैं ।

(३) हे शूर ! (भीम) भयजनक (गां न) जिस साहस को कोई हटाने का साहस नहीं करता उसी प्रकार (भीमं) सबको भयजनक, सर्वव्यापक (वित्सन्तं) दान की कामना करते हुए तुक्को (न देवाः) न विद्वान् लोग और (न मत्तांसः) और न साधारण लोग (चारयन्ते) चारण करते हैं ।

[७३१] आभं त्वां वृषभा सुतं सुतं सृजामि पीतये ।

सम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वां मूरा अवित्यथो मोषहस्वान आशमन् ।

माको ब्रह्मद्विषं वनः ॥२॥

६६०—[२] 'नभद्विषो' इति श्रु० ।

[७३३] इह त्वा गोपरीणिमं महे मन्दन्तु राधसे ।

सरो गौरो यथा पिव ॥३॥७॥ अ० ८ । ४५ । २०-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ' (मूरा.) मूर्ख (अविष्यव.) तुझे पालने पोपणे की चेष्टा करने हारे भोगी विलासी लोग (त्वा) तुझे (मा दभन्) नाश न करें । (मा उपहस्वान) तुझ पर उपहास करनेहारे, तेरे उपेक्षा-कारी भी तेरा बिनाश न करें । और (महाद्विप.) वेद और महाज्ञान का प्रेम न रखने वाले तेरा कभी स्नेहन न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें ।

मूर्ख लोग देह की पालना कर आत्मा का नाश करते हैं उपहास-कारी लोग नास्तिक भी आत्मा का नाश करते हैं, पापों में बह जाते हैं और वेद और महाविद्या के द्वेषी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते ।

(३) (यथा) जिस प्रकार (गौर. मृग.) गौर मृग (सर.) जल से भरे तालाब पर जाकर जल पीता है उसी प्रकार (इन्द्र) आत्मन् ! तू यहा इस हृदय में विराज कर महाआनन्द के रस को (पिव) पान कर । (इह) यहा ही (गो-परीणस) इन्द्रियगण से परिवृत्त, जितेन्द्रिय (त्वा) तुझको (महे राधसे) बड़ी भारी महाज्ञान-साधना के लिये (मन्दन्तु) साधक लोग आनन्दित करते हैं, जगाते हैं ।

[७३४] इदं वसां सुनमन्व पिवा सुपूर्णमुदरम् ।

अनाभयिन् ररिमा ते ॥१॥

[७३५] नृभिर्घोतः सुनो अश्नैरव्यावारैः परिपूतः ।

अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥

[७३६] त ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः ।

इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥८॥ अ० ८ । २ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सू० [१२४] पृ० ६६।

(२) (नदीषु) नदियों में (निः) स्नान कराये गये । अश्व० न) अश्व के समान (नृभिः) नेता लोगों द्वारा (धौतः) मल्लादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया (भरनैः) सूक्ष्म चूर्णों तक पहुँचने, एवं आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा (सुतः) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान (अम्याः) चित्ति शक्ति या प्राण के (चरैः) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा (परिपूतः) परिपोषित, (नदीषु निः) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है।

(३) (यथा) जिस प्रकार हम (गोभिः) गो-रसों से (शीघ्रन्तः) मिलाते और परिपाक करते हुए (यवं) यव के बने पकाव को (स्वादुं) आनन्ददायक यवागू पाक (अकर्म) बना लेते हैं वही प्रकार (तं) उस ज्ञानमय आत्मा को (ते) वे साधक लोग (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से (शीघ्रन्तः) मिलाते, परिपक या दृढ़ करते या अभ्यास करते हुए (अस्मिन्) इस (सधमादे) आनन्द-जनक समाधि-दशा में है (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तुम्हको (स्वादुं) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से (अकर्म) साक्षात् करते हैं।

इति द्वितीयः खण्डः ।



३१२ २४ ३ १ २
[७३७] एव ह्यन्योजसा सुतं राधानां पते ।

२ ३ २ १ ३
पिचा त्वाऽरेस्य गिर्वयुः ॥१॥

१ ३ १ ३ ३ १२ २४ ३ १२ ३२ २४ २२
[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुत नियच्छ तन्वम् ।

१ २
॥स त्वा ममसु सोम्य ॥२॥

[७३६] प्र ते अश्नेतु कुक्ष्यो मेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।

प्र बाहू शूर राधसा ॥३॥६॥ अ० ३ । ५१ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६५] पृ० ६२ ।

(२) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (यः) जो (स्वधाम्) स्व-अर्थात् अपने स्वरूप में धारणा करने के (अतु) अनन्तर (असत्) प्रकट होता है (सुते) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ! (तन्वं) अपने स्वरूप को (नि यच्छ) नियमित कर, समर्पित कर । हे सोम्य ! सोमरस के पान करने योग्य आत्मन् ! वह ज्ञानरस (त्वा) तुझको (ममत्तु) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! वह ज्ञानरस और आनन्दरस (ते कुक्ष्यो.) तेरे दोनों ज्ञान और कर्मरूप पार्श्वों को और (शिरः) शिर को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अश्नेतु) व्याप्त करे या दुःखों को बाधे । और हे शूर ! (ते बाहू) तेरी बाहुओं को (राधसा) बल, ऐश्वर्य से पूर्ण करे ।

आत्मा के दोनों काखों और शिर का व्याख्यान देखो (तैत्ति० उप० १)

[७४०] आ त्वे ता निषिदितेन्द्रमभि प्र गायत ।

सखायः स्तोमबाहसः ॥१॥

[७४१] पुरुतमं पुरुषामिशान वार्याणाम् ।

इन्द्र सोम सचा सुत ॥२॥

[७४२] स घा ना योग आमुवत्स राये स पुरन्ध्या ।

गमडाजोमिरास नः ॥३॥१०॥ अ० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० ६१ ।

(२) (पुरुषा) प्रजाओं और इन्द्रियों में सबसे (पुरुतमम्) श्रेष्ठ (वार्या-णाम्) वरण करने योग्य जानों और धनों के (ईशावम्) स्वामी (इन्द्रम्)

राजा और आत्मा की (सुते सोमे) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबक प्रेम्क, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सच्चा) साथ मिलकर (अग्नि प्र गायत । गान करो, उसकी स्तुति करो ।

(३) (स घ) वही आत्मा (नः) हमारी (योगे) समाधिदशा (आमुवत्) साक्षात् होता है । (स रामे) वही नाना ज्ञान, तप, रूप धनसाक्षि के अवसर में और (स) वही (पुरन्ध्या) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या देह को धारण करने वाली बुद्धि द्वारा भी (आमुवत्) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है । (स. न०) वह हमारे पास (वाजंभि) ज्ञानों द्वारा (गमत्) प्राप्त हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४३] यांगे यागे तन्नन्तरं वाजेवाजे हवामहे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

सखाय इन्द्रमूनये ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[७४४] अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रति नरम् ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ २

यं त पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४५] आ घा गमद्यदि अघत्सहजिषी भिरुभिभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजंभिरुप ना हवम् ॥३॥ ११॥ अ० १ । २० । ७, ६, ८ ॥

भा० — (१) व्याख्या देखिये अवि० सू० [१६३] पृ० ६१ ।

(२) (प्रत्नस्य) बहुत प्राचीन (ओकस.) परप आश्रयरूप मोह के प्रति (नरं) जेजाने वाले (तुविप्रति) बहुतों की कामना पूर्ण करने हारे पर भेश्वर को (अनु हुवे) पुनः २ प्रतिदिन स्मरण करता हू । (यं) जिस (ते) तुम्हें (पिता) हमारे पावन करनेहारे साक्षात् गुरु, आचार्य आदि (पूर्व) हमसे पहले (हुवे) स्तुति करते रहे ।

(३) (यदि) यदि परमेश्वर (नः) हमारी (हवम्) स्तुति को (अघत्) सुनके तो वह (सहजिषीभिः) सहस्रों वक्त्रशालिनी (जतिभिः)

रक्षा करनेवाली शक्तियों से और (वाजेमि.) सहजों सत्य ज्ञानों के सहित
(उ आगमत् घ) साक्षात् प्रकट ही होजावे ।

[७४६] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थयम् ।

विदे वृषस्य दक्षस्य महा हि ष ॥ १ ॥

[७४७] स प्रथमे व्योमनि देवानां सद्ने वृध ।

सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] तमु हुवे वाजसानय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् ।

मवा न. सुम्न अन्तम सखा वृध ॥ ३ ॥ १२॥ अ० ८ । १३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [३८१] पृ० १६७ ।

(२) (स) वह परमेश्वर (प्रथमे) सबसे श्रेष्ठ (व्योमनि)
विशेष रूप से शरण प्राप्त करने योग्य । देवाना सद्ने) विद्वान् ज्ञानी और
सुक्र पुरुषों के आश्रय या निवास करने योग्य लोक में (वृध.) सबसे बड़ा
है । वह (सुपार.) उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, और कष्टों से तराने वाला
(सुश्रवस्तमः) उत्तम वक्ता और ज्ञान का धारण करनेवाला, (समप्सु-
जित्) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फसे जीवों में सबसे शक्तिशाली एवं
आदि मूल कारण प्रकृति या भी वश करने वाला है ।

(३) (तम्) उस (भराय) भरण पोषण करनेवाले, अथवा
(भराय=हराय) कर्मजाल को हरण करके मुक्तिमार्ग में लेजाने वाले
(शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् को ही मैं (इन्द्रं) 'इन्द्र' नाम से । हुवे)
प्रकारता हूँ । वह परमात्मा (न) हमारे (सुम्ने) सुखप्राप्ति और (वृधे)
वृद्धि करने निमित्त (अन्तम.) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है ।

इति तृतीयं खण्डः ।

[७४६] ^{३ १ २ ३ १ २२ ३ १ २२ ३ १ २} यना वो अग्नि नमसाजो नपातमाहुवे ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २} प्रियं चेतिष्ठमर्गति स्वध्वरं निध्वरय दूतममृतम् ॥१॥

[७५०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २} स याजने अरुपा विश्वभोजसा स दुद्रधत्स्वाहुनः ।

^{३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सुग्रहा यज्ञः सुशमी वसुनां देव राधा जनानाम् ॥२॥१३॥

श्र० १० । ॥ १५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविक्त सं० [४५] पृ० २० ।

(२) (स०) वह परमात्मा (अरुपा) दीप्तिमान्, (विश्वभोजसा) विश्व, समस्त ससार का भोग कराने हारे पातक सूर्य और पृथिवी दोनों को (योजने) नियुक्त करता है । वह (स्वाहुतः) उत्तम रूप से कीर्तित परमात्मा ही (दुद्रधत्) सर्वत्र व्यापक है । वही (सुग्रहा) उत्तम ज्ञान-वान्, सबका उत्पादक है और वही (यज्ञः) महादानी, यज्ञस्वरूप, (सुशमी) उत्तम शान्त गुण सम्पन्न है । (वसुना) वास करने हारे (जनाना) जन्तुओं के (राधा देव) उस आराधनीय देव की उपासना करो ।

[७५१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्रत्यु अदर्यायत्युऽञ्जन्ती दुहिता दिवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अपो मदीवृणुतं चक्षुपातमोज्यानेष्कणोति सूनरी ॥१॥

[६५२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} उदुन्निया सृजते सूर्यः सचा उग्रमक्षत्रमाचिचत् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} तवदुपा व्युपि सूर्यस्य च सं भर्त्तन गमेमहि ॥२॥१४॥

श्र० ७ । ॥ १५ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविक्त सं० [३०३] पृ० १४५ ।

(२) (सूर्यः) सबका प्रेरक उत्पादक परमात्मा । (उन्निया) वाय करने योग्य फिरछो और भूमियों का (यथा) एक साथ सूर्य के समान (उदुन्नितं) प्रकट करता है और (उग्रम्) अद्वैत दाता हुआ भी स्वयं (न पत्रम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाला ~~समान~~ समान गिर तथा

व्यापक (अर्चिवत्) तेजोमय है । (उषः) पापदाह करने वाली
ज्योतिष्मतिः ! प्रज्ञे ! (तव इव) तेरे और (सूर्यस्य च) सूर्य
समान तेजोमय आत्मा के (वि उषि) प्रखर तेज से प्रकट होने के अवसर
में (भक्तेन) भजन करने योग्य उस देष्टदेव से (सं गमेमहि) हम सत्संग
करें, उसका ध्यान करें ।

3 7 2 3 9 2 3 9 9

[७५३] इमा वां दिविष्ट्य उक्ता हवन्ने अश्विना ।

39 239 2

392

3 98 25

अथ वामदेऽवसे शचीवसु विशं विशं हि गच्छथः ॥ १ ॥

32 31

39

393

[७५४] युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सन्नुतावने ।

3 25 3

39

39

अर्वाग्रथं समनसा नियच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥१५॥

ਸ਼੍ਰੋ ੭ । ੭੪ । ੧, ੨ ॥

भा०—(१) ग्याख्या देखो भाषिण सं० [३०४] पृ० १५५ ।

(२) (अभिना) हे भरिबयो ! प्राण अपान नामक नेताओ ! या विद्वान स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (चित्रं) संग्रह करने योग्य, विविध प्रकार के (सोजनं) भोग योग्य पदार्थ (सद्भुः) देते हो । और (सूनुतावते) सूनुता, नाम वेदवाणी को धारण करनेहारे के लिये धन (चोदेथा) प्रदान करते हो । आप (समनसा) समान मन वाले होकर (अर्वाग्) नीचे की ओर या (अर्वाग्) इन्द्रियों ■ प्रति जानेहारे (रथं) अपने वेग या वेगवान् आत्मा या मन और शरीर को (नियच्छतं) नियन्त्रित करो, वश करो और आप दोनों (सोम्यं मधु) सोमरसयुक्त मधुररस उत्तम शुद्धवायु, और आरोग्यता का (पिबतम्) पान करो ।

प्राणायाम का अभ्यासी प्राण को अपान में और अपान को प्राण में
आहुति दे और ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करे ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [७५५] अस्य प्रत्नामनुद्युनं शुक्रं दुदुहं अहय ।
 १ २ ३ १२ २२

पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १ ॥

॥ १२ २ १२ ३ २ ३ १२ २२
 [७५६] अयं सूर्य इवोपहगयं सरांसि धावति ।
 ३ २ ३ २२ ३ १२ २२

सप्त प्रवत आदिवम् ॥ २ ॥

॥ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
 [७५७] अयं विश्वानि निष्ठाते पुनानां भुवनापरि ।

१ २ ३ १२ २२
 सोमो देवां न सूर्यः ॥ १६ ॥ अ० ३ । २४ । १, ३ ॥

भा०—(१) (अस्य) हम सोमस्वरूप परम आत्मा की (प्रत्नाम्) अनादि काल से चली आई, पुरानी (अनुद्युनं) वेदज्ञानरूप कान्ति को ('अनु') अनुसरण करके (अहय.) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, (सहस्रसाम्) सहस्रों फलों को देने वाले, (शुक्रं) शुद्ध, पापरहित (अर्षि) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे (पयः) ज्ञान, वेदराशि को (दुदुहं) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

(२) (अयं) यह सोम (सूर्य इव) सूर्य के समान (उपहग) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, सब लोकों का व्रष्टा है (अयं) यह सोम (सरांसि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, (दिवम्) आकाश (सप्त) सात प्रकार के (प्रवत) गतिमान् पदार्थों को चलाता है । आध्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा (सरांसि) इन्द्रियों में स्वयं गति करता है और द्यौः अर्थात् सूर्यस्थान में (सप्त प्रवत.) सात शीर्षण्य प्राणों को भी गति देता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) सोम, परमात्मा (सूर्यः न) सूर्य के समान (विश्वानि) समस्त (भुवना उपरि) लोकों के ऊपर (पुनानां)

उनको गति देता हुआ और पवित्र करता हुआ (तिष्ठति) उनपर शासन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है ।

३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ ७
[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवभ्य सुतः ।

१ २ ३ १ २

हरिः पवित्रे अर्पति ॥ १ ॥

अ० ९ । ३ । ६ ॥

३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवभ्यस्परि ।

३ १ २ २ १

कविर्विप्रेण धामृधे ॥ २ ॥

अ० ६ । ४२ । २ ॥

■ ■ ३ १ २ २ १ ३ ३ ३ १ २
[७६०] दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परिपिच्यसे ।

१ २ ३ १ ■

क्रन्दन् दद्यां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ९ । ४२ । २ ॥

भा०—(१) (एष०) यह सोम (देव०) ज्योतिर्मय आत्मा (प्रत्नेन) अनादिकाल से चले आये (जन्मना) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से (देवभ्यः) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ (सुत) प्रकट होकर (हरि) हरणशील, उनको गति देनेहारा होकर (पवित्रे) प्राण और अपान के बने मलशोधन करने वाले, साधन में (अर्पति) गति करता है ।

प्राणापानौ पवित्रे । तै० ३ । ३ । ४ । ४ ।

(२) (एष०) यह सोमस्वरूप जीव (प्रत्नेन) अनादिकाल से वर्तमान (मन्मना) मनन शक्ति द्वारा (देवभ्यः) अपनी दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त (देव०) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन (कवि०) मेधावी, ज्ञानी होकर भी (विप्रेण) मेधावी परम ब्रह्म प्रजापति के साथ (परिधामृधे) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है ।

प्रजापतिर्वै विप्रः, देवा विप्राः । शतपथ ६ । ३ । १ । १६ ॥

७५८—‘धारयापवते सुतः ।’ इति अ० । ७६०—‘अजीजनन्’ इति अ० ।

(३) हे सोम ! (प्रत्नम् इत्) पुराने, अनादिकाल से चले आये (पयः) प्राण, जीवन को ही (दुहानः) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान द्वारा ही (परि सिच्यसे) पवित्र किया जाता है । (कन्दन्) शब्द करता हुआ, 'सोहं' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू (देवान्) इन्द्रियगण को (अजीजनः) प्रकट करता है ।

प्राणा पयः ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १५ । और ६२ । ३ । ३ । ३१ ।

अन्तर्हितमिव वा एतद् यत् पयः । सायण्य० ८ । ६ । ३ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६१] उप शिक्तापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे ।

१ २ ३ १ २ ३ २

पवमान विदा रयिम् ॥१॥ श्र० ९ । १९ । ६४

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६२] उपोषु जातमप्यतुरं गोभिर्मङ्गं पारिष्कृतम् ।

१ २ ३ १ २

इन्तुं दवा अयासिषु ॥२॥ श्र० ६ । ६१ । १६ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६३] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।

३ २ १ २

अभि देवा इयच्छने ॥३॥ श्र० ४ । ११ । १ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) पावन करने वाले ! (सोम) पृथक्-
वन् ! (अपतस्थुषः) नीचवृत्ति से स्थिति रम्यने हारों (उपोषु)
शिक्षा दो कि अपनी पुरी वृत्ति को छोड़कर भले मार्ग में आवें । (अत्रये)
शत्रु को (भियसम्) भय (आधेहि) दिलाओ । हे प्रभो ! (रयिम्)
धन को (विदा) प्राप्त कराओ ।

अग्निर्वायिः पवमानः । ऐ० ७ । ३७ ॥ प्राणो वै पवमानः ॥ श्र० ७ ।

७ । १ । ६ ॥ आत्मा वै पवमानः । ता० ७।३।७ ॥ पुष्टं वै रयिः । श० २।३।

७।१३ । धीमं वै रयिः । श्र० १३ । १४ । १ । १३ ॥ पशवो वै रयिः ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६५१] पृ ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७६४] ^{१ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र सोमासो विपश्चिताऽपो नयन्त ऊर्मयः ।

^{१ २ ३ १ २} चनानि महिषा इव ॥१॥

[७६५] ^{३ १ २ २ ३ १ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २} अभि द्रोणानि वज्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।

^{२ ३ १ २} वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

७६६ ^{२ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।

^{१ २ ३ १ २} सोमा अवेन्तु विष्णवे ॥३॥ १६॥ अ० १ । ३३ । १-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) (वज्रव.) वज्र वर्षा वाले. काषाय वस्त्रधारी विद्वान् लोग (ऋतस्य) ज्ञान और तप की (धारया) धारणा से (शुक्राः) कान्तिमान्, (अभि द्रोणानि) राष्टों के प्रति (अभि) आकाश (गोमन्तम्) वेदवाणी से युक्त या पश्चादि से सम्पन्न (वाजं) ज्ञान या धन को (अभि अक्षरन्) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अध्यात्म में—(वज्रव) पुष्टिकारक प्राण और (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धारया) धारण करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से (शुक्राः) कान्ति या ज्योति से सम्पन्न होकर (द्रोणानि) प्राणोन्धियों के प्रति (अक्षरन्) प्रवाहित होते हैं । और (गोमन्तम्) वाणी से युक्त (वाजं) ज्ञान को (अभि अक्षरन्) साक्षात् प्रकट करते हैं ।

राष्ट्रं द्रोणकलशः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणा वै द्रोणकलशः ता० ।

६ । २ । १५ ।

७६७—‘अपा नयन्त्यूर्मयः’ इति ऋ० ।

७६६—‘अपन्ति’ इति ऋ० ।

(३) (सुता- सोमा-) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ (वायवे) प्राणस्वरूप (वरुणाय) ज्ञानी (विष्णवे) सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन (इन्द्राय) आत्मा के लिये और (मरुद्गय) विद्वानों के लिये (अर्पन्तु) प्राप्त हों ।

[७६७] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} सोम देववीतये सन्धुर्न पिप्ये अर्णमाः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अंशो पयसा मादिरा न जागुविरच्छा काशं मधुश्चतम् ॥६॥

[७६८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आहर्यता अजुना अत्क अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} तमी हिन्विन्त्यपसो यथा रथं नदीप्वागमस्त्यो ॥२॥२०॥

श्र० ६ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२१४] पृ० २५४ ।

(२) (हर्यत-) हरण करने योग्य, प्रिय । (अर्जुनः^१) इन्द्र, आत्मा (प्रियः) प्राणों का प्रिय, इष्ट (सूनुः न) पुत्र के समान (मर्ज्यः) संभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह (अत्के) सर्वव्यापक ब्रह्म में (आ अव्यत) मग्न होजाता है और (तम् ई) उसको ही (गमस्त्यो) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इडा और पिंगला के बीच की (नदीषु) धाराओं या नादियों में (अपसः) बेगवान् प्राण वा अपान वृत्तियों को उसी प्रकार (आ हिन्विन्ति) प्रेरित करता है (यथा) जिस प्रकार (अपसः) बेगवान् सुमत् (रथं) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।

१. 'अर्जुनो' वा इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम ॥ श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

[७६६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सोमासो मदव्युतः अत्रसे नो मर्धनिाम् ।

^{३ १ २ ३ १ २} सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

७६९—'मघोन' इति श्र० ।

[७७०] आर्द्रा हंसा यथा गण विश्वस्याधीवशन्मतिम् ।

अत्यो न गोभिरज्यते ॥ २॥

[७७१] आर्द्रा त्रिनस्य योपयो हारिं हिन्वन्त्याद्रिभिः ।

इन्दुमिन्द्राय पीनये ॥ ३॥ २१॥ अ० १०। ३२। १, ३, २॥

भा०—(१) आर्द्रा देवो अविकल सं० [४७०] पृ० २४० ।

(२) (आर्द्रा) और (गण) उत्पन्न होने वाले (ई) इस शरीर-
गत प्राणगण को (हंस) आत्मा (यथा) जिस प्रकार से (अधीवशत्)
वश करता है उसी प्रकार वह परमात्मा (विश्वस्य) समस्त संसार के
(मति) मनो को भी (अधीवशत्) वश करता है । और (अत्यो न)
जिस प्रकार अश्व (गोभिः) नाना प्रकार की चालों से (अज्यते) अपने
गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख,
दुःख, ज्ञान आदि गतियों में और वह प्रभु अपने बनाये गनिशास पिण्डों
और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है ।

[७७२] अया पवस्व देवयूरमन पर्येपि विश्वतः ।

मधोर्ध्वरा असृक्षत ॥ १ ॥ अ० ॥ १०६। १४ ॥

[७७३] पवते हर्यता हरिरतिहरासि रंक्षा ।

अभ्यर्ष स्तोत्रम्यो धीरवद्यशः ॥ २ ॥ अ० ६। १०६। १३॥

[७७४] प्रसुन्वानायान्धसा मर्त्तो न वष्ट तद्वचः ।

अपश्वानमराधसं हता मखं न मृगवः ॥ ३ ॥ २२ ॥

अ० ॥ १०२। १३ ॥

भा०—(१) हे सोम ! योगिन् ! (देवयु.) अर्थों का प्रकाश करने
वाले त्रिद्वानो और इन्द्रियगणों से युक्त होकर (अया) इस (धारणा)

७७२—(१) द्वितीयतृतीयपादयोर्विपर्ययः, कृत्वेदे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७७५] पवस्य वाचो अग्रयः सोम विश्वाभिरुतिभिः ।

३ १ २ २ ३ १ २

अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

॥ १ ३ ॥ २ ३ १ २ १ २ २ ३ १ २

[७७६] त्वं समुद्रिया अपाग्रिया वाच ईरयन् ।

१ २

पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ २ ३ १ २

[७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।

१ २

३ १ २

तुभ्यं धावन्ति धेनव ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १। ६२। २५-२७ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी (विश्वाभिः) पूजनीय (उतिभिः) शक्तियों और रक्षा-कार्यों और ज्ञानों सहित (वाच.) हमें वेदवाणिया (पवस्व) प्राप्त कराते हो । और (विश्वानि) समस्त (काव्या) क्रान्तदर्शी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के (अभि) साक्षान् वाच्य हो ।

(२) हे (विश्वचर्षणे) समस्त ससार के देखने वाले ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार (अपग्रिय.) सबके अप्रणीत सबसे प्रथम वर्तमान, सबसे मुख्य, अनादि (वाच.) वेदवाणियों को (ईरयन्) प्रकट करते हुए आप (समुद्रियाः) भस्ती प्रकार उन्नति की ओर लेजाने वाले (आप) कर्मों को (पवस्व) उपदेश करते हो ।

(३) हे (कवे) मेधाविन् ! हे (सोम) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! (महिम्ने) विशाल महिमास्वरूप (तुभ्यं) तेरे लिये (इमा भुवना) ये समस्त लोक (तस्थिरे) स्थिर हैं । (तुभ्यं) तेरे लिये ये (धेनव) वाणिया और नदिया (धावन्ति) गति कर रही हैं, प्रकट होती

हैं, बौढ़ रही हैं । अर्थात् ये समस्त लोक और वेदवाणिया, नदिपाँ काम-
धुक् भूमिया तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७७८] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसां जन ।

२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषा जहि ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[७७९] यस्य ते सस्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २
तवेन्दो द्युम्न उन्नमे ॥ २ ॥

१ २ ३ ॥ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे ।

३ ३
रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० १ । ६१ । २८, ३० ॥

भा०—(१) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! 'आप (सुतः) सामर्थ्यवान्
(वृषा) सब सुखों के वर्णाने वाले (पवस्व) हमारे समीप प्रकट होओ ।
और (जने) जनसमूह में (नः) हमें (यशसः) यशस्वी (कृधि)
करो । और (विश्वा) समस्त (द्विषा) हमसे अप्रीति करने वाले, हमारे
अनिष्टकारियों को (अप जहि) दूर करो ।

(२) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! 'यस्य ते) जिस तेरे (सस्ये) मित्र
भाव में रहते हुए (पृतन्यतः) सेनाएँ लेकर चढ़ाई करने वाले विरोधियों
को (सासह्याम) पराजित करें उस (तव) तेरे (उत्तम) उत्तम (द्यु-
म्नम्) तेज या ऐश्वर्य या बल के अधीन हम सदा रहें ।

(३) हे प्रभो ! 'या) जो (ते) तेरे (तिग्मानि) तीक्ष्ण (आयुधा)
हथियार (धूर्वणे) हिंसाकारियों के लिये (सन्ति) हैं उन द्वारा (न)
हमारी (समस्य) समस्त (निदः) निन्दाकारियों से (रक्ष) रक्षा कर ।

राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है ।

१ २ ■ १ २ १ २ ३ १ २
[७८१] वृषा सोम द्युर्मा असि वृषा देव वृषव्रतः ।

२ ३ २ ३

वृषा घर्मोणि दधिषे ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।

१ २ ■ १ २ २ २

स त्वं वृषन्वृषेदासि ॥२॥

२ ३ १ २ ■ २ ३ १ २ ■ ३ १ २ ■

[७८३] अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।

१ २ ३ १ २ २ २
वि नो रायं दुरो वृधि ॥३॥३॥ ऋ० ३। ६४। १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१०४] २५० ।

(२) हे वृषन् ! सबसे महान् सब सुखों के वर्षा करने हारे । हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (वृष्णः) वर्षणशील (ते) तेरा (शव) बल और ज्ञान (वृष्ण्यं) सुखवर्षक है । तेरा (वनं) भजन सेवन भी सुखदायक है और (सुतः) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक । (स त्वं) वह तू (वृषा इव) सदा सुखवर्षक (असि) है ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवान् ! (वृषा) सब सुखों के वर्षक आप (अश्वः न) मोक्ष आत्मा ■ समान (गाः) ज्ञानेन्द्रियों को (सं चक्रद) अच्छी प्रकार नादित करो, ज्ञानवान् करो । और (समर्वतः) अश्व के समान दौड़ने वाली प्राणेन्द्रियों को भी (य चक्रद) बलवान् करो । अथवा (अश्वः न) राष्ट्र या राजा जिस प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता ■ उसी प्रकार आप सर्वव्यापक, सर्वेश्वर होकर (गाः) वेदवाणियों का उपदेश करो और (समर्वतः) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो । आप (नः) हमारे (दुरः) द्वारों को (राये) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त (वि वृधि) और अधिक खोज दो ।

७८१—(२) 'वृषान्दः' 'सर्व' इति ऋ० ।

[७८४] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।

पवमान स्वर्हशम् ॥१॥

[७८५] यदग्निः परिषिच्यसे मर्ध्म्यमान आयुभिः ।

द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥

[७८६] आ पवस्व सुवीर्यं मन्दसानः स्वायुष ।

इहोन्विन्दवागहि ॥३॥४॥ ऋ० । १५ । ४, ६, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [४८०] पृ० २४१ ।

(२) (सोम) आत्मन् ! (आयुभिः) मनुष्यों या प्राणों द्वारा (मर्ध्म्यमान) परिशोधित होकर (यद्) जब (अग्निः) योगाभ्यास के कर्मों द्वारा, या ज्ञान भारखाओं द्वारा (परिषिच्यसे) पुनः २ स्वच्छ किया जाता है तब (द्रोणे) इस मूर्धास्थल या देह में (सधस्थम्) अपने साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा को भी (अश्नुषे) प्राप्त कर लेता है ।

(३) हे (स्वायुष) उत्तम आयुर्धों से सम्पन्न समाधि में ध्येय हुए देव के सग मिलने के लिये उत्तम यम नियम के साधनों से सम्पन्न आत्मन् ! आप (मन्दसान) आनन्दमय होकर (सुवीर्य) उत्तम मर्त्य को (आ पवस्व) प्रकट करो । हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवान् ! द्रवणशील, रस रूप से बहने वाले ! (इह व) यहा ही इस अन्तःकरण में (सु वागहि) उत्तम रूप आ, प्रकट हो ।

[७८७] पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।

सखित्वमावृणीमहे ॥१॥

७८५—'मर्ध्म्यमानो गमस्त्यो वृषा' इति ऋ० ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिहरन्ति धारया ।

^{१ २}
तेभिर्नः सोम मृदय ॥२॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[७८९] स नः पुनान आ भर रयि वीरवतीमिषम् :

^{१ २ ३ १ २}
ईशानः सोम विश्वतः ॥२॥ ५ ॥ च० ६ । ६१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा का अन्त करण को (अभि उन्दतः) साक्षात् द्रवित करते हुए, आपकी तरफ बढ़ते हुए भावयुक्त बनाते हुए (पवमानस्य) आपके परम पावन (ते) आपके (सखिधं) भिन्नभाव का हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं ।

(२) हे (सोम) समस्त मंसार के उत्पादक ! प्रेरक ! (ते कर्मय०) तेरी शक्तिया (धारया) समस्त मंसार को धारण करने वाली शक्ति के रूप में (पवित्रम्) हमारे अन्त करण में (अभि हरन्ति) प्रकट होती हैं तू (सोमि.) उनसे (न) हमें (मृदय) सुखी कर ।

(३) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! (स) वह अतिप्रसिद्ध आप (ईशानः) समस्त मंसार पर वज्र करने वाले स्वामी (न.) हमें (पुनानः) पवित्र करते हुए (रयि) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त कराइये और (वीरवतीम्) बलसम्पन्न (इषम्) अन्न आदि पदार्थों या इच्छा शक्ति को (विश्वतः) सब ओर से प्राप्त कराइये ।

इति प्रथम सूक्तम् ।

—०:—

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[७९०] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २}

अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥ १ ॥

[७६१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विशर्पतिम् ।

^{३ १ २ ३ २} हव्यवाह पुरुषियम् ॥२॥

[७६२] ^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} अग्ने देवा इहावह जज्ञानो वृक्तवर्हिणे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} असि हाता न इक्ष्य ॥३॥६॥ ऋ० १ । १२ । २-३ ॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो अविः सं० [३] पृ० २ ।

(१) विद्वान् लोग (अग्निम्-अग्निम्) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद, आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक (विशर्पति) सब प्रजाओं के स्वामी, (पुरुषियम्) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, (हव्यवाह) समस्त स्तुतियों को धारण करने वाले परमात्मा को ही (हवीमभिः) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से (सदा) नित्य (हवन्ते) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) ३ (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप (देवान्) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को (वृक्तवर्हिणे) दंड-बन्धनों काट देनेहार, जीवन्मुक्त, कुण्ठन पुरुष के लिये (इह) इस संसार में (जज्ञानः) उनके सब रहस्यों को प्रकट करते हुए (आ वह !) हमें प्राप्त कराओ । आप (होता) सबको करने भीतर आहुतिरूप में लाने हारे एवं सबको सुख ऐश्वर्य के दाता होकर (नः) हमारे (इक्ष्यः) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७६३] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} मित्रं वर्यं हवामह वरुण सोमपीतये ।

^{३ २ ३ १ २} या जाना पूतदक्षमा ॥ १ ॥

[७६४] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} क्रनन यात्रुनावृधावृत्तम्य ज्योतिषस्पती ।

^{३ १ २ ३} ता मित्रावदृशा हुने ॥ २ ॥

[७६५] वरुणः प्राविता मुवन्मित्रो विश्वाभिरुतिभिः ।

करता नः सुराधमः ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । २३ । ४-५ ॥

भा०—(१) (वरुणं) हम लोग (योमर्षात्तये) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये (मित्रं) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और (वरुण) शरीर विघ्नों का वारण करने हारे अपान को (इवामहे) परस्पर में आहुति देते या उनको वश करते हैं । (या । जो दोनों (पूनदक्षसा) पवित्र कर्म करने हारे, मत्त के शोधक होकर (जाता) विद्यमान एव प्रकट हैं ।

(२) मैं (नौ) उन मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को (हुषे) पुकारता हूँ (यो) जो दोनों (अतैन) जीवनमय यज्ञ मे या सत्य के धर्मपर (अतावृधौ) वास्तावेक सत्य और जीवन को वृद्धि करने हारे (अतस्य) सत्य आत्मा को (उपोतिषःपती) आनन्दमय विशोका, ज्योति पातन करने हारे हैं ।

(३) (वरुण) वरुणस्वरूप अपान (प्राविता) वह को दु सों से बचाने वाला (प्र भुवन्) होता हुआ और (मित्रः) मित्र, प्राण (विश्वाभिः सव प्रकार की (रुतिभिः) रक्षया शक्तियों से (नः) हमारे (सुराधसः) उत्तम साधनाएँ (करताम्) निद्व करें ।

[७६६] इन्द्रमिद्राथिनो वृद्धिन्द्रमर्कभिराकेषु ।

इन्द्रं वाणीरनूपन ॥ १ ॥

[७६७] इन्द्र इन्द्रयोः सत्ता माम्मस्तु आ वचा युजा ।

इन्द्रा वज्री हिरण्यग ॥ २ ॥

[७६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।

उग्र उग्रभिरुतिभिः ॥ ३ ॥

^{१ २ ३ २ ■ १ २ ३ १२ २२ ३ २}
[७६६] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोहयदिवि ।

^{३४ ३ १ ३}
वि गोभिराद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १।७। १, २, ४, ३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६८] पृ० १०४ ।

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६७] पृ० ३०१ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६८] पृ० ३०१ ।

(४) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (दीर्घाय) दूर देश तक के पदार्थों को (चक्षसे) दर्शन करने अर्थात् दिखलाने के लिये (दिवि) आकाश में सूर्य के समान उच्च ज्ञान में (सूर्य) ऐजस्वी विद्वान् को (आ ऐरयद्) स्थापित करता है । और (गोभिः) शर्मियों द्वारा (अद्रिम्) भेष के समान आनन्दवर्षों आत्मा को (ऐरयद्) विशेष रूप में प्रेरित करता है ।

^{१ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १२ २२}
[८००] इन्द्रे अगता नमो बृहत्सुवृत्तिमेरयामहे ।

^{३ १२ २२ ■ १ २}
धिया धेना अवस्यवः ॥ १ ॥

^{१२ १२ ३ १ २ ३ १२ २२ २ १ २}
[८०१] ता हि शश्वन्न इडत इत्या विप्रास ऊतय ।

^{■ २ ३ १ २}
सवाधो वाजमानये ॥ २ ॥

^{३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २}
[८०२] ता वा गोमविपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे ।

^{३ १ २ ३ १ २}
मधसाता मनिष्यवः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७। ११। ४-६ ॥

भा०—(१.) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, (अगौ) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित और अन्धकारमय, अज्ञान मार्गों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता, अमिस्वरूप परम आचार्य में (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार और (बृहत्) बहुत (सुवृत्तिम्) उत्तम गुण स्तुतियों का (आ ईरयामहे) प्रयोग करें । और (अवस्यवः) ज्ञान, रक्षा, तेज और उत्तमगुणों की अमना वाले

होकर हम (धिया) ध्यान और मननपूर्वक (घेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

(२) (विनाय) मेधावी विद्वान् लोग (ता) इन्द्रस्वरूप और आग्निस्वरूप परम गुरुओं से प्रति (शयन्तः) अनादि काल से (उतये) आत्मारक्षा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये (इत्था) इसी प्रकार की सत्य-वाणियों द्वारा (सवाधः) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन (वाजसातये) ज्ञानप्राप्ति के लिये (ईदते) स्तुति करते हैं ।

(३) हम (विपन्यवः) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी (मेधसातौ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये (सनिप्यवः) भजन करने की कामना से (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (ता वा) उन आप दोनों को (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीयः सूक्तः ।

—ॐ—

[८०२] ^{१ २} वृषा ^{३ १ २} पवस्व ^{३ १ २} धारया । ^{३ २} मरुत्वत च मत्सरः ।

^{३ १ २ ३} विश्वा ^{१ २} दधान ओजसा ॥ १ ॥

[८०३] ^१ तं ^{३ १ २ ३ २} त्वा धर्तारमागयोऽ^{१ २} ३^{३ १ २} ष्पवमान स्वर्देशम् ।

^{३ १ २} द्विन्वे ^{१ २ ३ १ २} वाजेषु ^{३ १ २} वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] ^{३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} अया चित्तो ^{३ १ २} विपानया हरिः ^{३ १ २} पवस्व धारया ।

^{३ १ २} युजं ^{१ २} वाजेषु ^{३ १ २} चोदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६३]

(२) (पवमान) समस्त संसार को गति देने वाले परमात्मन् ! (ओग्यो.) तुम्हें दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के (धर्तारं) धारण करने वाले (स्वर्देशम्) परमसुख का ज्ञान के प्रकाश के

दर्शाने हारे (वाजिन) ज्ञान और बल के मदार आपको (वाजेषु) बल के कार्यों, संग्राम आदि के अवसरों पर (हिन्वे) स्मरण करता हू ।

(३) सोम (हरिः) सब दुःखों के हरण करने हारे आप (अया) इस (विपानया) विशेष रूप से पान करने योग्य (धारया) ब्रह्मानन्द की धारा से (चित्तः) चेतनामय स्वरूप से पृथक् प्रकट होकर (वाजेषु) ज्ञानों और ऐश्वर्यों में आप (युजम्) योग करने हारे इस साधक को (चोदय) प्रेरित करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
[८०५] वृषा शोणं अभि कनिकदद्वा नदयन्नापि पृथिवीमुन धाम् ।

१ २ २ ३ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्द्रस्यैव वरुनुरा शृण्व आजौ प्रकोदयन्नर्षसि वाचमेमाम् ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २
[८०६] रसाज्यः पयसा पिन्वमान ईर्यज्ञेषि मधुमन्तमशुम् ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ २ ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिपिच्यमानः ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०७] एवा पवस्व मदिरो महायोदग्रामस्य नमयन् वधस्तुम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
परि वर्षी भरमाणा कृशन्तं गव्युर्नो अर्धं परि सोम चित्त

॥ ३ ॥ ११ ॥

अ० । ६७ । ११—१२ ॥

भा०—(१) (शोणः) गतिमान्, सर्वप्रव्यापक (वृषा) सब सुखों की वर्षा करने द्वारा परमात्मा (कनिकदद्) शब्द या ज्ञानोपदेश करता हुआ, या मेघ जिस प्रकार (गाः) भूमियों को जलसे सींचता है और महावृषभ जिस प्रकार गर्जता हुआ गौशों में वीर्य सेचन करता है और आचार्य जिस प्रकार गम्भीर उपदेश से शिष्यों रूप भूमियों को या उनकी चित्त-भूमियों को ज्ञान से सींचता है वसी प्रकार (नदयन्) प्रतिध्वनि करता हुआ

८०५—(१) 'नदयन्नेति' 'प्रचेत्यन्नर्षति' इति अ० ।

[२] "नमयन् वधः" इति अ० ।

(पृथिवीम्) पृथिवी (उत धाम्) और आकाश में सर्वत्र (ऐपि) व्यापक है (इन्द्रस्य इव) भीतर बैठे २ अपने अन्तरात्मा के समान उसकी (वज्रम्) वाणी (आसौ) हृदय में (शृण्वन्) सुनता हूँ । वह नू (प्रचोदयन्) अन्तःकरणों को प्रेरित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ (इमाम् वाचम्) वेदवाणी या स्तुति को (अर्पयति) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त होता है ।

१. शुन गतौ इत्यस्माच्छेषः ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (रसाद्यम्) आनन्द [] से परिपूर्ण, (पयसा) ज्ञान से (पिब्यमानम्) तृप्त करता हुआ, (मधुमन्तं) मधुर, ज्ञान, ब्रह्मविद्या से युक्त (अशुम्) व्यापक आत्मा को तू (ऐपि) प्राप्त होता है । तू (पवमान) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ (इन्द्राय) अन्तरात्मा के लिये (परिपिब्यमानः) रसके समान सेचन किया जाता हुआ, पुनः २ ध्यान किया गया (सन्तर्नि) निरन्तर बंधी धारणा को (कृण्वन्) बढ़ करता हुआ (ऐपि) हृदय में आ, विराज ।

(३) हे (सोम) आनन्दमय ! रसस्वरूप ! (मदिर्) इष को जागृत करने द्वारा (उद्-ग्राभस्य) सत्य ज्ञान के ग्रहण करने द्वारा आत्मा के (वधस्तु) विघुत् द्वारा ताड़ना करने पर स्रवण करने वाले मेघ के समान, प्राणों के वण करने पर धर्ममेघ द्वारा आनन्द रसको वर्षा देनेद्वारे, चित्त या आत्मा को (नमयन्) अपने अधीन करता हुआ (पवस्व पृथ) अवश्य प्रकट हो । और (रुशन्तं) कान्ति से सम्पन्न (वर्णं) धरण करने योग्य स्वरूप को (परि भरमाद्यः) सब ओर धारणा करता हुआ (सिक्नः) सर्वत्र व्याप्त [] आनन्द से पूर्ण होकर (गच्छन्) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ (अर्पे) सवित हो, प्रकट हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[८०८] त्वा॑मि॒द्वि द॒वाम॑हे मा॒त॑ः वा॒ज॒म्य कार॑व ।

त्वा॑ वृ॒त्रा॒भ्य॒न्द्र स॒त्प॒ति न॑र॒म॒त्वा का॑ण्ठाम्ब॒वन् ॥ १ ॥

[८०९] स॒ त्व न॑श्चि॒त्र व॒ज्र॒हस्त॑ घृ॒ण्य॒या म॑ह॒ः स्त॒वानो॑ अ॒द्रि॒वः ।

गा॒म॒भ्य र॑थ्यमि॒न्द्र स॒ङ्कि॑र स॒न्ना वा॒जं न॑ जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥ १२ ॥

अ० ६। ४६। १-२ ॥

भा०—व्याख्या देखो अवि० स० [२३४] पृ० १२० ।

(२) हे (चित्र) पूजनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! (वज्रहस्त) सङ्ग के धारण करने वाले धीर पुरुष के समान ज्ञानमय सङ्ग को अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! हे (अद्रिवः) अभेद्य, असंख्यरुनीय बलधारक ! परमात्मन् ! (घृण्यया) आप सबका धर्यण करने वाले, (महः) महान्, तेजस्वरूप (स्तवान्) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर (जिग्युषे) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष के प्रति (वाजं न) जिस प्रकार ज्ञान ऐश्वर्य आप देते हैं उसी प्रकार (रथ्य) इस रथरूप देह के हितकारी हमें (गाम्) गौ=ज्ञानेन्द्रियों और (अभ्यम्) अरथ, कर्मेन्द्रियों को भी (सन्ना) उत्तम रीति से (संकिर) प्रदान करो ।

[८१०] आ॒भं प्र॑ वः सु॒रा॒घ॒समि॑न्द्रम॒र्च॒यथा॑ वि॒दे ।

यो ज॒रि॒त॒भ्यो म॑घ॒वा पु॑रु॒वसु॑ । स॒हस्रो॑ण॒व शि॑क्षति ॥ १ ॥

[८११] श॒तानी॑के॒व प्रा॒जगा॑ति घृ॒ण्य॒या ह॑न्ति वृ॒त्राणि॑ दा॒शुषे॑ ।

गि॒रोरे॒व प्र॑ र॒सा अ॒स्य पि॒न्विरे॑ द॒न्नाणि॑ पु॒रु॒भोज॑सः ॥ २ ॥

॥ १३ ॥ अ० ६। ४६। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [२३५] पृ० १२० ।

(२) (घृण्यया) अपनी इन्द्रियों पर और चित्तक शत्रु काम क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के पति

विजेगीपु पुरुष के समान प्रजिगाति उत्तम प्रकार से आगे बढ़ कर विजयकर जाता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे के लिये (वृत्राणि) ठमका घेर लेने वाले पाप विकल्पों को भी वह प्रभु (हन्ति) विनाश करता है। (अस्य) इस (पुरुषोत्तमस्य) हृन्दिषो भोग भोगने हार आत्मा (द्वित्राणि) त्याग किये हुए विषय ही (गिरे- इव वृत्राणि) मध से बरसे जलों के समान या पर्वत से झरे झरनों के समान आनन्दों को बहाने वाले आनन्द घन, ज्ञानोपदेशक परमेश्वर से बहते (रसा) आनन्दरस ही उसको (पिन्ध्वरे) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते हैं।

२ ३ १२ २ ३ १ २
[८१२] म्बामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वाञ्छन् भूर्णयः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
त इन्द्र स्तामवाहस श्रुष्युप स्वस्वरमा गाहे ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

[८१३] मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्नमीमंह त्वया भूषान्त वधसः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ १ १ २
तव श्रुष्युपमान्युकथ्य सुतोषिन्द्र गिर्वण ॥ २॥ १४ ॥
अ० ८। १९। १-२॥

भा०—(१) आख्या देखो अविकल स० [३०२] पृ० १२४

(२) हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानसम्पन्न ! (हरिः) व्यापनशील शक्तियों से युक्त । हे (गिर्वणः) धारियों के एकमात्र पात्र । (तं) उस तुम्ह इष्टदेव को हम (ईमह) प्राप्त होते हैं । हे देव ! (वधसः) विद्वान् मेधावी लोग (त्वया) तुम्ह से, तेरे उत्तम गुणों से (भूषान्ति) अपने आपको अलंकृत करते हैं । तू स्वयं (मत्स्व) अपन ही में आनन्दस्वरूप होकर रह । हे (उक्त्य) प्रशंसा के योग्य (अचामि) सब अवण करने योग्य श्रुतिया (ते) तेरी ही (उपमानि) ज्ञान देने हारी हैं ।

इति क्तुर्धं खण्ड ।

[८१४] यस्त मद्गो वरेण्यस्तेना पवस्थान्वसा ।

देवान्नीरघशमहा ॥१॥

[८१५] जघ्निर्वृत्रमामत्रियं सस्निर्वाज दिवे दिवे ।

गोपातिरश्वसा अग्नि ॥ २ ॥

[८१६] सम्मिश्रलो अरुणो भुवः सूपस्थामिर्न धेनुभि ।

सीदञ्छुधेनो न योनिमा ॥३॥१५॥ श्र० ६।६१। १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७८] पृ० २३७ ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (त्वम्) तू 'अमित्रिय' मित्रता या स्नेह से शून्य (वृत्र) दुश्म को अज्ञान से घेरने वाले पाप को (जघ्निः) नाश करने वाला है । और (दिवे दिवे) दिनों दिन (वाजं) ज्ञान, बल और अश्व, पुष्टि को (सस्निः) देने द्वारा है । और वृद्धी (गो-सातिः अश्व-साति) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देने वाला (अग्नि) है ।

(३) (सोम) मध्वैश्वर्यवन् ! ज्ञान के दातः ! (सूपस्थाभिः धेनुभि न) सुख से समीप प्राप्त होने वाली, सुशील गौएँ जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू (सूपस्थाभिः) आचार्य के समीप जाकर सुख से प्राप्त करने योग्य (धेनुभिः) ब्रह्मास्वाद, रस का पान कराने वाली वेद और उपनिषद् की स्तुति वाचियों से (सम्मिश्रलः) उत्तम शीति से युक्त होकर (अरुणः) अतिरोचक, काम्भिसम्पन्न (भुवः) हांता है और तभी (श्येनः न) वाज क समान शीघ्र गतिकारी एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप (योनिम्) अपने आश्रय रूप, अरण्यान्द परमेश्वर में (आसीदन्) विराजमान होता है ।

८१४—(२) 'गोत्रा, उ मद्गता' इति श्र० ।

अथवा—(सुपस्थाभिर्न घेनुभिः) सुशील गायों से जिस प्रकार (अरुणः) लाल साह (संमिश्रः भुवः) युक्त रहे और जिस प्रकार (श्येनः न योनिम् आसीदत्) बाज अपने आश्रय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप से स्थिर रहने वाली, रसप्रद इन्द्रियों या वाणियों द्वारा युक्त होकर आत्मा अपने गृह के समान परम आश्रयप्रद शरण, परब्रह्म में मग्न होजाता है ।

[८१७] अयं पूषा रयिर्भगः सोम पुनानो अर्पति ।

पतिर्विश्वस्य भूमना व्यख्यद्रौदमी उभे ॥१॥

[८१८] समु प्रिया अनूपत गात्रा मदाय घृण्वयः ।

सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ॥२॥

[८१९] ये ओजिष्ठस्तमाभर पवमान भवाय्यम् ।

यः पञ्च चर्पणीरभि रयि येन वनामहे ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ३ । १०१ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [२४६] पृ० २७४ ।

(२) (प्रियाः) मनोहर (गात्रा) वाणिजा या इन्द्रिया (घृण्वयः) परस्पर स्पर्धा करती हुई, या अति तेजोयुक्त होकर (मदाय) आनन्द प्राप्त करने के लिये (समु अनूपत) आत्मा की स्तुति करती हैं । (पवमानासः) हृदय को विमल करते हुए (इन्दवः) परमेश्वरसम्पन्न साधक (सोमास) शमदम आदि से सम्पन्न होकर सुमुष्ट गय (पथः) मोक्ष साधनों को (कृण्वते) करते हैं ।

(३) हे (पवमान) सबके हृदयों को पवित्र करने वाले परमात्मन् । (यः) जो तू (ओजिष्ठः) सबसे अधिक वह कान्ति और तेज से युक्त है वह तू (भवाय्यं) अवश्य करने योग्य, श्रुति से ज्ञान करने योग्य

स्वरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आभर) प्राप्त कराओ ।
 (य पञ्चचर्पणी०) जो पाँचों ज्ञानदृष्टा इन्द्रियों का व्याप्त करता है, जिस
 से हम (रयि) पुष्टि, बौर्य या ऐश्वर्य को (वनामहे) प्राप्त किया चाहते हैं
 वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] वृषा मतीनां पवते विचक्षणाः सोमो अद्धा प्रनरीतोपसा
 दिवः । प्राणा सिन्धूनां फलशां अन्निक्रददिन्द्रस्य हाया-
 विजन्मनीपिभिः ॥ १ ॥

[८२१] मनीपिभि पञ्चने पूर्य कयिर्नृभिर्यत परिकंशा अमि-
 प्यदत् । त्रिनस्य नाम जनयन्मनु क्षरभिन्द्रस्य वायु
 मस्याय वर्धयन् ॥२॥

[८२२] अयं पुनान उपसा अरोचष्टय सिन्धुभ्यो अमयदु सो
 फकृत् । अय त्रिः सप्त दुदुहान आशर स्वासा हृद परत
 चारु मत्सरः ॥३॥१७॥ अ० ६ । ८६ । १०-१२॥

भा०—(१) (पूर्य०) सद्यमे यदि में वर्तमान, अन्न, (कयि) ज्ञानों
 मेधावी, आत्मा (मनीपिभिः) मन को मन्मात्रों से प्रेरित करने वाला गिराण
 (नृभि) पुरुषों द्वारा (यत०) संयत, नियमित किया गया (पप०)
 प्रकट होता है और (कंशान्) पाँचों कंशों को (परि अदिन्द्रस्य) इन्द्र
 के हाथ है उनपर अपना अधिकार कर लेता है । (गिराण) लोगों को वे
 अर्थात् कण्ठ के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर ॥ १ ॥
 (इन्द्रस्य) आत्मा के (जग) स्वप्न को (जनयन्) प्रकट करता हुआ
 (मनु) ज्ञानमयका मनुष्य ॥ २ ॥ को (परात्) पुरुषात् हुआ । वायुम)
 प्राणवत् को (मस्या) अनुवृत्त रूप में (वर्धयन्) बढ़ाता है, ॥ ३ ॥ वाला है ।

(३) (अय) यह सोम (पुनानः) चरित होता हुआ (उपसः) प्रकाशित तेज.पटल को (अरोचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अय) और यह सोम (सिन्धुम्भ) शरीर के भीतर बहने वाली ज्ञान-धाराओं या नादियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवन्) होता है। (अयं सोमः) यह सोम, ब्रह्मानन्दरस (त्रि-सप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (हुहुहान) उत्पन्न करता हुआ (हुने) हृदय में (मत्सरः) आनन्द बहाता हुआ (चाक) उत्तम रूप से (पचते) प्रकट होता है।

[८२३] ^{३ २ २७ ३ २ ३ १ २२ ३ २ ३ २} एषा ह्यलि धीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।

^{३ २ ३ २ ३ १ २} एषा ते राध्य मनः ।

[८२४] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ ३ १} एषा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धाधि धातृभिः ।

^{१ २ ३ १ २} अथाचिदिन्द्र न सचा ॥२॥

[८२५] ^{२४ ३ १ २ ३ १ २ २} मापुब्रह्मव तन्द्रयुर्नुवा वाजानां पते ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २} मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३॥१८॥ अ० ६। १८। १८-२०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [८२२] पृ० ११८

(२) हे (तुवीमघ !) ऐश्वर्यचन् ! (इन्द्र) आत्मन् ! (विश्वेभिः) समस्त (धातृभिः) धारण करने वाले लोग (राति) तेरे दिये दान को (एव) ही (धाधि; धारण करते हैं) (अथ चित्) और (इन्द्र) आत्मन्! आप (नः) हमारे (सचा) सदा सहायक हो ।

(३) हे (वाजानां पते !) जानों, एश्वर्यों बलों के स्वामिन् ! आप (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा, वेदज्ञ विद्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्रयु) कभी आलस्ययुक्त, निकम्मा (मा उ घु भव) नहीं रहते प्रत्युत (गोमतः) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से भिन्ने (सुतस्य) योगज

सुख को (मत्स्य) आनन्द-लाभ करो । प्रायः केवल ज्ञानी लोग अजगरी
वृत्ति धारण ■■ लेते हैं । परन्तु ज्ञान, बल दोनों से युक्त पुरुष को तो
उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रज्यचसं गिरः ।

रथीगमं रथीना वाजाना सन्पनि पतिम् ॥१॥

[८२७] सख्यं त इन्द्र वाजिना मा भेम शवसस्पते ।

त्वामभि प्रनोतुमा जनारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पुत्रारिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूनय ।

यदा वाजस्य गोमतस्तोतृभ्यो मंहते मधम् ॥३॥१६॥

श्रु० १ । ११ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४३] पृ० १७८

(२) हे (शवसस्पते) बलों के स्वामिन् ' हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देने
हार । (ते सख्ये) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम (वाजिनः)
बलशाली, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी होकर (मा भेम) भय न करें (जनार)
सबसे उत्कृष्ट (अपराजित) किसी से पराजित न होने वाले (त्वा) तुझ
को (अभि प्र नोतुम) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर के (पूर्वीः) सब से
आदि काल से चले आये (रातय) दिये दान और (उतयोः) रघायं
(न विदस्यन्ति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, (यदा) क्योंकि
वह (स्तोतृभ्यः) सद्गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (गोमत) ज्ञान
वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) बल या ज्ञान के (मधम्) ऐश्वर्य को भी
(मंहते) प्रदान करता है ।

इति षष्ठः सूक्तः ।

इति तृतीयोऽध्यायः । इति द्वितीयप्रपाठस्य अन्तोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयोर्ध्वः ।

श्रुतिः—१ जमदग्निः । २ मृगुर्वाणिर्जमदग्निर्वा । ३ कविर्भागिनः । ४ कश्यपः । ५ मेधातिथि काण्वः । ६, ७ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ८ भरद्वाजो बाह्वम्पत्यः । ९ सप्तर्षयः । १० पराशरः । ११ पुरुहन्मा । १२ मेध्यातिथिः काण्वः । १३ वसिष्ठः । १४ अत्रिः । १५ ययातिर्नाहुषः । १६ पवित्रः । १७ सौमरिः काण्वः । १८ गोपूयस्सुक्तिर्नौ कायवायनौ । १९ तिरश्चीः ॥ देवता—
३—४, ६, १०, १४—१६ पवमानः सोमः । ५, १७ अग्निः । ६ मित्रावरुणौ । ७ मरुत इन्द्रश्च । ८ इन्द्राग्नी । ११—१२, १८, १९ इन्द्रः ॥
छन्दः—१—८, १४ गायत्री । ६ वृहती सतोवृहती द्विपदा क्रमेण । १० त्रिष्टुप् । ११, १३ प्रगायः । १२ वृहती । १५, १६ अनुष्टुप् । १६ जगती । १७ ककुप् सतोवृहती च क्रमेण । १८ उष्णिक् ॥ स्वरः—१—८, १४ यक्षः । ६, ११—१३ मध्यमः । १० धैवतः । १५, १६ मान्धातुः । १६ निषादः । १७, १८ श्रयमः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३०] एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाश्रवः ।

१ २ ३ १ २ ३
विश्वान्यभिसौमगा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३१] विघ्नन्तो दुरिना पुरु सुगा तंकाय वाजिनः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
त्मना कृशन्तो अर्चतः ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
[८३२] कृशन्तो वरियो गवेऽभ्यर्धन्मि सुष्टुनिम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
इहामस्मभ्यं संयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६ । ६२ । १—३ ॥

(१) जिस प्रकार (तिर.) तिरछे रूप से धामे हुए (पवित्रं) दशा पवित्र नामक वृक्ष खण्ड पर (एते) ये (आश्रव.) शीघ्र गति करनेवाले

सोम ओषधि के रस (विश्वानि) समस्त (सौभगा) सौभाग्यों को (अभि) प्राप्त करने के लिये (असृग्रम्) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं । उसी प्रकार (आशवः) व्यापनशील (इन्द्रवः) आह्लादकारक, आनन्द रस (एते) ये (तिरः) सस्वरूप, (पवित्र) शुद्ध, मल्लादि दोषों से रहित चित्त में (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् करने के लिये (असृग्रम्) प्रवाहित होते हैं ।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है । तदनुसार सृष्टि प्रकरण में (आशवः) गतिशील (इन्द्रवः) प्रकाशमान पियूष (एते) सब (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् प्रकट करने के लिये (तिरः पवित्रम्) सस्वरूप, परम प्रसरूप मूलकारण से (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वाजिनः) ज्ञानवान् सोम यम दमश्चादि साधनों से सम्पन्न विद्वान् लोग (पुरु) बहुत से (दुरिता) दुष्ट कर्मों को (विप्रन्त) नाश करने हुए (धमना) अपने सामर्थ्य से (अर्धतः) प्रायों (कृण्वन्तः) साधना करते हुए (लोकाय) अपने सन्तान के लिये, अथवा अपने विविध दुखों के नाश करने के लिये या अगती जन्म-परम्परा के सुधार लिये (सुगा) सुकपूर्वक अनुगमन करने योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं ।

(३) और वे ही विद्वान् लोग (गवे) ज्ञानस्वरूप ग्राह के लिये (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (कृण्वन्तः) करते हुए (अरमभ्यः) हमारे लिये (वरिषः) धन और (इडाम्) उत्तम अन्न और (संपतं) उत्तम व्यवस्था (अभि अर्पन्ति) प्रकट करते हैं ।

१ २ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[८३] राजा मेघामिरीयने पवमानो मनाधधि ।

३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षाय यातवे ॥ ६ ॥

[८३४] आ न सोम महा जुषो रुग न वर्चसे भर ।

सुष्वाणां देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विनं गवा पोषं स्वश्व्यम् ।

वहा भगत्तिमूनये ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ॥ १६ । १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (राजा) प्रकाशमान रूप में (पवमानः) प्रकट होता हुआ, आत्मानन्द रस (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्तःकरण से (यातवे) जाने के लिये (मनौ अधि) मननशील चित्त के भीतर (मेधाभिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (ईयते) व्याप्त होता है ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (देववीतये) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये (सुष्वाणां) स्वतः उत्पन्न होता हुआ (न०) हमें (वर्चसे) दीप्त कान्तिमान् तेजस्वी होने के लिये (सह) सहनशीलता (जुष०) योग और (वा) कान्ति (आ वा) प्राप्त करा ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (न०) हमारी (उतये) रक्षा के लिये हमें (शतग्विन) सैकड़ों गौओं और (स्वश्व्यं) उत्तम घोड़ों से युक्त (पोष) पुष्टिकारक पदार्थ और (भगत्तिम्) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य (आ वह) प्राप्त कराइये ।

[८३६] तं त्वा नृम्यानि विभ्रतं लघस्थेषु महा दिवः ।

चारुं सुकृत्यये महे ॥ १ ॥

[८३७] सवृक्तघृणुमुकथ्य महा मर्दिवतं मदम् ।

शतं पुरो करुक्षिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजान सुक्रतो दिवः ।

सुपर्णो अन्यथा भरत् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३६] अथा हिन्वान इन्द्रियं ज्याया माहेत्वमानशे ।

३ १ २ २
अभिष्टिक्वद्विचर्षणि ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[८४०] विश्वस्मा इत्स्वर्दशे साधारणं रजस्तुरम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २
शापामृतस्य विभरत् ॥ ५ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४८ । १-२ ।

भा०—(॥) हे परमेश्वर ! (नृम्यानि) नाना धनों को (विभरतं) धारण करते हुए (ते) उस (दिव) सौलोक या सूर्य (सधरथेषु) समान स्थान, अग्निराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में (चारं) व्यापक (महः) महान् (त्वा) तुझसे हम (सुकृत्यये) उत्तम पुण्य कर्म करके (ईमहे) प्राप्त होते हैं ।

(२) और पुनः (संवृकृष्ट्युं) आत्मा का धर्षण करने द्वारे काम क्रोधादि नाना शत्रुओं का मूत्र काट डालने वाले, (उक्म्य) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (महामद्विभरतं) बड़े भारी पूजनीय करने वाले (शतं पुर) सैकड़ों देहों के समान वस्त्राण्डों के भोजन, या सैकड़ों देहधारियों को (रुचिष्यं) उच्च लोक-भोग में डूबा देने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

(३) (अतः) इसी कारण (त्वा राजानं) तुझ समस्त संसार के प्रकाशक स्वामी के पास है (सुकृतो) उत्तम कर्म से सम्पन्न ! (दिवः) सूर्यलोक का भी (रयिः) समस्त यज्ञ और ऐश्वर्य (त्वा अभि आयद्) तुझको ही प्राप्त है । वृही (सुपथं) उत्तम ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त संसार को (अद्वयधी) बिना व्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही (भरत्) पावन पोषण और धारण करता है ।

(४) (अथ) और (विचर्षणि) सब संसार का दह, निरीक्षक नू (अभिष्टिक्वद्) सबको अभीष्ट कर्मफल देने वाला होकर (इन्द्रियं) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से युक्त देहों में प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बहुत

भदे (महिष्व) महान् सामर्थ्य को (आनशे) धारण करता है । अथवा (इन्द्रिय ज्याय महिष्वम् आनशे) परमेश्वर्य युक्त, सबसे अधिक भदे महान् सामर्थ्य को प्राप्त है ।

(५) (विः) देह से देहान्तर में गति करने द्वारा, पक्षि के समान यह जीव आत्मा (विश्वत्मा) सब प्रकार के (इ) ही (स्वः) सुखों या ज्ञानों का । दृशे) दर्शन करने के लिये (साधारण) समस्त लोकों को समान रूप से धारण करने हारे, (रजस्तुर) समस्त लोकों में गति देने हारे (अतस्य) समस्त जगत् आर ज्ञान की (गोपाम्) रक्षा करनेहारे परमात्मा को (भरत्) अपने चित्त में धारण करे ।

[८४१] इष पञ्च धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।

इन्द्रो रुचामि मा इहि ॥ १ ॥

[८४२] पुनानो चारघम्कृध्युजं जनाय गिर्वयः ।

हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

[८४३] पुनानो देववीतय इन्द्रस्य पाणि निष्कृतम् ।

सुतानो वाजिभिर्दितः ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या, देखो अविकल [५०५] पृ० २५० ।
(२) हे (गिर्वयः) वाणियों के एकमात्र पात्र । प्रमो । (आशिरं) इस शीर्ष होने वाले देह को (सृजान) बनाता हुआ, (पुनान्) स्वतः मज्जाहित, पवित्र बन्धन रहित होकर भी (जनाय) उत्पन्न होने हारे इस मनुष्य के लिये (वरिव) ज्ञानरूप उत्तम धन, और (ऊर्ज) अन्न आदि वस्तु (कृधि) उत्पन्न कर और प्रदान कर ।

(३) परमात्मन् । (वाजिभिः) विद्वानों द्वारा (दितः) समाधि में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया (सुतान्) प्रकाशस्वरूप

(पुनानः) सब मलों को शोधता हुआ (देवधीतये) दिव्यगुणों के प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रस्य) आत्मा (निष्कृतम्) आवासस्थान हृदय देश में (बाहि) बा, विराजमान हों ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—सप्तमः खण्डः—

[८४४] अग्निनाग्निं. सामध्यते कायर्गृहपतिर्युवा ।

इत्यवाह जुह्वास्य ॥ १ ॥

[८४५] यस्त्वामग्नं हविष्पनिर्दूतं देव सपयति ।

तस्य क्व प्राविता भव ॥ २ ॥

[८४६] यो अग्निं देवधीनये हविष्मो आ विद्यासति ।

तस्मै पावक मृडय ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १ । १२ । १, ८ । १ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (अग्निना) अग्नि से (इत्यवाह्) वह आरंभ पदार्थों को जलवायु आदि पदार्थों तक पहुँचाने वाला (जुह्वास्य) जुहू नामक चक्र पात्र या उगानारूप मुहर पाला । अग्नि (अवाहपतिः) अग्नि में (समिध्यते) प्रज्वलित किया जाता है । अथवा जिस प्रकार अग्नि में दूसरा अग्नि जला दिया जाता है । कभी प्रकार (युवा) मरुत (अग्नि) विद्वान् मेधावी दूसरे विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करता और (गृहपतिः) गृहस्थ भी दूसरे गृहस्थ में अपनी सत्ता पाता है ।

(२) हे अग्नि ! (यः) तू (हविष्पतिः) सब इन्द्र पदार्थों का रक्षक जीव (रक्षा) मेरा (सपयति) भजन करता है, हे देव ! (तस्य) उसके आय (अविना) रक्षा करने हार (भव) होऊँगे ।

(३) (यः) तू (हविष्मान्) उगतम चक्रों की पदार्थों का रक्षक (देवधीतये) दिवान् आत्मिक दिव्य गुणों और पदार्थों को प्राप्त करे ।

लिये (मित्र) अग्नि के समान ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा के
[आविर्भावति] उपासना करता है । हे (पावक) सबको पवित्र करनेहार
परमेश्वर ! आप (तस्मै) आपको (वृद्धय) सुख शान्ति दें ।

३ २ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ १ २
[८४७] मित्रं द्रुचे पूनदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २
धियं धृतार्ची साधन्ता ॥ १ ॥

३ १ २
[८४८] कृतं मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।

१ ७ ३ १ २
कतुं बृहन्तमाशाये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[८४९] कवी नो मित्रावरुणा तुष्टिजाता उरुक्षया ।

१ २ ३ १ २
वक्षं दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । १ ७-६ ॥

भा०—(१) मैं (पूनदक्षं) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र
बल वाले, मित्र) सबके सेही । सबको मृत्यु के भय से बचानेहार, मर्याद
में वर्तमान सूर्य के समान और देह में वर्तमान प्राण के समान (रिशादस)
शत्रुओं के समान कष्टदायी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) बलिष्ठ
प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसके समान सब कष्टों के निवारक
तेरा (द्रुचे । रहस्यपूर्ण अग्न्याग्नि पदार्थों के ज्ञान के साथ २ ज्ञान करता
हूँ । (धृतार्ची) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सर्व देशों
में लेजाते हैं उसी प्रकार । दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति
को बढ़ाने वाले धृत या शुक्ररूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी (धियं)
क्रिया को (साधन्ता) साधने वाले होते हैं । उसी प्रकार । परमेश्वर ! मृत्यु
से त्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक तेरा रुद्र और
धरणीय दोनों ही (धृतार्ची धियं साधन्ता) आनन्दरस को प्राप्त कराने
वाली बुद्धि को साधते हैं ।

(२) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों (अतस्य) गति, ज्ञान और सत्य के बल पर (अतावृधौ) जल से बढ़ने हारे वायु सूर्य के समान, अतरूप ब्रह्म की शक्ति से बढ़ने वाले (अतस्पृशा) जल के द्रावक सूर्य, वायु के समान (अतवृधौ) ज्ञान का सर्वत्र प्रचार करने हारे (वृहन्तं) बड़े भारी (ऋतु) ससार रूप यज्ञ को ब्रह्माण्डों और पिण्डों को (आशाधे) व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (कवी) क्रान्तदर्शी सब प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने हारे, (तुविजाता) बहुत से कारणों से प्रसिद्ध, (उरुचया) माना जगत् के पदार्थों में व्यापक (दधं) बल और (अपसं) क्रिया को (दधाते) धारण करते हैं, स्थापन करते हैं ।

[८५०] इन्द्रेयं सं हि वृक्षसे संजग्मानो अविभ्युषा ।

मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥

[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्यमेरिरे ।

दधाना नाम यक्षियम् ॥ २ ॥

[८५२] वीडुं चिदारजन्नुभिर्गुहां चिदिन्द्रं घृहिभिः ।

अत्रिन्द उक्षियां अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ॥ ७, १, ॥

(१) हे प्राण ! तू (अविभ्युषा) अपरहित (इन्द्रेय) इन्द्रस्वरूप आत्मा के माथ (संजग्मान.) गति करता (सं वृक्षमे हि) दिगार देता है । इस कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा (समानवर्चसा) समान कान्ति वाले होकर (मन्दू) आनन्द के उत्पारक होते हो । जीव और वा नात्मा के पक्ष में, एव सूर्य और वायु के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

(२) मरुत्गण, इन्द्रियां या दोनों प्राण (स्वधाम् ऋतु) धारण कर रहे रूप, या देह को स्वयं धारण करने में समर्थ जीवात्मा के माथ (आदह)

बाह में (पुनः) फिर (गर्भत्वम्) गर्भरूप से (एरिरे) प्रकट होते हैं और (याज्ञियं) जीवनरूप यज्ञ के योग्य [नाम) सज्ञा को (दधाना) धारण करते हैं । आधिदैविक पक्ष में स्वभा-जलके साथ वायुएं आकाश में गर्भित होकर यज्ञ योग्य जलवर्षा कराते हैं ।

(३) जिस प्रकार सूर्य का तेज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पदार्थों तक पहुँचता और उनके भीतर प्रवेश करने वाली वायुओं से अन्तरिक्ष में जल को धारण करता है उसी प्रकार (इन्द्र) आत्मन् ! (गुहा चित्) भीतरी गुहा, गर्भस्थान में भी (बीजु-चित्) अति दृढ़ स्थान को (आकजस्तुभि) पीड़ित करते हुए (वह्निभिः) वहन करने वाले प्राणों से प्रकट होकर (अनु) पश्चात् (उन्निया) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा (अनु अविन्दः) तू ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कर । अथवा (इन्द्र) आत्मन् ! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी इस शरीर के भागों को फोड़ कर जीवन को वहन करने वाले इन प्राणों से अपने (उन्नियाः) ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करता है ।

[८५३] तां हुवे ययोरिदं पन्न विश्वं पुराकृतम् ।

इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥

[८५४] उग्रा विघनिता मृध इन्द्राग्नी हवामहे ।

तां नो मृडात इदं ॥२॥

[८५५] हथा वृत्राण्याया हथा दासानि सत्पती ।

हथा विश्वा अप द्विपः ॥३॥ अ० ६ । ६० । ६-६॥

भा०—(१) तम (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को (हुवे) स्तुति करता है (ययोः) जिनके आधार पर

(इव) यह (विश्वम्) विश्व (पमे) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है ।
और (यपो) जिन्हों के आघार पर यह जगत् (पुराकृतम्) प्रथम काल में भी
जताया गया था, जो इसके (न मर्धतः) विनाश नहीं होने देते ।

(२) उन (मृध०) जिसके शत्रुओं को (विघनिता) विशेषरूप से
आघात करने हारे (उग्र) वेग वाले (इन्द्राग्नी) पूर्व उग्र इन्द्र और
अग्नि दोनों को (हवामहे) स्वीकार करते, स्तुति करते हैं जिनके आघार
पर हम और (ता) वे दोनों (नः) हमें (ईवृशे) इस प्रकार के जीवन
समय में भी (मृधात) सुखी करें ।

(३) (आपो) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों (वृत्राणि)
मेघों के समान आवरक दिव्यों को (हय) आघात करते, या नाश करते हैं ।
(सधृती) और दोनों ~~वृत्राणि~~ के पालक (दासामि) नाशकारी पदार्थों
को (हय०) विनाश करते हैं और (विश्वा) समस्त (द्विषा) शत्रुओं को
(अप हय) दूर मार भगाते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[८५६] अग्निं सोमास आयव पवन्त मघं मधम् ।
समुद्रस्यार्धावष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मरुच्युतः ॥१॥
[८५७] तरत्समुद्र पवमान ऊर्षिणा राजा देव क्रतु बृहत् ।
ऊर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान क्रतु बृहत् ॥२॥
[८५८] नृभिर्येमाणो हर्यना विचक्ष्णो राजा देवः समुद्रधः ॥३॥
॥६॥ अ० ६ । १०७ । १४ १३॥

८५६—१. 'मत्सरासः सर्विद' इति अ० ।

२ 'ऊर्षन् मित्रस्य,' 'प्रहिन्वान' इति अ० ।

३ 'देवः समुद्रियः' इति अ० ।

भा०—(१) स्पाह्या देवो भविकल सं० [५१८] पृ० २५६ ।

(२) (पदमान-) समस्त मत्तों को शोधन करने द्वारा (राजा) सूर्य के पमान योगी (देव-) विद्वान् (कर्मिणा) अपनी उच्चगति द्वारा (वृहत्) यदे (अतम् । सत्यज्ञान स्वरूप परिपक्व (समुद्र) समस्त रसों के आश्रय मत्त को (तरत्) प्राप्त हो जाता है । और (मित्रस्य) सबके स्नेहशील प्राणेश्वरूप (वरुणस्य) सब पापों के निवारक परमात्मा को (भर्तृणा) यम नियम पूर्वक प्राप्त धारक बल से, या सदाचार से (दि-
ग्मान-) सम्मानों में गति करता हुआ स्वयं (वृहत्) यदे (अतम्) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त मत्त को (प्र अपे) प्राप्त होता है ।

(३) (नृभि) विद्वान् भेदाओं, या प्राणों के द्वारा (यन्माय-) सुव्यवस्थित (राजा देवः) प्रकाशेश्वरूप योगी आत्मा 'इत्येत', सबके प्रेमका पात्र (विच-
यया-) और सब का साथी रूप होकर (समुद्र्य-) महान् रससागर में आनन्द प्राप्त करने वाला होकर उमी में मग्न हो जाता है ।

[८५६] ति॒त्रो॒ वाच॑ ईर॒यनि॑ प्र॒ व॒ह्निर्जन॑स्य धी॒नि॒ ब्रह्म॑णो मनी॒षाम् ।
गा॒यो यान्ति॑ गो॒पति॑ पृ॒च्छमा॒नाः सोम॑ यान्ति॒ म॒त॒यो वाच॑-
शानाः ॥२॥

[८५७] सोम॑ गा॒यो धे॒नवा॑ वाच॒शाना॑ । सोम॑ वि॒प्रा म॑ति॒मि॒ पु॒न्य-
मा॒ना । सोमः॑ सु॒न श्रु॒त्यने॑ पू॒यमा॑नः सोम॑ अ॒क्राधि॑ष्टुमः
स॒ञ्जव॑न्ते ॥२॥

[८५८] ए॒वा न॑ साम॒ परि॑पिच्यमान आप॒वम्ब॑ पू॒यमा॑नः श्र॒वा॒न्ति ।
इन्द्र॑मा॒भि॒श वृ॒हता॑ म॒दन॑ व॒रुणा॑ वाच॒ जन॑या पु॒रान्धि॑म्
॥३॥ १०॥ ६ । ६७ । ३४-३६ ॥

मा०—(१) व्याख्या देखो अविकृत स० [५२५] पृ० २६०।

(२) (धेनवः) दुग्धपान कराने वाली (गावः) गौओं के समान ज्ञानरस का पान कराने वाली, ज्ञानवाणिषां (सोमं) सोमस्वरूप आत्मा या परमात्मा के प्रति (वाचशाना) कामना प्रकट करती है। उसी को चाहती अथवा उसी की स्तुति करती है। और (विप्राः) मंधार्या पुरुष (मतिभिः) अपने मननों द्वारा (सोमम्) उसी रसस्वरूप आत्मा की (पृच्छमाना) जिज्ञासा करते हैं। वही (सोम) रसरूप आत्मा (पूयमान) विद्युद्ध स्वरूप (सुतः) अन्तर्हृदय में प्रकट होकर (ऋचयते) स्तुति किया जाता है। और (अर्काः) सूर्य के समान तेजस्वी, वेद के विद्वान् ज्ञानी पुरुष (सोमे) उसी परमात्मा के विषय में (अग्निदुभ) तर्कों प्रकार से मनसा, वाचा, कर्मणा, उसकी स्तुति करने हारे होकर उसकी (स नवन्ते) अच्छी प्रकार स्तुति करते हैं।

(३) हे (सोम) रसस्वरूप ! (परिसिष्यमान) बार २ निदिध्यासन द्वारा साक्षात् किया गया, (पूयमानः) विद्युद्धरूप (स्यास्ति) कल्याणकारी होकर (नः आपवस्व) हमारे प्रति प्रकट हो। और (बृहता) बड़े भारी (मदेन) आनन्दरस से (इन्द्रम्) आत्मा को (आविश) प्राप्त कर और (वाचं) वाक्शक्ति को (वर्धय) बढ़ा। और (पुरन्धिम्) देह रूप पुराना धारण कराने वाली चितिशक्ति या बुद्धि को (जनय) प्रकट कर।

॥ २५ ॥ ३ २१ ३ १ २१ ३ २

[८६२] यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूर्मीकृत स्युः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न त्वा वज्रिन्महसं ध्याया अनु न जातमष्ट रादसी ॥१॥

३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६३] आ पमाथ महिना वृष्या ध्रुवन्विष्वा शविष्ठ शवसा ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्मा अथ मधवन् गोमति वजे वज्रिन्विष्वा मरूताम

॥ २ ॥ ११ ॥

फ० ८ । ७० । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२७८] पृ० १४२ ।

(२) हे (वृषन्) सुखों की वर्षा करने हारे परमात्मन् ! हे (श-
विष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! आप (महिना) बड़े भारी (शवसा) बल, शक्ति,
सामर्थ्य से (विश्वा) समस्त (वृष्यया) सुखवर्षक और जलवर्षक सबके
पोषक मेघ, पृथिवी आदि पदार्थों को (आ पप्राय) पूर्ण कर रहे हो, सब
में व्याप्त हो । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् ! हे (वज्रिन्) पापनाशक ज्ञान
स्वामी ! गोमति) इन्द्रियों से सम्पन्न इन्द्र (वजे) गतिशील नरवर,
देह में (चित्राभिः) नाना आदरणीय (उतिभिः) रक्षाओं या ज्ञानधाराओं
से आत्मा की (अव) पालन कर, पुष्ट कर ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६४] वय घ त्वा सुतावन्तः आपो न वृक्षवर्हिषः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् पारिस्तोतार आसते ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६५] स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थित ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

कदा सुतं तृषाण ओक आगम इन्द्र स्वर्द्धीव वंसगः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६६] कण्वभिर्घृष्णावा धृषद्वाज दर्धि सहस्रिणाम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षये मक्षु गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥ १३ ॥

अ० ८ : ३३ : १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [२६१] पृ० १३३ ।

(२) हे (वसो) सब को वास देने हारे परमात्मन् ! (सुते) इस उत्पन्न
जगत् में (एके) बहुत से (उक्थित.) ज्ञानी, स्तोता लोग (त्वा) तुम्हें को ही
(नि. स्वरन्ति) पुकारते हैं तेरी ही स्तुति गाते हैं । (तृषाण.) प्यासा पुरुष
जिस प्रकार (ओकः) जल के स्थान के प्रति जाता है उसी प्रकार (इन्द्र)
परमेश्वर आप (स्वर्द्धी इन्द्र) उत्तम भेदवान् त्रायु के समान (वंसगः) शुभ

गमन युक्त होकर इस (सुते) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति (कदा । कव (आगमः) आएँगे, कव कृशदृष्टि और आनन्दवृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है—हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुझे ही स्वरसे गाते हैं । जिस प्रकार प्लासा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार मैं भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघ-वान् वायु के समान मनोहर गति वाला होकर कव हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे (मघवन् !) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों स्वामिन् ! (वि चर्यये !) समस्त संसार के द्रष्टा ! हे (धृष्यो) सहनशील ! समस्त संसार के भार धारण करने वाले ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करने वाले ! आप (कयवेभि) मेघाधी पुरुषों के निमित्त (सदाश्रियम्) सदाश्रयों ऐश्वर्यों से युक्त (धृष्य) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले (वाज) बल का (आश्रयि) देते हैं । उस ही (विशन्नरूपं) आयन्त मनोहर, पीतवर्ण के, सुवर्ण आदि और (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त (वाज) धन की (मघू) निरन्तर हम (ईमहे) याचना करते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

[८६७] तरणिरित्सपति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

आ व इन्तं पुरुहूत नमे गिरा नेमि नष्ट्र सुदुग्धम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६८] न दुष्टुतिर्द्रिणादपु शस्येत न स्रेधन्तं रायर्नशन् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ १ २ ३ २

सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य मावते दण्य यत्पार्ये त्रिजि ॥२॥

॥१३॥

श्र० ७ । ३२ । २०-२१ ॥

(१) ग्याख्या देवो अविकल स० [२३८] १०१०१ ।

८६७—२. 'न दुष्टुती मर्यो विरन्ते नष्ट्र' की ३० ।

(२) (द्रविणोद्रेषु) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हारे उदार पुरुषों के विषय में (दुः-स्तुतिः) ॥ निन्दा (न गत्यते) नहीं कही जाय और (स्नेधन्तं) दूसरों की हिंसा करने हारे पापी पुरुष को (रयि.) धन प्रजा और पुष्टि (न नगत्) ग्रास हो । (यत्) जो (पार्थे) पालन करने हारे (दिवि) आकाश या सूर्य में (मावते) मेरे जैसे पुरुष के लिये (देव्यां) दान करने योग्य तेज लज्ज वृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे भववन् ! (तुभ्ये इत्) तेरी ही यह (सुशक्ति.) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थः सूक्तः ।

[८६६] नि॒क्षो वाचं॑ उ॒दीर॑त गा॒वो भि॑मन्ति धे॒नव॑ ।

ह॒रिरे॑नि क॒निक॑दत् ॥ १ ॥

[८६७] अ॒मि ब्र॒ह्मीर॑नू॒षत॑ य॒क्षीर्ज॑तस्य मा॒तरः॑ ।

म॒र्जय॑न्तीदि॒व शि॑शुम् ॥ २ ॥

[८७१] रा॒यः स॒मुद्रांश्च॑तुराऽ॒स्मभ्य॑ सोम॒ विश्व॑तः ।

आ॒पव॑स्व स॒हासि॑णः ॥ ३ ॥ १४ ॥ १ । २३ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७१] पृ० २३७।

(२) (ब्रह्मी) ब्रह्म-वेद की वाणियों (ब्रह्मस्य मातरः) सत्य का ज्ञान कराने वाली (दिवः) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में (शिशुं) शयन करने वाले, व्यापक परमात्मा को (अमि-अनूषत) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक ! परमेश्वर ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहासिणः) सहस्रों पदार्थों से सम्पन्न (रायः) धनों से पूर्ण

(चतुरः) चारों (समुदान्) समुदों, या उन्नति के साधन रूप या नाना ऐश्वर्यों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को (आ पवस्व) प्राप्त करा ।

उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २
[८७२] सुनासा मधुमत्तमा सोमो इन्द्राय मन्दिनः ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् दवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ १ ॥

२ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[८७३] इन्द्राय पवत इति देवासो अग्नयन् ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
वाचस्पतिर्नक्षस्यते विश्वस्येशान अोजसः ॥ २ ॥

उ १ २ उ १ २ उ १ २
[८७४] सहस्रवारः पवत समुद्रो वाचमीह्वयः ।

२ उ १ २ उ १ २ उ १ २
सामस्पती रयीणा सस्रन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३ ॥ १५ ॥

अ० ६।१०४। ६-६ ॥

भा०—(१) क्याया देखो अधिकल सं० [१४७] पृ० २६४।

(२) (इन्द्रः) सोम्य गुणवाला आनन्दस्वरूप, सोममय ईश्वर (इन्द्राय) इस आत्मा के हित के लिये (पवते) प्रकट होता है । (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् लोग (अग्नयन्) कहते हैं । और वही सोम (अोजसः) विशेष बल और प्रभाव के कारण (विश्वस्य) समस्त समार का (ईशानः) प्रभु और (वाचस्पति) वेदवाणियों का स्वामी होकर (नक्षस्यते) यज्ञों द्वारा पूजा करने योग्य है ।

(३) (सहस्रवारः) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, (समुद्र) समस्त रसों का भण्डार, या समुद्र के समान महान्, (वाचम् ईह्वय) समस्त विष की वेदमय वाणियों को प्रकट करने द्वारा, (रयीणा) समस्त ज्ञान और चेतन पदार्थों और ऐश्वर्यों का (पतिः) स्वामी और (इन्द्राय)

८७१—२ 'ईशान अोजसा' इति अ० ।

इस आत्मा का (सखा) परम मित्र (सोमः) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पवते) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणास्पते प्रभुर्गोत्राणि पर्येणि विश्वतः ।
अतस्तनून् तदामा अभ्रुते श्रुतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१॥

[८७६] तपोऽपवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्य-
स्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधिरो-
हन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरुक्च दुषसः पृश्निरग्निय उक्षा मिमेति मुचनेषु वाजयुः ।
मायायिनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः
॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । म३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६५] पृ० २६५।

(२) (तपो) समस्त संसार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का (पवित्र) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, (दिवः) समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थों में (विततं) व्याप्त है । (अस्य)-इस पर-
मेश्वर के (अर्चन्तः) गुणों को प्रकट करते हुए (तन्तवः) नामा तन्तु,
बज्रमय सूत्र (व्यस्थिरन्) नामा प्रकारों से विद्यमान हैं । (अस्य) इसके
(आशवः) व्यापक और अति वेगवान् सामर्थ्य या शक्तियाँ (पवितारं)
सबके शोधक सूर्य और वायु को (अवन्ति) नष्ट होने से बचाते हैं ।
और (तेजसा) तेज के रूप में (दिवः) आकाश के (पृष्ठ) सबसे उन्नत
भाग में भी (अधिरोहन्ति) पहुँचे हुए हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः स्कन्धः ।

[८७८] प्र मंहिष्ठाय गायतः ऋनान्ने बृहतेः शुक्रशोचिपे ।

उपस्तुतासो अश्वये ॥ १ ॥

[८७९] आ वसत मघवा वीरवद्यशः समिद्धो घुम्याहुतः ।

कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यञ्च वाजभिरागमत् ॥ २ ॥ १७ ॥

ऋ० ८ । १७१ । ऋ, १ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ० ५७ ।

(२) (मघवा) ऐश्वर्यवान् (समिद्ध) प्रकाशमान, (घुम्या) यशस्वी, कान्तियुक्त, (आहुतः) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा (वीर-वद्) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्रा मृत्यु मित्र आदि से युक्त (यशः) अल और तेज (आ वसते) प्रदान करता है । (अस्य भवीयसी) सबसे अधिक शक्तिशाली (सुमतिः) उत्तम ममन या सकल्प शक्ति (न.) हमें (वाजभि.) जाना वलों ऐश्वर्यों और जानों सहित (कुवित्) बहुधा (आगमत्) आवे, प्राप्त हो ।

[८८०] न ते मदं गृणीमसि वृषणं पूषु सासहिम् ।

उ लोककृत्नुमद्रिचो हग्निधियम् ॥ १ ॥

[८८१] येन ज्योतीष्यायवे मगवे च विवेदिथ ।

मन्दानो अस्य बहिपो विराजामि ॥ २ ॥

[८८२] तदद्या नित्त वक्रिथनोऽनुद्भवन्ति पूर्वथा ।

पुष्यपत्नीरपो जया दिवदित्र ॥ ३ ॥ १८ ॥ ऋ० ८ । १८१ । ऋ-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ० १६८ ।

(२) (येन) जिस सामर्थ्य से हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (आयवे) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और (मगवे) मगनशील पुरुष

के प्रति अपनी (ज्योतीषि) ज्ञानदीप्तियों को (विवेदिय) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से (मन्दानः) आनन्दपूर्ण होकर (अस्य इस (बहिष) महान् ब्रह्माण्डरूप यज्ञ के आश्रय बन कर (विराजसि) विराजते हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उर्विधनः) ज्ञानी लोग (अद्य चित्) आज तक भी (पूर्वथा) पहले के समान ही (ते) तेरी (अनुष्टुबन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू (वृषपत्नी) भीतरी आनन्दरस वर्षण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी (अपः) शक्तियों और बुद्धियों को (दिवेदिवे) प्रतिदिन नित्य (जय विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] श्रुयी हव निरश्न्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।

सुर्वे यस्य गामतो रायस्पृद्धि महो आसि ॥ १ ॥

[८८४] यस्त इन्द्र नवीयसी गिर मन्द्रामजीजनत् ।

चिकित्वन्मनस विधे प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २ ॥

[८८५] तमु प्रवाम य गिर इन्द्रमुक्थयानि वावृधुः ।

पुरुषयस्य पौस्या सिषासन्ता वनामहे ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । १५ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३४६] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! (य) जो (ते) तेरे लिये (नवीयसीम्) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी (मन्द्रा) गम्भीर (गिरं) वाणी को (अजीजनत्) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू (अतस्य) सत्यज्ञान (पिप्युषीम्) पुष्ट करनेहारी (प्रत्ना) अति प्राचीन (चिकित्वन्मनस) ज्ञानेशील मन से संयुक्त (विधे) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

(३) (तं) उस (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (उ) ही हम
नित्य (स्तवाम) स्तुति करें (वं) जिसकी (उक्त्यानि) वेदमन्त्र (वावृषुः)
सदा महिमा बढ़ाते हैं । हम अल्पशक्ति जीव (अस्य) उस परमात्मा
(पुरुषे) नाना प्रकार के (पौस्या) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन,
धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, या बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को
(सिषासन्तः) नाना प्रकार (उपयोग और सेवन करते हुए (वनामहे)
उसकी स्तुति या भजन करते हैं ।

इति षष्ठः सूक्तः ।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (प्रथमोर्ध्व) ।

श्रुतिः—१ आक्रुष्टमाणा । २ अमदीयुः । ३ मेघ्यातिभिः । ४, १२ वृष-
स्मृतिः । ५ अगुर्वारिणिर्जमदधि । ६ सुतमर आभेयः । ७ गूरसमदः । ८, २१
गोनमो रङ्गणः । ९, १३ वमिष्ठः । १० वृद्धसुत आगस्त्यः । ११ सप्तर्षयः ।
१४ रेमः काश्यपः । १५ पुरुहन्मा । १६ असिनः काश्यपो देवलो वा । १७
शक्तिरुक्ष क्रमेण । १८ अग्निः । १९ प्रतर्दनो देवोदासिः । २० प्रयोगो भार्गव
अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अमर्वाग्नी गृहपतिर्यविर्वा सदसः दृष्टौ तयोर्वान्यतरः ॥
देवता—१—५, १०—१२, १६—१८ यमजान सोमः । ६, २० अग्निः ।
मित्रावरुणौ । ८, १३—१५, २१ इन्द्र । ९ अन्द्राग्नी ॥ छन्द—१, ६
जगती । २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री । ११ वृहती सप्तोर्वृहती च
क्रमेण । १२ विराट् । १३ अतिजगती । १५ प्रागाय । १७ ककुप् च सप्तोर्वृहती

न क्रमेण । १८ उष्णिक् । १९ त्रिष्टुप् । २० अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ६, १४
निपादः । २—५, ७—१०, १२, १६, २० षष्ठः । ११, १३, १५, १७
मध्यमः । १८ अथम । १९ वैषम । २० गान्धारः ॥

[८८६] प्र त आश्विनी. पवमान धेनवा दिव्या असृग्रन् पयसा
धरीमणि । प्रान्नरिक्तात् स्थाविरीस्ते असृक्षन् ये त्वा
मृजन्त्यपिपाण्य वेधसः ॥ १ ॥

[८८७] उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सत परियन्ति
केतवः । यदी पवित्रे अधिमृज्यते हरिः सत्ता नि योनी
कलशेषु सिदति ॥ २ ॥

[८८८] विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभाष्टे सत परियन्ति
केतवः । व्यानशी पवस सोम धर्मणा पतिर्ध्रुवस्य भुव-
नस्य राजासे ॥३॥१॥ १ । ६६ । ४, ६, ५, ५, ५, ५ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) परमपावन व्यापक परमात्मन् । (ते) तेरी
(आश्विनी.) सर्वत्र व्यापक, (दिव्या.) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी.) निरन्तर
स्थिर रहने वाली, (धेनव.) सबको आनन्दरस का पान कराकर तृप्त
करने वाली शक्तियाँ (पयसा) ज्ञान और बल और आनन्दरस एवं जल
के द्वारा (धरीमणि) धारण करने वाले आत्मा या अन्तरिक्ष में (प्र
असृग्रन्) उत्तमरूप से प्रकट होती हैं । हे (अपिपाण्य) अपिप्या, मन्त्रद्वारा
ज्ञानी पुरुषों द्वारा भजन करने योग्य आत्मन् परमात्मन् । (ये) जो
(वेधसः) विद्वान् पुरुष (त्वा मृजन्ति) तेरे शुद्ध रूप को साक्षात्

(१) 'पवमान भीजूवो', 'प्रान्नरिक्तात् स्थाविरीरक्षत' इति श्रु० ।

३. 'व्यानशिः' 'धर्ममिः' इति श्रु० ।

करते हैं (ते) वे (स्याविरीः) स्थिर कूटस्थ धारारूप धारणाओं को (अन्तरिक्षात्) अपने अन्त करण रूप भीतरी साधान् करने वाले साधन मन या अन्त करण स (प्र असृघ्न) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करते हैं, निदिष्यासन करते हैं । आत्मपद में—अपि= इन्द्रियगण ।

“(२) (पवमानस्य) समस्त ससार में व्यापक, सब को गति देने हारे, परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मयः) किरण (ध्रुवस्य सतः) सत्स्वरूप उस कूटस्थ ब्रह्म के (उभयतः) जब और जगम दामों प्रकार के संसार के प्रति (परियन्ति) व्याप्त हो रहे हैं । (यद्गृह्) जब भी (हारे) समस्त ससार को गति देने और समस्त दुःखों को हरने द्वारा ईश्वर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण में (अधिमृज्यते) विषय द्वारा साक्षात् किया जाता है सब (सत्ता) हृदयों में सत्यस्वरूप होकर विराजमान बह (कलशेषु) सब शरीरों में भी विद्यमान (योनौ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर (सीदति) विराजमान है ।

(३) हे (विश्वचक्षुः) समस्त ससार को देखने वाले परमात्मन् ! (सोम) सबके उत्पादक ! (सतः) सत्यस्वरूप, महान् (प्रभो) सर्व शक्तिमान्, (ते) आपके (केतवः) मूर्त्यु । किरणों के समान गतिमा को, जतलाने वाले चिह्न और आपक शक्तिवा (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों में (परि यन्ति) फैली हुई हैं । और आप (स्यान्तरी) सर्वव्यापक (विश्वस्य भुवनस्य पनि-) समस्त संसार स्वामी, (धर्मेणा) अपने धारण करने हारे बल से (विराजमि) सबसे ऊपर विराजमान हैं ।

१ २ ३

३ २ ३ १ २

२ २ ३ १

[८८६] पवमानो अजीजनद्वित्रक्षिप्रं तन्यनुम् ।

१ २

३ २ ३ २

ज्योतिर्धैश्वानर बृहत् ४२॥

[८६०] पञ्चमान रमस्तत्र मदो राजन्नदुच्छुनः ।

त्रि नारमज्यमर्पति ॥२॥

[८६१] पञ्चमानस्य ते रसा दक्षो विराजति शुमान् ।

ज्योतिर्विश्वं च दृश ॥३॥२॥ अ६ ■ । ६१ । १६ ।-१८ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल म० [४८४] पृ० २४२ ।

(२) [पञ्चमान] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! (तव) तैरा (रसः) रस, आनन्दमय (मदः) इषं कारक (अदुच्छुनः) दुष्ट कुत्ते के समान भोग मृणावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दुःखदायी काम, क्रोधआदि भीतरी शत्रुओं से रहित होकर । अथ) आत्मा के (वार) वरण करने योग्य स्वरूप को (वि अर्पति) व्याप जाता है ।

(३) (पञ्चमानस्य । अन्त करण पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे (ते) तैरा (रमः) आनन्दरस (दक्ष) ज्ञान और बल रूप (शु-मान् । कान्तिमय होकर (विराजते) विशेष रूप से चमकता है । और वह (ज्योतिः)) ज्योतिः स्वरूप (विश्वम् । समस्त (स्व) सुखों को (दृशे) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८६२] अथ यद् गावो न भूयस्त्वेषा अयासा अकृतुः ।

अन्तः कारणमप त्वचम् ॥१॥

[८६३] सुवितस्य वनामदति सतु दुराध्यम् ।

साह्याम दस्युमव्रतम् ॥२॥

[८६४] शृण्वं वृष्टेरिव स्यन पञ्चमानस्य शुष्मिणीः ।

चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥

२. 'पञ्चमानस्य ६ रमी' ३. 'पञ्चमानसस्तव' इति पादयोर्न्यस्ययः, अ० ।

[८६५] आ पवस्य महोमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
अभवत्सोम धीरवत् ॥४॥

[८६६] पवस्व विश्वचर्पणं आ महो रोदसी पृथ ।
उपा. सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ५ ॥

[८६७] पारे नः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः ।
सरा रसेव विष्टपम् ॥६॥ ३॥ अ० ९ । ४२ । १-६॥

भा०—(१) धारया देवो अविकल सं० [४६१] पृ० २४५ ।

(२) (सुवितस्व) सब संसार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रेरक परमात्मा की (मनामहे) हम शरण में जाते और ध्यान करते हैं जिससे (सेतुम् अति) मर्यादा और सामानिक बन्धन व्यवस्था को तोड़ने हारे, (दुरात्मम्) ~~अज्ञान~~, बेकाबू, दुर्दान्त (अप्रतम्) कर्तव्य कर्मों से गिर हुए निकम्मे (दस्युम्) प्रजा के विनाशक, डाकू आदि अपराधी, या आत्मा ~~नाशक~~ काम क्रोध आदि को (सासह्याम) हम विजय करें ।

(३) जैसे (दिवि) आकाश में (विद्युतः) विजुलिया (चरन्ति) गति करती हैं वही प्रकार जब आत्मा की, या ब्रह्मानन्दरस की (विद्युतः) विशेष कान्तिमां, दीप्तिमां, (दिवि) समस्त संसार में या मूर्धारूप ब्रह्म-रुड में (चरन्ति) वेग से गति करती हैं तब (शुष्मिणाः) अति बलवान् (पवमानस्य) अन्तःकरण को पवित्र करने हारे और आनन्द का वर्णन करने हारे ब्रह्म का (स्वनः) घोष (वृष्टेः) मेघ ~~समान~~ (शृ-शब्दे) सुनता हूँ । धर्ममेघ समाधि के अवसर में अनाहत आत्मरूप परमेश्वर का यह वर्णन है ।

८६५—'मनामहे' 'दुरात्म' 'साहासो' 'अवक् वाजवत्सुतः' इति अ० ।

८६६—'स पवस्व विचर्पणे' इति अ० ।

(४) हे (सोम !) परमात्मन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप हमें (गोमत्) गौओं, घाण्डियों और इन्द्रियों से सम्पन्न (अश्वत्) घोड़ों और प्राणों और वेगवान् साधनों से युक्त, (वीरवत्) पुत्रादि वीर पुरुषों से युक्त, (इषं) अन्न, प्रवक्ष इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य को और (महीम्) बड़ी प्रसिद्धि को (आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

(५) हे (विश्वचर्वणे) समस्त संसार को देखने वाले परमात्मन् ! (शरिमभिः) किरणों से (सूर्यः न) जिस प्रकार सूर्य (उषा.) उषा के समयों में (मही रोदसी) बड़े मारी आकाश और पृथिवी दोनों को पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनको पूर्ण करते और पालन करते हो । आप हमारे प्रति (पवस्व) अपनी कृपा दर्शाइये ।

(६) हे सोम ! (रसा इव) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी (विह्व-
पम्) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी (शर्मयन्त्या) सुख देने वाली (धारया) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से (विश्रुतः) सब ओर से (न.) हमारे प्रति (परि सर) प्राप्त होइये ।

इति प्रथम सङ्घः ।



[८६८] आशुरर्षं बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।

यत्र देवा इति ब्रुवन् ॥१॥

[८६९] परिष्कृतवर्णानिष्कृतं जनाय यातयन्निष ।

धृष्टिं दिवः परिस्रव ॥२॥

[९००] अयं स यो दिवम्परि रघुयामा पवित्र आ ।

सिन्धोरूमा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] सुत पति पवित्र आ त्विषि दधान ओजसा ।

विचक्षाणा विरोचयन् ॥४॥

[६०२] आग्निवांसत् पराजना अथो अर्वावत सुतः ।

इन्द्राय मित्र्यै मधु ॥५॥

[६०३] समीचीना अनुषत हरि हिन्वन्त्यद्रिभिः ।

इन्द्रमिन्द्राय पीनये ॥६॥ अ० ६। ३६। १-६॥

। भा०—(१) हे (इन्द्रम्ते) महान् ज्ञानसम्पन्न परमात्मन् । आप (आशु) सर्वत्र व्यापक होकर (प्रियेण) अतिमनोहर, श्रेष्ठ, (धाम्ना) धारणशील तेज से । परि अर्धे) व्याप्त हो रहे हैं । (यत्र देवाः) जहाँ २ विद्वान्गण, या दिव्यगुण से युक्त पृथ्वी, जल वायु आदि पदार्थ हैं वहाँ ही आप भी व्यापक हैं, वे आप से-मिश्र मल नहीं रखते । (इति) इस प्रकार आप (सुवन्) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (प्र निष्कृतम्) संस्कार या परिष्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि को (जनाय) जन्तुओं के उत्पत्ति के लिये (परिष्कृतम्) संस्कृत, स्वच्छ परिष्कृत करते हुए (इय) मनो कामनाओं, पुष्टिकारक पदार्थों वा ओषधियों और अर्धों (पातयन्) वहाँ स्वयं उत्पन्न करते हुए आप (दिवः) सूर्यलाक, आकाश या पुरुष दोनों पक्षों से (वृष्टिं) जलवर्षण यजिष्वर आदि क्रिया के कार्य को (परिष्व) करवाते । समष्टि और अष्टि रूप से सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप से वर्णित है ।

(३) (य) जो सोम (दिवः परि) सूर्य में (रघुयामा) इसका सूक्ष्म रूप होकर निचरता है (स) वह (पवित्रे) मलादि दोष रहित, (सिन्धो) स्रवण करने वाले जल के (ऊर्मो) सघात रूप में (वि श्व रन्) नाना प्रकार में धरित होना है ।

(४) (सुत) सवका प्रेरक यह सोम, सर्वोत्पादक (योजना) शपन सामर्थ्य से (पवित्रे) स्वच्छ मलरहित पदार्थों में (भिषिम्) कामि को

(दधान) धारण करना हुआ कि रोचयन्) जाना पदार्थों को प्रकाशित करता और (विचक्षाय) समस्त पदार्थों को देखता धार दिखता हुआ अति (आपृति) सर्वत्र व्यापक है ।

(२) (सुन० । वह सधका प्रेरक, सर्वोत्पादक (परावत०) दूर के (सधो) और (अत्रावन) समीप के लोकों को (आविवास्तत्) प्रकाशित करता है । 'इन्द्राय' ऐश्वर्यशाली सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त (मधु) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से (सिद्धयत्) संचन किया जाता है ।

(६) (समीचीना० । उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वानों लोग (हवि) सर्वव्यापक परमात्मा को (अदिभि) दृढ़ साधनों द्वारा (दिग्विन्ति) साक्षात् करते हैं, और (इन्द्राय) अपने आत्मा के (पीतये) ज्ञान और आनन्दरस पान कराने के लिये (इन्द्रुम् । हृदय में कान्ति रूप से प्रकट होने वाले आनन्दरस की (अनूपन) स्तुति करते हैं ।

[६०४] ^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} त्रिन्त्रिंशं सुरमुख्यं स्वसारं जामयस्पर्निम् ।

^{३ १ २ २ ३ १ २} महामिन्दुं महीयुम् ॥ १ ॥

[६०५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पवमान रुचारुना देव देवेभ्यः सुतः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} विश्वाः सुन्याविश ॥ २ ॥

[६०६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ पवमान सुन्दुर्ति वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ।

^{३ १ २ ३ १ २} इदे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ५। ६५। १-३ ॥

(१) (उन्नय०) गतिशाली, (स्वसार०) स्वयं सरण या गमन करने वाली (जामय) आर्वाओं या अग्निनिर्गों के समान ये इन्द्रिया या प्रजागण (महीयुव०) महत्त्व की आकांक्षा करती हुई (महा) पूजनीय, (इन्दुं)

आह्लादक वस आनन्दमय (सूरं) प्रेरक और उत्पादक (पति) पति के समान पालक को (हिन्वन्ति) स्तुति करती और प्राप्त होती है ।

(२) (पचमान) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के निमित्त (सुतः) प्रकट होकर आप (विश्वा) समस्त (वसूनि) आवास-योग्य लोकों में (आविश) व्यापक हैं ।

(३) (पचमान) परमपावन, सर्वव्यापक ! (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-सम्पन्न विद्वानों की (दुवः) प्रार्थनापासना और कामनाओं को पूर्ण करने के लिये (सुस्तुति) उत्तम प्रशंसा योग्य स्तुतिरूप वेदवाणी और (इये) अस्मादि पदार्थों के लिये (वृष्टि) आनन्दरम की वृष्टि को (संव-तम्) नियमपूर्वक (पचस्व) प्रदान कीजिये । अर्थात्—हे परमेश्वर ! विद्वान् पुरुषों सुस के लिये अस्मों के लिये, नियमपूर्वक वृष्टि और मजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणी प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्डः ।

[६०७] जनम्य गोपा अजनिष्ट जागृधिरग्निः सुवक्षः सुविताय
नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा शुमद्विभाति
भरतेभ्यः शुचिः ॥ १ ॥

[६०८] त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दञ्छिथ्रियाण घनं
घनं । स जायसे मन्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहस-
म्पुत्रमङ्गिरः ॥ २ ॥

[६०९] यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रियधस्थे समि-
न्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स वर्धिये सीदन् नि हाता
यजथाय सुक्रतुः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ५ । ११ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) (जनस्य गोपाः) समस्त जनों और वस्तुओं का रक्षक, (जागृविः) सदा जागरणशील, कभी आलस्य न करने वाला । सुदृष्टः) उत्तम बल से सम्पन्न, (धृतप्रतीकः) धृत, दीप्ति विशेष, भोजारविता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, (शुचिः) शुद्ध, स्वच्छ अन्तःकरण वाला, निष्कपट । अग्निः) सबको आगे ले चलाने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके (नम्यसे) भवे २ अपूर्व । सुविताय) कल्याण के लिये (अजनिष्ट) प्रकट होता है । और बही (बृहन्ना) उसके भारी (दिविस्पृशा) आकाश तक की स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से (भरतेभ्यः) भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों के लिये (शुभम्) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर (विभाति) विशेष रूप से शोभा देता है । अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (बने बने) जिन प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ २में आग गुप्तरूप से रहती है वसी प्रकार जीव, जीव में (शिश्नियाणां) व्यापक (गुहाहितं) हृदय में छुपे हुए (त्वा) तुम्हको (अगिरसः) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में (अन्तु अधिन्दन्) खोज करते और प्राप्त करते हैं । (सः) वह आप । सहः) सर्वशक्तिसान् (मध्यमान्) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण वा मन्त्र करने योग्य, (महत्) महान् हैं । हे (अगिरः) ज्ञानस्वरूप ! (त्वां) आपको (सहसस्पुत्र) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष की पापों से रक्षा करते द्वारा (आहुः) कहते हैं । आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों स्पष्ट है ।

(३) (नरः) विद्वान् लोग । यज्ञस्य) देवपूजा एवं संराति आदि धर्मकार्य के (केतु) बतलाने वाले, (प्रथमं पुरोहितं) सब से प्रथम, साक्षीरूप से स्थित परमेश्वर को (त्रि-सधस्ये) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में (समिन्धते) प्रज्वलित करते हैं । (सः) वह (बर्हिषे) हम जीवन यज्ञसे सम्पन्न, परानुर वृद्धि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में (इन्द्रेण) इस आत्मा और (देवैः) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी भार बुझाने के द्वारा, सब सुखों का दाता (सुकनुः) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने द्वारा, सबका रक्षयिता परमात्मा (यजथाय) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये (सरथं) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय-देश में [नि सिदिन्] विराजमान होता है । आधिदैविक पक्ष में—इन्द्र=महान् पिबेत् और देव=अन्य पंचभूत और बहि=अन्तरिक्ष, यजथ=ब्रह्मायुध रूप यज्ञ ।

[६१०] अथ वा मित्रावरुणा सुनः सोमं अनावृधे ।

ममदिह श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[६११] राजानावनोभेदुहा ध्रुवे सारयुत्तमे ।

सहस्रस्थूणा आशाने ॥ २ ॥

[६१२] तां स्रज्जा घृतासुती आदित्या दानुः । स्पती ।

सचेतः अन्वहरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० २ । ४१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान समान अध्यापक और शिष्य ! (अनावृधे , स य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (वा) आप दोनों के रिय (अय) यह (सोम) ओषधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान (सुन) तय्यार है । (मम इन्) मेरा ही (हव) आदान, आदेश (श्रुतम्) आप लोग अवश्य करें ।

जिसे प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं उसी प्रकार स-यज्ञान के धर्मक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं । उनके प्रति सब लाग शपना प्रेम प्रकट करें ।

(२) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर में राजा, (अनामिदुहौ) परस्पर द्रोह न करने वाले (उत्तमौ)

उत्कृष्ट (ध्रुवे) नित्य (सदस्ययुगे) सहस्रों स्तम्भों के समान सत्कर्मों के आश्रय विराजमान (सन्निधि) भवनरूप, सत्यस्वरूप, सर्वश्रय-आत्मा में [आशाते] उपनिष्ट हों । प्राण और उदान अध्यापक शिष्य, राजा, राजमन्त्री और ब्रह्म, जीव तथा जीव और मन सबका वर्णन भी समान है ।

(३) (तौ) वे दोनों (घृतासुती) प्रदीप्त तेज को उत्पन्न करने वाले, (आदित्या) आदित्य के समान प्रकाशमान, अस्त्राणिहन्, (दानुन पती) धनों के स्वामी (सम्राजौ) सम्राट् के समान नेत्रश्री मित्र और चरुण, प्राण और उदान (अनघह्वर) सरल, कपटादि रहित होकर (सचेते) परस्पर मिलकर कार्य करते हैं ।

[६१३] इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्दृत्राण्यप्रतिष्कृतः ।

जघान नवतर्निव ॥ १ ॥

[६१४] इच्छन्नश्वस्य याच्छुर पर्वतेऽवपाथतम् ।

तद्विदच्छर्गणावति ॥ २ ॥

[६१५] अत्राह गार्मन्धन नाम त्वष्टुरपाद्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ अ० १ । ८४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अत्रिकल सं० [१०६] पृ० ६७० ।

(२) (पर्वतेषु) पुरुषों वाले मरुदण्ड में (अपश्चितं) स्थित (अश्वस्य) शरीर में व्यापक, आत्मा का वह जो (शिरः) मुख्य अंग है उसको (इच्छन्) चाहता (इन्द्र) आत्मा (शर्गणावति) हृदय-देश में (तद्) उसको (विदद्) प्राप्त करता है ।

- मनुविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला दधीचि का शिर, अश्वियों ने काट दिया, वह शर्गणावत् सलिल में पड़ा था । उसको इन्द्र ने, अपना वज्र जनाने के निमित्त उसी स्थान पर पाया । ऐसी कथा प्रसिद्ध

है । इस अवस्था में ध्यान धारणा से सम्पन्न योगी आत्मा दर्शी है । उसका महानानोपदेशक शिरोभाग जो प्राण और उदान ~~के~~ गति का निष्पन्न करता है मस्तक भाग में है । प्राण क्रोधादि पर वश करने वाला इन्द्र आत्मा उसी चित् केन्द्र को स्रोज करता है जिसके प्राण और अग्नयन वश में हैं । वह उसको मध्य मस्तक में पाता है और ८१० प्रकार की मनोवृत्तियों पर वश करता है । यह अवस्था है ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सू० [१४७] १० ८१ ।

[६१६] इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्यस्तुतिः ।

अभ्राह्मणैरिवाजनि ॥ १ ॥

[६१७] शृणुर्न जरिदुर्ध गमिन्द्राग्नी घनतं गिरः ।

ईशाना पिप्यन् धियः ॥ २ ॥

[६१८] मा पागल्गाय नो नरेन्द्राग्नी माभिश्चस्तये ।

मा नो वीरधनं निदं ॥ ३ ॥ ६ ॥ ग० ७ । १४ । १-३ ॥

भा०—(१) इन्द्राग्नी) मूर्ध और अग्नि भाग का गुण निम्न, और जोय (वाम) भाग दायाँ (इय) वह पूर्यस्तुति) धर्म का पूर्ण भाग गुण वर्तन (मन्मन) मननशास्त्र विद्वान् गुण ये (अभ्राह्म) मध्य में (शृष्टि इव) वस्तु के समान (अजनि) अजन्म होता है ।

(२) इन्द्राग्नी) गुण विष्णु के भाग का गुण और जोय (शृष्टि) शक्ति करने वाले विद्वान् (इय) वह अजन्म का गुण इन्द्राग्नी) शक्ति करने । और (गिर) वेदवाकियों के । घनतं, गेहक का । घनतं टोनों (ईशाना) देवदेवता होने हुए (धियः) मन मध्य में वश करने (विष्णु) पूर्ण करने के । गमिन्द्राग्नी) गमिन्द्राग्नी ।

(३) (नरा) नेताओ ! (इन्द्राग्नी) गुरु, शिष्य ! या अध्यापक उपदेशक ! या परमेश्वर और आचार्य ! सूर्य और अग्नि । समान ब्रह्म और जीव ! आप दोनों (नः) हमें (पापत्वाय) पापकार्य के लिये और (अभि-
शस्तये) पराधीनता या हिंसा कार्य के लिये और (निदे) निन्दा-जनक कार्य, या निन्दा करने के लिये (मा रीरधतं) कभी किसी के वश में न होने ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[६१६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।

^{३ १ २ ३ २ ३ १ २} मरुद्भ्यो वायवे मद ॥ १ ॥

[६२०] ^{२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३} सं देवै शोभते वृषा कावयोनावधि प्रिय ।

^{१ २ ३ १ २} पवमानो अदाभ्यः ॥ २ ॥

[६२१] ^{१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} पवमान धिया हितोऽभियानि कर्माकदत् ।

^{१ २ ३ २ २ २} धमेणा वायुमारुहः ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ५ । २५ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [४७४] पृ० २३६ ।

(२) (वृषा) सब सुखों का वर्णन करने वाला, (पवमानः) सब को ज्ञानदान से पवित्र करने द्वारा, (अदाभ्य) किसी से हिंसा न करने योग्य, (प्रियः) सबको प्रिय (कवि) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, नेधान्वी (योनौ अधि) अपने आश्रय में ही (देवैः) अन्य विद्वानों, या सहचर इन्द्रियगणों, या वायु आदि देवों के साथ (शोभते) शोभा देता है ।

राजा, योगी आत्मा, परमात्मा सब के पक्ष में समान है ।

६१९—'वृषहा देववीतय' इति अ० ।

६२१—'वायुमाविश,' इति अ० ।

(३) हे (पवमान) आत्मन् ! (धिया) ध्यान के बल से (अमि-
बोर्नि) अपने मूलस्थान, आश्रय, हृदयदेश में (हितः) स्थिर होकर
(कनिकदत्) अनादित नाद या ईश्वर की स्तुति करता हुआ धर्मज्ञा) अपने
धारक प्रयत्न द्वारा (वायुम्) प्राणवायु पर (आ सरह-) पश कर ।

[६२२] तवाह साम रारण सरय इन्द्रो दिव्येदिवे ।

पुरुणि यभ्रो निन्नरन्ति मामय परिधी रति सौ इदि ॥१॥

[६२३] तवाह नक्तमुत साम ते दिवा दुहानो यभ ऊधनि ।

घृणा तपन्तमसि सूर्य पर शकुना इय पसिम ॥२॥१॥

शु० ॥ १०० । १०-१० ॥

(१) व्याख्या देगो अविच्छन्न सं० [६१६] पृ० २६५ ।

(२) हे (साम) परमात्मन् ! हे (यभ्रो) अज्ञान संसार के मरुत
बोवत् करने वाले परमेश्वर ! (नक्तं) रात में (तव) तेरे (वत) ऊपर
(दिवा) दिन में भी (ते) तेरे ही । ऊधनि) समय काय ॥ (घृणा)
में (दुहान-) रस प्राप्त करता हुआ । ऊधनि शकुना इय) उपाकाय के
अवसर ॥ परिधी या रश्मियों के समान दम । घृणा) ई.सि से (तवर्ग)
जाग्रदवस्था (सूर्यम्) सूर्य के समान मशंभार पर । परमेश्वर ॥ १००
देवता (सति पसिम) कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष का प्राप्त होना ।

[६२४] पुनानो अग्रमोर्नि यभ्रो मु रो दिव्येदिवे ।

मुग्मनि विधे भोर्नि ॥ १ ॥

[६२५] तौ गोर्निमकाया रुद्र गमहिष्टा गृणा मुग्मम् ।

धृग पशमि यौदन् ॥ २ ॥

॥ २३ ॥—१००० १०० १०० १०० ।

१३३—१००० १०० १०० १०० ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२६] नू नो रयि महामिन्द्रोऽम्भ्यं सोम विश्वतः ।
^{१ २ ३ १ २}

आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ६ । ४० । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८८] पृ० २४४ ।

(२) (अरुण.) अरुणवण, कान्तिमान्, सोम (योनिम्) मूल-
स्थान, हृदय-देश (अरुहद् । प्रकट होता है और (वृषा) सुखों का
चर्पक (इन्द्रः) आत्मा (सुतम्) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसके प्रति
(गमद्) मुक्त जाता है । यह आनन्दस्वरूप परमात्मा मंरे (ध्रुव) स्थिर
(सदसि) आश्रयस्थान आत्मा में (वीदतु) सदा विराजमान हो ।

(३) हे, इन्द्रा) सोम । (अम्भ्यं) हमारे क्षिये (सहस्रिण)
सब सुखों से युक्त । महा । विशान्न रयिम्) ऐश्वर्य को (विश्वतः) सब
ओर से (नः आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

शति चतुर्थे. — ।



^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२७] पिशा साममिन्द्र मन्दतु त्वा य ते सुषावि हर्षश्चाद्रि ।
^{३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ ३}
सोतुर्वाहुभ्यां सुयता नार्वी ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६२८] यस्मे मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्षश्च हंसि ।

^{१ २ ३ १ २}
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३}
[६२९] यो या सु मं मघन्नवाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।

^{३ १ २ ३ १ २}
इमा ब्रह्म सत्रमादे जुपस्व ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ७ । २२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० (३६८) पृ० २०४ ।

(२) हे (हर्षश्च) हरणशील, अश्वरूप इन्द्रियों और मन से युक्त
'आत्मन्' । (यः) जो (ते) तेरा । युज्यः) योग समाधि से उत्पन्न होने
वाला (मदः) आनन्द (चारु.) मनोहर, उपभोग करने योग्य (अस्ति)

है और (येन) जिसके बल पर तू (वृत्राणि) आवरणकारी विघ्नों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! आत्मन् ! हे (प्रभुवसो) समस्त प्राणियों में बसने हारे । (सः) वह (त्वा) तुझको (ममत्तु) आनन्दित करे ।

(३) हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (वसिष्ठ) वसिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण, या विद्वान् पुरुष (वा) जिस (प्रशस्ति) उत्तम गुण वर्णन करने वाली (वाच) वाणी को (अर्चति) प्रकट करता है (इमा) इस (मे) मेरी वाणी को (सुबोध) तू उत्तम रूप से ज्ञान कर । और (इमा) इन (ब्रह्म) वेदमन्त्रों को (सधमादे) एकत्र होने प्राप्त करने स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदेश में (जुपस्व) सेवन कर, उनका मनन कर ।

[६३०] विश्वाः पृतना अभिभूतरक्षरः सजुस्ततक्षुरिन्द्रजनुश्च
राजसे । ऋत्वे चरे स्थेमन्यामुरिमुताप्रमाजिष्ठ तरसं
तरस्विनम् ॥ १ ॥

[६३१] नेमि नमन्ति चक्षसा मधं विप्रा अभि स्वरः ।
सुदीतया वो अट्टहोऽपि कर्णे तरस्विन समृक्कामः ॥ २ ॥

[६३२] ममु रमासो अस्वराक्षन्धं सोमस्य पीतये ।
स्वः पतिर्यदी वृध घृतव्रता ह्योजसा समूतिभिः ॥ ३ ॥ १४ ॥

श्रु ८ । ६७ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३००] पृ० १६१ ।

(२) (विप्रा) मेधावी, ज्ञानी लोग (चक्षसा) अपने दर्शन कराने हारे आलोक में साक्षात् करके (अभिस्वरे) गायन में (नेमि) नमन करने हारे (नेप), सूर्य या मेघ समान सुखों के वर्णन वाले उस परमात्मा को ही

(नमन्ति) नमस्कार करते हैं । (॥) आप लोग भी (सुदतियः) उत्तम कान्तिसंगत और (अद्भुतः) परस्पर दोह न करते हुए (तरस्विनः) शीघ्र कार्य सम्पादक हाकर (श्रद्धाभि) वेदमन्त्रों से (कर्ण) प्रत्येक कार्य में उसी का नमस्कार करें ।

(३) (रमेसः) स्तुति करने हारे, गायक, विद्वान् लोग (सोमस्य) आनन्दरूप सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (इन्द्र उ) इस आत्मा को लक्ष्य करके ही (सस्य अस्वरन्) एकत्र होकर गान करते हैं । (यद् ई) और जब (धनवतः) सब को धारण करने वाला आत्म (वृधे) बढ़ता है, शक्तिशाली और उन्नत होता है तब ही वह (भोजसा) अपने तेज से (ऊतिभि) अपने बलशील, प्राणों सहित (सं) एक साथ वृद्धि को प्राप्त होता है ।

७ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[६३३] यो राजा अर्पणीना यामा रथेभिरभिगु ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
विश्वासा नरुता पृननाना ज्येष्ठं यो वृषदा गृण ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३४] इन्द्रन्तं शुम्भ पुरुहन्मश्वस यस्य द्विता विधर्त्तरि ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इस्तेन वज्रः प्रतिघायि दर्शतो महा देवो न सूर्य ॥ २ ॥

अ० ॥ ७० । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७३] पृ० ३४० ।

(२) हे (पुरुहन्मन्) इन्द्रियों को बश करने हारे आत्मन् । (सं) उस (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमेश्वर को (अचमे) अपनी रक्षा के लिये (शुम्भ) पुकार, स्मरण कर (यस्य) जिस तेरे अपने (विधर्त्तरि) विविध प्रकार से पालक पोषक परमेश्वर में (द्विता) स्वामी सेवक, भक्त भगवान् का सा भेद है । और जिसने (इस्तेन) हाथ से खड्ग के समान अज्ञानान्ध-

आर का नाशक (वज्रः) ज्ञानमय घञ (प्रतिधायि) धारण किया है, का
(दर्शत) दर्शनीय (महो) महान्, (देव) सब सुखों का दाता, (सूर्य) न
सूर्य • समान सब ज्ञानों का प्रकाशक और प्रेरक है ।

इति पञ्चम रागः ।

—:०:—

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[६३५] परि प्रिया दिवः कविर्भयासि नप्त्यो हितः ।

३ १ २ ३ १ २

स्वानैर्याति कविऋनु ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६३६] स सनुमानरा शुचिर्जातो जातं अरोचयत् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

महान्मही अनावृथा ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३७] प्र प्र द्याय पन्थसे जनाय छुष्टा अटुहः ।

२ ३ १ २

द्यात्यय पनिष्टयं ॥३॥१६॥ च० १ । १ । १, २, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देगो अविष्म स० [४३६] सू० २३१ ।

(२) (का) वह सर्वोत्पादक परमेश्वर । मनु) पुत्र के समान हर्ष
मन्त्रादक, समस्त पेश्यों का देने वाला, नष्ट सोंकों का प्रेरक (जात)
होकर (शुचिः) स्वच्छ, कामिमान् (महान्) बगम्भी है । का (जने)
प्रसिद्ध हुए (अनावृथा) व्यर्थ ज्ञान और जीवन को बढ़ाये वाले (ना
तया) मा वाग शीनों को पुत्र के समान, काकाग और वृषिसे हुए निष्प
कीर की पुण्य, वागा और प्रजा दोनों को (अरोचयत्) बर्तान करता है ।

(३) (पन्थसे) व्यवहार का स्तुति करने हो (अटुहः) पुरख के
चिह्न (लुह) मेम से मेवत जाने सोम (अटुहः) होकर मे वरिष है
परमेश्वर ! काय (द्याय) निष्पन्न और (अटुहः) व्यवहारदेहि,

स्तुति और (चीती) रचा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अच्छी प्रकार (अर्प) हमें प्राप्त हो ।

२ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३८] त्वं ह्याश्नु दैव्य पवमान जनिमानि धुमन्तमः ।
३ १ २ ३ १ २

अमृतत्वाय धोपयन् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३९] येना नवग्वा दध्यद्दपोर्युतं येन विप्राम आपिरे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
देवानां सुप्ते अमृतस्य चारुणा येन अर्धास्याशतः ॥२॥१७॥
क० ३ । १०८ । ३, ४ ॥

भा०—(■) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [६८३] पृ० २६३ ।

(२) (नवग्वा) सदा अभिनव वेदवाणियों को प्राप्त करने वाला, नव-
शिखित (येन) जिस परमब्रह्म के द्वारा (दध्यद्) विद्वान्, ध्यानवान्
होकर (अप ऊर्युते) ज्ञान प्रकट करता है । (येन) जिसके बल पर
(विप्राम) विद्वान् संधात्री जन वेदमन्त्रों के तत्त्व या परमपद को (आपिरे)
पहुँचते हैं । और येन जिसके बल पर (देवाना) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न
महात्माओं के (सुप्ते) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में (चारुणा) उत्तम
(अमृतस्य) आत्मा के (अर्धासि) ज्ञान-रहस्यों को (आशत) विद्वान्
सोम प्राप्त करते हैं । हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होचो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ■
[६४०] सोमः पुनान ऊर्मिणाज्यं चारं विधावति ।
१ २ ३ १ २ ३ ■ १ २

अग्ने वाचः पवमान कनिकदत् ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४१] धीभिर्मज्जन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यचिम् ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २
[६४२] असर्जि कलशां अभि मीद्वान् त्ससिर्न वाजयुः ।

३ १ २ २ ३ १ २

पुनानो वाचञ्जनयन्त्रलिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० ॥ १०६ । १०-११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१०२] पृ० २८८ ।

(२) (घने) शरीर (क्रीडन्तं) ज्ञाना कर्मों को या क्रीड़ा, विनोद, करते हुए (वाजिनं) अति बलवान्, ज्ञानी (अत्यविम्) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करके विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को (धीभिः) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा (मृजन्ति) परिशोधन करते, उसको स्वच्छ और समाहित करके और भी अधिक विवेक उसके दर्शन करते हैं । (म-तयः) मननशील मुनि लोग (त्रिष्टुभं) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा को (अभि सम् अस्वरन्) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

(३) (मीद्वान्) आनन्दघन, वह सोम (वाजयुः) सग्राम में जागे हारे (ससिः न) अश्व के समान (कलशान् अभि) सकल वेदों में (असर्जि) प्रकट होता है । और (पुनानः) सब मलों को दूर करता हुआ (वाचम्) वाणी को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (अलिष्यदत्) द्रवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[६४३] सामः पचते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
पृथिव्याः । जनिताग्नेजनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनि-

१ २
तान विष्णा ॥ १ ॥

३ २ ३ १ १ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४४] ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामपिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्वनां गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सामपवित्रमत्येति देमन् २॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
 [६४५] प्राचीविपद्वाच ऊर्मि न सिन्धुर्गिरस्तोमान्पवमानो मनीषाः
 ३ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ■ २
 अन्तः पश्यन्वृजनेमाचराय्यातिष्ठति वृषभो गोषु जानन्
 ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ६६ । ६, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविकल स० [५२७] पृ० २६२ ।

(२) (सोमः) सोम (देवानां) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (ब्रह्मा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, (कवीना) ज्ञानदर्शी तत्त्वज्ञानियों का (पदवीः) मार्गदर्शक, (विप्राणा) मेधावी पुरुषों में (ऋषिः) मन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, (मृगाणां) मृगों के बीच में (महिषः) महिष के समान बलवान्, (गृध्राणां) गृध्र आदि पक्षियों में (श्येन) श्येन के समान आकांक्ष शीलों में बलवान् (वनानां) जंगल के वृक्षों के बीच (स्वधिति) कुठार के समान कर्मबन्धनों के नाश करने हारा (सोमः) आत्मा (रेमेन्) अनाहत नाद करता हुआ (अति एति) सब जालों को पार करके (पवित्रं) शुद्ध निर्मल ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

यास्काचार्य ■ मत से अध्यात्म पक्ष में—(ब्रह्मा देवानां) यह आत्मा देवनकर्मा क्रीडाशील इन्द्रियों का ब्रह्मा अर्थात् साक्षी है । (पदवी कवीना) चेतन के समान काम करने वाली पदार्थों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाला ■ । (ऋषि विप्राणां) व्यापन कर्मा इन्द्रियों को गति देने वाला है । (महिषः मृगाणां) विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है । (श्येनः गृध्राणां) विषयाभिलाषी ज्ञानशील इन्द्रियों के बीच यह आत्मा स्वतः चेतन ज्ञाता है । (स्वधिति वनानां) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वयं अपने ■ धारण करता है । ऐसा सोम, आत्मा (पवित्र) इन्द्रियों पर ही (रेमेन्) स्वयं स्तुति किया जाकर (अति एति) उन द्वारा सब अनुभव करता, सबसे ऊपर विराजता है (निरु० प० अ० २ । १३) ।

(३) (पवमान०) पवित्र, शुद्ध, ज्योतिर्मय आत्मा (मनीषा) मनन साधनों की प्रेरणा करने वाला (सिन्धु. न) नदी के प्रवाह के समान (वाचं) वाणी के (ऊर्मिम्) तरंग को । प्राचीविपत्) प्रेरित करता है । और (गिर०) वाणियों या स्तुतियों के (स्तोमान्) समूहों को भी प्रकट करता है और स्वयं अपने को (अन्तः) भीतर की ओर (परयन्) देखता हुआ (गोपु) इन्द्रियरूप गौशों में (वृषभ० इव) बैल के समान धीर्य या बल का सेचन करता हुआ (भवराशि) न बरणा करने योग्य, अर्थात् त्याग करने योग्य, अथवा अपने अधीन (इमा) इम (वृजिना) वेगावती इन्द्रियों वृत्तियों को (आतिष्ठति) बश करता है ।

इति पष्ठः खण्डः ।

—१०—

३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४५] अग्निं वा वृधन्नमध्यराणां पुरुनमम् ।

■ ३ २ ३ १ २

अच्छा नप्त्रं सहस्वने ॥१॥

३ १२ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४७] अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेण तदया ।

■ २४ ३ १ २

अस्य कृत्वा यशम्वतः ।

३ १ १२ ३ २४ ३ २ ३ १ २

[६४८] अयं त्रिधा अभिधियोऽग्निर्देवेषु पत्यमे ।

२४ ३ १ २

आ नजैरुष नो गमत् ॥३॥२०॥ क० द० १०२ । ७-६ ।

भा०— ।) व्याख्या देखो अग्निम् सं० [२१] पृ० । ।

(२) (त्वष्टा इव) जिस प्रकार तर्रान शिल्पी (त्वष्टा) काट का बनाने योग्य (रुपा) पदार्थों को बनाता है उसी प्रकार (यथा) यथावत् ठीक ठीक (अयं) यह (अभि०) सबका सम्पूर्ण, सबसे पूर्व विद्यमान ज्ञानवान् परमेश्वर भी (नः) हमारे लिये सब (रुपा) कामिमान् पदार्थों को (आभुवत्) बनाता है । इम संग भी (यथावत्)

समस्त माहिमा वाले (अस्य) इसके ही (कृत्वा) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य
के द्वारा उत्पन्न हुए हैं ।

(३) (देवेषु) दिव्यगुणों से युक्त समस्त पदार्थों, लोकों और विद्वानों
से (अयं) यह (अग्निः । ज्ञानवान् परमात्मा (विश्वाः) समस्त (श्रियः)
लक्ष्मियों को (अभिप्राप्यते) प्राप्त है, उनका स्वामी है । वह (नः) हमारे
पास (वाजैः) अर्कों बलों ज्ञानों और कर्मों और ऐश्वर्यों द्वारा (उप आगतम्)
हमें प्राप्त हो ।

[६४६] इममिन्द्र सुत पिब ज्यमुममर्त्ये मदम् ।

शुक्रस्य स्वाभ्यक्षरन्धारा मूत्रस्य सादने ॥ १ ॥

[६४७] नकिंश्चिद्दधीनरा हरी यदिन्द्र यच्छस ।

नकिंश्चिद्वानु मज्जमना नकि. स्वश्व आनशे ॥ २ ॥

[६४८] इन्द्राय नूनमर्चनोक्त्यानि च ब्रवीतन ।

सुता अमत्सुरिन्दवा ज्यमु नमस्यमा महुः ॥ ३ ॥ २१ ॥

अ० ५ । ख० ६ । सू० १२ । ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकल स० [३४४] पृ० १७८ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यन्) क्योंकि तू सत्कार को चलाने वाले
बलवान् अर्कों के समान (हरी) ज्ञान और शक्तिरूप बलों को (यच्छस) नियम
में रखता है अतः (त्वत्) तुझ से (रथीतरः) बड़ा रथका स्वामी या अधिक
आनन्दरस और बलवाला 'नकि' कोई दूसरा नहीं है । (मज्जमना) बल
के कारण भी (त्वा अनु) तेरे सुकायके पर (नकि) कोई नहीं है ।
और (सु-अरवः) उत्तम व्यापन शक्ति से सम्पन्न या वेगवान् कोई पदार्थ
भी (नकिः आनशे) इस संसार में तुझसे बढ़कर और कोई व्या-
पक नहीं है ।

(३) हे मनुष्यो ! उस (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील परमेश्वर की (अर्चत) उपासना करो और (उक्थानि च) सूक्तों वेदमन्त्रों का (प्रवातन) उच्चारण करो । जिस के आश्रय में (सुता०) ये समस्त ससार के उत्पन्न (इन्द्रव०) कान्तिमान, दिव्यगुण सम्पन्न पदार्थ और साधकगण (अमत्सुः) आनन्दलाभ कर रहे हैं । उस (सहः) सर्व शक्तिमान् (ज्येष्ठं) सबसे बड़े और अधिक प्रशसनीय परमात्मा को (नमस्यत) नमस्कार करो ।

१ २ ३ १ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २

[६५२] इन्द्र जुषस्व प्रधायाहि शूर हरिह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २४ ३ २४ २ १ २

पिवा सुतस्य मनेन मध्राश्चकानश्चारुमदाय ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ २

[६५३] इन्द्र जठर नव्य न पूषस्व मधोर्दिवो न ।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्य सुतस्य क्वाऽरेऽनोप त्वा मदा सुधाचो अस्थुः॥२॥

१ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २४ ३ २

[६५४] इन्द्रन्तुरापागिमघ्रो न जघान वृत्र यनिर्न ।

३ १ २ २४ ३ १ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २

विमद वल भृगुर्न ससाहे शत्रून्मद सोमस्य ॥३॥२२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (जुषस्व) इस आनन्दरस का सेवन कर । (आयाहि) या प्रकट होओ । (शूर) यत्नवान् शक्तिशालिन् । हे (हरिह) इन्द्रियरूप घोड़ों का ताड़न करने हार । (सुतस्य) इस उत्पन्न आनन्दरस को (पिवा) पान कर (मने न) मनन करने हारे ज्ञानवान् के समान (चारु) अत्यन्त मनोहर होकर (मदाय)

६५७—‘चतुस्त्रिंशद्वराणि मृता भवन्ति इत्यन०, ‘प्रवह’ ‘हरिह’ ‘मतिन’ इति नक्षत्राणां चतुस्त्रिंशद्वराणि प्रथमस्यानुचि, द्वितीया ‘न्यज’ ‘दिवो न’ ‘मने’ इति नक्षत्राणां चतुस्त्रिंशद्वराणि, तृतीया ‘नित्रो न’, ‘यनिर्न’ ‘शत्रून्’ इति नक्षत्राणां चतुस्त्रिंशद्वराणि भवन्ति ॥

हमें आनन्द प्राप्त करने के लिये (मधो.) मधुर ब्रह्मरस की (चकान.) कामना कर सदा उसकी अभिलाषी बना रह उसी को सदा चाह ।

(२) हे आत्मन् ! जिस प्रकार (दिव. न) ज्योति से यह आकाश पूर्ण है उसी प्रकार (मधो) ब्रह्म-आत्मरस से (बठरं) अपने मध्य भीतरी भाग को (नम्यम् इव) सदा तरो ताजा के समान (अस्य सुत-स्य) इस सोमरस के (स्व न) अत्यन्त सुखकारक स्वरूपों के समान (मदा) हर्षतरंग रूप (वाच) सुन्दर वाणीया (त्वा) तुझको (सु-अस्थुः) प्राप्त हों ।

(३) (इन्द्र.) वह ऐश्वर्यशील आत्मा (मित्रः न) सूर्य के समान (तुरापाद्) हिंसकों का नाशक (यति न) यम नियम के साधक ज्ञानी के समान (वृत्रे) आवरक काम, क्रोधादि शत्रुओं को (जघान) नाश करे (भृगु. न) पापों को भून डालने वाले योगी या आचार्य या अग्नि के समान (बलं) शत्रु की सेना को (विभेद) भेद डालता है (सोमस्य) उसी सोम के (मदे) हर्ष में (शत्रून्) कामादि अन्त शत्रुओं को (स-स्राह) पराजित करता है ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति तृतीय प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

इति पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

(द्वितीयां ऽर्घः)

अग्नि —अथ अग्निगमाः । २ काश्यप. ३, ४, १३ असित काश्यपो देवलो
वा । ५ अश्वत्थारः । ६, १६ अमदग्नि. । ७ अरुणो वैतहव्यः । ८ उरुचक्रित्रात्रेयः
९ कुहसुतिः काण्व । १० मरुद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ अगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा
१२ मनुराप्मः सप्तर्षी गोवा । १४, १६, २ । गोतमो राहूगन् । १७ कर्भसमा
कृतयशाश्च क्रमेण । १८ त्रित आत्तव. । १९ रेमसू काश्यपौ । २० मनुर्वामिष्ठ
२१ वसुमन् आत्रेय. । २२ नृमेघः ॥ देवता—१—६, ११—१६, १६—२०,
पवमान. सोम. । ७, २१ अग्निः । मित्रावरुणौ । ६, १४, १५, २२, २३
इन्द्र. । १० इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—२, ७ जगती । २—६ ऋ—११, १३, १६
गायत्री । २ । १२ इहती । १५, २१ पङ्क्तिः । १७ ककुप सप्तर्षी
च क्रमेण । १८, २२ उष्णिक् । १९, २३ अनुष्टुप् । २० त्रिष्टुप् ॥ स्वर
१, ७ निषाद. । २—६, ८—११, १३, १६ षड्ज. । १२ मध्यम. । १४,
१५, २१ पञ्चम । १७ अथम. मध्यमश्च क्रमेण । १८, २२ ऋषभ । १६
२३ गान्धार । २० धैवत. ॥

[६५५] ^{३ १ २} गावत्पवस्व ^{३ १ २} वसुविद्धिरण्यविद्रताधा ^{३ १ २ ३ १ २} इन्द्रो ^{३ १ २ ३ १ २} भुवनप्यर्पितः ।
^{३ ३ १ २} त्वं ^{३ १ २} सुवीरो ^{३ १ २} असि ^{३ १ २} सोम ^{३ १ २ ३ १ २} विश्वाभेत् ^{३ १ २ ३ १ २} तं त्वा नर उप गिरम
^{२२} आसने ॥१॥

[६५६] ^{२ ३ १ २} त्वं ^{३ १ २} नृचक्षा ^{३ १ २ ३ १ २} असि ^{३ १ २ ३ १ २} सोम ^{३ १ २ ३ १ २} विश्वतः ^{३ १ २ ३ १ २} पवमान ^{३ १ २ ३ १ २} वृषभं ^{३ १ २ ३ १ २} ता
^{२२} विधावामि । ^{१ २} सन. ^{३ १ २ ३ १ २} पवस्व ^{३ १ २ ३ १ २} वसुमद्विरण्यवद्वय ^{३ १ २ ३ १ २} स्याम ^{३ १ २ ३ १ २} भुवन-
^{३ १ २} जीवसे ॥२॥

३ ॥ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [६२७] इमान् इमा भुवनानि ईयसे युजान् इन्द्रो हारितः सुपर्णः ।
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 नारुने क्षरन्तु मधुमद् घृतम् पयस्तव वने सोम निष्ठन्तु
 ३ १ २

कृष्टयः ॥३॥१॥ अ० ८६ । ३६, ३८, ३७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् । आप (गो-
 वित्) वेदवाणियों, ज्ञानरश्मियों और हृन्धियों को प्राप्त कराने हारे, एव
 समस्त गतिमान् पदार्थों में व्यापक हैं । आप (वसुवित्) सब धनो
 दाता, समस्त जीवों को प्राप्त और समस्त वास देने हारे लोकों में व्यापक
 हैं, आप (दिश्यविद्) समस्त धनों को प्राप्त करने हारे आर समस्त
 तेजोमय पिण्डों में भी व्यापक हैं । हे (इन्द्रो) इस समस्त संसार में
 व्यापक ! हे ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप (भुवनेषु) समस्त लोकों में
 (रेतोधा) जीवों और नाना प्रकार के सगों को उत्पन्न करने के
 सामर्थ्य को स्वयं धारण करके (अर्पितः) सब में व्याप्त हो, (स्वः) आप
 (विश्ववित्) सर्वज्ञ और (सुवीर) उत्तम शक्तिमान् (अस्ति) हैं ।
 (सं रथा) अब आपको (इमे नरः) ये समस्त मनुष्य (गिरा) अपनी
 बायीं द्वारा (उप आसते) उपासना करते हैं । आप (पयसा) हमारे
 हृदयों में प्रकट होइये ।

(२) हे (सोम) सबके प्रेरक ! आप (विश्वतः) सब प्रकार से और
 सर्वत्र (नृचक्षाः) सब मनुष्यों को देखने हारे हैं । (पवमान)
 समस्त हृदयों में व्याप्त होने हारे ! हे (वृषभ) समस्त सुखों में वर्पक !
 आप ही (ताः) इन प्रजाओं में (वि धावसि) नाना प्रकार से व्यापक
 हो रहे हैं । (सः) वह आप (वसुमद्) वास योग्य प्राणों से युक्त (दि-

७५७—३ 'हित्वातो' 'अक्रान्देवो' इति अ० ।

३ 'नीयसे' इति अ० ।

इययवत्) हिरण्य आदि सम्पत्तियों वाले, या आत्मा से युक्त ऐश्वर्य को (न पवस्व) हमें प्रदान करें । (वय) हम (भुवनेषु) लोकों में (जीवसे) दीर्घ जीवन प्राप्त करने के (स्याम) समर्थ हों ।

(३) । (ईशान) समस्त ससार के स्वामिन् ! । (इन्द्रो) ऐश्वर्य से सम्पन्न । आप (हरितः) हरण करने वाली वेगवान् (सुपर्ययः) और सुन्दर, शोभन, कल्याणकारी मार्ग में गमन करने वाली सात्विक, राजस तामस, देव, मानव, तिर्यङ्, चौ, अन्तरिक्ष और भूलोक इन सब में उत्पन्न होने वाली तीनों प्रकार की प्रजाओं को (युजान्) सम्मार्ग में नियुक्त करते हुए (इमाः) इन समस्त (भुवनानि) लोकों को (ईयसे) शासन करते हैं । (ताः) वे सब प्रजाएँ (ते) आपके लिये (मधुमत्) ज्ञान से भरे, मधुर, भक्तिरसपूर्ण (घृत) स्नेह और कान्ति से युक्त (पयः) आनन्दरस को (चरन्तु) प्रवाहित करें । (कृष्टयः) अमशील मनुष्य प्रजाएँ हे (सोम) परमेश्वर ! (तव व्रते) आपकी आज्ञा में, व्यवस्था में (तिष्ठन्तु) रहें ।

[६५८] पवमानस्य विश्ववित् तै सर्गा असृजत ।

सूर्यस्येव न रश्मयः ॥ १ ॥

[६५९] केतुं कृण्वन्दिवस्पारे विश्वा रूपाभ्यर्पसि ।

समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ २ ॥

[६६०] जज्ञाना वाचामप्यासि पवमान विधर्मणि ।

क्रन्दन्दवो न सूर्यः ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० १ । ६४ । ७, ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्ववित्) सर्वज्ञ (सूर्यस्य इव) सूर्य समान (पवमानस्य) सर्वव्यापक, (ते) तेरे (सर्गा) बनाये समस्त जगत्, सूर्य

६५८—३. 'दिवानो' 'अक्रान्दवो' इति अ० ।

से उत्पन्न (रश्मयः न) किरणों के समान (असृजत) उत्पन्न होकर गति कर रहे हैं ।

(२) हे (सोम) सब जगत् के उत्पादक ! (समुद्र-) समस्त लोकों को अपने भीतर से धारण करने और प्रकट करने हारे आप समुद्र के समान हैं, अनन्त हैं (दिवः परि) आकाश में (केतुं) अपनी महिमा को बतलाने वाले अथवा सब पदार्थों के ज्ञान कराने वाले सूर्य को (कृण्वन्) रचकर (विश्वा रूपा) समस्त कान्तिमान और रूपवान् पदार्थों को (अभि अर्पयि) प्रकट करते, स्वयं व्यापते और (विन्वसे) सब को पूर्ण कर रहे हो ।

(३) (सूर्यः न) सूर्य के समान (देवः) सर्वत्र प्रकाशक, (जज्ञान-) आप स्वयं हृदयदेश में प्रकट होकर (विधर्मणि) विशुद्ध आत्मा में (पवमान) स्वयं प्रसीत होकर, या ज्ञानधारा के रूपमें सरित होकर गर्जते मेघ के समान (क्रन्दन्) उपदेश करते हुए आप (वाचं) वेदवाणी को (हव्यसि) ऋषियों के हृदयों में प्रेरित करते हो ।

[६६१] प्र^{१५} सोमा^{२४} सो^३ अधन्वि^{१२} पुः^३ पवमाना^३ स इन्द्रवः^{१२} ।

श्रीणाना^३ अप्सु^{१३} वृञ्जते ॥ १ ॥

[६६२] अभि^३ गात्रा^{१७} अधन्वि^{१५} पुरापो^३ न प्रवता^{१३} यतीः^{१३} ।

पुनाना^३ इन्द्रमाशत ॥ २ ॥

[६६३] प्र^{१२} पवमान^३ धन्वसि^{१५} सोमेन्द्राय^{१२} मादतः^{१३} ।

नृमियतो^{१३} विनीयसे^{१२} ॥ ३ ॥

[६६४] इन्द्रो^२ यद्वृद्धिभिः^३ सुतः^३ पवित्रं^३ परिदीयसे^{१३} ।

अरमिन्द्रस्य^२ धाम्ने ॥ ४ ॥

६६१ — १ 'मृजते', ६६३ 'सोमेन्द्राय पात्रमे' ६६४ 'पवित्र परिधावसि' इति श्रु० ।

[६६५] त्वं^१ सोम^२ नृमादन^{३ १ २ ३ १ २} पवस्व^{३ १ २} चर्षणीघृतिः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} सन्निर्यो अनुमाद्यः ॥ ॥

[६६६] पवस्व वृत्रहन्तम उक्थोभिरनुमाद्यः ।

^{१ २ ३ १ २ २ २} शुचिः पावको अद्भुतः ॥ ६ ॥

[६६७] शुचिः^{१ २} पावक उच्यते सोम सुतः^{३ १ २ ३ १ २} स मधुमान् ।

^{३ १ २ ३ २} देवावीरिघशंसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । २४ । १-७ ॥

भा०—(१) (पवमानासः) अमण करते हुए, (इन्द्रवः) ज्ञान-सम्पन्न, (सोमासः) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव, मुक्तजन (श्रीशाना) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर (अग्नौ) प्रजाओं या लोकों में (वृजते) अमण करते हैं ।

(२) (गाव) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, (प्रवता) प्रष्ट उत्तम मार्ग में (यतीः) गमन करते हुए (आप. न) जल प्रवाहों के समान (अभि अधन्विषु) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं । और वे (पुनानाः) सब बिघनों को पार करते हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील उस सबके प्रभु को (आशत) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करते हैं ।

(३) हे (पत्रमान) गतिशील ! हे (सोम) विद्वन् शिष्य ! तू (इन्द्राय) आचार्यरूप इन्द्र के लिये (मादन) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ (प्र घन्वसि) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और (नृभिः) सन्मार्ग के भेदा गुरुओं द्वारा (यत-) नियमों में व्यवस्थित होकर (वि नीयमे) विनयपूर्वक शिक्षित किया जावे ।

(४) हे (इन्द्रो) उपासक शिष्य ! व ब्रह्मचारिन् ! (अविभिः) पर्वत के समान स्थिर प्रज्ञा वाले विद्वानों से (सुतः) प्रेरित एवं शिक्षित होकर (पवित्र) पावन करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रति तू (परिदीयसे) समर्पित किया जा रहा है । अर्थात् ज्ञान और सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ रहा है । (इन्द्रस्य) ज्ञानवान् आचार्य के (धाम्ने) पद, स्थान के लिये (अरं) तू पर्याप्त रूप से योग्य होना ।

(५) (सोम) शिष्य ! ब्रह्मचारिन् (त्वं) तू (नृमादनः) सब नेता गुरुओं के हर्ष को उत्पन्न करने और (चर्पणीश्रुतिः) निरीक्षक लोगों की दृष्टि में उत्तम आचार को धारण करने वाला होकर (सन्निः) स्नान करके, स्नातक होकर (य) जो आप पुनः (अनुमाद्य-) सब के हर्ष का कारण बनकर (पवस्व) ज्ञान का प्रदान कर ।

(६) हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों और काम, क्रोध आदि आभ्यन्तर, तामस भावनों को नाश करने में सबसे उत्तम ! तू (उक्थेभिः) उत्तम वचनों द्वारा (अनुमाद्य) आदर करने योग्य (शुचिः) शुद्ध, कान्तिमान्, (अद्भुतः) आश्चर्यजनक, (पावकः) समस्त प्रजा को पवित्र, निष्पाप बनाने द्वारा होकर (पवस्व) सर्वत्र अमर्य कर और ज्ञान प्रदान ।

(७) (सः) वह ब्रह्मचारी (मधुमान्) ज्ञानवान्, ब्रह्मवेत्ता, (शुचिः) मन, वाणी और कार्य में पवित्र, (पावकः) औरों को पवित्र करने द्वारा, पंक्तिपावन (सोमः) सोम । उच्यते) कहाता है जो (देवावीः) विद्वानों का और दिव्यगुणों का रक्षण करने द्वारा और (अवशंसहा) पाप की वात्सल्य बतलाने वालों के पास्तयड को नाश करने वाला होता है ।

श्रुति प्रथमः खण्डः ।

[६६] प्र कावर्देववर्तितयेऽव्या वारोमेरव्यक्तः ।
३ १ २२ ३ १२ २२
साद्धान्विश्वा अभिस्पृधः ॥ १ ॥

[६६६] स हि ष्मा जरितृभ्य आवाज गोमन्तमिन्वाति ।

पवमानः सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।

स न सोम श्रवो विदः ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्या ध्रुव रथिम् ।

इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व राजन् सुवतो गिरः सामा विवैशिथ ।

पुनानो वह्ने अन्धुन ॥ ५ ॥

[६७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्तयोः ।

सोमश्चमूपु सीढति ॥ ६ ॥

[६७४] क्रीलुर्मखा न मंहयु पावत्र सोम गच्छसि ।

दधत्स्तोत्रे सुवीयम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—(१) महाधारी (कवि.) क्रान्तदर्शी, विद्वान् धार्मी, मे-
धावी (दंघवीतये) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के
लिये (अन्या वारेभिः) भेद के बालों से बने कन्धलों द्वारा (अक्षयस)
अपने को हांपता है और (विद्या) समस्त (अभिरूपः) प्रतिस्पर्धी
शत्रुओं के समान आगे जाने वाली पाधाओं को (साहान्) पराजित
करता है । अथवा (अन्या) रक्षा करने वाली विद्या के (वारेभिः) शय-
र्यों, घटों, साधनों से (अन्या) अपने को युक्त करता है ।

(२) (स हि) और वही (पवमानः) सर्वत्र गमन जाता हुआ
(जरितृभ्यः) विद्या का उपदेष्टा करने वाले आचार्यों के लिये (मदतिष्ये)

६६६—देवीनये ह्या 'वादेभिरात्रि' ९६९—'मृज्यसे पवसे' इति सू० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गधादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (वि-
श्रानि) सबको (परिमृज्यसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है ।
और (मती) मनन करने वाली शक्ति से (पवसे) तत्त्व तक पहुँचता है ।
(स.) वही तू (नः) हमें (अचः) वेदज्ञान को (विद.) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्) बड़े (यश)
यश को तू (अभि-अर्प) प्राप्त हो और (मघवद्भ्य.) बड़े धनाढ्य पुरुषों
से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोत्रभ्यः)
सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इपं) उनकी इच्छा-
नुकूल अन्न, धन (आ हर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (बह्वे) ज्ञान को धारण करने वाले !
हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व-विद्वन् ! तू (सुप्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदा-
चारी (पुमानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति
पात्र राजा के समान (गिर.) वेदवाणियों से (आ विचोरीथ) मर्म में
प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

(६) (सः) वही (बह्विः) ज्ञान-का नेता (सोम.) ब्रह्मचारी,
शान्त, सपत्नी (अप्सु.) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय
(गभस्त्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृज्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर
(चमूषु) सर्पाओं में, प्रजा के हृदयों में (सीदति.) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (ऋद्भु) ऋषि करने वाला, किशोर-दशा में वर्त-
मान, सुप्रसन्न तू (मस्य. न) यज्ञ के समान (नंहयुः) पूजनीय
(पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आचरण करता है और (स्तोत्रे.)
सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्यं) उत्तम ज्ञान को और बल
को (दधत्) धारण करता है ।

[६७५] यवं यवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परित्व ।

विश्वा च सोम सौमगा ॥ १ ॥

[६७६] इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः ।

नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

[६७७] उत नो गोविद्वित्पवस्व सौमन्धसा ।

मक्षु तमोभिरहभिः ॥ ३ ॥

[६७८] यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रूमभीत्य ।

स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ अ० २ । २५ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! असपते ! (न) हमें (पन्धसा) प्राण धारण करने हारे सौमर्घ्य (पुष्टं पुष्टं) खूब पुष्ट हुए (यवं यवं) यव तथा यव के समान अन्ध धान्य भी (परि त्व) प्रदान कर । (विश्वा च) और समस्त (सौमगा) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (अन्धस) जीवन धारण करने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाशक तेरी (यथा स्तवः) जिस प्रकार सत्यगुण प्रकाशक स्तुति है और (यथा) जिस प्रकार तेरी प्रमिद्धि है, ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होकर (प्रिये) सबको प्रिय लगने वाले धार, उत्तम (बर्हिषि) सूर्य में तेज के समान, बृह में आत्मा के समान विश्व में, या उत्तम आसन पर (नि सदः) विराजमान हो ।

(३) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (उत) और (गोवित्) जामेन्द्रियों के वश करने हारे और (अन्धवित्) प्रायेन्द्रियों के वश करने हारे आप (अन्धसा) प्राण के धारण आप (मक्षु तमोभिः) शीघ्र ही गुप्त जानें वाले (अहोभिः) इन घोड़े से दिनों के ही (नः) हमें (पवस्व) प्राप्त हो ।

(४) (यः) जो (जिनाति) स्वयं जीत लेता है और (जीयते) दूसरों से नहीं जीता जाता और (अभि-हृत्य) सन्मुख आकर (शत्रुम्) शत्रु को (हन्ति) नाश करता है (सः) वह (सहस्रजित्) हजारों को जीतने वाला, बलस्वरूप तू (पवस्व) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो ।

[६७६] यास्तं धारा मधुरच्युनोऽसृग्रमिन्द ऊतये ।

ताभिः पवित्रमासद ॥ १ ॥

[६८०] सो अर्बन्दाय पीतये तिरा धारायव्यया ।

सीदधूनस्य यानिमा ॥ २ ॥

[६८१] त्वं सोम परिक्षव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः ।

वरिचोविद् घृतं पयः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६। ६२। ७-६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरी (मधुरच्युतः) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने वाली, आनन्दप्रद (धाराः) धारण करने वाली शक्तियाँ (याः) जो (ऊतये) रचा करने के लिये हैं (ताभिः) उन से (पवित्रं) पवित्र करने हारे वायु वा सूर्य, प्रायः में सूक्ष्म रूप से (आसदः) विराजमान हो ।

(२) (सः) वह तू (इन्द्राय) इस अन्तरात्मा के (पीतये) पान के लिये, तृप्ति के लिये, (अव्यया) अवि अर्थात् चित्-प्रकृति के (धारा) आवरण करनेहारे आवरणों को (तिरः] दूर (अर्पे) कर और (आतस्य) प्रकाशस्वरूप सत्य के (योनिम्) आश्रय स्थान ब्रह्म को (सीदन्) प्राप्त होकर (आ) प्रकट हो ।

६८०—'तिरो रोमाण्यव्यया सदिन्योता वनेषा' इति श्र० ।

६८१—'त्वमिदो परी' इति श्र० ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (त्व) तू (चंगिरोम्यः) ज्ञानी आत्माओं के लिये (वरिषोषिद्) वरणा करने योग्य सुखों, आत्मानन्दों को प्राप्त कराने हारा और (स्वादिष्ट) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर (घृतम्) अति प्रकाशमय (पयः) अमृत रस को (परिष्व) प्रदान कर ।

इति द्वितीयः सूक्तः ।

२ ३ ५ ॥ ३६२ ॥ ३ २ ३ १२ २ ३ १ ॥ ३ १ २
[६८२] तव श्रिया वर्ण्यस्येव विद्युतोऽग्राक्षकिन्न उपसामिधेनयः ।
१२ २४ ॥ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
यदापधीरभिसृष्टं घनानि च परि स्वयं चिनुपे अन्नमासनि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८३] यातोपजुत इपितो वशी अनु तृषु यदसा धेयिषादि-
तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्याऽश्वा पृथक् शर्द्धास्यगे
३ १ २ ॥ १ २
अजस्य धक्षतः ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८४] मेधाकारं विदधस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतं
३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मतिम् । त्वामर्भस्य हविषः समानमिर्त्वा मदी घृणुने
नान्यं त्वत् ॥३॥ ७॥ अ० १० । ६१ । २, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्ने०) ज्ञान प्रकाशक (तव) तेरी (श्रि-
यः) विभूतिया (वर्ण्यस्य) मेघ की (विद्युतः इव) विद्युतों के समान
(उपसा) प्रभात कालों में निकलती हुई (इतयः) किरणों के समान

६८२—'विद्यादिचकिन्न', 'उत्सर्गं न वेत्तव' 'अन्नमासदे' इति ६० ।

६८३—'वामोक्तम्' 'अन्नमासि धक्षत' इति ६० ।

६८४—'परिभूतम्' 'तमिर्भदविद्या समानमिर्त्वा' इति ६० ।

(चिकित्से) सर्वत्र जानी जाती हैं । (यत्) जब कि (ओपधी०) ओप-धियों और (वनानि च) वृक्षादि वनस्पतियों में भी (अभिसृष्ट०) लग कर उनमें भी व्याप्त होकर, (आसनि) मुख में (अन्नम्) अन्न के समान समस्त पदार्थों को (स्वयं) अपने भीतर लेलेता है ।

ओपधि अन्नादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर जलाकर मानों प्राप्त कर जाता है उसी प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान भी समस्त ओपधि वृक्षादि को अन्न के समान जानकर उनका साधारण से विवेक करे ।

(२) (वातोपजूनः) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न (इषितः) स्वयं इच्छा पूर्वक (तृप्) शीघ्र ही (वशा) कमनीय उत्तम गुण से युक्त वनस्पतियों का, (अन्ना) और अन्नों को (वेविषद्) प्राप्त कर के (वितिष्ठते) नामा प्रकार से प्रकाशित करता है । हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप ! विद्वन् (अजरस्य) कभी वृद्ध न होने वाले, (धृष्टः) अग्नि के समान अज्ञान को भस्म करमे हारे, (रथ्य०) रथपर चढ़े महारथी शूरवीर के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार (पृथक्) पृथक् २ कार्यों पर जाते हैं उसी प्रकार (ते) तेरे (शर्धांसि) बल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी (पृथक्) पृथक् २ नामा कार्यों में (आयतन्ते) लग रहे हैं, सफल हो रहे हैं ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् (मेधाकारं) ज्ञान और धारणावती बुद्धि के उत्पादक (विदथस्य प्रसाधनम्) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना करने वाले (अग्नि) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सर्व प्रकाशक, (होतार) सबको अपने शरण में लेने और सब सुखों के देने वाले, (पारिभूतरम्) सब ओर अपने सामर्थ्य या सत्ता को प्रकट करने हारे, (मति) मननशील (त्वाम्) तुम्हको ही (अर्भस्य) छोटे और (महः) बड़े, थोड़े और बहुत (इविषः) ज्ञान के लिये भी (समानम्-

मित्र और धरुण से प्राण और अपान, समापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहिये ।

[६८८] ^{३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ २} उत्तिष्ठन् राजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः ।

^{१ २ ३ १ ३ २} सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥

[६८९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २} अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमान मदेताम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्र यदस्युहामवः ॥२॥

[६९०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वाचमष्टापदीमहं नवसक्तिमृतवृधम् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्रात्परि तन्व मम ॥३॥ ६॥ ७६। १०-१२ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) आत्मन् ! (चमूसुतम्) सेना दलों में अभियेक को प्राप्त पदाधिकारी के राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप चमसों में उत्पन्न हुए (सोम) सबके प्रेरक आत्मा के बल धीरे और प्राण को (पीत्वा) पान करके (राजसा) बल और कान्ति सहित (उत्तिष्ठन्) उठते हुए आप (शिप्रे) अपने हनुस्वरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को (अवेपयः) गति देते हो । परमात्म पक्ष में हनु आवापृथिवी ।

(२) (यद्) जब तू (दस्युहा) विनाशक पदार्थों और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश (अमव) करता है । हे (स्पर्धमान) सब से आगे बढ़ने हारे (इन्द्र) इन्द्रियों के स्वामिन् ! आत्मन् ! (त्वा अनु) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग (मदेताम्) आनन्द अनुभव करते हैं ।

(३) मैं (अष्टापदी) आठ चरण वाली (नवसक्ति) नौ प्रकार की रचनावाली (मृतवृधम्) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली (तन्व)

विस्तृत (वाचं) वाणी ■ (इन्द्रान्) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से (परि ममे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अष्टापदी चार वेद और चार उपवेद ये वाणी के आठपद अर्थात् विधा के आश्रय स्थान हैं । नवसूक्ति — नव सूक्तयः रचना यस्याः । १ शिखा, ■ कल्प, ३, व्याकरण, ■ निवण्डु, ५ निस्तक, ६, छन्दः, ७ ज्योतिष, ८ धर्मशास्त्र, और ■ मीमांसा । ये नौ प्रकार ■ रचनायु वेदों के आश्रय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[६६१] इन्द्राग्नी युवामिमेऽग्निं स्तोमां अनूपत ।

पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥१॥

[६६२] या वां सन्ति पुरुस्पृहा नियुतो दाशुपे नरा ।

इन्द्राग्नी ताभिरागमम् ॥२॥

[६६३] ताभिरा गच्छतं नरोपेद सवनं सुतम् ।

इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥ १०॥ ६ । ६३ ७-६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) विष्णु और सूर्य के समान समापति और सेनापति । (युवाम्) आप दोनों ■ (इमे) ये (सोमाः) प्रशंसा युक्त कार्य (अनूपत) वर्णन करते हैं । आप (शम्भुवा) सबके सुत और कल्याण का कार्य करने वाले (सुतम्) इस दुग्ध आदि रस एवं ओषधियों के रस और ज्ञान को (पिबतम्) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राय और अपान, गुरु शिष्य, समापति और सेनापति सूर्य और विष्णु आदि का ग्रहण उचित है ।

(२) हे (नरा) सबके नेताओं । (दाशुपे) सबको शान्ति सुन देने वाले नरपति के निमित्त (वां) आपकी (या) जो (पुरुस्पृहा) सबको प्रिय लगने वाली (नियुतः) अनेक निश्चित मतिमें (सन्ति) हैं, हे

(इन्द्राग्नी) सूर्य विष्णु के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अभ्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप (तामिः) उनके सहित (आगतम्) प्रजाओं में आओ ।

(३) हे (नरैः) दोनों नेताओ ! (तामिः) आप पूर्वोक्त विवेचक शक्तियों के साथ ही (इन्द्र) इस (सुतं) उत्पादित (स्वनं) यज्ञ में (सोम-पीतये) उत्तम आनन्दप्रद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये (उप आ गच्छतं) आइये ।

इति तृतीयः खण्डः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
[६६४] अर्षा सोम दुमत्तमोभिद्रोणानि रंरुवत् ।

^{१ ३ २ ३ २ ३ २}
सीदन्योनौ घनष्वा ॥१॥

^{३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १}
[६६५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।

^{१ २ ३ १ २}
सोमा अर्पन्तु विष्णवे ॥२॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[६६६] इपं ताकाय नो दधदसभ्यं सोम विश्वतः ।

^{१ २ ३ १ २}
आपवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ अ० ६ । ६४। १६-२१ ॥

भा०—व्याख्या देखो अविकल स० [६०३] पृ० २५६।

(१) (इन्द्राय) आत्मा के लिये, (वायवे) प्राण के निमित्त, (वरु-णाय) अप्रान के लिये (मरुद्भ्यः) अन्य ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेन्द्रियों के लिये और (विष्णवे) उस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये (अप्सा) माता जानों और कर्मों को व्याप्त करने हारे (सोमा.) आनन्दरस और विद्वान् जन (अर्पन्तु) प्राप्त हों ।

६६४—'सीदन् श्रेतो न योनिमा, ६६५—'सोमा अर्पति' इति अ० ।

[१०००] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ १ २} वृषा पुनान आयूषि स्तनयन्नधि वहिषि ।

^{२ ३ १२ ३ १ २} हरिः सन् यानमासदः ॥२॥

[१००१] ^{३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २} युव हि स्थः स्वः पत्नी इन्द्रश्च सोम गोपती ।

^{१ २ ३ १ २} ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥१३॥ अ०-१। २६। १, ३, २, ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (पुनानः) तू सर्वव्यापक परमेश्वर (न.) इमें (यत्) जो (विश्वं) संग्रह करने योग्य उत्तम अद्भुत (दिव्यं) दिव्यगुण सम्पन्न, (पार्थिवम्) इस पृथ्वी पर (वसु) धन है (तत्) वह (आभर) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक (अधिबहिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उप देशकरता हुआ (आयूषि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनानः) पुनः नया, शुद्ध पवित्र इराभरा करता हुआ (हरिः सन्) तू सहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (जासदः) आ विराजमान हो । ईश्वर, पर्जन्य, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएँ हैं ।

(३) (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और राशियों के स्वामी (युव हि) आप दोनों (स्वः पत्नी स्थः) सब सुख और ज्ञान, ज्योतिर्मय पिण्डों और ब्रह्माण्ड के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यतं) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अथवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः सूक्तः ।

- [१००२] इन्द्रा मदीय वायुने मुनेने वृत्रहा भूमि ।
 मायामदरुणा जदमममं दयामने स वाजिपुत्र ना विपत् ।
 [१००३] यानि हि यानि धेनोदेभि भूमि गमार्हाः । यानि दध्नस्य
 निजया यजमानाय निशमि सुयन भूद मे वसु ॥ २ ॥
 [१००४] यदुदीरन आजयो वृषादे भोयमे यमम । मुदुत्तया
 मादनुना हर्म । क. दनः क यमो दधोदसो दध्न यमो दध
 ॥ ३ ॥ १४ ॥ ४० । ८२ । १-२ ॥

भा०—(१) इन्द्रा देविये अवि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे यार ! (योऽय. यानि । नू मेमा वा दितकर दे । यार (भूमि)
 यदुन (वादार्हा) ननुयो को वातलय देने द्वारा दे । यार नू (दध्नस्य)
 दध्नस्य धोदे वायुने वाके निर्वज को (भिन्) जी (वृष.) यदामे द्वारा (यसि)
 दे । नू (सुयने) सुयो के वातल करने द्वारे (यजमानाय) यज्ञ के
 कर्मा, या करदाताको को (तो भूमि वसु) नू यवमा यदुन यम (निशमि)
 देता है । जो 'दन' अर्थात् स्वामी या मेमा के सदित होती है या 'मेमा'
 कदाती है । इन्द्रियवाय वायु के संग होने से सेमा कदाती है । उनका
 दितकर, उनमें वसुम वायु 'धेन्य' है । यह काम गोध आदि का परामय
 काये स्वाप (दध्न) दध्नवायु को विनाश करता है और यजमान
 स्वरूप सुयन वायु को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त
 भोग्य वस्तु देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देविये अवि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

- [१००५] स्वादोरिथा विपूयनो मधो. पियन्ति गौर्य । या इन्द्रेण
 सयावगवृत्त्या मदन्ति शोभथा वस्वोरिनु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभते' अवि० न० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २४
 [१००६] ना अस्य पृथनायुव सोमं शीणन्ति पृथयः। प्रिया इन्द्रस्य
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
 १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रनान्यस्य
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सश्विरे पुरुषि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

अ० २। म० ४। २०-२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०६] पृ० २०८।

(२) (ता) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृथनायुव) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुँचने की चेष्टा करने वाली (पृथयः) रस तक पहुँचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (शीणन्ति) और भी परिष्कृत करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, भन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने वाले आत्मा की शक्तियाँ (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिष्कृत होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्तर्बृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (तां) वे इन्द्रियरूप गौएँ (अस्य) इस आत्मा के (सह-) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अक्ष के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

[१६६८] ^{३ १ २ ३ २४ ३१२ २२ ३ १२ २२} कुवित्सस्य प्र हि व्रजज्ञामन्तन्दस्युहा गमत् ।

^{२ ३ १ २} शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११५] अ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सोम) ~~व~~ (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपधवत्) सुन लेता है तब वह (वसु) सब संसार को बसाने द्वारा और सर्वव्यापक (गोमत्) शरीरों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) प्रह्लादान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न वा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (स.) वह (दस्युहा) उपशय करने वाले या शयशाली विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने द्वारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) वाड़ा रूप ~~व~~ का, (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । पान्दु (स्मः) ~~व~~ ही उसको (शचीभिः) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव ~~व~~ या अपना बहुत सा नाश करने वाले मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उनके गोमान् व्रज अर्थात् ~~व~~ करण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (नः) हमारे कल्याण ~~व~~ लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है । अथवा—‘कुवित्स’ बहुत से देहों का नाश करने वाले अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुन देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१. कुरिमत विन्दते वेति मनोति च तस्य, अथवा कुविद्विद्वत्, स्वर्ग-

दिनम्नि इति कुविस्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

श्रुति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

[१६६६] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अशब्दः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि परुषशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीच चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अवन्तु ना यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्या अधि सानधि ॥ ६ ॥ २ ॥

अ० १ । २२ । १६-२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया । (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम शक्ति से स्थित है । व्याख्या भाषि० सं० [२२२] पृ०

(२) (गोपाः) समस्त गतिशील लोकों का पालक (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (विष्णुः) वह व्यापक परमात्मा (अतः) निरन्तर गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों का (धारयन्) धारण करने द्वारा होकर (त्रीणि) तीन (पद्मा) शक्तियों से (विचक्रमे) समस्त विश्व को बना और चला रहा है ।

(३) (विष्णोः) उस सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्रय जनक कार्यों को (पश्यत) देखो (पत) जिन कर्मों को देखकर (व्रतानि) जीव समस्त ज्ञानों को (पश्यते) प्राप्त करता है । वह ही परमात्मा [इन्द्रस्य] इस जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ रहने द्वारा [सृजा] समान ख्याति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है ।

(४) (विष्णोः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (परमं) परम उत्कृष्ट (पदं) धाम परमबल, वा सोषज्ञान को आलम्ब्य से (सृज्यः) विद्वान् आदित्य के समान ज्ञानी पुरुष (सदा) निरन्तर (परयन्ति) देखते हैं । वह परम ज्ञान (दिवि) आकाश और पृथिवी में (चक्षुः इव) सूर्य पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान (आततम्) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर जो (परम) उत्कृष्ट (पदं) ज्ञानमय स्वरूप है (तत्) उसको (विपन्युवः) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने वाले (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (जागृ-धासः) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने वाले, प्रमादराहित होकर (समिन्धते) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी ज्योति जगाते हैं ।

(६) (पत) जिस कारण से (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विचक्रमे) सर्व ससार को रचता और चलाता है (अतः) उसी पक्ष से

(देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण (पृथिव्याः) इस लोक के (अधि सानवि) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय श्री (नः) हमें (प्रवन्तु) प्राप्त करावे ।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है । हम संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) सायण—(विष्णुः) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके (विचक्रमे) विशेष रूप से क्रमण किया और तब (त्रेधा पदं निदधे=त्रिभिः प्रकारः स्वकीयं पदं निधिसवान्) तीन प्रकारों से अपना पद रक्खा । (अस्य पासुले समूहं=विष्णोः धूलियुक्ते पादस्थाने इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम्) उस विष्णु के धूली वाले पैर में यह सब जगत् यही प्रकार छिपा है ।

(२) उद्भट-यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रत्न का एक मन्त्र से होम करता है । ('इदं' 'जगत्' 'विष्णुर्विचक्रमं' विक्रान्तवान्, सर्वप्राणिनो हि भूनेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णुः किंच 'त्रेधा निदधे पदं' पद्यतं ज्ञायते अनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्षलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदं । किंच "समूहमस्य पासुरे" अस्य विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानधनानन्दमजमैतमक्षरमित्येवंलक्षणम् समूहमन्तर्हितनाविज्ञातमकृतात्मभिः । पासुरे लुप्तोपममेतत् । पासुले इष प्रदेशे निहितं न दृश्यते तत्समूहमिति, अर्थात्—सब प्राणियों में पंचभूत इन्द्रिय मन और जीव इन में प्रवेश करने से विष्णु है । उसने इस जगत् का क्रमण किया, जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है । भूमि, अन्तरिक्ष और लुप्तलोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में 'पद' (ज्ञानसाधन) या ज्ञापक लिंग रक्खा । इस ही विष्णु का अन्य एक 'पद' है विज्ञातधन, आनन्दस्वरूप, अक्षर, अद्वितीय, अक्षर

स्वरूप जिसको अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तोपमा, है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

(३) महीधर—इम भाष्यकार ने सायण और उश्वट दोनों का अर्थ लिया है । इतना विशेष लिखा कि ("समूढमस्य पांसुरे" पांसवो भूम्यादिलोकस्थाः विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदं समूढ सम्यग् अन्तर्भूत विश्वमिति शेष यद्वेति उश्वटवत्) अर्थात् पांसुरे—भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पांसुर पद में सब विश्व छिपा है । 'पद्मा' से आगे दूसरा उश्वट के समान ही है ।

श्रीफिथ—'इस संसार में विष्णु ने पैर रखे, तीन धार उसने पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल में जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लगाया है । उश्वट को वह अर्थ सम्मत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिखा है । और संसार में ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थ ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान पांगी मुसुपु लोग करते हैं ।

सायण के आशय विष्णु ने तीन चरण रखे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उसके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उश्वट कृत व्याख्या को माना है । और भूम्यादिलोकमय पांसु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु, सूर्य रूप से तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वीकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविक्रम निरूपण आलंकारिक है । महर्षि दयानन्द—(३६) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को ज्ञापक ईश्वर ने (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति परमायवादि पादों अर्थात् अंशों को विशेष करके सावधान किया । इस जगत् के

(पांसुरे) प्रशान्त रेणुभो वाले अन्तरिक्ष में (त्रेधा निदधे पदं) और तीन प्रकार से प्राप्त करने योग्य 'पद' घरा । वह उत्तम रीति से जानने योग्य पदार्थ 'पद' कहाता है । सावार्थ यह है कि यह तीन प्रकार का संसार बनाया (१) प्रत्यक्ष पृथिवीमय जो प्रकाश रहित है, (२) कारणरूप अदृश्य, (३) प्रकाशमय सूर्योदिक ।

(२) धर्माणि=अग्निहोत्र आदि, (सा०) कर्माणि=कर्म, (उन्वतो महीधरश्च), स्वस्वभावजान्य धर्म, (दया०), अतः इन तीन लोकों में, (सा०) तीनों पदों से (उ०, म०)

(३) विष्णोः कर्माणि=वीर्याणि (उ०), सृष्टिसंहारादि (म०), जगद्रक्षण पालनभ्यायकरणप्रलय आदि (द०), व्रतानि=अग्निहोत्रादि (सा०), लौकिकवैदिककर्म (म०), कर्म=आधान, पशु सोम याग आदि, अथवा अग्नि वायु और सूर्य का अपना २ कार्य ।

(४) विष्णोः परमं पदं=उत्कृष्ट स्थान (सा०), विज्ञानघनबहुल आनन्दस्वरूप विष्णु का परमपद आदित्य (उ०), मोक्षारण्य (द०) ।

(५) समिन्धते-दीपयन्ति (सा०, उ०, द०) प्रकाशयन्ते भास्वन्ति (द०) ।

(६) देवा=विष्णु आदि (सा०) विद्वान् लोग और अग्नि आदि पदार्थ (द०) ।

१ २२ ३ १ २ ३ २४ ३-१२ ११
[१६७५] मोषु त्वा वाघतश्च नारं अस्मन्निरीरमन्

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २४

आरात्ताद्वा सधमादन्न आगर्हीह वा सन्नुपश्रुधि ॥ १ ॥

३ १२ २२ ३ १/२ ३ २४ ३ २ ३ २४ ३ १ २

[१६७६] इमे हि तं ब्रह्मकृत्-सुते सचा मधौ न मक्ष आसने ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रे कामक्षरितारो वसूयवो रये न पादमादधुः ॥२॥६॥

अ० ७ । ३२, १, ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अथि० सं० [२८४] पृ० १४५ ।

(२) हे इन्द्र ! (मधौ) मधु=शहद पर (मधु. न) जिस प्रकार मक्खी आ बैठती है उसी प्रकार (इमे) ये (ब्रह्मकृतः हि) ब्रह्मयज्ञ करने हारे वेद के विद्वान् गण (ते सचा) तेरे साथ मोक्षानन्द प्राप्त करने के लिये (आसते) आ बैठते हैं और ब्रह्म का रस प्राप्त करते हैं । और (इन्द्रे) उस इन्द्र परमात्मा में ही (वसूयवः) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले (जारितारः) स्तुतिशील विद्वान्गण (कामम्) अपनी अभिलाषा को इस प्रकार (आदधुः) रख देते हैं जिस प्रकार (वसूयवः रथे पादम्) धनाभिलाषी सन्निय लोग अपना चरण रथ पर रखते हैं और फिर देशों को विजय करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१६७७] अस्तावि मन्म पूर्ण्य ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
पूर्वोक्तस्य बृहतीरनूपन स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २४ ३ १ २
[१६७८] समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सङ्क्षोणी नमु सूर्यम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २४ ३ २ ३ १ २
स शुक्रामः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः
॥ ७ ॥ अ० ८ ५२ । ६, १० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की ही स्तुति जाती है । इसलिये (पूर्ण्य) पूर्ण तृप्तिकारक अति प्राचीन (मन्म) मनन करने योग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (इन्द्राय) उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (वोचत) पाठ करो । (अतस्य) वेद की या यज्ञविषयक या आत्म, और ब्रह्मविषयक सत्यज्ञानसम्बन्धी (पूर्वो.) प्राचीन या पूर्ण (बृहतीः) बृहती छन्द के वेद मन्त्रों से (अनूपतः) स्तुति करते हुए (स्तोतु.) स्तुतिकर्ता विद्वान् के (मेधा) माना प्रकार के ज्ञान (असृक्षत) उत्तरप्र हाते हैं ।

(२) (इन्द्रः) परमेश्वर ने (बृहतीः) बड़ी २ (राघ.) सम्पत्ति
याँ और शक्तियाँ (सम् अधुनुत) ओरिते की हैं (दत्त) और (छोटी)
बहुतसी पृथिवियों अर्थात् बहुतसे लोकों को आकाशमण्डल में चला
रक्खा है । और (सम् उ सूर्यम् । सूर्य को भी चला रक्खा है । (शुचयः)
कान्तिमान् (शुक्रासः) शुद्ध कर्म करने हारे निष्पाप पुण्यात्मा (गन्धा-
शिरः) ज्ञान का आश्रय करने हारे या गो=वेदवाणी का आश्रय लेने
हारे और गो=इन्द्रियों का दमन करने हारे जितेन्द्रिय (सोमा.) यांगों
मुमुक्षु आत्माएं (इन्द्रम्) इन्द्र परमेश्वर को (सम् अमन्दिपुः) प्रसन्न
करते हैं ।

[१६७६] इन्द्राय सोमपातघं वृत्रघ्ने परिपिच्यसे ।

नरे च दक्षिणागते धीराय सद्नासदे ॥ १ ॥

[१६८०] तं सखाय पुरुषं च वयं यूयं च सूरयः ।

अश्याम वाजगन्धं सनम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥

[१६८१] परि त्य हर्यतं हरिम् ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६८ । १०, १२, ७॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो अधिकृत [१०५] ६६ ।

(२) हे (सखाय.) मित्रगण ! (सूरय.) विद्वान् (यूयं) आप
लोग और (वयं च) हम लोग सब (वाजगन्धं) ज्ञान की सुगंध से
युक्त (वाजपस्त्यम्) और बल के एकमात्र आश्रय, सधैशक्तिमान् (पुरुषं)
अपने प्रकाश से सबके प्रकाशक (तं) उस सोम परमात्मा को (अश्याम)
प्राप्त हों । सोम ओपधि पद्य में—(वाजगन्धं) अन्नगन्धी और (वाज-
पस्त्यं) बलकारी सोम का भोग करें ।

१६७६—१. 'दधान सद्नामः' २. 'पुरोक्ष यूय वयं च सूरयः' ३. 'हरिं त्य
हर्यतं हरिं' इति अ० ।

(३) “परि त्वं हर्यंतं हरिम्” यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया । इसकी व्याख्या देखो अविकल सं० [१५२] पृ० २७७ ।

^{१२ १२ ३}
[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२}
[१६८३] मघोन स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।

^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २}
तव प्रणीती हर्यश्चसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥६॥

श्र० ७ । ३२ । १४, १५॥

भा०—(१) ‘कस्तमिन्द्र त्वावसो०’ यह प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अविकल सं० [१८०] पृ० १४३ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (मघोनः) ज्ञानी पुरुषों को (वृत्रहत्येषु) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में (चोदय स्म) प्रेरित कर । (ये) जो (प्रियाः) प्रिय (वसु) वास योग्य उपकरण गृह आदि अथवा अपने धर्मों को (तव प्रणीती) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग (ददति) दान करते हैं उन (सूरिभिः) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से (विश्वा) समस्त (दुरिता) पापों को (तरेम) इस पार करें ।

इति द्वितीयं गुण्ड ।

^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१६८४] एतु मधोर्मदिन्तर सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।

^{१ ३ १२ २२ ३ १ २}
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्तमिन्वा वसुमा, इति श्र० ।

१६८३—१ “एतु मधोर्मदिन्तर सिञ्चाध्वर्यो”

[१६८५] इन्द्र^{१ २} स्थान^३ हरीणां^{१ २} नकिंष्ट्रे^{३ १ २} पूर्व्यस्तुतिम् ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} उदानंश शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] तं^{१ २} वो^३ वाजानां^{१ २ ३ २ ३ १ २} पतिमहूमहि^{३ १ २} अवस्यवः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ८ । २४ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [२८५] पृ० १४६।

(२) हे इन्द्र ! हे (हरीणां) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिकों के (स्थातः) प्रतिष्ठापक ' परमेश्वर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व के अपि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथार्थ गुणवर्णना को (शवसा) अपने यज्ञ से (नकिः) कोई भी नहीं (उदानंश) पा सकता । (न भन्दना) न कोई संसार के प्रति सुख कल्याण के कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तू सबसे अधिक शक्तिमान् और सब का कल्याणकारी है तेरे मुख्य दूसरा ' न मृतो न मधिष्यति ' न हुआ, न होगा ।

(३) हम लोग (व०) आप लोगों के (वाजानां) ज्ञान, धन, बल और अश्वों के (पति) परिपालक, (अप्रायुभि०) प्रमादों से रहित, विनाशरहित, (यज्ञेभि०) बड़े सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि सत्कर्मों से (वावृधेन्यम्) अपने यश और महिमा में सब से बड़े (तं) उस परमेश्वर को (अवस्यवः) धन, अश्व, और ज्ञान, वेद की कामना करने हारे हम लोग (अहूमहि) निरन्तर स्मरण करते हैं ।

यहां ' व ' इम युष्मत् के प्रयोग से समस्त संसार के प्राणी अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्तों की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मत् पदवाच्य हैं । परमात्मा केवल ' तव ' पदवाच्य है ।

१ २ ३४ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८७] त गूर्धया स्पर्णं देवालो देवमरति दधन्विरे ।

३ २ ३ १ २
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८८] विभूतराति विप्रचित्रशोचिपमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोमरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥ २ ॥ ११ ॥

श्र० ८ । १६ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या दक्षा अवि० सू० [१०६] पृ० १८ ।

(२) (सोमरे) उत्तम रीति से ज्ञान का धारण करने हारे ।
हे (विप्र) मेधाविन् ! ब्राह्मण ! ज्ञानोपायक ! शिष्य ! तू (ध्वराय)
अविनाशकर या हिसादि दोषों से सर्वथा रहित, स्वाध्याय यज्ञ या गुरु
परम्परा से कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे, आधीष्ठित ज्ञानयज्ञ
निमित्त (विभूतरातिम्) बहुत अधिक ज्ञानराशि के दान करने हारे,
(चित्रशोचिपं) संग्रह करने योग्य ज्ञान और तप आदि तेजस्कर गुणों
से युक्त, (अस्य) इस (सोम्यस्य) ज्ञानयुक्त या ज्ञान के आनन्द प्राप्त
कराने हारे (मेधस्य) पवित्र यज्ञ के (यन्तुरं) नियामक, व्यवस्थापक,
(पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान, सबसे मेधा आचार्य रूप परमेश्वर की
(ईडिष्व) उपासना कर ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[१६८९] आ सोम स्वानां आद्रमिस्त्रां वाराग रयथा ।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
जतां न पुनि चम्याविशद्वरि सदा वनंपु दधिपे ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ ३
[१६९०] स मामृजे तिरो अण्वानि मेप्या मीद्वारससिर्न वाजयुः ।

३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ ३ २ ३ १ २
अनुमाद्य पचमानो मनीषिभि सोमां विप्रमिर्नकभिः

॥ २ ॥ १२ ॥ श्र० १० । १०७ । १०, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११३] पृ० २५३।

(१) जिस प्रकार सोमरस को दूध प्रस्तरों से कूटकर, भेदी के लोम से बने दशापवित्र नामक कम्बल के टुकड़े से स्वच्छ कर लिया जाता है उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस को भी स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी का वर्णन करते हैं। योगी का आत्मा (ससिः न) अति वेगवान् अरब के समान (वाजयुः) बल और ज्ञान को प्राप्त करने द्वारा (सः) वह (मेघः) चितिशक्ति के (अयवानि) सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को (तिरः) प्राप्त करके (मीद्वान्) सब सुखों का स्वयं वर्पण करने द्वारा धर्ममेघ होकर (मासृजे) शुद्ध पवित्र हो जाता है। वही (सोमः) शमदमादि गुणों युक्त सोमस्वरूप आत्मा (पवमानः) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियों, ज्ञानवृत्तियों को पवित्र करता हुआ (मनीषिभिः) मनन करने में गतिशील, (विप्रेभिः) मेधावी (ऋक्षभिः) वेदज्ञों द्वारा (अनुमाद्यः) आनन्द प्राप्त करने योग्य, प्रशंसनीय होता है।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

[१६६१] वयमेनमिवाहोऽपीपमेह वज्रिणम् ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

तस्मा उ अद्य सवने सुत भग नूनं भूषत शुते ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१६६२] वृकश्चिदस्य वारय उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।

२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३

सैम नस्तमिञ्जुधास्य आगहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥ १३

अ० ८। ६६। ७, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० १३६।

(२) (वृकः) इस आत्मा का (वारयः) पापों से निवारण करने द्वारा साधन (वृकः विन्) कुत्ते या भेड़िये के समान (उरामथिः) भेड़ के

१६६—२. 'मोब्दे ससिर्न' सति अ० ।

समान वालों से छिपे चोरों वदे २ संकटों को भी मथन करने द्वारा होकर (वयुनेषु) प्रज्ञा या महान् कार्यों में (आभूषति) शोभा देता है । हे आत्मन् ! (स.) वह आप (इमं) इस (स्तोमं) स्तुतिमय वचन को (जुशुषाणः) स्वीकारते हुए (चित्रया) ज्ञानयुक्त (धिया.) प्रज्ञाबुद्धि से (आगदि) हमें साक्षात् दर्शन दो ।

अथवा—(अस्य) इस इन्द्र का (वृकःश्वित्) आदित्य ही (वारण.) अन्धकार दूर करने का साधन (उरामधिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने द्वारा होकर (वयुनेषु) समस्त लोकों में (आभूषति) शोभा देता है । अथवा—(वृकःश्वित्) आदित्य —समान इसका (वारण.) वैरेणीयस्वरूप (उरामधिः) अज्ञानों का नाश करने द्वारा (वयुनेषु) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में (आभूषति) शोभा देता है ।

अथवा—(वृकःश्वित् अस्य उरामधिः) भूमि को काटने द्वारा इन्द्र ही इसका वरण करने योग्य पदार्थ है जो उरामधिः=पृथिवी की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही (वयुनेषु) ज्ञाना ज्ञानयुक्त कार्यों में (आभूषति) प्रयोग किया जाता है । शोभा देता है । अथवा—(वृकःश्वित् अस्य वारण. उरामधिः) सब पापों का निशान्नाशक रूप वज्र ही इस आत्मा शत्रुओं का नाशक वरण=प्रायुध है जो (वयुनेषु) सब मार्गों में और प्रज्ञाओं में (आभूषति) शोभा देता है ।

अथवा—राजाके पक्षमें (अस्य) इस इन्द्र राजा का (वृकः) वज्र अर्थात् खड्ग और (उरामधिः) शत्रुओं का मथन करने द्वारा (वारण.) राज वज्र दोनों (वयुनेषु) संग्राम मैदानों में या राजकार्यों में (आभूषति) शोभा देते हैं । वह राजा (इमं) इस (न.) हमारे (स्तोम) ज्ञानसमूह और देश के विद्वान् सभ को (जुशुषाणः) प्रेम से अपनाता हुआ (चित्रया) विचित्र या ज्ञानयुक्त (धिया) बुद्धि, राजनीति या देश को धारण करने वाली दृष्टिद्वारा (आगदि) उत्तम रूप से शासन करे ।

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द — स्तेन आदि — ग्रहण किया है सो असंगत प्रतीत होता है । ४. वृको लाङ्गलं विकर्त्तनात् (नि० ६ । ख० २६) ५; वृक इति घञनाम विकर्त्तनादेव । (निघं० २ । २०) । वृक आक्षान् (भ्वादि.) इति इगुपधलक्षणः कः । वृषाक्रेवां पृषोदरादिष्वाद् । वृषोतेर्वौ णादिक. । यद्वा वृषो घर्जन (अदादि०) इत्यतः औणादिक. कः नकारजनकारलोपश्च । यद्वा वृषाक्रेर्वधकर्मणः । विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वा पृषोदरादि णाभिपातनम् । ६. 'दाना मृगो न वारय' (६८८) अत्रापि वारणो गजपर्यायः सायणसम्मत उपलभ्यते ।

अथवा—(वृकरिचद् अस्य वारण उरामधिरावयुनेषु भूपति) जंगली भेड़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है । वारणः— जंगली । आ अपि वृक उच्यते । विकर्त्तनात् । वृकश्चिदस्य वारण उरामधिः । उरामधिः उरय ऊर्यवान् भवति । (निरु० ५ । ४ । २) आदित्यो वि वृक उच्यते यदावृङ्क्ते (निरु० ५ । ५ । १)

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६६३] इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूपथः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
तत्रां चेति प्रवर्त्यम् ॥ १ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६०४] इन्द्राग्नी अपसस्परि० ॥ २ ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
[१६६५] इन्द्राग्नी तविपाणि वां० ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० ३ । १२ । ६, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्राग्नी ! आप (दिवः रोचना) धौलोक को प्रकाशित करने हारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युन् के समान प्राण और अपान होकर इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और (वाजेषु भूपथ.) सब कार्यों में या ज्ञानयज्ञों में शोभा देते, कार्य सम्पादन करते हो । (तत् चीर्य) यह सब सामर्थ्य (वां च) आप दोनों ही हैं । राजपथ में इन्द्राग्नी सेना सनाध्यक्ष । और वाजेषु समारोहों में ।

(२) 'इन्द्राग्नी अपसस्परि०' प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७७] पृ० ६७१ ।

(३) 'इन्द्राग्नी ताविपाणि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७८] पृ० ६७१ ।

^{१ २ ३ १२ २३}
[१६६६] क ई वेद सुते सचा० ॥ १ ॥

^{३ २ ३ १२ २३ १ २ ३ २ ३ १ २}
[१६६७] दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १}
नकिण्दवा नियमश्च सुते गमो महोश्चरस्योजसा ॥ २ ॥

^{२ ३ १२ २३ ३ १२ २३ ३ १ २}
[१६६८] य उग्रः सन्ननिदृशत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २}
यदि स्तातुर्मघवा शृण्वद्वघनेन्द्रो योषत्यागतम् ॥ ३ ॥ १५

श्र० ८ । २१ । ७-६

भा०—(१) 'क ई' वेद सुते सचा० प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [२६७] पृ० १५२ ।

(२) (मृग) बनेला (वारण) हाथी (न) जिस प्रकार (दाना) अपने मदजलों के कारण (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों पर (चरथ) विचरण (दधे) करता है और उसको काँटें (नकिः नियमश्च) नहीं रोकता उसी प्रकार ईन्द्र आप भी मत्त हाथी के समान (दाना) अपने नाना प्रकार के दानों, रक्षक सामर्थ्यों सहित (पुरुत्रा) सर्वत्र (चरथ दधे) विचरण करते हो, (सुते) इस तपस्वि विश्व में (त्वा) आपको (नकिः नियमश्च) कोई भी रोकने वाला नहीं है । आप (महान्) सबसे बड़े होकर (ओजसा) अपने पराक्रम सामर्थ्य से (चरसि) सर्वत्र विचरण करते हो । आप (सुते) इस विश्व में और हमारे हृदय और यज्ञ में (आ-गमः) व्याप्त हो ।

(३) (यः) जो आत्मा (उग्र-) बीर्यवान्, शक्तिमान् (अ-
निस्तृतः) अधिनाशी, किसी से न मारा गया, (स्थिरः) कूटस्थ, नित्य
(रथाय) सर्वत्र विश्व में और इस देह में रमण करने के लिये
(संस्कृतः) संस्कार किया गया, नाना कर्म फलों से, या तप-साधनों से शुद्ध
किया गया है । (यदि) जब (मधवा) ज्ञानवान् आत्मा (स्तोतुः) स्तुति
करने हारे विद्वान् की (हवे) पुकार को (शृणुषत्) सुनलेता-है तो,
(इन्द्र-) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (न योषति) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत्
(आगमत्) उसे प्राप्त हो जाता है ।

परमात्मा के पक्ष में—(संस्कृतः) नाना गुणों से उपापित होकर
जब वह अपने भक्त की पुकार सुनता है तो उसके हृदय में प्रकट होता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

—०—

[१६६६] ^{१ २}पवमाना ^{३ १ २ ३ २ ३ १ २}असृज्जन सोमा शुक्रास इन्द्रवः ।

^{३ १ २}अभि विश्वानि ^{२ ३ १ २}काव्या ॥ १ ॥

[१७००] ^{१ २}पवमाना ^{३ १ २ ३ १ २}दिनस्पर्यन्तरिज्ञादसृजत ।

^{३ १ २}पृथिव्या अधि सानधि ॥ २ ॥

[१७०१] ^{१ २}पवमानास ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}आशवः शुभ्रा असृग्मिन्दवः ।

^{१ ३ २ ३ २ ३ १ २}घन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ९। ६३। २५, २७, २६ ।।

भा०—(पवमानाः) ~~पुनः~~ पुनः (शुक्रासः) शुद्ध शुक्ल कर्मों
के करने हारे, (सोमाः) शमादिगुणसम्पन्न, (इन्द्रवः) योगी, विदेहमुक्त
जन (विश्वानि) समस्त (काव्या) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात्
(असृजत) करते हैं ।

(२) (पचमानाः) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान्-पुरुष (दिवस्पति) यौ अर्थात् प्रकाशमान् लोकों में (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि सानधि) उच्च पर्वत भागों में (असृजत) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं।

(३) (शुक्रा) शुक्रगुणयुक्त, (आशवः) शीघ्र गति करने हारे, अप्रमादी, (पचमानासः) सब को पवित्र करने हारे, (इन्द्रवः) ज्ञानी पुरुष (विश्वाः) सब (द्विपः) द्वेप करने हारे पुरुषों को, या द्वेपभावों को (अप हन्तः) दूर मार भगाते हुए (असृजन्) कार्य सम्पादन करते हैं ।

यज्ञपक्ष में पचमाना, शुक्रा, आशवः, शुक्रा, इन्द्रवः, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सोमरसों में लगते हैं ।

३ १ २ ३ ॥ २ ३ २ ३:१ ॥
[१७०२] तोशा वृत्रहया हवे स जित्वानापराजिता ।

३ १ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

१ ॥ ३ १ २

[१७०३] प्र वामर्चन्त्युक्थिनः ० ॥ २ ॥

१ ॥ ३ १ २ २ २

[१७०४] इन्द्राग्नी नवर्ति पुरः ० ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ३ । १२ । ४, ९ ॥

भा०—(॥) (तोशा) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, (वृत्र-हया) अज्ञान के हनन करने वाले, (सजित्वाना) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, (अपराजिता) कभी न हारने वाले, अनयक, (वाजसा-तमा) बल के देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि प्राण और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवात्मा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं ।

(२, ३-) “ प्रवामर्चन्त्युक्थिनः ० ” और “ इन्द्राग्नी नवर्तिपुर ” यह दोनों प्रतीकमात्र हैं । व्याख्या देखो अधि० सं० [१५७५, १५७६] पृ० ६०१ ।

[१७०५] उप त्वा रयवसन्दृशं प्रयस्वन्त सहस्कृत ।

अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १ ॥

[१७०६] उपच्छायाभिव घृणरगन्म शर्म ते वयम् ।

अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र इव शर्यद्वा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।

अग्ने पुरो कराजिथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० ६। १६। ३७-३६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बल और साधना से साक्षात् करने योग्य भो ! (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी मुमुक्षु हम लोग (रयवसन्दृशं) रमण करने वाले या रमणीय और दर्शन करने योग्य या सबके दृष्टा (त्वा) आप परमेश्वर के (उप) समीप प्राप्त होने के लिये (गिरः) स्तुतियों या वेदवाणियों का (ससृज्महे) उच्चारण करें ।

(२) जिस प्रकार (घृणे) देदीप्यमान सूर्य के तेज से सन्तप्त होकर लोग (छायां इव) छाया का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे (भो) ज्ञानवान् प्रभो ! (हिरण्यसन्दृशः) सूर्य समान स्वरूप वाले (ते) आपके (शर्म) शरण सुख को (वयम्) हम (उप अगन्म) प्राप्त हों ।

(३) (यः) जो (शर्यद्वा) बाणों से मारने वाले योद्धा के (इव) समान (उग्रः) अति भयंकर शक्तिशाली (वंसगः न) बैल के समान (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण शृङ्ग अर्थात् प्रखर तेज वाले, हैं वही आप हे (अग्ने) प्रभो ! (पुरः) सब देहों को (कराजिथ) ज्ञान वज्र से तोड़ डालते हो और मुमुक्षुओं को मुक्त कर देते हो ।

सायण ने अग्नि को रुद्ररूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा को लगाया है । लिखा है—“ रुद्रो वा एष यदग्निः ” इति श्रुतेः । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निकृतमेवेति श्रूयते । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूतं वाये अग्निर-
नीकरवनावस्थानादाग्निः पुराणि मग्नवान् इत्युच्यते । ” अर्थात् रुद्र अग्नि
का नाम है ऐसी ब्राह्मण भुति है । अतः रुद्र का किया त्रिपुरदहन अग्नि
ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर के दहन करने में साधन बने
वायु में अग्नि सहायक था, इससे अग्नि ने पुरों को तोड़ा ऐसा कहा
जाता है । परन्तु इस का रहस्य सायण ने स्पष्ट नहीं किया, यह आत-
कारिक है । वस्तुतः—

वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिपुरं त्रिगुणं वपुः । (पु०)

भस्मीकरोति तदेवत्रिपुरमस्ततः स्मृतः ॥ (स्कन्द० महि० कौ० सू०
२ । अ० २५)

अर्थात्—रुद्र के तीन वेद तीन नेत्र हैं, त्रिगुण वेद त्रिपुर है. उसके
वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर देने से त्रिपुरम कहा जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७०८] अतावान वैश्वानरस्मृतस्य ज्योतिषरूपनिम् ।

१ २ ३ १ २
अजस्रं धर्ममीमहे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३ २
[१७०९] य इदं प्रतिपप्रथे यन्नस्य स्वसत्तिरन् ।

३ २ १ २ ३ २
अनूत्सृजते वशी ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७१०] अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य मन्यस्य ।

३ २ ३ ३ १ २
सम्राट्का विराजति ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋग्वेदे नास्ति ॥ आपा-यजु० २६ । ॥ अथर्व० ॥ ३६ । १ ॥ दि-
सीवाण्य० ६ । २६ । २ ॥ सुतीना-यजु० १६ । १२७ ॥

१६०८—२. “स त्रिषा प्रतिचात्कृष्य अतूत्सृजते वशी यस्य वय उत्तिरन्” इति
पाठभेदोऽथर्वणि । १. ‘अग्ने; पुरेषु धामसु’ इति अथर्व० ।

भा०—(१) हे अग्ने ! (अतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, या इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले (वैश्वानरम्) समस्त नर अर्थात् आत्माओं में भी व्यापक, सबके हितकारक (ज्योतिषः पति) सब ज्योतिष्मान् सूर्य आदि विशाल स्रोतों के प्रतिपालक (भजन्) अग्नादि, नित्य, (धर्म) शुद्ध दीप्तिमान् आपकी (हमें) उपासना करते हैं ।

(२) (यः) जो अग्नि^१ परमात्मा (यज्ञस्य) आत्मा को (स्वः) आनन्दमय मोक्ष (उत्तिरन्) प्रदान करता और (इदं) समस्त ब्रह्माण्ड को (प्रतिपश्ये) रक्षता और सब का वशकर्ता, अधिष्ठाता होकर (ऋतून्) प्राणों को और गतिशील पियहों और इन्हों का स्वरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूर्य के समान (उत्सृजेत्) उत्कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

(३) वह (अग्निः) सब का पूजनिय प्रकाशस्वरूप परमात्मा (भूतस्य) समस्त भूतकाज और उसमें उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों और (भव्यस्य) भविष्यत् काल और उसमें होने वाले समस्त जगत् का (कामः) मूल उत्पादक स्वरूप के समान आदिकारण (प्रियेषु) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त, प्रेष्ठ (धामसु) स्रोतों में (एकः) एकमात्र, अद्वितीय (सज्जाद्) सार्वभौम, सज्जाद् परमेश्वर, स्वामी होकर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयोऽर्थः प्रपाठकः ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः । १. १८ अथमा । ॥ विद्वान्निव । ४
देवानिनि काव । ५, ८, ९, १६ गन्धर्वे गार्गा । ६ वासः४० । ॥ प्रवृत्त
८५ काव । १० मनुष्येण ज्ञेयः । ११ मनुष्येण ज्ञेयः । १२ मनुष्येण ज्ञेयः ।
१३ मनुष्येण ज्ञेयः । १४ मनुष्येण ज्ञेयः । १५ मनुष्येण ज्ञेयः । १६ मनुष्येण ज्ञेयः ।
१७ मनुष्येण ज्ञेयः । १८ मनुष्येण ज्ञेयः । १९ मनुष्येण ज्ञेयः । २० मनुष्येण ज्ञेयः ।
२१ मनुष्येण ज्ञेयः । २२ मनुष्येण ज्ञेयः । २३ मनुष्येण ज्ञेयः । २४ मनुष्येण ज्ञेयः ।
२५ मनुष्येण ज्ञेयः । २६ मनुष्येण ज्ञेयः । २७ मनुष्येण ज्ञेयः । २८ मनुष्येण ज्ञेयः ।
२९ मनुष्येण ज्ञेयः । ३० मनुष्येण ज्ञेयः । ३१ मनुष्येण ज्ञेयः । ३२ मनुष्येण ज्ञेयः ।
३३ मनुष्येण ज्ञेयः । ३४ मनुष्येण ज्ञेयः । ३५ मनुष्येण ज्ञेयः । ३६ मनुष्येण ज्ञेयः ।
३७ मनुष्येण ज्ञेयः । ३८ मनुष्येण ज्ञेयः । ३९ मनुष्येण ज्ञेयः । ४० मनुष्येण ज्ञेयः ।

[१७११] अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्यांऽदे स्वाम् ।

३ १२ ३२
पात्रिचिप्रेण वायुये ॥ १ ॥

[१७१२] ऊर्जो नपानमाहुर्वाग्नि पात्रकशाचिपम् ।

३ १ ३ १ ३ १
अस्मिन्वायुं स्वध्वरे ॥ २ ॥

[१७१३] स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।

३ १ २ ३ १ २
देवैरासत्सि यद्विपि ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ८ । ४४ । १२-१४॥

१७११—१. "प्रत्नेन जन्मना" इति अ० ।

भा०—(१) (अग्नि.) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा (प्रत्नेन) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा (स्वां) अपने (तन्वा) शरीर को 'शुम्भान') उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ (कविः) क्रातदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर (विप्रेण) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग (वावृधे) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है ।

सायण ने 'जन्मना' और 'विप्रेण' का अर्थ स्तोत्र किया । तुलसी-रामजी—'प्रत्नेन जन्मना'—पुराने जन्म से—सनातनस्वरूप से । श्रीकृष्ण पुराने तरीके से ।

(२) (कर्जोनापातम्) यज्ञ का विनाश न होने देने हारे (पावकशोचिषम्) ऋषियों को शाप कर पवित्र करने हारे तेज से युक्त (अग्निम्) अग्निस्वरूप आत्मा को (अग्निम्) इस (स्वध्वरे) उत्तमरूप, अधि-नाशी (यज्ञे) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमआत्मा में (आहुवे) समर्पित करता हूँ ।

(३) (अग्ने) आत्मन् । हे (मित्रमहः) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग (स्वतः) तेजस्विन् ! (स्वम्) तू (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (दंभैः) अपनी इन्द्रियों के साथ (बर्हिषि) इस देह में (आ सस्ति) विराजमान है ।

परमात्म पक्ष में—हे मित्र ! या सूर्य के समान, कान्ति वाले या तब मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! (एवं) आप शुद्ध कान्ति दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यदि 'देव' ऋषियों के संग (बर्हिषि) ब्रह्माण्ड में (आ सस्ति) विराजमान हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१४] उक्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो मिन्दन्तो अद्रिधः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २

सुदस्व याः परिरुधः ॥ १ ॥

उ १ २ ३ १४ २४ उ १४ २४ उ २
[१७१४] अया निजग्निरोजसा रयसङ्गे धने दिते ।

१ ३ १ २ उ २

स्तवा अभिभ्युषा हृदा ॥ २ ॥

१ २ उ २ उ २४ उ १ २

[१७१६] अन्य व्रतानि नाधृषे पत्रमानस्य दूष्या ।

उ १४ २४ उ १ २

रुज यस्त्वा पृतन्यनि ॥ ३ ॥

१ २

उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

[१७१७] नं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।

१ ३ १ २

उ २

इन्दुमिद्राय मत्सरम् ॥ ४ ॥ २ ॥ श्र० १।५३।१-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (अद्विष.) आदरणीय !
अथयवस्तन् ! परमात्मन् ! आदर करने वाले मर्गों के स्वामिन् ! (ते)
(शुष्मासः । वज्रप्रयोग (रयः) दुष्ट पुरुषों को, या विघ्नों को (भिन्द
न्तः) विनाश करते हुए (उच्यते) । सबसे ऊपर विराजमान हैं (याः)
जो (स्पृधः) शुक्ल से स्पर्श करते हैं उन नास्तिकों को तु (मुदस्य)
नाशे गिरा देता है ।

(२) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! आप (अया) इस प्रकार
के (ओजसा) तेज और वज्र से विघ्नों और विस्फारियों को (निजग्निर.)
विनाश करने हारे हो । (रयसङ्गे) इस रमण करने योग्य देह या रसस्वरूप
सेरा सग काम हो जाने पर और (धने) तृप्ति योग्य भोग्य पदार्थ (दिते)
प्राप्त हो जाने पर मैं (अभिभ्युषा) निर्भय (हृदा) चित्त से (स्तवैः) आपकी
स्तुति करता हू ।

(३) (अन्य) इस (पत्रमानस्य) पत्रमान, सर्वप्रेरक, व्यापक
और सब को पवित्र करने हारे एवं स्वयं पवित्र परमेश्वर की (व्रतानि)
व्यवस्थाएँ (दूष्या) । दुष्ट मर्गों, मूलों, अभिमानी पुरुष से (न

१७१४—२. वन, विनोतीति सध (निद० न० ॥ । सू० १) विनोतिस्तर्पणार्थः ।

आधुपे) अपमान, या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! (यः) जो (एवा) आपका (पृतन्यति) विरोध करता है आपके नियमों और आ-
ज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, (-रुज २) पीड़ा उत्पन्न करते हैं
या उसका विनाश कर देते हैं ।

(४) (सं) उस (मदच्युतं) आनन्द रस यहाने वाले, (वा-
जिनम्) ज्ञानमय, (हरिं) दुःखों के हरण करने वाले, सर्वव्यापक (भस्वरम्)
स्वयं परमसुखजनक, आनन्दस्वरूप (इन्दुम्) परमेश्वर को (इन्द्राय)
अंपने आत्मा के हित के लिये (दिव्यान्ते) उपासना करते हैं !

2 3 1 2 3 9 2 3 2 3 9 2

[१७१८] आ मन्त्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ ० ३ १ २

मा त्वा केचिन्नियेसुरिश्च पाशिनोऽति धन्वेव तौ इहि ॥१॥

3 2 3 2 3 2 3 2 3 2

[१८१६] वृत्रखादो बलं रुजः पुरां दमो अयामजः ।

७ ३ १ २ ३ ५ ० ३ १ २ २ ४ ३ १ २ ३ २

स्थाता रथस्य हयोरभिस्वर इन्द्रो वृद्धाचिदायज. ॥२॥

3 5 2 3 9 2 3 1 2 2 9 1

[१७२०] गम्भीराँ उदधी*रिव क्रतुं पुण्यासि गा इव ।

१ २ ३ १४ २५ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा इदं फल्यता इवाशत

11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35 36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100 101 102 103 104 105 106 107 108 109 110 111 112 113 114 115 116 117 118 119 120 121 122 123 124 125 126 127 128 129 130 131 132 133 134 135 136 137 138 139 140 141 142 143 144 145 146 147 148 149 150 151 152 153 154 155 156 157 158 159 160 161 162 163 164 165 166 167 168 169 170 171 172 173 174 175 176 177 178 179 180 181 182 183 184 185 186 187 188 189 190 191 192 193 194 195 196 197 198 199 200 201 202 203 204 205 206 207 208 209 210 211 212 213 214 215 216 217 218 219 220 221 222 223 224 225 226 227 228 229 230 231 232 233 234 235 236 237 238 239 240 241 242 243 244 245 246 247 248 249 250 251 252 253 254 255 256 257 258 259 260 261 262 263 264 265 266 267 268 269 270 271 272 273 274 275 276 277 278 279 280 281 282 283 284 285 286 287 288 289 290 291 292 293 294 295 296 297 298 299 300 301 302 303 304 305 306 307 308 309 310 311 312 313 314 315 316 317 318 319 320 321 322 323 324 325 326 327 328 329 330 331 332 333 334 335 336 337 338 339 340 341 342 343 344 345 346 347 348 349 350 351 352 353 354 355 356 357 358 359 360 361 362 363 364 365 366 367 368 369 370 371 372 373 374 375 376 377 378 379 380 381 382 383 384 385 386 387 388 389 390 391 392 393 394 395 396 397 398 399 400 401 402 403 404 405 406 407 408 409 410 411 412 413 414 415 416 417 418 419 420 421 422 423 424 425 426 427 428 429 430 431 432 433 434 435 436 437 438 439 440 441 442 443 444 445 446 447 448 449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000 1001 1002 1003 1004 1005 1006 1007 1008 1009 1010 1011 1012 1013 1014 1015 1016 1017 1018 1019 1020 1021 1022 1023 1024 1025 1026 1027 1028 1029 1030 1031 1032 1033 1034 1035 1036 1037 1038 1039 1040 1041 1042 1043 1044 10

भा०—(१) ग्याख्या देखो अविकल सं० [२४६] पृ० १२६ ।

(२) (बुधस्ताद.) आधरणाकारी अज्ञान का नाशक (यत्नं रुज.)
 बलन करने वाले, प्राण धारण करने वाले देह, या मोक्ष का अपरोध करने
 वाले तामस आधरण को तोड़ डालने हारे, (पुरा दर्श.) पञ्चकोश रूप
 पुरियों के विदारक, (रथस्य स्थाता) इस रथ या देह या विशाल महाराष्ट्र

■ रुजो भक्ते (उदादिः) रुज हिसायाम् (चुरादिः) ।

रूप रथ के अधिष्ठाता (अपाम् अजः) कर्मों और मनः संकल्पों की प्रेरणा करने वाले, (हव्योः अभिस्वरः) प्रायेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा प्राण और अपान इनका साक्षात् रूप से प्रेरक (इन्द्रः) आत्मा और परमात्मा (दृढाचित्) दृढ़ से दृढ़, कठोर से कठोर बन्धनों, या विघ्नों को भी (आरुजः) विनाश कर देता है ।

(१) हे इन्द्र ! (त्वं) आप (गंभीरान्) गभीर (उदधन् इव) समुद्रों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं । और वह सूखते नहीं उसी प्रकार आप इस (ऋतुं) जीवात्मा को माना जीवन धाराओं से पुष्ट करते हो कभी विनाश नहीं होने देते । और (सुगोपाः) उत्तम गोपात्रक (गा इव) जिस प्रकार अपनी गौओं को (प्र पुण्यति) सूख खिलाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों को भी सूख अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं । और (यथा) जिस प्रकार (घेनवः) गौएं (यवसे) अपने चारे पर आती हैं उसी प्रकार ये जीवगण आपके पास पहुँच जाते हैं और (कुल्या इव) जिस प्रकार सब नहरें या नदियाँ (ह्रदं) विशाल ताल या समुद्र में आ गिरती हैं उसी प्रकार ये जीव आप में ही सब भेदभाव त्याग कर आ मिलते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २
[१७२१] यथा गौरो अशक्तं तृण्यन्तेत्यवोरिणम् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आपि त्वे न. प्रणित्वे तूयमागहि कयावेषु सु सचा पिब॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७२२] मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधो देयाय सुन्वने ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १
आमुष्या सोममपिवश्मसूतं ज्येष्ठ तदधिपे सह॥२॥४॥

अ० ८ । ४ । ३, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५२] पृ० १२८ ।

(२) हे (मधवन्) ज्ञानवान् आत्मन् ! हे (इन्द्र) धैर्यवान् ! (इन्द्रव.)
ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि के विशेष अनुभव (त्वा)
गुप्तको (मन्दन्तु) हर्षित करें । (सुन्वते) ज्ञानरस को उत्पन्न करने हारे
साधक विद्वान् योगी के (राघः) सिद्धि (देयाय) प्राप्त कराने के लिये (चमू-
सुतं) प्राण और अपान रूप चमू दोनों से उत्पन्न किये गये (सोमम्) सोम
अर्थात् आनन्दरस को (अमुष्य) गुप्तरूप से प्राप्त करके स्वयं (सोमम्)
ब्रह्मानन्द को (अपिबः) पान करता है और तू (तत्) उस अलौकिक
(व्येष्टं) सबसे महान् (सह) सह, स्वरूप, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को
अपने भीतर (वधिषे) धारण करता है ।

[१७२३] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।

न त्वदन्या मधवन्नास्ति मादितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

[१७२४] मा ते राधासि मा त ऊनया वसोऽस्मान् कदाचनादमन् ।

विश्वा च न उपमिमीहि मानुषवसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥५॥

अ० । । ८४ । १६, २० ।

भा०—(।) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४७] पृ० १२६ ।

(२) हे (वमो !) सर्व संसार को बसाने हारे परमात्मन् ! (ने)
मेरे (राधासि) बलस्वरूप पञ्चभूत (कदाचन) कभी (मा दमन्)
विनाशकारी न हों । और (ते ऊनय.) ॥१॥ समस्त पालक शक्तिपूर्ण
। (अस्मान्) हमें कभी (मा दमन्) विनाश न करें । और हे (मानुष)
मनुष्य ! तू (विश्वा च) समस्त (वसूनि) आवास-साधनों को (उप
मिमीहि) स्वयं उत्पन्न कर और उनको ज्ञान कर । और (नः चर्षणिभ्यः)
हम विद्वान् पुरुषों को वे नाना पदार्थ जो तू जानता और तैयार करता है
(आ) प्रदान कर ।

इति प्रथम स्कन्धः ।

—०—

^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ । ।}
[१७२५] प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः ।

^{३ १ २ ३ २}
दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
[१७२६] अभेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २}
सखाभूदभिनोरुपा ॥ २ ॥

^{३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २}
[१७२७] उत सखास्यभिनोरुत माता गवामसि ।

^{३ २ ३ १ २}
उतोषो वस्व इंशिपे ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ४ । २२ । १-२ ।

भा०—(१) (ष्या) वह (दिवः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री तथा (परि स्वसुः) रात्रि के उपरान्त (व्युच्छन्ती) सम को दूर करती हुई, (सूनरी) उत्तम नेत्री रूप (जनी) स्त्री के समान (प्रति अदर्शि) प्रकट होती है ।

अथवा—(ष्या सूनरी जनी) वह तथा उत्तम पुत्र उत्पन्न करने हारी, शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री के समान (स्वसुः परि) अपनी भगनी के पीछे २ (व्युच्छन्ती) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट होती है, उसी प्रकार वह (दिवः) आदित्य के समान प्रकाशमान योगी की (दुहिता) आनन्द रस का दोहन करने वाली उपांतिमती प्रज्ञा (स्वसु) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप प्रकट होने वाली प्रतिभा के (परि) साथ २ (जनी) उत्पन्न होती हुई ज्ञान उत्पन्न करने हारी (सूनरी) उत्तम-मोक्ष-मार्ग की मेत्री होकर (प्रति अदर्शि) दिखाई देती है ।

(२) (उत) अज्ञानाद्दुरो का दहन करने हारी तथा साधक की विशोका प्रज्ञा (सखा) व्यापनशील विद्युत् के समान (चित्रा) विचित्र संज्ञानवती, (अरुषी) प्रकाश के कान्तिमती तेजस्थिनी, (गवां) इन्द्रियरूप गोशों की (माता) उत्पादन करने वाली (अमृतावरी) सार

ज्ञान का वर्ण करने वाली या प्राप्त करने वाली अतन्मय स्वरूप (अभिना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जाने योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है।

(३) पूर्व अर्थात् समान ही है (उप०) ज्योतिष्मति । विशोका नामक प्रज्ञे । (उत्त) यद्यपि (अभिनाः) अभि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू (सखा असि) सखा है, (उत्त) गवां माता असि) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है । अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी ग्रहण करने वाली, प्रमात्री है (उत्त) तथापि उचः ! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे ! तू (वत्स) आत्मा या प्राण की (ईशिषे) शक्ति को धारण करती है ।

[१७२८] एषो उपा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।

स्तुत धामभिना बृहत् ॥ ॥

[१७२९] या दक्षा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् ।

धिया देवा वसु विदा ॥ २ ॥

[१७३०] वच्यन्त वा ककुदासा जूर्यायामधि विष्टपि ।

यद्वा रथो विभिष्यतात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ४६ । १—३॥

भा०—(१) (एषा उ) यह (उपा) उपा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा (अपूर्व्या) योगी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई (दिवः) प्रकाशमान आत्मा की (प्रिया) अत्यन्त प्रेमपात्र है । हे (अभिना) देह में निरन्तर गति करने वाले प्राण और अपान इस विशोका की प्राप्ति के लिये (वा) आप दोनों के (बृहत्) बहुत अधिक (स्तुते) गुणकारी होने का बमार्थ वर्णन करता है ।

(२) (या) जो दोनों (देवा) देव, प्राण और अपान (दत्ता) अत्यन्त दर्शनीय, अथवा काम क्रोधादि मल्लों के नाशक, अथवा सब कर्म करने हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे (सिन्धुमातरौ) देह सब रक्तप्रवाहिनी नदियों या प्राणों को प्रवाहित करने हारे उनको ठीक रीति से संचालक, (रयीणां) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंन्द्रियों के ज्ञान और कर्मों को (मनोतरा) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे (धिया) ध्यान वृत्ति से (वसुविदा) वसु, आत्मा को ज्ञान कराने वाले या, उस तक स्वयं पहुँचने वाले हैं ।

(३) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अरिषयो ! (वा) आप दोनों का (रथः) रमणस्थान यह आत्मा (यत्) जब (निभिः) पदार्थों तक पहुँचने वाले प्राणमयों सहित [जूर्यायाम्] अतिप्रशस्ता योग्य या सनातन (अधि विष्टपि) मोक्षस्थान पर (पतात्) गमन करता तब (वां) आप दोनों के (ककुहासः) उत्तम गुण (वच्यन्ते) वर्णन किये जाते हैं । उन दोनों का (रथः) रमण स्थान यह देह (जूर्यायाम् अधिविष्टपि) जीर्णदशा, वृद्धावस्था तक पहुँच जाता है । पूर्यायु भोग होता है तब उन दोनों गुण वर्णन किये जाते हैं ।

१७२८—१. दशि दशदर्शनयोः । दसि दस क्रमेण (चुरादिः), दसि भावार्थः (चुरादिः), तस्य उपपद्यते दसु च (दिवादिः) इत्येतेभ्यो 'स्फायितस्त्री सि०' औणादिको रक् (उणा० २ । १३) । दस्मि रोगान् उपपद्यति इति दसः (दया० उणा०) दसा ऋजूना दासयितारौ, दसयितारौ, कर्मणा कृष्णादीनां कारयितारौ । स्फावेन विधौ कर्म कारयन्ती दुर्वाणौ वा इति दुर्गाचार्यः (निर० म० ६ ख० २६) नीलकण्ठीकायाम् ।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३१] उपस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोकं च तनय च धामहे ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३२] उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरी ।

३ २ ३ १ २
रेवदसौ व्युच्छ सनृतावति ॥ २ ॥

३ १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७३३] युंत्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणौ उष ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अथा नो विश्वा सौमगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० १ । ३२ । १३-१५ ॥

भा०—(१) हे (उषः) कमनीय कन्या के समान विशोकप्रज्ञे ! ज्योतिष्मति ! हे (वाजिनी वति) ज्ञानमय वाणी युक्त ! (अस्मभ्य) हमें (तत्) वह (चित्र) समग्र योग्य प्राप्तार्थ ज्ञान (आभर) प्राप्त करा । (येन) जिससे (तोक) पुत्र के समान प्रिय एवं क्रीडानीक चित्त और (तनयं) समान बालन पालन योग्य हम देह को (धामहे) धारण करें, चिरकाल तक जितेन्द्रिय, चिरायु हाकर रहें।

(२) (विभावरी !) ज्योति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से वरण करने योग्य, या कान्ति से सम्पन्न ज्योतिष्मति ! हे (उष) आभ्यन्तर मर्त्तों को दाह करने हारी चित्तिशक्ति ! हे (गोमति) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों या राशिमयों से युक्त ! हे (अश्वावति) अथ अर्थात् कर्माब्देय या मनरूप अथ वाली ! हे (सनृतावति) उत्तम ऋत अर्थात् त्रिकालबाधित ज्ञान से सम्पन्न

१ ७३३—१. उष दाहे. (म्यादि), उपस् प्रमानमावे (कण्वादि.) तयो रूपः
किचेति असिरौणादिः (उणादि० ४ । २३४) । ओपति दहतीति उषः,
कर्णच्छिद्र. पर्वतभेदो वा, (क्षिया) प्रमातप्रकाशः (दया०) ।

अथवा सूनुता वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने हारी तु (अस्मै) हमारे लिये । रेवत् । रयि, अर्थात् ज्ञान प्राण और ऐश्वर्य । युक्त आत्म स्वरूप को (व्युच्छ्र) हमारे सामने खोल दे ।

(३) हे उप. । वाजिनीवेति ! (अथ) आज (अरुणान्) चेत नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित (अश्वान्) प्राणों को (युष्मद् हि) इस उद्दरूप रथ में प्रेरित कर । (अथा) और (नः) हमें (विश्वा) समस्त (सौमगानि) उत्तम सुखदायी पदार्थों को (आवह) प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ १६ २२ ३ १ २
[१७३४] आंश्वना वरिस्मादागामदृष्टा हिरण्यवत् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्वाग्रथ समनमा नियच्छतम् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७३५] एह देवा मयं भुवा दक्षा हिरण्यवर्त्तनी ।

३ १ २ ३ १ २

उपर्युधो नहन्तु ओमपीनये ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

[१७३६] यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रधुः ।

२ ३ १ २

३ २

आ न ऊर्जं वहनमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

श्र० १ । ६१ । १६, २८ १७ ॥

भा०—(१) हे (अश्विनौ) देह में व्यापनशील ! प्राण और अपान ! आप दोनों (दक्षौ) रोगों के विनाशक हो । अतः आप दोनों (समनसाः) हमारे मन मानस बल के साथ होकर (हिरण्यवत्) आत्मा से युक्त और (गोमन्) इन्द्रियों से युक्त (रथम्) इस रमण योग्य उत्तम रथ रूप देह को (अर्वाग्) अपने अधीन करके साक्षात् रूप से (नियच्छतम्) नियम में रखेंगे ।

(२) (इह) इस देह में (उपर्युधः) ज्योतिष्मती प्रजा को ज्ञान-जागृति से चेतन करने वाले अथवा प्रबुद्ध यांगी जन (हिरण्यवर्त्तनी)

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप १५ पर चढ़े हुए अथवा हिरण्य=आत्मा को, चर्त्ताने अर्थात् अपना प्रेरक और आश्रय बनाने हारे, (दत्ता) मत्तादिशोधक, भतएव (मथोभुवा) सुख और आरोग्य के उत्पादक, (देवा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (सोमपीतये) महानन्दरस को पान करने के लिये (आवहन्तु) अपने वश करें ।

(३) (अभिनैः) पूर्वोक्त प्राण और अपान ! (यौ) जो आप दोनों (इत्या) इस प्रकार से (दिवाः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (रत्नोर्क) प्रशमनीय या अतिघनीभूत ज्योति विशोका, विवेक कयाति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रयुः) उत्पन्न करते हां वे ही (सुखं) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जे) परम पोषक रसरूप बल को (आवहन्तु) प्राप्त कराओ ।

इति द्वितीयः स्कन्धः ।

३ ॥ २५ ३ २५ ३ २ ३ १५ २५ ३ १ २ २ ३ १ ३
 [१७३७] अग्निं सं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः । अस्ममर्चन्त
 ३ २५ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 आशचोऽस्मं नित्यासो वाजिन इपं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥
 ३ २५ ३ १ २ ३ १५ २५ ३ १ २ ३ २५ ३ २
 [१७३८] अग्निर्हि वाजिनं विशं ददाति विज्वचर्पणं । अग्नी रायं
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 स्वाभुवं न प्रीनो याति वार्यमिष स्नेतृभ्य आभर ॥२॥
 २ १५ २५ ३ २५ ३ १ २ ३ १ २ १५ २५
 [१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गणे सं यमायन्ति धेनवः । समर्चन्तो
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 रघुद्रुवः समुज्जानासः सूरय इपं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥
 १० ॥ अ० ५।६।१, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आदिकव स० [५२५] पृ० ।

(२) (हि) निश्चय से (विशे) प्रजाओं के हित के लिये (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमें (धाजिनं) बलवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और अग्नादि पदार्थ (ददाति) देता है । वह (विश्वचर्षणिः) समस्त ससार को देखने वाला सर्वसाक्षी, (अग्निः) प्रत्येक अंग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है । (सः) वह (प्रीतः) उत्तम प्रेम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु (स्वा भुवम्) अपने आश्रय पर प्राण धारण करने वाले जगत् को (राये) उत्तम कल्याण के लिये (याति) प्राप्त होता है और वही (स्तोतृभ्यः) विद्वान् वेदज्ञों को (वार्यम्) वरण करने योग्य (इयं) ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) 'अग्नि' (गृधे) कहा जाता है (यः) जो (वसुः) समस्त ससार को बसाने द्वारा और स्वयं सब में बसने द्वारा, सब का आच्छादक, शरण्य है । और (यं) जिसके शरण में (धेनवः) गौएँ, बाणियाँ एवं ज्ञानरस का पान करने और कराने द्वारे विद्वान्जन (सम् आयन्ति) पहुँचते हैं । और जिसके शरण (रघुदुषः) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् (सम्) प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं, और (सुजातासः) ससार में उत्तम स्थिति को प्राप्त, कृतकृत्य, पशुस्वी (सूरयः) सूर्य का समान प्रजाओं को धर्ममार्ग में चलाने द्वारे महापुरुष जिसके शरण में (सम्) आजाते हैं वह तु परमेश्वर ज्ञानस्वरूप (स्तोतृभ्यः) विद्वान् उपासकों को (इयं) उत्तम ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान करे ।

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठः सायणादिसम्मतः । अजमेरुद्रिते तु 'सुप्रीतो' इति निनरामनाद्वरणीय, कापि नोपलम्भात्, ऋक्पाठविरोधाच्च 'सप्रीतो' इत्येष ऋग्वेदीयः पाठः ।

- [१७४०] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २} महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती । ^{१ २} यथा चित्रो ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
- ^{१ २} अबोधयः ^{३ १ २} सत्यश्रवसि ^{३ १ २ २ ३ १ २} वाय्ये ^{२ ३ १ २ ३} सुजाते ^{१ २ ३} अश्वसूनुते ॥ १
- [१७४१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} या सुनीथे शौचद्वये व्यौच्छो दुहितर्दिवः । ^{१ २} सा व्युच्छ ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
- ^{१ २} सहीयसि ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सत्यश्रवसि ^{२ ३ १ २ ३} वाय्ये ^{१ २ ३} सुजाते ^{२ ३ १ २ ३} अश्वसूनुते ॥ २
- [१७४२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सानां अद्यो भरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः । ^{१ २} या व्यौच्छ ^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
- ^{१ २} सहीयसि ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सत्यश्रवसि ^{२ ३ १ २ ३} वाय्ये ^{१ २ ३} सुजाते ^{२ ३ १ २ ३} अश्वसूनुते
- ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ११ । ख० ३ । सू० ११ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (उपः) उपा के समान ज्योतिष्मति विशेषका प्रज्ञे !
तू (दिवित्मती) ज्योतिष्मती होकर (अद्य) आज, अब (महे) गहरे
भारी (राये) आत्मज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें
(बोधय) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे (अश्वसूनुते) व्यापक
आत्मा में शुभ, अतः अर्थात् उत्तम ज्ञान को पूर्ण करने और वायि को
धारण करने वाली प्रज्ञे ! (वाय्ये) जुने जाने योग्य सूत्र के समान अवि
च्छिन्न, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों को उस सूत्र में पिरोने हारे (सु-
जाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होने वाले । अः) हमारे (सत्यश्रवसि)
सत्य संकल्पकारी आत्मा में (यथाचित्) जिस प्रकार से उत्तम रीति से
हो सके उस प्रकार (अबोधय) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या
अधिकृत संख्या [४२१] पृ० ११५।

(२) (दिवः) हे सूर्य के समान प्रेरक आत्मा । (दुहितः) आ-
नन्दरस का दोहन करने वाली उपः । अतम्मरे ! (या) जो तू (सुनीथे)
उत्तम पद पर प्राप्त, मुक्त (शौचद्वये) अति पवित्र, शुद्ध, चित्स्वरूप
आत्मा में, (व्यौच्छः) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैसे ही अन्न, हे

(अश्वसूनुते) आत्मामें सत्य आत्मज्ञान प्रत्यक्षान को सम्यवाणी और धारण करने हारी अतमभरे ! (सा) वह तू (वाय्ये) तन्तु या पट के समान निरन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे (सत्यश्वसि) सत्यज्ञानमय (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत (सहीयसि) सहनशील बलवान् आत्मा में भी (न्युच्छ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

(३) हे (दिवः दुहितः) आत्मा के रस दोहन करने हारी विशोके ! (भरद्-वसुः) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तू (या) जो (सहीयसि सत्यश्वसि वाय्ये सुजाते) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप से प्रकाशमान आत्मा से (न्यौच्छः) आवरण को दूर करती है (सा) वह तू हे (अश्वसूनुते) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तू (नः) हमारे अज्ञान को भी (अथ) आज (न्युच्छः) दूर कर ।

उपा २ दृष्टान्त से गृहपत्नी के कर्तव्य भी इस सूक्त में बतलाये ।

[१७४३] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} प्राति प्रियममं रथ वृषणं वसुवाहनम् ।
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} स्तोता वामश्विना वृषिः स्तोममिभूषति प्रति ।
^{१ ३ १ २ ३ १ ३} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] ^{३ १ २ ३ २ २ २ ३ १ २ २ २} अत्यायातमश्विना तिरौ विश्वा अह सना ।
^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३} वस्त्रा हिरण्यवर्त्तना सुपुम्क्षा सिन्धुवाहसा ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ २} आ नो रत्नान विभ्रतावश्विना गच्छन् युवम् ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} रुद्रा हिरण्यवर्त्तनी जुपाणा वाजिनीवसु ।
^{२ ३ १ २ ३ १ २} माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० १।७।५।१-३॥

भा०—(१] व्याख्या देखो अविकल सं० [४१८] पृ० १३ ।

(२) हे (अग्निना), पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अग्निदेवो ! आप (दक्षा)
दोनों के परिशोधक, (हिरण्यवर्त्तनी] आत्मा के आश्रय पर विराजमान,
(सुपुम्ना) उत्तम सुख के देने हारे, अथवा 'सुपुम्ना' उत्तम रूपसे शरीर में
व्यापक, सुपुम्ना रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नादियों में रुधिर
को प्रेरित करने हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या से युक्त (सना)
सनातन से वर्त्तमान, आप दोनों (अतिआयातम्) सब वाचाओं को पार
करके प्राप्त होवो (भद्रं) और मैं आत्मा (विश्वाः] सब को (तिरः)
पार करूं । अतः आप (मम] मेरी (हवम्) उपासना या आज्ञा या
वचन को (श्रुतं) अवण करो ।

(३) हे (अग्निना) अग्निदेवो ! (युवं) आप दोनों (रत्नानि) रमण
साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए (न) हमारे पास (आगच्छतं)
आओ । आप दोनों (रुद्राः) देह को छोड़ते समय कह देने हारे, रुझाने
हारे, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले (वाजिनीवत्)
ज्ञानमयी और बलमयी चित्ति शक्ति में बसने हारे (माध्वी) मधु-
विद्या, आमाविद्या जानने हारे, (शुपाया) नित्य इस जीवन यज्ञ को
सेवन करने वाले (मम हवं श्रुत] मेरे वचन को अवण करो मेरे
वशवर्ती रहो ।

इति तृतीयः सूक्तः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७४६] अचोप्यग्निः समिधा जनानास्पति धेनुमिवायतीमु-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
पासम् । यद्वा इव प्रवयामुज्जहानाः प्र भागवः सकृत्
२ ३ १ २
नाकमच्छ ॥ १ ॥

■ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
 [१७४७] अबोधि होता यजथाय देवानूध्वो अग्नि सुमना
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १

प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रुशददर्शि पाजा महान्दधस्त-
 २२ ३ १ २

मसो निरमोचि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ■ १ २ ३ १ २
 [१७४८] यदो गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभि-
 ३ २ १ २ २ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अग्निः । आदक्षिणा युज्यते वाजयन्त्यूत्तानामूध्वो अ-
 ३ १ २

धयज्जुह्वभिः ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [७३] पृ० ३८ ।

(२) (देवान्) विद्वानों और ३३ देवों को (यजथाय) पक्कन संगति करने लिये, (होता) समस्त जगत् का दान अर्थात् उ पत्ति और आदान अर्थात् प्रक्षय का कर्त्ता (अग्निः) सूर्यके समान स्वयं प्रकाशक परमात्मा, (सुमनाः) उत्तम ज्ञान से युक्त (अबोधि) सदा उदित होता है । वही सबसे (ऊर्ध्वः) ऊपर विराजमान होकर भी (प्रातः) प्रकृष्ट रूप से व्यापक होकर प्रातःउदित सूर्य के समान सर्वत्र (अस्थात्) विद्यमान रहता है । (समिद्धस्य) देदीप्यमान उस महान् प्रभु का (रुशत्) तेजस्वी (पाजाः) बल (अदर्शि) साक्षात् दीखता है । वही (महान् देवः) महान् देव, सूर्यके समान महा देव समस्त चर अचर संसार को (तमसः) मृत्युरूप तम से (निरमोचि) सर्वथा मुक्त कर निश्चेयस प्राप्त कराता है । प्रातः—प्रातःतेररुन् (उद्यादि० ॥ ५६) प्रकृष्टमतति गच्छति इति प्रातः (दया० उ०) ।

(३) (यद्) जब (अग्निः) अग्नि, स्वयंप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक, सब का प्रबोधक परमात्मा (गणस्य) सब प्राणियों और स्थावर पदार्थों की (रशना) भोग सामग्री और उसमें व्यापक चेतना शक्ति और नियामक शक्ति को स्वयं (अजीगः) अपने वश में किये

है अपने आप समेटे हुए हैं और वही (अग्निः) सूर्य के समान प्रकाशक (शुचिभिः । शुद्ध (गोभिः) शरिरों और वेदवाक्यों द्वारा और तेजस्वी पितृओं द्वारा (अङ्गैः) समस्त विश्व के ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित कर रहा है तब (वाजयन्ती) ज्ञान और कर्म का सम्पादन और बल का प्रकाश करने वाला (दक्षिणा) विश्वदमनकारिणी शक्ति को (युज्यते) संसार को मदान् कार्यों में जगाता है । और (उत्ताना) उत्कृष्ट रूप से सर्वत्र विसृत उस शक्ति को (ऊर्ध्वे) वह सधमे उच्च पद पर विराजमान परमात्मा (जुह्विभिः) अपनी दान, आदान क्रियाओं द्वारा (अधयत्) अपने वश करता और अपना बल प्रदान करता है उसको अपने भीतर ही सीम करता या धारण करता है ।

अशेरशब् (उणादि० २ । ७५) अरनुते व्याप्नोति इति रशना (दया० उ०) :

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७४६] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषा ज्योतिरागार्थाच्च प्रकेतो अजनिष्ट
१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३
विभवा । यथा प्रसूना सन्निधुः सवायैवा राज्युषसे
१ २
योनिमरैक् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७५०] कशहत्सा कशती श्वेत्यागादरैगुकृष्णा सदनान्यस्याः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
समानरन्ध्रु अमृते अनूची सावा वर्णं चरत आभिमाने
॥ २ ॥

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७५१] समाना अघ्वा रक्षसोऽनन्तस्त्वमन्यान्वा चरतो देवशिष्टे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न मेथेने न तस्थतुः सुमेके न कोषासा समनसा विरूप
॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० १ । ११३ । १-३ ॥

भा०—(॥) (इदं) यह साक्षात् (भेष्टं) सबसे उत्कृष्ट (ज्योतिषो ज्योतिः) सब ज्योतिष्मान् दिव्य पिण्डों को भी प्रकाशित करने द्वारा ज्योति (आगात्) प्राप्त होता है । और इसी ज्योति से यह (चित्रा) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय ग्रहण करने योग्य (प्रकेतः) उत्तम प्रज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है । (यथा) जिस प्रकार उत्पन्न उषा (सवितुः) सूर्य के (सवाय) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप और (रात्री) रात्रि (उपसे) उषा के लिये (योनिम्) पूर्वरूप को (आरेक्) जोषती है (एवा) उसी प्रकार अतम्भरारूप उषा (सवितुः) सर्व प्रेरक ब्रह्म के (सवाय) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप और (रात्री) सब को सुख प्रदान करने वाली सुपुत्रा (उपसे) अतम्भरा प्रज्ञा उदय के लिये (योनिम्) आश्रय स्वरूप आत्मा को (आरेक्) सम्पर्क करा देती है ।

राशदिभ्यां त्रिप् (उणादि० ४ । ६७) रातिसुख ददाति इति रात्रिः (वया० उ०)

(१) (श्वेत्या) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा (कशती) दीक्षियुक्त होकर (कशद्गत्सा) देदीप्यमान सूर्य को अपने श्वेत बन्ध के समान साथ लिये आती है और (उ) मानो (कृण्या) श्याम गोया महिला के समान रात्रि (अस्या) उस श्वेत गौर-उषा के लिये (सदनानि) विराजने के निमित्त स्थान (आरेक्) खाली कर देती है, आदर से छोड़ देती है ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों (समानबन्धू) समान रूप से प्रिय बन्धु हों । और दोनों ही (अमृते) कभी न मरने वाली (अनूची) अनिवर्चनीय होकर (वर्णं) समस्त जगत् के वर्णनीय रूप को साक्षात् करने योग्य (आमिनामे) बनाती हुई (धावा) तेजोरूप होकर (चरतः) विचरणा करती है । उसी प्रकार यह उषा रूप विशोका प्रज्ञा स्वयं अध्यात्म कान्तियों से सम्पन्न होकर अपने राक्षसान्नायक

प्राण को वा हंसरूप आत्मा को साय लिये प्रकट होती है और कृष्ण-
आकर्षण करने वाली वा दुःखों को काटने वाली सुषुम्ना वृत्ति (अस्याः
सदनानि अरैक्) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि
या आधार तैयार कर देती है । ये दोनों ही (अमृते अनूची समानबन्धू)
अमृतरस, आत्मानन्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत
प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है ।
ये दोनों (वर्णं आमिमाने) वरण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान
को उत्पन्न करती हुई (चावा चरतः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ
वर्तमान रहती हैं ।

(३) (स्वप्नोः) रात्रि और उषा इन दोनों मणिमियों या भाई बहनों
का (समानः) समान रूप से (अमन्त) अमन्त (अघ्वा) मार्ग है । (तं)
उस मार्ग पर (देवशिष्टे) देवरूप सूर्य से अनुशिक्षित होकर ये दोनों (अन्या
अन्या) एक २ करके (चरतः) चलती हैं । (सुमेके) शुभ लक्षण
वाली (नङ्गोपासा) रात्रि और उषा दोनों (विरूपे) विरुद्ध रूप वाली
और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी (समनसा) एकचित्त होकर
परस्पर (न मंथेते) न लड़ती भिड़ती हैं और (न तरयतुः) न कभी
कही सकते हैं । इसी प्रकार इन रात्रि और उषा के समान इन देह में
विशोका और सुषुम्ना वृत्ति इन दोनों (स्वप्नोः, अवा समान.) बहनों
या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का
(अघ्वा) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्त-
मान आत्मा ही है । (देवशिष्टे) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशा-
सित होकर दोनों (अन्या अन्या) जुड़ी जुड़ी (तं चरतः) उसी को
प्राप्त होती है । अर्थात् ये दोनों अवस्थाएं उसी आत्मा की हैं । ये दोनों
(सुमेके) उत्तम रूप आनन्द के उत्पन्न करने वाली धर्ममेघ समाधि
सारण करने वाली (विरूपे) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव कराने से विभिन्न २ रूप वाली होकर [समनसा] समान रूप से एक ही मन का आश्रय लेने वाली (न मेधेते) एक दूसरे का बाधक नहीं होती और (न तस्थतुः) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहती प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २
 [१७५२] आभात्यग्निरुषसामनीकमुद्विग्राणान्देवया वाचो अस्थुः ।
 ३ १ ॥ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २
 अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-
 २ २
 मच्छ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १
 [१७५३] न सस्कृतं प्रमिमीतो गविष्ठांति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
 दिवाभिपित्वेऽवसा गमिष्ठा प्रत्यवर्ति दाशुपे शम्भविष्ठा
 ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७५४] उतायातं सक्त्वे प्रातरहो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ २
 दिवानक्लमवसा शन्तमेन नेदानीर्पीतिरश्विना ततान ॥
 ३ ॥ १५ ॥ अ० ५ । ७६ । १-३ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सूर्य (उषसाम् अनीकम्) मानो उपाशों का मुख हो ऐसे (आभाति) प्रकाशित होता है । (विग्राणा) मेधावी विद्वान् भक्त पुरुषों की (देवया) इष्टदेव परमात्मा तक पहुँचने वाली (वाचः) चेतनमन्त्र ध्वनिया (उद्-अस्थुः) उठने लगती है । हे (अश्विनो) अग्निदेवों ! प्राण और अपान एवं स्त्री पुरुषों ! हे [रथ्या] देहरूप रथपर आरुढ़ प्राण और अपान आप दोनों ! (इह) इस देह में (अर्वाञ्चम्) निग्न देश में गति करने वाले होकर भी (यातम्) अब ऊपर आओ और (पीपिवास) बराबर बढ़ते हुए (घर्म) ज्योतिस्वरूप रस को (अच्छः), साधव् करो । अथवा

(अग्निः, उपसां अनीकं) अग्निहोत्र की अग्नि उपाओं का मुखरूप होकर (आभाति) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का (अनीक) पूर्वरूप मुखरूप (अग्निः) विशेष तेज (आभाति) धारणाप्रदेशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की हृद्देव आत्मविषयक वेदवाणियाँ प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् है । अग्निनौ । प्राण और अपान ! तुम दोनों श्वपर देह के हितकरी होकर (अर्वाञ्चा) साक्षात् रूप से प्रकट होकर (पीपिवांसं धर्मम्) बराबर बढ़ते हुए तेज को (अञ्छ यातं) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेतारवर उपनिषद् (अ० २ । ११ । १२ ।) में लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योताविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।

पुतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मस्यभिव्यक्तिकराणि योनौ ॥

पृथिव्यक्षेत्रजोनिवृत्ते समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥

योग समाधि के अभ्यास के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व नीहार धूम, सूर्य, अग्नि, विद्युत् स्फटिक आदि के रूप प्रकट होते हैं । उस समय पाँचों मूर्तों पर वश हो जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमय हो जाता है ।

(२) हे (उपस्तुता) प्रशंसनीय ! आदर योग्य ! हे (अग्निनौ) अग्निवाण प्राण और अपान ! या स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (अन्ति) अत्यन्त समीप (गमिष्ठा) प्राप्त होने हारे (सकृत्, उत्तम रूप से तैयार किये इस ब्रह्मरस को (न प्रमिमीते) विनाश नहीं करते । प्रत्युत (दिवा अग्निपित्वे) प्रकाश या दीप्ति के प्रादुर्भाव में आप दोनों (अवसा) अपने पालक बल सहित (आगमिष्ठा) अवश्य प्राप्त होते हो और (वाशुधे) अपने को समर्पण करने हारे आत्मा के (अर्वांसि प्रति) पुनः जीवन में लौट

कर न आने अर्थात् शुक्र हो जाने के निमित्त (शम्भविष्टा) कल्याण-
कारी होते हो ।

(३) हे (अरिचना) अरिवरा ! प्राण और अपान आप दोनों
(अह्) दिन (प्रातः) प्राप्त होने पर प्रातः काल में (उत) भी (आयातम्)
आइये । और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के
(मध्याह्ने) मध्याह्न काल में भी आइये । और (शन्तमेन) अति कल्याण
कारी सुख शान्तिदायक (अचसा) अपने पालक बल द्वारा प्राप्त होइये ।
(इदानीं) इस समय अन्ध इन्द्रियों की (पीति.) रसास्वादन की क्रिया
(न आसत्तान) नहीं की जाती बल्कि यह केवल ब्रह्मरस के आस्वादन
का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों
कालों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है ।
अथवा तेज पुञ्जों के प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काल में
अर्थात् जब दिवानक्त अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण और
अपान ही ब्रह्मरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५५] एना उ त्या उपस० केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानु०
३ ३ १२ २२ ३ २ ३ ३ १२ २२
मञ्जने । निष्कुर्यान्ना आयुधानीव धृष्याव० प्रति गावोऽ०
३ १ २

पीर्यन्ति मातरः ॥ १ ॥

१ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१७५६] उदयस्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुपिर्गो अयुक्षत ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अक्रन्नुपासो ध्युनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिभ्रयुः
॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
 [१७५७] अर्चन्नि नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना
 २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 परावतः। इषं वहन्ती सुकृतं सुदानवं विश्वेदह यजमानाय
 ३ २
 सुन्वते ॥ ३ ॥ १६ । ॥ १६२ । १—३ ॥

भा०—(१) उषापथ में—(एताः उ त्याः) ये वे (उपसः) उषापं
 अन्तरिक्ष लोक में (पूर्वे अर्द्ध) पूर्व के आधे भाग में (भानुम्) सूर्य
 को (अञ्जते) प्रकट करती हैं । मानो (केतुम्) सब को अपना आगमन
 दर्शाने के लिये ज्ञापक चिह्न, ध्वजा=झण्डे के समान (अकृत) बना लेती
 हैं । (अरुपी,) प्रकाशमान (मातरः) मातास्वरूप उषापं (अरुपीः)
 कीसिमान् (राघः) किरणों को (आयुधानि इव) अपने हथियारों के
 समान (निष्कृष्वाना.) सजाती हुई (धुम्रावः) शत्रुओं का मानदत्तन
 करने वाले सुभटों के समान (प्रतियन्ति) अन्धकार को दूर करने के लिये
 युद्धयात्रा सी करती हैं ।

अध्यात्म पथ में—(एताः उ त्याः) ये वे, जिनका चरणन पूर्व किया
 और जो योगाभ्यासी के लिये अपूर्व वे (उपसः) नई नई विशोका
 व्योम्निमती प्रज्ञापं (केतुम्) अपने ज्ञापक (भानुम्) आदित्य के
 समान स्वयं प्रकाश और विशोका के प्रकाशक प्राणात्मा का (रजसः)
 तीहार या धूम प्रकटीभाव होने के (पूर्वे) पूर्ण रूप से (अर्द्ध)

१७५५-१. 'रजसः'—रजति रज्यति वा उ रज. । भूरङ्गिम्या कित् । (उणा०

४ । २१७) लोकः सप्तमधूलिः, कीमुत्पगुणो वा इति दयानन्द उणादि-
 व्याख्यायाम्, रज रणे [म्वादि दिवादिभ्यः]

२. अर्धो हस्तेविपरीताद् धारयतेर्वा रयादृष्टं मवत्युभोतेर्वा स्याद्धतमो
 विभागः (निरु०) । अथु धृष्टौ (दिवादिः) । अथु धृष्टौ छन्दसि (स्नादिः) ।

अद्भुतम वा उत्तम रूप से सम्पन्न होजाने पर (अञ्जते) प्रकाशित करती हैं। वे (अरुषी-) सर्वतः प्रकाशमान (मातरः) प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान कराने वाली अतम्भराए (घृण्यवः) शत्रु पर चढ़ाई करने हारे सुभट जिस प्रकार (आयुधानि इव) अपने भाते आदि शस्त्रों को ऊपर उठाते और चलाते जाते हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रियवृत्तियों को या प्राणों को (निष्कृण्वानाः) आगे प्रेरित करती हैं ।

योगाभ्यास की यह दशा विशेष विचारयोग्य है । अभिवृद्ध और उपा का उदय मे दो घटनाएँ योगाभ्यास में प्राणायाम साधना के अनन्तर उत्पन्न होने वाली विशोका ज्योतिष्मती के उदय को दर्शाता है । यह स्पष्ट करने के लिये योग शास्त्र के सूत्र एवं भाष्य का उद्धरण देते हैं ।

मन को स्थिर करने के लिये “प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।” (योग० १ । ३४) प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण का जो अभ्यास किया जाता है वही प्राणायाम कहता है । इसी प्रच्छर्दन और विधारण को प्राण और अपान नाम से पुकारा जाता है । अथवा धारणा द्वारा—“विषयवती वा प्रवृत्तिरूपज्ञा मनस स्थितिनिबन्धिनी ।” (योग० १ । ३५) विषयवाली जब कोई सचित् प्रवृत्ति उत्पन्न होजाती है तब भी मन उसमें स्थिर हो जाता है । और ये सचित्त ज्ञान भी समाधिप्रज्ञा अर्थात् विशोका के उत्पन्न होने में कारण हो जाता है । उसके बाद “विशोका वा ज्योतिष्मती ।” (योग० सू० १ । ३६) हृदयदेश में धारण करने पर बुद्धि सत्य सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप साक्षात् होता है । उसके बाद आत्मज्ञान होता है । जैसा इसी सूत्र पर महर्षि व्यासजी ने अपने भाष्य में लिखा है ।

‘हृदयपुण्ड्राके धारयतो वा बुद्धिसंघित् । बुद्धिसत्यं माद्वर-
माकाशरूपं । तत्र स्थितिवैशाद्यरात् प्रवृत्तिः । सूर्ये-इन्दु-प्रद-मणि-
प्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथाऽस्मिताया समापत्तं चित्तं निस्तारकमहो-

दधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं—‘तमणुमात्रमात्मा नमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते’ इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिज्योतिष्मतीत्युच्यते । यया योगिनश्चित्तं स्थिति-पदं लभते ।’

अर्थात्—हृदय पुरस्करिक में धारणा करते हुए योगी को बुद्धिमयवित् अर्थात् मानुष दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि होती है । वह बुद्धितत्त्व मानस भास्वर=सूर्य ॥ समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में योगी का चित्त अति आनन्द-जनक, स्थिर स्थिति को प्राप्त करता है । वहां वह बुद्धिसंघित् या चित्तिशक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप होकर स्वयं प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्त्व सुषुम्ना में रहता है । इसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंत्व से ॥ होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र ‘अहं’ ऐसा ही मान होता है । उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद्र के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है । इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—‘तमणु-मात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते’ इति । अर्थात् उस अणुपरि-माण आत्मा को प्राप्त करके ‘अस्मि’ मैं हूँ इस प्रकार ज्ञान कर लेता है । विशोका दो प्रकार की होती है एक ‘विषयवती’ जिसमें गन्धादि पाँचों प्राण विषयों की तीव्र सवित् की जागृति होती है और दूसरी ‘अस्मिता-मात्र’ इसमें ‘अहं’ तत्त्व या मनस्तत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है । दोनों प्रकार की विशोका ‘ज्योतिष्मती’ नाम से ही कही जाती है । इसके साक्षात् होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर उसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद को प्राप्त हो जाता है । इस ज्यो-तिष्मती के संग एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप ॥ होता है उस को योग शास्त्र में ‘स्वप्नज्ञान’ या ‘निद्राज्ञान’ दो नामों से पुकारा जाता है उसका

आलम्बन करके भी योगी का चित्त मग्न होजाता है । यह सात्त्विकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक जाग इसका स्वरूप ऐसा निर्धारण करते हैं जैसे चन्द्रमण्डल निकलने वाली, कोमल मृणाल खण्ड समान शुभ्रवर्णा, मानों चन्द्रकान्तमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर उसकी उपासना करते हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था को भी ब्रह्म का स्वरूप कहा करते । वेद में उसको उपा साथ 'नक्त' या रात्रि' नाम से पुकारा है । योगी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहा ही उसी की 'तत्स्थ-तदम्जनता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में लम्बतदाकार हो जाता है । यह 'समापत्ति' कहाती है यह 'सचित्की' और 'निर्वित्की' 'सविचारा' और 'निर्विचारा' भेद से चार प्रकार की होती है । ये चारों ही 'समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसत्त्व का प्रवाह स्वच्छ सिन्धु के समान रहता है । उन्ही दशा में योगी का अभ्यात्मप्रसाद और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न होता है । " निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद " (१ । ४४) । और उसी समय 'अतमरा प्रज्ञा' (१ । ४८) 'अतमरा' नामक सत्यदर्शिनी बुद्धि उदय होता है । प्रायः उपा देवता के मन्त्रों में इन्हीं 'विशोका प्रज्ञा' और 'स्वप्न ज्ञान' और चारों समाधियों और अतमरा का वर्णन है । सचप से वहा विषय दर्शाया है । इसका विशेष ज्ञान, योगदर्शन पर व्यासमुनिकृत भाष्य देखने से प्राप्त होगा ।

(२) उपा पक्ष में—(अरुणाः) दीप्तिमान् (मानवः) उपाकल की किरणों (द्रुपा) सर्वव्यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप (उदपसन्) ऊपर उटती हैं । मानों उपा के रथ (स्वायुजः) आपसे आ जुड़ने वाली सुशील (अरुणीः) दीप्तिवाली (गा) गौर्मा या बैल के समान रक्षियों को (अशुचत) लगाया हो । इस प्रकार

उपायं (पूर्वधा । सोने के पूर्व वर्तमान गत दिवस के (वयुनानि) ज्ञानों और व्यवहारों को (अक्रन्) पुनः उत्पन्न करती है । तब (अरुषी) देदीप्यमान उपायं (रुशन्तं भानुम्) देदीप्यमान सूर्य का (अशिश्रयुः) आश्रय लेती है ।

अध्यात्मपक्ष में—(अरुणाः भानवः ब्रूया उदपसन्) कान्तिमान् रश्मिवा या अलोक सहज ही मूर्धाभाग को आवरण करने हार नाना आरणा प्रदेशों में प्रकट होते हैं अर्थात् बहुत से सवित् उत्पन्न होते हैं । वे (स्वायुजः) स्व=अपने विषयों से या आत्मा से, जुड़ने वाली (गाः) इन्द्रिय-वृत्तियाँ (अरुषी) विशेष आलोक से आलोकित होकर (अयुक्षत) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् ये विषयवती विशोकाए हैं । ये सब उपायं या ज्ञानालोक (पूर्वधा) पूर्वकाल से वर्तमान (वयुनानि) चित्त के सब सस्कारों, स्मृतिज्ञानों को (अक्रन्) जागृत कर लेती हैं । और ये सब प्रज्ञापं (अरुषी.) देदीप्यमान होकर (रुशन्तं भानुम्) देदीप्यमान आत्मा को (अशिश्रयुः) आश्रय किये रहती हैं ।

(३) जिस प्रकार (विष्टिभिः) अपने चेतनों के कारण (आपराधतः) दूर देश से भी आई (समानेन योजनेन) समान उद्योग में लगी हुई (अपसः) काम करने वाली (नारी) स्त्रिया (सुदानवे) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सुन्वते) सोम सवन करते हुए (यजमानाय) यजमान चेतनदाता स्वामी पुरुष के लिये (इष्टं) उत्पादित ~~या~~ उस के अभिलाषित कार्य को गार पछोर कर तैयार करती हुई (अचान्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उपायं=ज्यातिष्मती विशोका प्रज्ञापं (विष्टिभिः) तब में प्रवेश करने वाली रश्मियों से (समानेन योजनेन) समान रूप समाधि योग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक (सुदानवे) आत्म-सम्पर्क, (सुकृते) निष्ठ, कुशल (यजमानाय) आत्मा के लिये (विश्वा इष्टं भद्र) समस्त (इष्टः) ज्ञान और बल (वहन्ती.) प्राप्त करती

(परावतः) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का (अर्चन्ति) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती हैं ।

१ २ ३ १२ १२ ३ १ ३ २ १ ३ ३ ३ २१
[१७५८] अर्वाङ्ग्यग्निर्जम् उदेति सूर्यो व्युऽदेषाञ्चन्द्रा मध्यावा
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ । २ ३ ।
अर्चिषा । आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीह्व
२ ३ २३ ३ १ २

सन्निता जगत्पृथक् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
[१७५९] यदुञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्ष-
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

तम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिवन्त वयं धना शूर-
साना भजेमहि ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७६०] अर्वाङ्ग्विचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनार्यातु
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुष्टुतः । त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शन्न आवक्षद्
३ २ ३ १ २

द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० १ । १५७ । १-३ ॥

भा०—(१) (जमे) पृथिवी में (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय (अनोधि) जगाया जाता है और (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है । और (चन्द्रा) आरुहादकारिणी (उपा) उपाएं भी (मदती) विशाल रूप में (वि आनः) विविध तेजों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को हटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप चेत में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता । और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता वा आनन्दरस को उत्पन्न करने वाली विशोका ज्योतिष्मती उपा के समान (अर्चिषा) अपने तेज से (वि आच) मन्त्राचरणों को दूर कर देती है इस कारण है (अश्विना) प्राण और अपान ! तुम दोनों (यातवे) आत्मा तक पहुँचने के लिये (रथम्) इस देह । मनरूप रथ को (आ-

अयुषताम्) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो । जिनसे (सविता) सबका प्रेरक (देवः) प्रकाशमान् आत्मा (जगत्) समस्त जगत् के पदार्थों को (प्रा-
सर्षीत्) उत्तम रूप से ज्ञान करे ।

(२) हे (अभिना) प्राण और अपान आप दोनों (यत्) जब (वृषणं) सुखों के वर्णक (रथे) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को (युञ्जाथे) योगाभ्यासा द्वारा समाहित करते हो तब आप (न) हमारे (वज्रम्) प्रेरक आत्मा को (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (उत्तमम्) संचन करते हो और (अस्माकं) हमारे (पतनासु) विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियवृत्तियों में (ग्रहा) विशेष सत्य संचित् ज्ञान को (जिघ्र्क्षतं) उत्पन्न करते हो और (वयं) हम (शूरसातौ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में (धमा) माना दिव्य ज्ञानों को (भजेमीह) प्राप्त करते हैं ।

(३) (अभिनोः) उन प्राण और अपान का (त्रिचक्रः) तीन चक्रों से युक्त (मधुवाहनः) अमृत='मोक्षम्' अथवा एकमात्र वहन करने वाले आत्मरूप अश्व से युक्त (जीराश्वः) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त (सुरशुत) उत्तमरूप से वर्णित किया गया (अर्षाद्) साक्षात् रूप से (यातु) गति करता है । (मधवा) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, (त्रिवन्धुरः) तीन प्रकार के सारथिपीठों या बन्धनों से युक्त और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन घातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं । और वह (विश्वसौभगः) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने द्वारा अथवा समस्त संसार के सब उत्तम ऐश्वर्यों को सिद्ध करने द्वारा होकर (नः) हमारे (द्विपदे) समस्त मनुष्य संसार और (चतुष्पदे) पशु संसार को (शं) कल्याण (आ-
वहत्) करे ।

इसी सनातन अश्व के पीछे लगे रथ की कल्पना को प्रकारान्तर से श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है:—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् आगतं यद् उ अनङ्वान् ।

एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानाधितिष्ठत्येकः ॥

स विश्वरूपान्निगुणस्त्रिचर्मा प्राणाधिपः संचराति स्वकर्मभिः ।

अंगुष्ठमात्रो रविर्ब्रह्मरूपः संकल्पाहकारसमन्वितो यः ॥

इसी प्रकार मुण्डक में—

‘दिन्ये ब्रह्मपुरे होष व्योम्न्याम्ना प्रतिष्ठितः ।

मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठिताऽग्रे हृदयं समिधाव ।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७६१] प्र ते धारा असञ्जनो दिवो न यन्ति वृष्टये ।

२ ३ १ २ ३ १ २
अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१७६२] अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षणा अर्पति ।

१ २ ३ १ २ २ २
हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७६३] मर्मुजान आयुमिरिभो राजेव मुव्रतः ।

३ १ २ २ २
श्येनो न वंसु धीदति ॥ ३ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६४] स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि ।

३ १ २ ३ १ २
पुनान इन्दवामर ॥ ४ ॥ १८ ॥ अ० ६ । ७७ । १—४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! आत्मन् ! (असञ्जतः) संगरहित (दिव) प्रकाशस्वरूप (ते) तेरी (धाराः) धारणा शक्तिया (दिवः) यौत्ताक स (वृष्टयः) वर्षाओं के समान (सहस्रिणं) अतिबलवान् या सहस्रों शानों

से युक्त (वाज) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को (अच्छ) प्राप्त होती है
अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएं आत्मा को प्राप्त होती हैं।

(२) वह आत्मा ! (विश्वा) समस्त (प्रियाणि) मनोहर
(काव्या) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को । अभि । साक्षात् रूप में (चक्षुः)
दर्शन करता हुआ (आयुधा) अपने प्रहार करने वाले ज्ञान से (तुंजानः)
कर्म बन्धनों को काटता हुआ (हरिः) मोक्षपथ में गमन करने वाला
सुखात्मा होकर (अभि अर्पति) सर्वत्र विचरता है।

(३) (सः) वह आत्मा (आयुभिः) दीर्घायु, ज्ञानवान् तपस्विणों
द्वारा (भर्मजानः) योग साधनों से परिमार्जित किया गया (इमः)
निर्भय (राजा इव) राजा के समान और (रमेनः न) पक्षि ससार में
जन्मप बाहु या गरुड के समान (सुव्रतः) उत्तम कर्मों से युक्त (वंसु)
अपने इच्छानुकूल समस्त लोकों में (सीदति) विचरता है।

(४] हे इन्द्रो ! सोम ! ऐश्वर्यवान् ! परमात्मन् ! (सः) वह तू ,
(न) हमें (दिव) धौलोक के (उत उ) और (पृथिव्याः अधि)
पृथिवी पर के (विश्वा वसू) समस्त पदार्थों को (पुनानः) पवित्र करता
हुआ (नः) हमारे लिये (आ वा) प्राप्त करा।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा पद में भी स्पष्ट है।

(१) (असम्रत से धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रिणं वाजं अच्छ)
हे ईश्वर तू अस्रु परम पुरुष की धारणपोषणकारी शक्तिया सहस्रों
घनों से युक्त अन्न को दान करती है।

(२) (प्रियाणि विश्वा काव्यानि चक्षुः आयुधा तुंजान हरि
अभि अर्पति) मनोहर समस्त लोकों को देखता हुआ अपने बल से विघ्नों
का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है।

(३) (स आयुभिर्भर्मजानः इमो राजा इव सुव्रत रमेनो न वंसु
सीदति) पुरुषों द्वारा इदम् में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह

अथय रूप उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा है समान और आत्मा
के समान सब लोकों में विराजमान है ।

(४) चतुर्थ स्पष्ट है ।

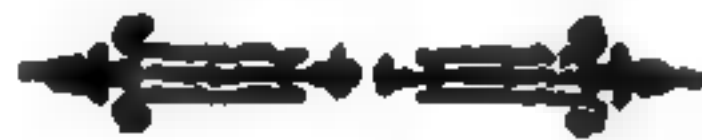
इति पञ्चमः खण्डः ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः । इति अष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥



अभिः—१ नृमेधः । २ प्रियमेधः । ४ दीर्घमा औच्यः । ५ वामदेवः ।
॥ प्रसङ्गः काण्वः । ॥ वृद्धदुष्यो वामदेव्यः । ८ विन्दुः पूतदक्षो वा । ॥
जमदग्निर्भागवः । १० ॥ ११—१३ वमिष्ठः । १४ सुवा पञ्चवना । १५
मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चागिरसः । १६ नीपातिथिः काण्वः । १७ जमदग्निः ।
१८ परुच्छेपो देवोदासिः । २ एतत्साम ॥ देवता.—१, २७ पवमानः सोम ।
३, १७ २०-२३ इन्द्रः । ४, ५ १८ अग्निः । ॥ अग्निरभिनयुषा । १८ गक्ताः
३ सूर्यः । ३ एतत्साम ॥ छन्दः—१. ८, २०, १५ गायत्री । ॥ अनुष्टुप् प्रथमतः
गायत्री उत्तरयोः । ४ उष्णिक् । ११ सुरिगनुष्टुप् । १३ विराटनुष्टुप् । १४
शक्ती । १६ अनुष्टुप् । २० द्विपदा गायत्री । १८ अम्यष्टिः । २ एतत्साम ।
स्वरः—१, ८, २०, २५. १७ षड्जः । ३ गान्धारः प्रथमतः, षड्ज उत्तरयोः
४ अथमः । ११, १३, १६, १८ गान्धारः । ५ पञ्चमः । ६, ८, १२ मध्यमः
७, १४ वैश्वः । २ एतत्साम ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१७६५] प्रास्य धारा अक्षरन्वृणः सुतस्यौजसः ।

३ १ २ २ ३ १ २

देवा अनुप्रभूषतः ॥ १ ॥

१ २

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१७६६] ससि मृजन्ति वेधसा गृणन्तः कारवो गिरौ ।

१ २ ३ २ ३ २ २

ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥

३ १ २

३ १ २

३ १ ॥

[१७६७] सुपहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।

१ २ ३ १ २

वर्द्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ३ । २६ । १-३ ॥

भा०—(१) (सुतस्य) सबके प्रेरक, (वृषणः) सुखों के वर्षक (देवान्) देवों के (अनु प्रभूषतः) इन्द्रिय वृत्तियों को अपने अनुकूल रखकर उन पर वश करने वाले, (प्रास्य) इस आत्मा के (अंजसः) शक्ति और तेज की धाराएं (अक्षरन्) चारों ओर प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गया ।

(२) (कायधः) कर्मण्य, कर्त्ता, कर्मयोगी (वेधसः) मंधावी, विद्वान् पुरुष (उक्थ्यम्) 'ओ३म्' इस प्रकार के ज्ञान नाम से कहाने योग्य, स्तुत्य, वेदसूत्रों के प्रतिपाद्य, ओष्ठ (जज्ञानम्) प्रादुर्भाव होती हुई (ज्योतिः) ज्योति को (गिरा) अपनी चायी द्वारा (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (ससिम्) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही (मृजन्ति) मांजते, शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत किया करते हैं । ससि= सात भूर्वागत प्राण, जैसे-दो नाक, दो आक्ष, दो कान, एक मुख और आठवीं चायी ।

(३) हे सोम ! हे (उक्थ्यम्) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने वाले अन्तर्यामिन् ! प्रभो ! (ते) तेरे (तानि)

वे समाधि दशा में प्रकट होने हारे तेज (सुसहा) अन्य सब चित्त वृत्तियों और व्युत्थान संस्कारों को उत्तम रीति से विनाश करने हारे होते हैं । अतः उनसे ही तू (समुदम्) उस रसों के आनन्ददायक स्रोत को (वर्ध) और बढ़ा ।

उद्योतिष्मती विशोका के विवरण में व्यासदेव ने लिखा है—

“हृदयपुण्डरीके शरयतो या बुद्धिसन्निवृद्धिसत्त्वः । मास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुब्रह्मणिप्रभारूपाकोर्य विकल्पते तथा अस्मिताया समापन्न चित्त निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनस्तमस्मितामात्र भवति ।” इसका विवरण देखो अवि० सं० [१७५६] पृ० ७५३-७५७ पर उद्धरण दिप्यता । इस मन्त्र में समुद शब्द से ‘निस्तर-य महोदधिकल्प’ चित्तदशा का ही ग्रहण होता है ।

३ २ ३ २ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[१७६८] एष ब्रह्मा न ऋत्विज इन्द्रो नाम श्रुनो गृण ॥ १ ॥

१ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१७६९] त्वामिच्छुवसरूपने यन्ति गिरां न संयतः ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७७०] विस्तृतयो यथा पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सक्तम् अग्नेदे नारित ।

भा०—(१) (३) ~~अवि० सं०~~ देखो अवि० सं० [४३८] पृ० २२२ ।

और [४५३] पृ० २२० ।

(२) [(शवसरूपते) बलों के स्वामिन् ! सर्वशक्तिमन् ! (सयत) प्राणों का सयम करने हारे साधक, ईश्वर प्रणिधान के अभ्यासी पुरुष की (गिरां न) वाणियों के समान समस्त (गिरः) वेदवाणियाँ (त्वाम्-इत् । तुम्हको ही (यन्ति) प्राप्त होती हैं ।

१७६८—३ प्रतीकमात्र दीर्घ है ।

७ ३ २ ३ २ २ १ ७

[१७७१] आ त्वा रथं यथातथे० ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७७२] तुविशुण्म तुविक्तो शचीवो विश्वया मते ।

१ २ ३ २

आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७७३] यस्य ते महिना महः पारेज्जमायन्तगीयतु ।

७ ३ १ २ ३ १ २

हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । ३८ । ०-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकतः स० [३५४] पृ० १८३ यह प्रती-
कमात्र है ।

(२) हे (तुविशुण्म) प्रभूत अनन्त शक्तिशालिन् ! हे (तुविक्तो)
विशाल प्रभूत कर्म करने वाले ! अथवा बहुप्रभू ! अनन्तज्ञान ! हे (श-
चीवः) शक्ति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप (विश्वया) समस्त विश्व
में व्यापक (महित्वना) महिमा या महान् सामर्थ्य से (आ पप्राथ) सर्वत्र
व्यापक हैं ।

(३) (यस्य महतः) जिस महान् तेरी (महिना) बढ़ीसारी शक्ति से
(हस्तौ) तेरे हस्त साधन दो विशाल शक्तियाँ (परि) सर्वत्र (जमायन्तं)
व्यापक (हिरण्ययम्) गतिशील (वज्रं) वज्र को (ईयतुः) ग्रहण
करती हैं वह तू इन्द्र है ।

७४ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७७४] आ य पुरं नार्भिणीमिदीदेत्यः कविर्नभन्योरे नार्वा ।

१ ३ १ ३ २ ३ १ २

सुरा न रुक्काञ्छतात्मा ॥ ■ ॥

३ २ ■ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१७७५] अमि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजासि शुशुचाना

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अस्थात् । होता यजिष्ठो अपां सघस्थे ॥ २ ॥

३ २ ३ १ ३ १ ३ १ ३ १ २ २ ३ १
 [१७७६] अयं स होता यां द्विजन्मा विश्वा दधे चार्वाणि अचस्या
 २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
 मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥

अ० ११ १४६ । १-४॥

भा०—(१) (य.) जो (नार्मिर्णी) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य (पुर) इस देहरूप ~~पुर~~ को (अदीदेत्) प्रकाशित करता है, चेतन बनाये रखता है । वह (कविः) कान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखने द्वारा (नभन्यः) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाले व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक (अर्वा न) अथ ~~समान~~ समान वेगवान् और (सूर न) सूर्य के समान (रुक्मान्) कान्तिमान् (शतात्मा) सैकड़ों प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

(२) यह आग्नि (द्विजन्मा) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने द्वारा अथवा कर्त्ता भोक्ता रूप से, अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अराणियों के रगड़ने से उत्पन्न होता है वसी प्रकार वह और प्रणव इन दो अराणियों से प्रकाशमान अन्तरात्मा (श्री) तीन (रोचनानि) अन्तरिक्ष और धौ लोकों को (शुशुचानः) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्व, रजस, तमस, इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ (विश्वा) समस्त (रजासि) लोकों में या देहों में (अस्थात्) विराजमान है । और वही (होता) सबका ग्रहण करने द्वारा (यजिष्ट.) सबसे बड़ा यज्ञकर्त्ता होकर (अपा) लोकों के या कर्म और ज्ञानों के (सधस्थे) एक साथ रहने के स्थान ब्रह्माण्ड में (अस्थात्) विराजमान है ।

(३) (यः) जो आग्नि (द्विजन्मा) कर्त्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होत्रे द्वारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'ओ३म्' इन दो अर-

शियों से निष्पादित होने वाला (होता) सब का दाता और अदानकर्त्ता है (सः) वह (विश्वा) समस्त (चायोधि) वरण करने योग्य, उत्तम, (अवस्था) कीर्ति के योग्य कार्यों को (दधे) धारण करता है । (य.) जो (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (अस्मै) इसके निमित्त अपने को (ददाश) समर्पण करता वह (सुतुक) उत्तम सन्तति वाला होजाता है ।

[१७७७] अग्ने तमघाश्वश्च स्तोमैः क्रतुञ्च भद्रं हृदिस्पृशाम् ।

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ऋष्यामा त ओहः ॥ १ ॥

[१७७८] अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दत्तस्य साधो ।

३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रथीर्भूतस्य बृहती बभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] पामनो अर्कर्मवा नो अर्वाक्स्वादेण ज्योतिः ।

२ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न विश्वभि सुमना अनीकैः ॥३॥५॥ अ० ४।१०।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३४] पृ० २२० ।

(२) (अध हि) और क्योंकि हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (बृहतः) बड़े भारी (ऋतस्य) सत्य ज्ञान और इस महान् ब्रह्माण्ड के (रथीः) धारण करने वाले (बभूथ) हो और (क्रतोः) प्रज्ञानस्वरूप (भद्रस्य) भजन या सेवन करने योग्य कल्याणकारी (साधो.) अभीष्ट फलों के साधक यज्ञ भी (रथी) प्रवर्तक हो ।

(३) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप आप (स्वः न) सूर्य के समान (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सुखस्वरूप दिव्यगुण पदार्थों के सहित (सुमनाः) उत्तम चित होकर (न.) हमारे (अर्वाक्) समस्त (एभिः) इन (अर्कैः) अर्चनायोग्य तेजों से (भव) प्रकट होवो ।

अति प्रथमः खण्डः ।

[१७८०] अग्ने विषस्वदुषसश्चित्र राघो अमर्त्य ।

आ दाशुषे जातवेदो वह्ना त्वमद्या देवा उपर्वुधः ॥ १ ॥

[१७८१] जुष्टो हि दूता असि हव्यवाहनाज्जन रथारध्वराणाम् ।

सजूरश्वभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्वो बृहत् ॥ २ ॥

॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०] पृ० १७।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (अक्षराणां) सब पशुओं के (रथी.) नेता और (जुष्ट.) सब विद्वानों से सेवित (हव्यवानः) समस्त स्तुतियों के धारण करने हारे एवं समस्त जगत् के धारण करने हारे (दूतः) सर्वव्यापक या उपासित (असि) हैं । आप (अश्विभ्यां) प्राण और अपान द्वारा (उपसा) ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा द्वारा (अस्मे) हमें (सुवीर्यं) उत्तम बल और (बृहत्ः) विशाल (श्व.) ज्ञान (धेहि) धारण करावें ।

[१७८२] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवान सन्नं पलितं जगार ।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ १ ॥

[१७८३] शाकमना शाको अह्य सुपणं आ यो महः शूरः सना-

दनीह । यच्चिरुत सत्यमित्तज माघं वसु स्पार्धमुत

जेतोत दाता ॥ २ ॥

[१७८४] एभिर्देवै बृहत्या पौस्यानि येभिरोजद्वत्रहत्याय वज्री ।

ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह ऋते कर्ममुदजायन्त देवाः

॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १० । १५ । ५-७ ॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो भावे० सं० [३२५] पृ० १६७ ।

(२) (य०) जो (शूर) सर्वभेरक (सनाद्) सनातन, नित्य, (अनीड०) स्वतः सबका आश्रय होने से किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लेने द्वारा, सब का स्वयं मूलकारण, (अरुणः) दीप्तिमान् सब का भेरक, (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पाक्षक (शक्मना) अपनी ही शक्ति से (शाक०) सर्वशक्तिमान्, परमात्मा (यत्) जो कुछ भी (चिकेत) स्वयं जानता और श्रुतियों के हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता (तत्) वह सब (सत्यम् इत्) सत्य ही होता है (न मोघं) वह कभी व्यर्थ निष्प्रयोजन नहीं होता । वही उस (स्पार्ह) सब के अभिलाषा योग्य, (वष्ट) आवास योग्य सब भूमियों का (जेता) विजेता (उत) और (दाता) जीवों को सब ऐश्वर्य का दान करने द्वारा है ।

(३) परमात्मा (पुमि०) इन मरुद्गाय रूप शक्तियों से (वृष्या) सुखों के वर्णने वाले (पौत्सानि) नाना पौरुषयुक्त बलों को (वदे) अपने वश में कर रहा है (येभि०) जिन वेगवती शक्तियों से (वृत्रहत्याय) प्राणियों के उपद्रव भ्रान्त करने के लिये, अथवा अज्ञान विघ्नों का विनाश करने के लिये, (औचद्) सुखों, जलों और ज्ञानों को वर्ण करता है । और (ये देवा०) जो देव विद्वान्गण और दिव्य शक्तिया (महन्०) बड़े भारी (क्रियमाणास्य) किये जाने योग्य (कर्मणः) जगत् प्रचालनरूप कर्म के (भूते) तत्त्व ज्ञान में विराजमान होकर (कर्मम्) कर्मबन्धन को (उद अजायन्त) पार करके मुक्त हो जाते हैं ।

■ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ ३
[१७८५] अस्ति सोमो अयं सुन० पिवन्त्यस्य मरुतः ।

३ २ ३ १ २ ३ ■ ३

उत स्वराजो अश्विना ॥ ॥

^{१२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २}
[१७८६] पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूनस्य वरुण ।

^{३ २ ३ १ २}
त्रिषधस्थस्य जावनः ॥ २ ॥

^{३ १ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २}
[१७८७] उतो न्वस्य जोषमा इन्द्र सुतस्य गोमेतः ।

^{३ १२ २२}
प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १४ । ३-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१७४] पृ० ६६ ।

(२) (मित्र) सूर्य के समान स्नेह करने द्वारा, सबको अपने २ कर्म में प्रयुक्त कराने द्वारा, (अर्यमा) सबका स्वामी, न्यायकारी (वरुण) सब दुष्टों का निवारक, ये तीनों देव (जावन) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक (त्रिषधस्थस्य) प्राण, अपान और समान, या इडा, पित्तज्ञा, और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का (पिबन्ति) पान करते हैं । मित्र, अर्यमा, वरुण तीनों भोगियों के तनि भेद हैं । सूर्य के समान प्रज्ञाशोकवान् मित्र, भूतजय करने द्वारा इन्द्रिय-संविद् द्वारा स्थितिप्रज्ञ अर्यमा और विशाल आकाशरूप समुद्र समान शान्त, शुद्धचित्त सत्त्व अनुभवी योगी वरुण कहाता है ।

(३) (प्रात) प्रातःकाल के अवसर में (होता इव) जिस प्रकार सोमयाग करने वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार (इन्द्र) अध्यात्मयोगी का आत्मा (उतो) भी (जु) निश्चय से (अण) इस (गोमेत) इन्द्रियों के संविद् ज्ञानों से युक्त (सुतस्य) उत्पादित ब्रह्मरस को (जोषम्) सेवन कर लिये (आ मत्सति) खूब मग्न हो जाता है ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१७८८] वर्यमहो असि सूर्य वडादित्य महौ असि ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मद्वा देव सहौ असि ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७८६] वद् सूर्ये अवसा महौ असि सत्रा देव महौ अभि ।
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 महा देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्
 ॥ २ ॥ ६ ॥ अ० ७ । ३१ । १०, १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १४१ ।
 (२) हे सूर्य ! सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (अवसा) ज्ञान
 और यज्ञ के द्वारा (वद्) सचमुच (महान्) सबसे बड़े (असि) हैं ।
 हे देव ! प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप (सत्रा) सचमुच निश्चय
 (महान् असि) सबसे बड़े हो । आप ही (देवाना) सब विद्वानों के
 (महा) अपने महत्त्व या शक्ति से (असुर्य) प्राणों को चताने हारे,
 (पुरोहित) साक्षात् पुरोहित के समान प्रवर्तक, उनको साक्षात् धारण
 करने हारे और साक्षीरूप हुआ हो, आप ही वास्तव में (विभु) सर्वत्र
 विशेष रूप से व्यापक, (अदाभ्यम्) आविनाशी, नित्य (ज्योतिः) ज्योतिर्
 ज्ञान प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१७८०] उप नो हरिभिः सुतं यादि मदानाम्पतं ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २
 उप ना हरिभिः सुतम् ॥ १ ॥
 ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 [१७८१] द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २
 उप नो हरिभिः सुतम् ॥ २ ॥
 १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१७८२] त्वं हि वृत्रहन्तेषां पात्रा सोमनामसि ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २

उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । ६३ । ६१-६३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५०] पृ० ८४ ।

(२) (न.) जो (वृषहन्तमः) समस्त विघ्नों का विनाशक और (शतक्रतु.) सैंकड़ों कर्मों का करने हारा है उसको (हिता) दो रूपों में (विदे) मैं जानता हूँ । एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से । वह (नः सुतम्) हमारे उत्पन्न किये पदार्थों को (हरिभिः) अपने हरणकारी वायु आदि साधनों और आत्मपक्ष में इन्द्रियों द्वारा (उप) प्राप्त करें ।

(३) हे (वृषहन्) अज्ञान के विनाशक ! (एषा) इन (सोमा-नां) सोमों, समस्त जगत् के जीवों का (पाता) पावनकर्ता (एवं) वही (अस्मि) है । (न.) हमारे (सुतम्) योग साधनों से परिकृत आत्मा को (हरिभिः) ज्ञानों द्वारा (उप) प्राप्त होइये ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६३] प्र वो महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमति कृणुध्वम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
विशः पूर्वी प्रचरचर्षणि प्रा. ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६४] उरुव्यचसे महिने सुवृक्षिमिन्द्राय ब्रह्मा जनयन्त विप्राः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तस्य मनानि न मिनन्ति धीराः ॥ २ ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६५] इन्द्र वाणीरनुत्तमन्युमेव सन्ना राजानं दधिर सदधै ।

१ २ ३ २ ४ २
हृथश्वाय बर्हया समापीन् ॥ ३ ॥ ११ ॥

प्र० ७ । ११ । १०—११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२८] पृ० १६६ ।

(२) (विप्रा.) विद्वान् ब्राह्मण लोग (उरुव्यचसे) महान् ब्रह्माण्ड से व्यापक (महिने) यड़े भारी (इन्द्राय) परमात्मा की (सुवृ-

क्रिस्) उत्तम स्तुतिरूप (ब्रह्म) वेद का (जनयन्त) ज्ञान करते हैं ।
(धारा.) वे विद्यावान्, ध्यानवान् पुरुष (तस्य) उसके (व्रतानि)
उपदेश किये नियमों को (न मिनन्ति) विनाश नहीं करते, उल्लंघन
नहीं करते ।

(३) (वाणी.) वेदवाणियों और (सप्ता) समस्त विश्व (राजान)
प्रकाशक स्वामी । अनुत्तमन्युं) आद्वितीय नित्य ज्ञानी, नित्य, सामर्थ्यवान्
(इन्द्रं) इन्द्र को (सद्भ्यै) सब पर दमन करने के लिये (दधिरे)
भारण करती हैं । भक्त, हे नर (हयंभाय) समस्त लोकों और जीवों
में व्यापक ईश्वर के लिये (आपीन्) अपने समीप आप सब बन्धुओं
को (समु वदंय) उत्तम रीति से बड़ा, उन्नत का ।

[१७१६] यादन्द्र यावत्तत्त्वमेनायदहमीशीय ।

स्मृतारामिद्विधिरे रदावसो न पापत्वाय संसिधम् ॥१॥

[१७१७] शिष्यामिन्महयते इद्वदिषे राय आ कुहचिद्विदे ।

न हि त्वदन्यन्मवधवन्न आप्य वस्यो अस्ति पिता च न
॥ २ ॥ १२ ॥ १२ । १८, १९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकल सं० [३१०] पृ० १२८ ।

(२) परमेश्वर का संकल्प है कि (महयते) दानशक्ति या
मेरी स्तुति करने हारे (कुहचिद्विदे) नहीं जी हो बड़ा ही उसे
(दिवे दिवे) प्रतिदिन (रायः) धनों को (आ शिष्यम्) दान
दिया करता हूँ । इस प्रकार की ईश्वर की दयादृष्टि होने से भक्त का भी
संकल्प होता है कि हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (त्वदन्यत्) तेरे से दूसरा
कोई और व्यक्ति (नः) हमारे लिये (वस्यः) आवास देने द्वारा, (आप्य)
प्राप्त करने योग्य, इष्टदेव, उत्तम वस्तु (नहि) नहीं है और तुझ से 'उत्तम'
दूसरा (पिता च) पिता पात्रक भी (न) नहीं है ।

उ १४ २२ ४ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७६८] भुध्री हव विपिपानस्याद्वैषोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।

३-२४ १ २ ३ २ ३ ३
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥

२-३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
[१७६९] न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुनिमसुर्यस्य विद्वान् ।

१ २ ३ १ २
सदा ते नाम स्वयशो विवाचि ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ४ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८००] भूरि हि ते सवनामानुषषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।

२४ ३ १ २ ३ १ २
मारे अस्मन्मघव ऊज्यांक्षः ॥३॥१३॥ अ० ७ । २२।४-६॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (विपिपानस्य) आनन्दरस का पात्र करने हारे (अद्दे) आदरणीय और श्रानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्घ न होने वाला योगाभ्यासी के (हव) पुंकार को (भुधि) अर्पण करे (अर्चतः) स्तुति करते हुए (विप्रस्य) मेधावी विद्वान् पुरुष की (मनीषाम्) मन की गति, या स्तुति को (बोध) आप जानते हो । और (सचा) आप सहायक रूप में (इमा) इन (दुवांसि) हृम कामनाओं को (अन्तमा) हृदयंगम (कृष्व) कीजिये ।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (भसुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, (तुरस्य) शत्रुओं में नाशक, अथवा सबके प्रेरक (ते) तेरा धर्मेन करने हारी (गिरः) धारियों की भी (न मृष्ये) कभी परित्याग नहीं करता । और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर मैं (न सुस्तुतिम्) तेरी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता । (ते) तेरे (स्वयश) अश्वस्वरूप उज्ज्वल (नाम) नाम (सदा) नित्य (विवाचि) विविध प्रकार से बक्षाना करता हू ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (ते) तेरे लिये (मानुषषु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत से (सवना) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य हैं । (मनीषी) मननशील विद्वान् भी (त्वामित्) तेरी ही (भूरि) बहुत (हवते) स्तुति करता है । हे

५ मधवम्) ज्ञानाश्रय । हे सर्वेशक्तिमन् । आप (अस्मत्) हमसे (भारे)
धूर (ज्योत्स्ना) कसी भी (मा कः) मत होवे ।
इति तृतीयः खण्डः ।

—0—

[१८०१] प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूयमर्चत । अभीके चिदु

लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माकं घोत्रि घोदिना

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ १ ॥

[१८०२] त्वं सिधूरासुजोऽधराचो अहभ्रदिम् । अशत्रुरिन्द्र

जक्षिषे विश्वं पुण्यसि वार्यम् । तं त्वा परिष्वजामहे

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

[१८०३] विषु विश्वा अरामयोऽर्थो न शन्त नो धियः । अस्तासि

शत्रवे धधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिवसु

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥ १४ ॥

अ० ८० । ११३ । २-३ ।

भा०—(१) (अस्मै इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् प्रभु (पुरो-रथम्) विश्व,
महायुद्ध रूप रथ को पूर्ण करने दारे, या पालन करने वाले, या गति देने
वाले (शूयम्) बल को (प्रसु अर्चत इ) यथारूप से धर्यन करो ।
देखो, वह ईश्वर (अभीके) अत्यन्त समीप, चित्त में साक्षात् (चिद-उ)
ही (लोककृत्) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या चित्त में
के प्रकाश करता है । और (सङ्गे) संग हो जाने पर आत्मा को
प्राप्त कर (समत्सु) इन्द्रियवृत्तियों में (वृत्रहा) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे मावों को जान जाता है (अस्माकं) हमें (बोधि) ज्ञान देता है और हमारे मावों को जान जाता है (अन्यकेषां) हमारे आभ्यन्तर तुच्छवृत्ति शत्रु, काम आदि (धन्वसु) कमलों पर (अधि) चढ़े हुए (व्याका) निर्बल चिल्ले भी (नमन्तां) टूट फूट जाते हैं ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तूने (सिन्धू) सब नदियों को और शरीर की नदियों को (अघराच.) नीचे जाने वाली (अघासुजः) रचा है । और तू (प्राहिम्) न हटने वाले या अघास या पीड़ाकारी तामस आवरण, या मेघ को (अहन्) विनाश करता है । हे इन्द्र ! तू (अशत्रुः) शत्रुरहित सब का मित्र (जज्ञिषे) जाना जाता है । ऐसे ही (तं) उस सब के मित्र परमस्नेही (स्वा) आपको (परि स्वजामहे) इस आतिथान करते हैं, अपना निरन्तर का सत्नी बनाते हैं, अपनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं ।

(३) हे इन्द्र ! (नः) हमारे (विश्वा) समस्त (अर्थः) शत्रु रूप, सब पर चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अदानशक्ति, उचित कर न देने वाले, (विरथा) सब शत्रुगण (वि सु नशन्त) जाना प्रकार से खूब नाश को प्राप्त हों । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (यः) जो (नः) हमें (जिवा सति) विनाश करना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु पर (वधं) अपने हननकारी बल को (अस्तामि) प्रयोग कर । और (या) जो (ते) तेरी (रतिः) दान और कृपा है हमें (वसु) धन आदि पदार्थों का (ददिः) दान करे । (अन्यकेषां व्याका धन्वसु नमन्ताम्) और अन्य तुच्छ शत्रुओं (धनुषों) की निर्बल कोरियाँ नष्ट हो जावें ।

उ २ व ३ १ २ ३ १ र उ १ २
[१८०४] रवां इद्रेवतस्तांता स्यात्त्रावतो मघानः ।

१ २ उ १ २
प्रवु हरियः सुतस्य ॥ १ ॥

[१८०५] उक्थ च न शस्यमानं नागो रायराचिकेत ।

न गायन्न गीयमानम् ॥ २ ॥

[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नेव मा शर्क्षते परा दा ।

शिक्षा शचीवः शचीमि. ॥३॥१५॥ अ० ८।२।१३—१५॥

भा०—(१) (हरिश्वा) गतिमान् समस्त लोकों के स्वामिन् !
अथवा किरणों और प्राणों के प्राण ! हे प्रभो ! लोक में (रेवत्) घनाव्य
पुरुष का (स्तोता) स्तुति करने द्वारा (रेवत्) धनवान् हो जाता है ।
और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् (स्यात्) हो जाता है । फिर
[स्यावतः] तुझ जैसे अनुपम (मघोन) ज्ञानी और धनसम्पन्न (सु-
तस्य) ऐश्वर्यवान्, अथवा प्रधानन्दरस के उत्पादक प्रभु का तो प्रभु ह
फिर क्या कहना ! तेरा उपासक तो भारी धनी और ज्ञानी ही
जायगा ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२५] पृ० ११६ ।

(३) (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमें (पीयत्नेव) हिंसक,
पुरुष [] हाथों में (मा परा दाः) मत डाल । और [] (शर्क्षते) हमारा मान
भंग करने हारे हिंसक पुरुष के हाथों में (मा परादाः) मत डाल ।
तू (शचीमि) अपने ज्ञानों और शक्तियों से ही है (शचीवः) शक्तिमन् !
हमें (शिक्ष) शिक्षित कर, दण्डित कर, [] ज्ञान प्रदान कर ।

[१८०७] एन्द्रा याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्ठुतिम् ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ १ ॥

[१८०८] अत्रा वि नमिरेपामुरां न धूनुते वृकः ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ २ २
[१८०६] आ त्वा आवा वदन्निह नोमो घोषेण वक्षतु ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । १४ । १, ३, २ ॥

(भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [३४८] पृ० १८० ।

(२) (वृकः) मेदिना (उरा न) जिस प्रकार मोड़ को (धुनुते) छुन देता है, भय से कंपित करता है उसी प्रकार (एषां) इन प्राणों का (नेमिः) नमन करने द्वारा वश करने द्वारा, आत्मा भी उस (उरा) चित्तिशक्ति को (विधूनुते) अपने बल से प्रचलित करता है । (दिव) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप, विश्व में रमण या क्रीड़ा करने हारे (शासत) शासकरूप (अमुष्य) इस परमात्मा (दिव) ज्योतिर्मय ज्ञान को है (दिवावसा) ज्योतिरूप प्रकाश में वास करने हारे जीवात्मन् ! तू (यय) प्राप्त हो ।

(३) हे प्रभो ! (इह) संसार में, इस जन्म में (सोमी) सोमरस का आस्वादन करने द्वारा आत्मज्ञानी (आवा) विद्वान्, ज्ञानोपदेशक (त्वा) तेरी (वदन्) स्तुति करता हुआ (घोषेण) वेद ज्ञान के साथ ही (त्वा वक्षतु) तुझे प्राप्त हो । (दिवावसो) आत्मन् ! (अमुष्य शासत दिवः दिवं यय) आत्मकीर्ति, आत्मरति होकर उस शासन करने हारे परमात्मा के प्रकाशस्वरूप मोक्ष लोक को तू प्राप्त हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८१०] पञ्चस्र सोम मन्दयाभिन्द्राय मधुमत्तमः ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८११] ने सुतासो विरश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८१२] असृग्रं देववीतये य जयन्तो रथो इव ॥ ३ ॥ १७ ॥

अ० ४ । ६७ । १६, २८, १७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्यं सेयुक्त (मधुमत्तम.) अतिशय ज्ञान सम्पन्न होकर (मन्द्रयन्) आनन्दमय होता हुआ योगिन् । तू (इन्द्रोषे) परमेश्वर को प्राप्त होने के लिये (पवस्व) गतिकर ।

(२) (ते) वे (विपश्चित) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का संग्रह करने वाले या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करने वाले परमात्मदर्शी (शुक्र) तेजस्वी, या शुक्ल कर्म करने वाले, (सुतास०) सिद्ध यागी (वायुम्) सर्व भेदक प्रभु परमात्मा को (असृषत) प्राप्त होते हैं ।

(३) सोमस्वरूप योगी गाय (वाजयन्त) संप्राप्त करने वाले विजेंपी (रथा ह्य) रथों के समान स्वयं (वाजयन्तः) ज्ञानस्वरूप होकर (रथा) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर (देवर्वातये) ईश्वर को प्राप्त होने के लिये (असृषन्) जा रहे हैं ।

चतुर्थः खण्डः ।

—

उ० १२ २४ ■ १ २ ३ १ २ ३ १२
[१८१३] अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं चसो स्रुतु ।

२४ ३ १ २ ३ ० ३ २ ३ १ २
सहस्रो जातवेदसं विप्रं जानवेदसम् ॥

२ ३ १ ० ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वधरोदवाच्या कृपा ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ० ■ १ २ ३ १ ०
घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सापय ॥१॥

१ २ ३ १ ० ३ २ ३ १ २ ३
[१८१४] यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमद्भिरसां विप्रं

■ २ ३ १ २ ३ १ २
मन्ममिर्विप्रैभिः शुक्र-मन्ममिः ॥

१ २ ■ १२ २४ ३ २
परिजमानामिब द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शोचिष्केशं वृषणं यमिमान्निशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥

१४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१८१५] स हि पुरुचिदोजसो विरुक्मता दीयानो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भवानि द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वीहृविद्यस्य समृनौ श्रुवद्वेनेष यत्स्थिरम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
निष्पहमाणो यमते नायने धन्वासहा नायने ॥३॥१८॥

श्रु० १ । १०७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६५] पृ० २३४ ।

(२) हे (विप्र) ज्ञानवान् । अग्ने ! परमेश्वर ! इम (यजमानाः)
उपासना करने हारे लोग (यजिष्ठ) सब उपासकों में से सबसे अधिक
श्रेष्ठ, (अंगिरसा) समस्त ज्ञानवान् आत्माओं से भी (श्रेष्ठ) श्रेष्ठ पर
मात्सरूप आपको (विप्रोभिः) विप्र रूप से आपके महाव को दर्शाने
हारे ज्ञानमय (मन्मभिः) विचारों, मन्त्रों से (स्वा) आपको (हुवेम)
स्मरण करते हैं । हे (शुक्र) तेजस्वरूप सबके प्रकाशक ! (परिष्मान)
सर्वव्यापक, (या) तेजस्वरूप, (चर्यणीनां) समस्त मनुष्यों (दोतारं)
कृपा का दान करने हारे (शोचिष्केशं) कान्तिमान् सूर्यादि पियहों को
वश करने हारे (वृषण) सब सुखों के वर्णक (यं) जिस आपको (इमा)
ये समस्त (विश.) आप में आश्रय पाने हारे जीवगण (प्रावन्तु)
प्राप्त होते हैं ।

(३) (स हि) निश्चय से वह अग्नि (विरुक्मता) विशेष कान्ति से
युक्त (याजमा) तेज से (पुरुचित्) अति अधिक (दीयानः) प्रकाशित
होता हुआ (द्रुहन्तर) वृषों को विनाश करने हारे (परशुः न)
फरसे के समान (द्रुहन्तर.) दक्षयशील, विनाशी इस वेद बन्धन को
काटने द्वारा (भवति) होता है, (यस्य) जिसको (ममू कर्त्ता) सम्पन्न
साक्षात् प्राप्त कर लेने पर (वीहृ) दृढ़ और (यत्) जो (स्थिर)

स्थिर, स्थायी यह संसार या देहबन्धन (चित्) भी (बना हव) जंगल
या जसों केसमान (श्रुत्=सुत्) क्षितरा जाता है । अग्नि संयोग
जिस प्रकार जंगल जल जाता या जल भाफ होकर विलीन होता है
वसी प्रकार यह समस्त संसार भी जिस में प्रलय काल विलीन होता है
वह (निः सहमानः), समस्त संसार की सब विरोधिनी शक्तियों
अपने बल करता; हुन्ना (अमते) समस्त संसार की व्यवस्था करता है
और उसी में प्रीति करता है एवं (अन्वा सहा व) धनुर्धर विजयी
समान (अयते) संसार के स्थ क्षेत्र में भी जाता है और (न अयते)
और इसके भीतर पाश भी नहीं जाता ।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धप्रपाठकः*

अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अधिः—१ अग्निः पावकः । २ सोमरिः काण्वः । ३, ४ अमस्तारः काश्यप
अन्ये च ऋषयो इष्टलिङ्गाः* । ५ वासप्रीः । ६ गोपूतयश्वसक्तिनौ काण्वायनौ ।
१० त्रिशिरास्तथाष्टः सिधुद्वीपो वाम्नीषः । ११ उलो वातायनः । १२ वेनः ।
३, ४, ७, १२ इति साम ॥ देवता—१, २, ५ अग्निः । ३, ६ विदवे देवाः ।
९ इन्द्र । १० अग्निः । ११ वायुः । १२ वेनः । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥
छन्दः—१ विष्टारपङ्क्तिः, प्रथमस्य, सतोवृहती उत्तरेषा त्रयाणां उपरिष्टाज्ज्योतिः
अत उत्तरस्य, त्रिष्टुप् चरमस्य । २ प्रागाथम् काकुमम् । ३, ६, १३ त्रिष्टुप् ।
८-११ गायत्री । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ स्वरः—१ पञ्चमः प्रथमस्य, मध्यमः
उत्तरेषा त्रयाणां, धैवतः चरमस्य । २ मध्यमः । ३, ६, १३ धैवतः । ५-११
पङ्क्तः । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

*के० । निम्नतेनात्र विंशध्यायस्य, पञ्चाखण्डस्य च विरामः ।

[१८१६] अग्ने तव श्रवो वयो महि आजन्ते अर्चयो विभावसो ।
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २

बृहन्नानो शवसा वाजमुक्थ्यां दधासि दाशुने कवे ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८१७] पावकवर्चा शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियार्षि मानुना ।
३ २ २ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

पुत्रो मातरा विचरन्नुपावामि पूणाक्षि रांद्रसी उभे ॥२॥
१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१८१८] ऊर्जो नपाज्जातवेद सुशस्तिभिर्मदस्य धीतिभिर्दितः ।
२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वे इष सन्दधुर्भूरिवर्षसः श्विघातयो वामजाता ॥३॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८१९] इरज्यक्षग्ने प्रथमस्य जन्तुभिरस्मे गयो अमर्त्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स दर्शतस्य वपुषो विराजति पूणाक्षि दर्शतं क्रतुम् ॥४॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८२०] इक्ष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो मह । राति
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वामस्य सुभगा महीमेपं दधासि सानासि रयिम् ॥५॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८२१] अतावानं महिषं विश्वदर्शनमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

जना । श्रुत्कणौ राप्रथस्तम त्वा गिरा दैव्या मानुषा
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

युगा ॥ ६ ॥ १ ॥

क० १० । १४० । १-६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने, ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशक ! परमात्मन् ! (विभा-
वसो) अग्ने विंशेय प्रकाश से सब को यत्नां और सर्वत्र यत्नेदारे
व्यापक परमात्मन् । (तव) तेरा (श्रवः) कर्ण और (वयः) ज्ञान, यत्न
(महि) महान् है और तेरी (अर्चयः) उपासनाएँ मूर्धे अर्द्धि कर में

ऋषिर्लिङ्गा द्या० भाष्ये पाठः १८१६—२. 'गन्दर्वादिना' ४. युगादिमान-

१. 'सि' इति ॥

(आनन्तो) प्रकाशित हो रही हैं । (वृद्धमानो) सब प्रकारों में महान् ! याप (उक्थ्ये) वेद द्वारा प्रतिपादनीय (वाजं) ज्ञान दो । (कथे) मेधाविन् । तू (दाद्युषे) आत्ममत्तपण करने द्वारे जित्प को आध्यात्म के समान (उपासि) धारण करता है ।

(२) हे भग्न ! तू (पाथकथ्योः) पवित्र करने द्वारे तेज से युक्त (शुक्रंयर्चाः) शुक्ल, निमल कान्ति से सम्पन्न, (अमूनयर्चाः) सब से अधिक तेजस्वी होकर (मानुना) प्रकाशक तेज के सहित । उद्-इयर्षि) उदय होता है, उदय में प्रकट होता है । जिस प्रकार (पुनः) पुनः (मातरा) मातृस्वरूप या मां याप दोनों के समीप (विचरन्) विचरता हुआ उनको पुनः प्राप्तता और पोषता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों के बीच विचरता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों में घूमता करता और प्राक्तन पोषण करता । इसी प्रकार तू भी ममस्त लोकों को (उपासि) स्वयं उन में व्यापक होकर करता और (पृथञ्चि) प्राप्तन करता है । इसी प्रकार देहगत जीवात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है ।

(३) हे (कर्तो नपात्) ब्रह्म को, सामर्थ्य को एवं प्राज्ञानन्दरस को कभी न परित्यक्त करने द्वारे ! हे (जातयेदं) सर्वज्ञ ! तू (सुशस्तिभिः) उत्तम स्तुतिपों में और (भीतिभिः) वेदाध्ययन और अग्निहोत्रादि यज्ञा-धानों से (मन्दस्व) प्रसन्न हो, अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर । (भूरिवर्चसः) नानारूप (चित्रोत्तयः) विचित्र या मनाह्व युद्धि पाले (वामनानाः) उत्तम प्रकृति के कुलीन, विद्वान् लोग भी (ते) तेरे निमित्त ही (इयः) गाना भक्त आदि, दक्षिणों (संदधुः) अग्नि में, दालते हैं । या तेरे आग्रय नाना कामनाएँ करते हैं ।

(४) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! हे (अमर्त्य) अविनाशी परमात्मान् ! याप (जन्तुभिः) उत्पन्न होने वाले जन्तुओं द्वारा (राजन्मू) ऐश्वर्य

को बढ़ाते हुए (अस्मे) हमारे (रायः) धर्मों को (प्रथयस्व) बढ़ाओ ।
 (सः) वह आप (दर्शतस्य) दर्शनीय (यपुषः) अपने धीज वपन करने
 द्वारे, उत्पादक सामर्थ्य से (विराजसि) सब पर ईश्वर होकर विराजमान
 हैं । और आप (दर्शतं) दर्शनीय (क्रतुं) अपने बनाए हुए इस संसार
 को (पृथञ्चि) पालन पोषण करते हैं ।

(५) (अश्वरस्य) इस महान् जगत् मय यज्ञ के (इष्कारिम्)
 प्रेरणा करने द्वारे, वा पूर्णरूप से संचालन करने द्वारे (प्रचेतसः) उत्तम,
 ज्ञानवान् (महः) बड़े भेद, (राघसः) आराधनीय, वा साधनयोग्य
 धन वा ज्ञान को (विपन्तं) अपने वश करने द्वारे, उसके स्वामी और
 (वामस्य) प्राप्त करने योग्य उत्तम भेद पदार्थों के (रातिं) दाता की
 हम स्तुति करते हैं । हे परमात्मन् ! आप (मही) बहुत बड़ी (सुभगा)
 उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ (ह्ये) यज्ञ आदि सम्पदा को और (सानसि)
 परस्पर विभाग कर के भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को प्रत्येक २ प्राप्त
 (रविम्) प्राण, देह आदि अन्ध्यात्म-सम्पत्ति को (दधासि) धारते और
 प्रदान करते हो ।

(६) (जनाः) मनुष्य लोग (जतावानं) सत्यज्ञान से युक्त,
 (महिषं) बड़े सामर्थ्यवान्, (विश्वदर्शतस्य) सबसे अधिक दर्शनीय, विश्व
 के दृष्टा एवं सब पदार्थों के प्रदर्शक विद्वान् (अग्निम्) अग्नि अर्थात् आचार्य के
 समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने (पुरः) समक्ष साक्षिरूप से
 और मार्गदर्शक रूप से (सुस्नाय) सुख प्राप्त करने एवं प्रत्येक कार्य पर
 उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के
 लिये (दधिरे) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप में रखते हैं । उसी प्रकार
 हे परमात्मन् ! (मानुषा) मननशील (युगा) नर नारियों (जोडे
 (सप्रथस्तमं) सर्वत्र अति प्रसिद्ध, विख्यात (अत्कर्षास्) श्रुतिरूप
 कर्णों से युक्त अथवा वेद के अनुसार समस्त जगत् के रचने द्वारे (गिरा)

उस वेदवाणी के अनुसार (दैर्घ्यं) दिव्यगुणों से युक्त (त्वां) तुम्हको अपने सुख-सम्पादन के लिये (पुरो दधिरे) सब कार्यों में साधी या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—0—

[१८२२] प्र सो अग्ने तत्रातिभि सुवीराभिस्तरनि वाजकर्मभिः ।
यस्य त्व सख्यमात्रिथ ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सा नीलवान्वाश आत्विष इन्धानः सिष्णावा
ददे । त्व महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि
॥ २ ॥ २॥ अ० ८ । १६ । ३०, ३१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१०८] पृ० ५८ ।

(२) (सिष्णो) आनन्दरस से हृदय के सेवन में समर्थ । धर्म मेघरूप आत्मन् ! (वाश) तेरा (द्रप्सः) द्रव्यशक्ति व्यापक रस । नील-वान्) आभयदाता, (वाशः) कमनीयरूप, (आत्विषः) प्राणों में रहने वाला (इन्धानः) प्रदीप्त होकर (आदेद) मन से ग्रहण किया जाता एवं सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । (त्वं) तू (महीना) विशाल या पूजनीय (उषसा) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं का (प्रियः) प्रिय (आसि) है और (क्षपः) सर्व दुःखों के नाश करने वाली, रात्रि के समान अन्तः सात्विक निद्रा से सम्पन्न (वस्तुषु) तत्वों में (राजसि) प्रकाशमान, गगन रहता है ।

[१८२४] तमोपधीदधिरे गर्भमृत्विषं तमापो अग्निं जनयन्त
मातरः । तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोन्तर्वर्तीश्च सुवते
च विश्वहा ॥ ३ ॥ ३० । ३१ । ६ ॥

भा०—(१) (त) उस (अतिव) अतुओं में सूर्य के तेजो रूप में प्रकट होने हारे अग्नि को (ओषधी०) ओषधिगण अपने भीतररसरूप से (दधिरे) धारण करती हैं (त) उसी (अग्नि) अग्नि को (मातर) सब के मूल-कारण (आप०) आप०=जल भी (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं और (तम् इत्) उसको ही (समानं) समान रूप से (घनिनः) घन बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को (अन्तर्वतीः) गर्भ धारण करने वाली पुष्पिणी (च) और (वीरुध०) विशेष रूप से रोहण करने वाली जताए (विश्वहा) सर्वदा उत्पन्न करती हैं । उसी प्रकार वनस्पति और जताओं के दृष्टान्त से आत्मा का उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—(मातर०) माताए, (आप) प्राप्त होने योग्य पतियों से सगत (ओषधी०) तेज=वीर्य को धारण करने वाली (त) उस आत्मरूप अग्नि को (अतिव) अतुकाज में होने वाले (गर्भं दधिरे) गर्भरूप से धारण करती हैं (त) उसी को (जनयन्त) वास्तविक रूप से उत्पन्न करती हैं । (च) और (घनिनः) नर वृक्षों के समान पुरुष और (वीरुध०) जताओं के समान (अन्तर्वती० च) गर्भिणी स्त्रिया (विश्वहा) सदा (समान) समान भाव से (सुवते) उसको प्रसन्न करती हैं ।

फलतः वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है । एवं जो जल घृष्टिरूप से पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुनः पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निपिक्त होता है और वही गर्भ में जमकर पुनः पुत्ररूप में उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुतिप्रकरणों में दर्शाया गया है ।

[१८२५] अ०^३ग्नि०^{५२}रि०^{१२}न्द्राय०^३ प०^२वते दि०^३वि०^३ शु०^३क्रो०^{१२} वि०^२राजिनि ।

म०^१हि०^२वी०^३ वि०^२जायते ॥ ■ ■

भा०—(१) (अग्नि) वह आत्मा (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (पवते) त्रिवेक से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । (शुक्र) शुक्राकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर (दिवि) मोक्ष में (विराजति) प्रकाशित होता है । (महिषी इव) जिस प्रकार (महिषी) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है वसी प्रकार वही आत्मा (विजायते) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा (महिषी इव) दुग्धरस देने हारी भैंस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में अतमरा रूप से प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इस इन्द्र=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो^२ जागार^३ नमृच^३ कामयन्ते^३ यो^३ जागार^३ तमु^३ सामानि^३
यन्ति । यो^३ जागार^३ तमय^३ साम^३ आह^३ तवाहमस्मि^३ सख्ये^३
न्योका ॥ १ ॥ ५ ॥ अ० ६ । ४४ । १४ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (जागार) अविद्या की भीड़ से जाग जाता है (त) उसको (अच) अग्नेद की अचाप् और उन समान ज्ञानप्रद जन भी (कामयन्ते) चाहते हैं । और (य.) जो (जागार) अविद्या निद्रा से जग जाता है (तम् उ) उसको ही (सामानि) साम के उपामनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (य) जो (जागार) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है (तम्) उसको (अय) (सोम.) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या ससार का ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में ही (अहम्) मैं भी (न्योका) निवास करता हूँ । इसी अचा से अगती अचा में इस जागरणशील निरा लस तपस्वी को 'अग्नि' नाम से वनजाया है ।

[१७२७] अग्निर्जागार तमृच. कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सा
 मानि यान्ति । अग्निर्जागार तमयं साम आह तवाहमस्मि
 सस्ये न्योकाः ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—(१) पूर्व ऋचा के (यः) 'जो' की जिज्ञासा में ही यह
 उत्तर ऋचा कही जाती है । इससे विद्वान् निराकृत आत्मा के साथ २
 परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है । अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही
 सदा जागता है, ऋग्वेद की ऋचाएँ उसको चाहती हैं, उसी का सामगण गान
 करते । और यजुः स्थानादि सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर
 को ही कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपके मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूँ ।

[१८२८] नमः सखिभ्य पूर्वसङ्ग्रह. नमः साकनिषेभ्य ।

युञ्ज वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१८२९] युञ्ज वाचं शतपदी गायं सहस्रवर्तनि ।

गायत्र त्रैष्टुभ जगत् ॥ २ ॥

[१८३०] गायत्र त्रैष्टुभ जगद्विधा कृपाणि संभृता ।

देवा ओकासि चक्रिः ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (पूर्वसङ्ग्रह.) पूर्णग्रह, मोक्षधाम में विराजमान
 (सखिभ्य.) मेरे आत्मा के समान आस्थान वाले मुक्तात्माओं को (नमः)
 मैं नमस्कार करता हूँ । और (साकनिषेभ्य) साथ ही विराजमान
 विद्वान् मित्रों के लिये भी (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार । मैं आप
 लोगों के समान ही (शतपदी) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण (वाच) वेदवाणी
 का (युञ्ज) समाहित चित्त से विचार करता हूँ ।

(२) (शतपदी) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त (वाच) वाणी का
 (युञ्ज) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूँ और (सहस्रवर्तनि)

सहस्रों मार्ग से युक्त सहस्रवर्त्मों सामवेद जिसमें (मायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गायं) गान करता है ।

(३) (गायत्रं, त्रैष्टुभं, जगत्) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन तीन मुख्य सामों के ही (विरवा रूपाणि) नाना प्रकार के रूप (स-भृता) बनाये गये हैं । और उनमें (देवाः) विद्वान् ज्ञातृ (ओकासि') संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का (चक्रिरे) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं ।

[१८३१] अग्निज्योतिर्यज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्यज्योतिरिन्द्रः ।

सूर्यो ज्योतिर्यज्योतिः सूर्यः ॥ १ ॥

[१८३२] पुनरुज्जान वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।

पुनर्नः पाह्यहसः ॥ २ ॥

[१८३३] सह रय्या न वर्तम्वानं पिन्वस्व धारया ।

विश्वस्वस्था विश्वतस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेद नास्ति । आषा यजु० ३ । ॥ द्वितीया यजुः० १२ । ४० ॥

तृतीया यजु० १२ । ४१ ॥

भा०—(१) (अग्नि.) अग्नि (ज्योति) ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप ही (अग्नि.) अग्नि है । इन्द्रः । इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योति.) ज्योतिर्मेय पदार्थ ही (इन्द्रः) इन्द्र है । (सूर्यः) सब का प्रेरक सूर्य (ज्योति) ज्योतिर्मेय है ।

१८३०—१. ओकासि—बाहुल्कादन्तेरौणादिकः ऋक् । उणा० ३ । ४१)

शोक —राशिः स्थान वा । अथवा कवेः सार्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४ । २१६) उच्यते श्रुत्योक्त ।

१८३१—१. "अग्निज्योतिरग्नि. स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्यज्योतिः सूर्यः स्वाहा"

इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

(ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (सूर्य०) सूर्य है । फलतः ज्योतिर्मय होने से ही अग्नि, इन्द्र और सूर्य तीनों नाम एक पदार्थ के हैं । वह समानरूप से तीन नाम एक पदार्थ के और इनका चौथा पर्याय ज्योति है । ये चारों नाम मुख्यता से ईश्वर के और गौणदृष्टि से अग्नये हैं ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् । आप (ऊर्जा) रसस्वरूप आनन्दधन रूप में और (इषा) ज्ञानरूप में और (आयुषा) जीवनरूप स [पुन० पुन०] बार बार हमें (नि वत्तस्व) प्रकट हों । अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एक प्रतिजन्म में आपके सत् चित्, और आनन्द तीनों रूपों के हमें दर्शन हों ।

(३) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (रथ्या) अपने रमणीय, मनोहर मोहनीय रूप से हमें (नि वत्तस्व) पुनः प्राप्त हो । हे अग्ने ! तू हमें (विश्वतः परि) सबसे अधिक, एवं सबपर शासन करने वाले (विश्वधन्या) समस्त ससार को अपने भीतर लेखने वाली सर्वव्यापिनी (धारया) अपनी रसधारा से (पिबस्व) तृप्त कर ।

इति पष्ठ० खण्ड० ।

[१८३४] यद्विन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व इत् ।

३ १ ३ १ २
कनोता मे गोमस्ता म्यात् ॥ १ ॥

[१८३५] शिक्तयमस्मै तित्मेयं शचीपते मनीषिणे ।

१ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
यदहं गोपात म्याम् ॥ २ ॥

[१८३६] धेनुष्ट इन्द्र मनुता यजमानाय सुन्वते ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
गामश्च पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥ ॥ अ० ८ । १ ॥ १—३॥

भा०—(१) व्याख्या देवो अत्रिकल सं० [१२२] १० ।

(२) (यद्) यदि [अहं] (गोपति०) वाणी, भूमि और गौओं का पति=पालक (स्याम्) होकर तो हे (शचीपते) शक्तिमान् ईश्वर ! सात्मा और मायाविद्या के स्वामिन् ! मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) मनस्वी, नितोन्दिद्य मुनिमान् पुरुष (दित्येव) दान कर दू और (शिष्ये) विद्या की शिक्षा दू ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम सत्य सत्तों के दर्शाने वाली सत्यमयी [धेनु] ज्ञानरस का पान कराने वाली बेटवाणी । सुन्वने) ज्ञान सम्पादन करने वाला (यजमानाय) स्वाध्याय यज्ञ के करने वाले अभ्येता को (पिप्पुयी) पुष्ट करती हुई (गाम्) वाणी और (अश्वं) आत्मिक सामर्थ्य युक्त आत्मा का भी यज्ञ (वृहे) प्रदान करती है :

[१८३७] आपो नि ण्डा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

मह रणाय कक्षमे ॥ १ ॥

[१८३८] यो च शुचनमो रसस्तस्य भाजयेनह न ।

उजनीरिष मानर ॥ २ ॥

[१८३९] तस्मा अङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च न. ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० १०१ । ३ । १-१ ॥ अर्थः १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (आपः) प्राप्त होने वाली ज्ञान जलधाराओं ! आप ही (मयोभुव) शान्ति और कल्याण के उत्पन्न करने वाली (स्य) हो । ज्ञानजल (न) हमें (ऊर्जे) बल या आनन्द-रस प्राप्त करने के लिये (दधातन) अपने में धारण करें । और वे (॥) हमें (महं) बड़े (रणाय) वमणीय, दर्शनीय इष्टदेव के (चक्षुसे) दर्शन प्राप्त करने के लिये (दधातन) समर्थ और पुष्ट करें ।

(२) हे (आपः) प्राप्त्य योगभूमियो ! (य.) जो (व) आप का (शिवतमः) प्रति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम (रस.) आनन्दरस है (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ । आप साक्षात् (उशतीः) पुरों के प्रति उनको पुष्टि करने की जान्नसा से भरी (मातरः) माताओं के समान हम मुमुक्षुओं के (मातर.) ज्ञान देने हारी हो ।

(३) (आप.) प्राप्ततम योगभूमियो ! (तस्मा) उस रस के प्राप्त करने के लिये ही (व) आपके प्रति हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमाम) प्राप्त हों । (यस्य) जिसके (चयाय) देवर्ष के लिये आप (जिन्मथ) हमें प्रेरित करते हो । (न.) और जिसके लिये हमें (जनयथ) उत्पन्न करती हो, उसके लिये समर्थ भी होती हो ।

उन मन्त्रों में आपः जल है । वह वे जल हैं जो आत्मा नदी में पड़ा है । जिसका वर्णन व्यासदेव ने किया है—

‘ आत्मा नदी संपमपुण्यतीथां सत्योदका शीततटा दधोभिः ’ ॥

अथवा जिसमें वह कर भक्त कहा करते हैं—

‘ ओपधं आन्द्हीतोय वैद्यो नारायणो ॥ १ ॥ ’

[१८४०] धान आ वातु भेषजं शम्भु मयासु ना हृदं ।

प्र न आयुषि नारिपत् ॥ १ ॥

[१८४१] उत धान पतासि न उत आतोत नः सरा ।

स नो जीघातये कृधि ॥ २ ॥

१८४०—अपिदेवता च नान्यत्र सहितान्द्रम्यते । अग्न्यद्वारे स्तु दीवान्द्रमुदापिनमायणमाप्यगाविरत्येव शेष । अग्नेरमुद्रिष्यदितादां केन ‘ इति साम ’ इतिमात्र प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यदेदो वात ते गृहेऽमृतमिहितं गुहा ।

तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥ अ० २० । १८६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८४] पृ० ६६ ।

(२) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (पिता मसि) प्राणवायु के समान साधारण पात्रक हैं, (उक्त आता) और प्राण वायु समान भस्म पांशु करके वाले और (नः सखा) हमारे आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । (सः) वह आप (नः) हमें (जीवात्तवे) जीवनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ (कृधि) करो ।

(३) हे (वात) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! (यत्) जो (अद) वह कभी न मूलने योग्य (अमृतं) अमृतरस, परमज्ञान (ते) तरे (गृहे) शरण में (गुहा) हृदयरूप गुहा में (निहितं) गुप्तरूप से रक्षित है भगवन् ! (तस्य) उसको (नः जीवसे) हमारे जीवन के निमित्त (धेहि) प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपो जानिष्वहिरण्यं विभ्रदत्तं सु-
पण । सूर्यस्य मानुमृतुया वसानः परित्वयं मेघमृज्जी
जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेत शिश्रिये विश्वरूपं तेजं पृथग्व्यामधि यत्नं
बभूव । अग्निरिक्षे स्वम्मादिमानं मिमानं कानि क्रान्ति
वृणो अश्वस्य रेतः ॥ १ ॥

[१८४५] अथ सहस्रा परि युक्ता वसान सूर्यस्य मानु यक्षा दा-
धार । सहस्रदाः शतदा भूरिदात्रा घर्ता दिघा भुवनस्य
विशपात ॥३॥१२॥ अग्वेद नास्ति । अथर्वणि यजुषि च नो लभ्यते ॥

भा०—(१) (विश्वरूप.) नाना प्रकार के रूपों को धारण करने द्वारा जीवात्मा (वाजी) ज्ञानवान् और बलवान् होकर (सुपगुंः । उत्तम प्रज्ञान और पालन करने के सामर्थ्य से सम्पन्न, या उत्तम मार्गगामी (श्रेष्ठ) कर्मशायों को परिपाक करके (हिरण्यय) तेज.सम्पन्न (जनि भ्रम्) अपने मूलभूत (अत्क) आत्मस्वरूप को (विश्रुत्) परिपुष्ट करता हुआ (श्रुतुथा । प्राणों के बलपर अथवा नियत काल के अनुसार स्वयं (सूर्यस्य) आदित्य के (भानुं) कान्ति और तेज का (वसान) धारण करता हुआ (स्वय) आप से आप (मध) उस पवित्र परमपुरुष को (परिजान) ज्ञान कर लेता है प्राप्त होजाता है ।

(२) (विश्वरूप तेज । नाना प्रकार के नर, तिर्यक् आदि रूप धारण करने वाले जीवात्मारूप प्राणि में (अप्सु) जलो में (रेत) पीपे रूप होकर । शिशियं । आश्रय प्राप्त किया (यत्) पुनः उसके बाद वह (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अवि सम्यभूव) जीवरूप से उत्पन्न हुआ उसके बाद वह (स्वं) अपने (महिमान) सामर्थ्य को (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में भी (मिमान) व्यापारित करता हुआ अर्थात् पक्षी या सूर्य रूप में प्रकट होकर । घृण्य) उस धीर्यसङ्ग सव के पिता (अश्वस्य । परमात्मा के (रेत) धीर्य की (कनिष्कान्ति) महिमा का वर्णन करता है ।

(३) वह विश्वरूप अग्नि (यज्ञ.) आत्मारूप (दिव.) स्वर्ग का (धर्ता । धारक और (भुवनस्य) इस लोक की (विश्वपति.) समस्त देहधारी प्रजाओं का परिपालक, (सहस्रदा) सहस्रों पदार्थों का दाता (शतदा.) सैकड़ों पदार्थों का दाता और (भूरिदाया) हर एक वस्तु की बहुतसी मात्रा का दाता, अथवा बहुत बार देने वाला, (महत्या) हजारों (युक्ता) देहों को (वसान.) धारण करता हुआ (सूर्यस्य) सूर्य के (भानुं) तेज को भी (दाधार) धारण करता है ।

यह समष्टि रूप से जीव शक्ति का वर्णन किया है जिसका संज्ञा में वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस रूप से किया है ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव मे चोपभोक्ता ।
 स विश्वरूपान्निगुणस्त्रिवर्मा प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभिः ॥
 अंगुष्ठमात्रो रावितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
 बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥
 सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रोसाम्बुबृहद्यात्मा विवृद्धिजन्म ।
 कर्मानुरागानुक्रमेण देही स्थानेषु रूपारूपभिसंप्रपद्यते ॥
 स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
 क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां सयागहेनुरपरऽपि ॥
 अनाद्यनन्तं काक्षित्वस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
 विश्वस्यैकं परिवोष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥

[श्वेता० अ० ५]

[१८४६] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा घनन्ता अभ्यञ्जना
 त्वा । हरण्यपन्न वदन्ता दूनं यमस्य योनौ शकुनं
 भुरग्युम् ॥ १ ॥

[१८४७] ऊर्ध्वो गन्धर्वो अत्रि नाके अस्थात्प्रत्यङ्गचित्रा निभ्र-
 दस्यायुधानि । वसाना अत्क सुरभिन्दशे कं स्वाशर्ण
 नाम जनन प्रियाणि ॥ २ ॥

[१८४८] द्राक्ष' समुद्रमाम यज्जिगानि वश्यन् गृध्रस्य चक्षुः
 विधर्मन् । भानुः शुक्रण शोचिषा चकानस्तुनीये चक्रं
 रजसि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० १० । १०३ । ६-८ ॥

भा०—(१) हे (वेन) कर्म सन्तान उत्पन्न करने हारे आत्मन् ! कान्ति-
 मन् ! दृष्टः (स्था) तुम्हका (यद्) जब (हृदा) हृदय से, मन से (घनन्त)
 कामना करते हुवे विद्वान् लोग (अभि अभ्यञ्जत) साक्षात् करते हैं तब वे

(हिरण्यपदं) ज्योति-स्वरूप, (वरुणस्य) सबसे बरने योग्य, दुष्टों के निवारक परमात्मा के (दूत) पास गमन करने द्वारे और (भ्रातृपुत्रम्) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले (शकुनम्) जातिमान् तुम्हें को उस समय (यमस्य) समस्त ससार के नियामक जगदीश्वर (नाके) दुःख-हित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्तं) विचरण करते हुए (मुपयं) उत्तम ज्ञान और कर्म रूप पदों के धारक पक्षी के समान (अभ्यचक्षत) दसते हैं।

(२) (गन्धर्वे) गौ-किरणों के धारण करने द्वारे सूर्य (समाव) अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह चैन-भेदाधी आत्मा प्राणरूप से (चित्रा) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को (विभ्रत्) धारण करता हुआ (कं) आनन्दमय, सुख रूप (स्थानः) सुख के समान तेजोमय (नाम) परम रूप (दृशौ) देखने (ज्ञिये) अधिनाक) माघ मार्ग में (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है और (प्रियाणि) अपने प्रिय पथेष्ट कामनाओं को (जनयत) उत्पन्न करता है, यथेष्ट विचरता है।

(३) वह ज्ञानी आत्मा (यत्) जब (द्रष्टुः) स्वयं बड़ने द्वारे नद के समान गति करता हुआ (समुद्रम्) आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गंभीर परम जगदीश्वर (जिगाति) प्राप्त होता है या (विधर्मन्) अपने विशेष धारण करने द्वारे अगाध की दवा में स्थित होकर (गृध्रस्य) इसकी आकांक्षा करने द्वारे याचक के समान मोक्ष भिलापी (चक्षसा) दृष्टि में (परयन्) अपने स्वामी (दसन्) सब वह स्वयं (भानुः) सूर्य के समान (शुक्रण) शुद्ध (शोचिषा) नेत्र से (चक्रान) देदास होना हुआ (तृतीये) तारण जाता द्वारे, परम, सर्वो कृष्ट, (रजसि) प्रकाशमान पद में (प्रियाणि) अपने प्रिय मनोरथों को (पूर्य) पूर्ण करता है। इति मन्त्रः सप्तः ।

इति विशोध्ययः समाप्तः ॥

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽधः ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ॥

श्रुति — १—४ अप्रतिरथ ऐन्द्र. । ५ अप्रतिरथ ऐन्द्र प्रथमयो. पायु-
मोरद्वजः चरमस्य । ॥ अप्रतिरथः पायुर्भारद्वजः प्रनापतिश्च । ७ श्रामो भारद्वजः
प्रथमयोः । ८ पायुर्भारद्वज प्रथमस्य, तृतीयस्य च । ॥ अथ ऐन्द्र. प्रथमस्य, गो-
तमो राहुगण उत्तरयो. ॥ देवता—१, ६, ॥ आक्षोरिन्द्र चरमस्यमस्त. । इन्द्र. ।
बृहस्पति. प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयोः ५ अज्या प्रथमस्य, इन्द्रो मस्तो वा द्वितीयस्य
इपवः चरमस्य । ६, ८ लिंगोक्ता संग्रामाक्षिणः । ७ इन्द्रः प्रथमयोः । ९ इन्द्रः
प्रथमस्य, विश्वेदेवा उत्तरयो ॥ छन्दः—१-४, ६ त्रिष्टुप् । ५, ८ त्रिष्टुप् प्रथमस्य
अनुष्टुप् उत्तरयो । ६, ॥ वृत्तिः चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयोः ॥ स्वरः—१—४, ॥
धैवतः । ५, ८ धैवतः प्रथमस्य, गान्धार उत्तरयो. । ६, ७ पञ्चम. चरमस्य,
गान्धारो द्वयोः ॥

[१८४६] आशुः शिशानो वृषभा न भीमो घनाघनः क्षोमणश्च
र्वणीनाम् । सङ्कन्दनोऽनिमिष एकवीरः शनं सेना
अजयत्साकामिन्द्र ॥ १ ॥

[१८५०] सङ्कन्दनेनानिमिषण जिष्णुना युत्कारण दुश्कप्रवनेन
धृष्णुना । तदेन्द्रण जयत तत्सहस्रं युधो नर ह्युह-
स्नेन वृष्णा ॥ २ ॥

[१८५१] सः पुहस्तैः निषङ्गामर्चशी सं क्षणं स युध इन्द्रो
राणन । सं सृष्टजित्सोमपा वाहुशर्ष्यऽग्रधन्वा प्रति
हितामिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ १० । १०३ । १—३ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार (शिशान.) तीक्ष्णमति, (शीशु.) शीघ्रगामी, (वृषभ न भीमः) वृषभ के समान अति भयंकर (घनाघन) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, (चर्यणीना) मनुष्यों और प्रजाओं को (चोभय.) विस्तुब्ध करने कंपा देने द्वारा, (संक्रन्दनः) शत्रुओं के सुलाने वाला या उनको संग्राम के लिये सुलाने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित (एकवीरः) एकमात्र वीर होकर भी (साकं) एक साथ ही (शत) सैंकड़ों (सेनाः) सेनाएँ (अजयत्) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा (आशुः) व्यापक (शिशान) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जाने के लिये तीक्ष्णमति (वृषभ न भीम) जिस प्रकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क पैठाने वाला, (घनाघन.) आनन्द को निरन्तर वर्णने के लिये साक्षात् धर्ममेव स्वरूप, (चर्यणीना) पदार्थ देखने द्वारा, इन्द्रियों के कर्णों द्वारा उनमें गति देने द्वारा, (संक्रन्दन.) उत्तम रीति से ईश्वरश्रुति का उच्चारण करने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित, निद्रा को भी घराकारी (एकवार) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् होकर यह (साकं) एक साथ ही (शत सेनाः) सैंकड़ों चित्तवृत्तियों को (अजयत्) विजय कर लेता है ।

(२) हे (नर) पुरुषों ! आप लोग (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को सुलाने वाले (अनिमिषेण) आलस्य न भगकने वाले, निरालस्य, सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने वाले, (दुग्ध्ययनेन) अविचलित रहने वाले (वृष्णुना) धैर्यवान्, (इपुहस्तेन) धनुष बाण हाथ में लिये, (वृथा) बलवान् (इन्द्रेण) राजा में जिस प्रकार शत्रुओं को दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आप लोग स्वराज से भी अधिक कष्टमय्य मोक्ष को (संक्रन्दनेन)

स्तुतिशील, (अनिमिषेण) अनासृसी, (जिष्णुना) सब इन्द्रियों विषयों पर जयी, (युत्कारेण) विघातक विघ्नों से युद्ध करने हारे (दुष्पयवनेन) साधना से अविचल (धृष्ट्युना) धैर्यवान् (इषुहस्तेन) ज्ञान को हाथ में लिये (वृष्ट्या) सुखवर्षक (इन्द्रेण) इस इन्द्र आत्मा से (तत् सहध्वं) वह सब सहन करो और (युधः) आने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (जयत) जीत जाओ ।

(३) जैसे (सः, इन्द्रः) वह इन्द्र राजा (इषुहस्तैः) धनुष बाण हाथ में लिये सुभटों से (वशी) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी इषु अर्थात् कामनाओं से प्रेरित, मरुतु अर्थात् पुकादक्ष प्रायों से समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपने विद्युत् जल वायु एवं प्रवहण आदि मरुतों द्वारा समस्त ससार पर वश कर रहा है । (सः) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (निषङ्गिभिः) बाणों से मरे तूखीर तर्कस वाले सुभटों के द्वारा नगर वा राष्ट्र का (वशी) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र निष्ठ निरन्तर सज्ज रहने हारे प्रायों द्वारा ही शरीर पर एवं परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चभूतों द्वारा सब ब्रह्माण्ड पर वश कर रहा है, (स इन्द्रः) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (युधः) युद्ध करने द्वारा होकर (गयेन) अपने सहायक प्रजागण से (सस्रष्टा) मिल कर (सस्रष्टजित्) अपने विपक्ष में शत्रुसंघ को जीत लेता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा (युधः) समस्त देहों को चलाता हुआ (गयेन सस्रष्टा) अपने प्राणगण से ही इस देह को उचित रीति से निर्माण करके स्वयं अपने से विपक्ष में सज्जठन किये काम, क्रोध, लोभ मोहादि इन्द्रिय व्यसनों को एक बार ही जीत लेता है । और परमात्मा भी (गयेन) प्राकृतिक वैकारिक गण द्वारा समस्त ससार का (मरुष्टा) रचने द्वारा होकर ही सब संसार के संघात से बने पदार्थों को अपने वश करता है । और जिस प्रकार राज्याभिषेक युक्त राजा (सोमपा) सोमरस का पान करके (बाहुशर्षा)

अपने बाहुयुक्त में उत्कृष्ट होकर (उग्रधन्वा) भयंकर धनुष लेकर (प्रतिहिंताभिः) फेंके गये वायों से ही (अस्ता) सब शत्रुओं का नाश करता । उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा (सोमपा) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान (प्रति हिताभिः) प्रेरित इन्द्रा, पितास्ता, सुपुम्ना आदि नादियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है । और वह परमात्मा भी समस्त संसाररूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या अदान करने, या अपने वश करने द्वारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में संसार की कर्म व्यवस्था से सब को धुन डालने द्वारा होकर अपनी प्रेरित शक्तियों से (अस्ता) संहार करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८५२] बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्रौ अपबाधमानः ।
१ १२ २२ ३ २ २ १४ २२ ३ १ २ ३ १२
प्रभञ्जन्तसेनाः प्रमृषा युधा जयन्तस्माक्रमेण्यविता
२२
रथानाम् ॥ १ ॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १२ २२
[१८५३] वलभिषायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान
३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३
उग्रः । अभिवीरो अभिसत्वा सहाजा जैत्रमिन्द्र रथमा
२ ३ २
तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१८५४] गोत्रभिदं गोविदं वज्रवाहुं जयन्तमजम् प्रमृणन्तमो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
जसा । एयं सजाता अनुवीर्यध्वमिन्द्रं सखायो अनुसं-
२
रभध्वम् ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० १० । १०३ । ४०६ ॥

भा०—(१) (बृहस्पते) बृहती, वेद वाणी के परिपालक आत्मन् ! जिस प्रकार बृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सेनापति (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, (अमित्रान्) शत्रुओं को दूर ही से मार भगाता हुआ अपने (रथेन) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (रक्षोहा) सब समाधिविधातक विघ्नों, काम, श्लोघ आदि भावों का विनाश कर । (अमित्रान्) स्नह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों से उत्तेजक प्रलोभनों, या द्वेषभावों को वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ (रथेन) अपने मन या देहरूप रथ से (परिदीया) परित्राट् हाँकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर । और जिस प्रकार सेनापति (सेना प्रभञ्जन्) शत्रु सेनाओं को तोड़ता फोड़ता हुआ और (युधा) अपने महारों से (प्रमृणन्) प्रतिहिंसक शत्रुओं को (जयन्) जीतता हुआ अपने पक्ष के रथों का रक्षक होता है उसी प्रकार हे बृहस्पते इन्द्र ! आत्मन् ! तू भी (सेना. प्रभञ्जन्) मोह से उत्पन्न दोषवृत्तियों को विनाश करता हुआ (युधा प्रमृणन्. जयन्) प्राणायाम के बल से विरोधी इन्द्रियों को वश करता हुआ (अस्माक) हमारे (रथानाम्) इन देहों का (आविता) परिपालक (पृथि) हो ।

(१) जिस प्रकार सेनापति (वलविज्ञायः) अपने समस्त सेना सामर्थ्य को भली प्रकार जानता है और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, (स्थविरः) पुराना, अनुभवी या स्थिर रूप से युद्ध के अवसर पर जमने वाला, (प्रवीर.) सब वीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, (सहस्वान्) शत्रु के आक्रमण को सहन करने वाला, (वाजी) ज्ञान और वेग से युक्त, (सहमानः) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ, (उग्र) तीक्ष्णस्वभाव होकर (अभिधीरः) वीर सुमर्त्यों को साथ लिये (अभि.) सत्य (सात्विक) बल और तेज को धारण करने (गोविन्) अपने अश्वों

को रासों से सम्भाल कर (जैत्रं रथं) विजयशालि रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार है (इन्द्र) आत्मन् ! तू भी (बलविज्ञायः) आत्मिक बल को जान कर (स्थविरः) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तप साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, (सहस्वान्) सहनशील (वाजी) ज्ञानवान्, (सहमानः) तपस्वी तितिष्ठ, (उग्रः) तेजस्वी, (अभिवीरः) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को संग लिये, (अभिरथा । सत्त्वं गुणं में प्रतिष्ठित होकर (सहो-जाः) ओजस्वी और (गोविस्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्रं रथं) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ऋषि पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा ।

(३) जिस प्रकार (गोप्रीभदं) शत्रुकुलों का नाश करने, (गो-विदं) पृथिवी के विजेता या विद्वान्, (वज्रबाहुः) वज्र अर्थात् सङ्ग हाथ में लिये (अग्नं जयन्तं) सम्राट् करते हुए (ओजसा) अपने ऋषि स (प्रमृणन्तं) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा अनुसार युद्ध करते हैं । उसी प्रकार है (मरुताय) समान आस्थान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और पिश्याओं ! (सजाताः) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारो । आप लोग भी (गोप्रीभदं) उग्र देहबन्धन को तोड़ने हारे, (गोविदं) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हार ज्ञानी, (वज्रबाहुः) वैराग्य या ज्ञानरूप तप-चार को हाथ में लिये (ओजसा) अपने तप और ज्ञान सामर्थ्य के काम, क्रोधादि अन्तः-शत्रुओं को (प्रमृणन्तं) मर्दन करते हुए (अग्नं) चरम, प्राप्य स्थान (जयन्तं) विजय करने हारें (इन्द्र) (इन्द्रम्) आत्मा के (अनुवीर्यम्) पीछे २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहो और (शत्रु संरक्षणं) और उसके शासन में ही सब कार्य करो ।

उ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २ उ
[१८५५] अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीर. शतमन्यु-
१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
इन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनापादयुध्योऽस्माकं सेना
■ १ उ २

अवतु प्रयुत्सु ॥ १ ॥

१ २ उ २ उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २
[१८५६] इन्द्र आसायता बृहस्पतिर्दक्षिणा यक्ष पुर एतु साम् ।
उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

देवसंनानामभिभञ्जताना जयन्तीनां मरुतो यन्वग्रम् ॥ २

१ २ उ २ ■ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राक्ष आदित्याना मरुतां शर्व-
उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २

उग्रम् । महामनसा भुवनच्यवानां घोषो देवानां जय-
■ १ २

तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० २० । १०३ । ६—६ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्र.) वीर सेनापति, या राजा, (गोत्राणि अभि) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनको (सहसा) अपने बल से (गाहमानः) धीरता हुआ, (अदयः) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीर.) वीर, सामर्थ्यवान्, (शतमन्युः) सैकड़ों प्रकार से उन का श्रेष्ठ करने द्वारा, (दुश्च्यवनः) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनापाद्) शत्रुसेनाओं का विजेता, (युत्सु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (गोत्राणि अभि) देहों के भीतर (सहसा गाहमान.) अपने बल के सामर्थ्य से विचरता हुआ, (अदय.) तपस्या आदि द्वारा शरीर के सुखों पर विचार न कर, निर्भय होकर तप करने द्वारा (वीर.) सामर्थ्यवान्, (इन्द्र.) आत्मा (शतमन्यु) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त होकर

(दुरज्यवन.) अग्नि सिद्धि के प्रसोभनों में गिरकर, दृष्टम होकर,
(पृथनापाद्) दुर्युक्तियों का दवाता हुआ, (रायुध्य) अद्वितीय फिर,
(युत्सु) सम्राजों में आसुर और सात्विक भावों के परस्पर भ्राम्य के पक्ष
तरी पर (अस्माक सेना) हमारी सात्विक सेना, उत्तम प्राण वृत्तियाँ
(प्र अवतु) रक्षा करे ।

(०) (इन्द्रः) जिस प्रकार राजा (आसा) इन मरुद्गण पैरों
का या वस्तु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी
प्रकार (इन्द्र) आत्मा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । टप्क (पुर) आग
आगे (पृहस्पति) शृङ्गी=बाकू का पालक मन, राजा के मन्त्री के समान,
(दक्षिणा) कार्यकुशल, यज्ञशास्त्रिणी चित्तिशक्ति और (यज्ञ) पुनर्भाव
परमात्मा और (सोमः) मद्यका प्रेरक प्राण आग २ (वसु) चमके हैं ।
(अभिमञ्जरीना) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, (यजमाना)
असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (देवसेनानी) शिष्यगुरुगण ३४
वृत्तियों (अग्रं) आगे २ गुण ध्यान पर (जगत्.) एकादश प्रण (वसु)
समन करते हैं ।

(३) (शृणु) सुनों की शक्ति करने वाले सिद्ध धर्मधेय मन धि
सायक (इन्द्राय) इन्द्र, आत्मा वा (राजाः) मद्यक सेनाओं (वसुधा)
सन्नेत्रेष्ठ परमात्मा वा धीर (आदित्यानां) १२ आदित्य और (इन्द्रः)
११ इनका (उग्र) अति प्रबल (जगत्.) मद्यक मरुद्गण हैं । 'मरुद्गण' का
विनाश चित्त एवं ज्ञान के धारक हैं (भुवनेश्वरानी) भुवनेश्वर हैं ।
देव के बन्धन को नाश करने वाले (जगत्.) आसुरभावों पर विजय करने
वाले (देवाना) इन सात्विक मरुद्गणों का (धीर) धीर । उद्गम १ ।
ऊपर उठें ।

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मंत्र स्पष्ट है । परमात्मा पक्ष में भी इन मंत्रों की कल्पना है । प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है । उस कल्पना को चित्त में रखकर हृदय-भक्तों को लगाना उचित है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१८५८] उद्धर्पय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां मनांसि ।

उद्धर्पय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां मनांसि ।

[१८५९] अस्माकमिन्द्र समृतेषु व्रजेष्वस्माकं या इषवस्ता

जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मा उ देवा

अवता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पृष्ट-

माना । तां गूह्यत तमसापवनेन यथैतेषामन्यो अन्ये

न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

आष ॥ अ० १० । १०३ । १० । ११ । यजुः १७ । ४३ । ४३ ।

तृतीया ऋग्वेदे नस्ति किञ्च यजुः १७ । ४३ । अथ ३ । २ । ६ ॥

भा०—(१) (मघवन्) राजन् ! (आयुधानि) युद्ध-साधनों को (उद्-हर्पय) उठा कर । (मामकानां) मेरे सम्बन्धी (सत्त्वनां) सार्विक वीर, वलवान् पुरुषों के (मनांसि) हृदयों को (उद्) हर्षित करो । हे (वृत्रहन्) दुर्ग को घेरने वाले शत्रु के नाशक राजन् ! सेनापते ! (वाजिनां) ज्ञानों पुरुषों और अश्वों (वाजिनानि) शानयुक्त कत्तों कोशस्त्र और वेगों को (उद्) वदाओ और (जयतां) रथाना विजय

शक्ति रथों के (घोषाः) नाद (उद्) ऊँचे उठें। इसी प्रकार आपस में पक्ष में—(भवन् आयुधानि उद्दृपय) परमात्मन् या आत्मन्। हमारी दृष्टवृत्तियों से युद्ध करने के, या उसको प्रहार करके निकट भगाने के साधनों को उत्तम करो। [मामकानां सायनां गमाभि उद्] मेरे निजी बलशाली साधक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो। हे (युद्) हन्। (वाजिनां वाजिनानि उद्) अज्ञान भावरथों के विनाशक प्रकार स्वरूप आत्मन्! इन्द्रियों की संविद्ध शक्तियों को बढ़ाओ। [जयन् रथानां घोषाः, उद्] विजयशील सिद्ध आत्माओं के घोष, घंटवाज और मृगियों भी उद्य स्वर से हों।

(२) (इन्द्रः) राजा (अस्माकं द्यजेषु ममृतेषु) हमारे ऊपर जिन शत्रुओं के ऊपर हों वे भी हमारी रक्षा करें। (अस्माकं याः इपयः सा जयन्तु) हमारे जो बाण हैं वे ही विजयशील हों। [अस्माकं वीराः, उत्तरे भवन्तु] हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली निर्भीक हों। (देवाः द्येषु अस्मान् उ भवन्तु) देव=दिव्य शस्त्रधारी विद्वान् मेमांसे गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें। आप्यात्मपक्ष में—(इन्द्र) आत्मा (अस्माकं) हमारे (द्यजेषु) प्राणों के (ममृतेषु) परस्पर समान हो जाने पर रक्षा करे, (याः) जो (इपयः) मानसशक्तियाँ हैं (ताः) [जयन्तु] बलवान् हों। (अस्माक वीराः) हमारे आत्मान् परस्पर घाँटा (उत्तरे) उत्कृष्टतर होकर रहें। (देवाः) विद्वान् योग का ईश्वर शक्तियों (द्येषु) ईश्वर की उपामना के अवसरों में (अस्मान्) [उ] (भवन्तु) सुर मार्ग में जाने में सफल हों।

(३) (हे (ममृते) प्राणों के समान वेगवान् हों वे ही परस्पर विरैली होंगे! (असौ या परेषां मेग) वह जो प्राणों की मेग। [अभ्युपगम्य शरधमाता] बन्ध में इसी भाव भावों करती हुई। (कर्म)।

हमारी तरफ बढ़ती चली आ रही है (तां) उसका (अपव्रतेन तमसा गूह्यत) क्रियाशक्ति को नष्ट करनेहारे तम या मूर्खों से ढक दो (यथा असी अन्यो अन्य न जानात्) जिससे एक दूसरे को न पहचान सकें, इसी प्रकार अध्यात्मपक्ष में—हे (मरुतः) प्राणों ! (असौ) यह (या) जो । सेना । मोहादि वृत्तियों की परम्परा (परेषां) प्रलोभनों की अपने आत्मा में अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों को (आजसा) आत्मा से बल से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई, उसके बल या तेज पर आवरण डालती हुई (अभ्यैति) साक्षात् आ रही है और मुग्ध कर रही है (तां) उसको (व्रतेन) कर्म और ज्ञान के दृढ़ संकल्प द्वारा (तमसा) उसको शिथिल कर ढाकने वाले बल से (अप गूह्यत) ढक दो । (यथा) जिससे (अन्यः) एक अनात्मभाव (अन्यं) दूसरे भाव को (न जानात्) न टापस करे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६१] अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गूहाणाङ्गान्यन्वे परेहि ।
३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभिप्रेहि निर्दह ह्यस्तु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा
सचन्ताम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[१८६२] प्रेतो जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६३] अत्रसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २
यच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छ्रियः ॥ ३ ॥ ५ ॥

आपे चनी, १० । १०६ । १२, १३ ॥ आपा, यजु० १७ । ४५ ॥
द्वितीया यजु० १७ । ४७ ॥ तृतीया अ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

भा०—(१) (अमीपा) इन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रति लोभयन्ती) विमोहित करती है (अन्वे) पापप्रवृत्त ! व्याधे ! या हे भीति ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले अर्थात् उनके शरीरों का नाश कर दे । (अभिग्रेहि) उनतक पहुँच और (हस्तु) हृदयों में प्रवेश करके उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) जला । (अमित्राः) शत्रुगण (अन्धेन तमसा) अन्धकारमय मोह से (सचन्ताम्) युक्त हो जाय । अध्यात्मपक्ष में—हे पापप्रवृत्ते ! (अन्वे) सन्मार्ग से दूर हटाने वाली । (अमीपा) इन हमारे प्राणों के (चित्त) चेतन सामर्थ्य को (प्रतिलोभयन्ती) प्रलोभन करती हुई तू (अङ्गानि) हमारे अङ्गों, शरीरों को (गृहाण) ग्रहण करती है । अतः (परेहि), तू दूर हट जा । और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास, (अभिग्रेहि) जाती है और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (हस्तु) हृदयों में (निर्दह) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये (अमित्राः) द्वेष भावों से युक्त पुरुष ही (अन्धेन तमसा) अन्धकार भरे मोह से (सचन्ताम्) घिर जाते हैं ।

(२) हे (नरः) नेता लोगो ! (ग्रेत) आगे बढ़ो (जयत) और विजय करो । (वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमात्मा (शर्म) सुख और शान्ति (पच्छतु) दे । (वः) आप लोगों की (बाहुष) बाहुषं (उग्राः) उग्र बलवान् (सन्तु) हों (यथा) जिससे (अनाद्यत्याः) आप लोग किसी के भी बशीभूत, अपमानित न (असथ) हों ।

(३) हे इषो ! हे (शरव्ये) शरकारण के बने वाय ! (ग्रास संशिते) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! (अवसृष्टा) तू छोड़ी जाकर (परापत) दूर जा । और (अमित्रान्) शत्रुओं को (मय्यस्रव) पहुँच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी को भी (सा) मत (उच्छिष्य.) दवा रहने । अर्थात्तपश्च में—हे (शरभ्ये) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसंगिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ते ! (अवमृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अग्नि-यान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तराधों को भी (प्रपञ्च्य) प्राप्त कर । (अमीषां) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी ना उच्छिष्य-) दवा न रहने ।

नवेतदक्षरं ब्रह्म स प्रायास्तदु वाक्मनः ।

तदेतत्तत्तं तदमृतं तद् वेदव्यं सौम्य विद्धि ॥

धनुर्गृह्णात्तपनिषद् महाश्रं एव उपासानिर्गितं सधर्षित ।

आयम्य तद् भागवतेन चेतसा क्षयं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्क्षयमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक २ । ३, ३, ४)

मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य क्षय मानकर उसको वेध करने के लिये सौपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाय पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्प्रमाद होकर क्षयने पर लक्ष्मण होजाने का उपदेश किया है ।

३ १ २ २ १२ २१ ३ १ २ २ १ २ ३ १ ०
[१८६४] कदा. सुपर्णा अनुयन्त्वेनान् गृध्राणामक्षमसावस्तु
१ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ०
सेना । मैषां मोक्षघट्टहारश्च नेन्द्र चयांस्येनाननुसंय-
३ १ २
न्तु सयान् ॥ १ ॥

उ १ २ ३ १ ३ २ ३ २
[१८६५] अभित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छुनूयतीममि ।

■ १२ २२ ■ ३ १ २ ३ १ २

उभौ तमिन्द्र वृत्रहन्निश्च दहतं प्रति ॥ २॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६६] यत्र चाणां सम्पतान्ति कुमारो विशिखा इव ।

■ ■ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥

३ २ ३ २ २

विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

भाष्ये ऋग्वेदे न स्तः । तत्र द्वितीया अथर्व० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया अ० ३ । ७५ । १७ ॥ यजु० २७ । ४८ ॥

भा०—(१) (सुपर्णाः) उत्तम पक्ष वाले (ककाः) गीध (एना)
उन शत्रुओं पर (अनु यन्तु) जा दौड़ें । (असौ सेना) वह अनुसेना
(गृध्राणां) गीधों का (अन्नम्) भोज्य (अस्तु) हो । हे इन्द्र ! राजन्
(एषा) इनमें से कोई भी (मा मोचि) न बच रहे और (अघहारश्च)
कोई पापी भी (न) न छूट जाय (एनान् सर्वान्) इन सब पर (यथा-
सि) गीध और कौवे ही (अनु संयन्तु) लगे ।

अध्यात्म पक्ष में—(सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान वाले, (ककाः) सुता-
मिक्षापी पुरुष (एनान्) अन्तः—शत्रुओं, ब्रह्मनिष्ठा ■ भिन्नों के (अनु
संयन्तु) पीछे लग जावें ! अर्थात् उनका निमूल नाश किये बिना न छोड़ें ।
(असौ सेना) यह हुए वासनाओं की सेना (गृध्राणाम्) गृध्र के समान
उत्पत्तनशील प्राणों के (अन्नम् , भोज्य बने अर्थान् प्राणों के विरोध से
उनका नाश किया जाय । (एषा मा मोचि) इन पापमात्रों में से एक
भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (अघहारश्च न) पाप का भागी

भी कोई विचार शेष न रह जाय । (वयांसि) गतिशील प्राण भी (पुनान्) इनको (अनुसंयन्तु) पीछा करके सर्वनाश करें ।

(२) हे (मधवन्) इन्द्र ! राजन् ! (अस्मान्) हमारे प्रति (अग्नि शत्रुयतीम्) साक्षात् शत्रुरूप होकर चढ़ाई करती हुई, (ताम्) अमर्या चक्षवती (अग्निप्रसेना) शत्रु सेना का आप (अग्नि. च) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर (प्रति दहतं) भस्म कर डालो । अध्यात्मपक्ष में— हे (इन्द्र) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मधवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अग्निप्र=द्वेषसाधों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा से मिलकर भस्म करदो ।

(३) (यत्र) जहाँ (विशिखाः) शिखारहित (कुमार इव) बालकों के समान (बाणा) बाण (सम्पतन्ति) पड़ रहे हों (तत्र) वहाँ (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान्, परमेश्वर (अदितिः) अखण्डित सामर्थ्यवान् होकर हमें (शर्म) शान्ति और सुख । यच्छतु) प्रदान करें और (विशाहा) सदा (शर्म यच्छतु) कल्याण करें ।

२५ ॥ ५४ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१८६७] विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हन् रुज ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विमन्युमिन्द्र वृत्रहअग्निप्रस्याभिदासतः ॥ १ ॥

१ ॥ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१८६८] वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यो अस्मा अग्नि दासत्यधरं गमया तम ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६९] इन्द्रस्य बाह्व स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रनीकाव-

३ २ १ २ ३ २ १ १ २ ३ ॥ २ ३ १ २

सह्यौ । तौ युज्जीत प्रथमौ योग आगतं याम्यां जितः

२४ ३ ३ २ ३ २

मसुराणा सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आवे द्वे अ० १० । १५२ । ३ । ४ ॥ तृतीया अग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृत्रन् ! (रघ०) राक्षस पुरुष को (विजिह) विनाश कर । और (मृध विजिहि) हमारे उत्तम द्रव्यों पर लोभ करने वाले पुरुषों को भी विनाश कर । (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने वाले निम्नरूप शत्रु को (हनू) आघातकारी उन दाढ़ों को (विरुज) तोड़ डाल, जिन्हें वे हमारे ऊपर गढ़ाना चाहता है । और (अभिदासत०) हमारे नाश करने वाले और हमें दास की तरह पराधीन करने वाले (अभिन्नान्) आभ्यन्तर शत्रुओं के समान शत्रुओं के (मन्युं) अभिमान और क्रोध को भी (वि) विनाश कर ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न) हमारे (मृध०) शत्रुओं को (विजिहि) नाशकर और (पूतन्यत) अपनी सेनाएं बढ़ाना चाहने वाले लोगों को भी (नीचा यच्छ) नीचे डाल दे । (य) और जो (अस्मान्) हमें (अभि) दास्यति) सब प्रकार विनाश करता या दास के समान पराधीन करता उसको (तम०) तृण्या में या अन्धकार में (गमय) डाल । अघ्यात्म पक्ष में—आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश । हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे ।

(३) (इन्द्रस्य) राजा के समान इस आत्मा की (युवानौ) जघनो भरी सदा बलवान् (स्थविरा) मज्जवृत्त, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, (अनाद्युषौ) कभी पराजित न होने वाली (सुप्रतीकौ) उत्तम रीति से शत्रु का मुकाबला करने वाली, (असह्यौ) शत्रुओं को लिये असह्य (बाहू) उनको पीड़ा देने वाली, प्राण और अपान दो बाहुए हैं (प्रथमे) प्रारम्भ में ही (योगे आगते) सग्राम के समान कठिन, अमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर (तौ) उन दोनों को उचित रीति से (युञ्जीत) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तवृत्ति स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे । (बाभ्या) जिससे (असुराणां) अन्य प्राणों का (महत्) बड़ा भारी (सहः) बल (जितस्य) बल किया जाता है ।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राक्षामृतनानु-
वस्ताम् । उर्वोर्वीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानुदेवा
मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अन्धा अमित्रा भवताशीर्पाणाश्हय इव ।

तेषां वो अग्नितुष्टानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥ २ ॥
[१८७२] यो नः स्वाऽरणो यश्च निष्ट्यां जिघासति । देवास्तं सर्वे
धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शम्भु वर्म ममान्तरम् ॥ ३ ॥

पथमा तृतीया ■ अ० ६ । ७९ । १८ । २९ ॥ तृतीया अर्थ० १ । १६ ॥

३. ५ । ण्यो पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया अर्थ० नास्ति ॥

भा०—(१) (ते) तेरे (मर्माणि) कोमल मर्मों को (वर्मणा)
कवच से (आच्छादयामि) ढकता हूँ । (सोम- राजा) दीप्तिमान् राजा
के समान सचका प्रेरक सोम, परमेश्वर (अमृतेन) अमर आत्मशक्ति से
(अनु वस्ताम्) और भी सुरक्षित करे । (वरुण-) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर
(ते) तुम्हें (उर्वोर्वीय) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख (कृ-
णोतु) उत्पन्न करे । (जयन्तं) चरन मोक्ष को प्राप्त होते हुए (त्वां)
तुम्हें देखकर (देवा-) विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) हर्षित हों ।

(२) हे (अमित्रा) द्वेषभाव रखने वाले शत्रुओं ! तुम लोग (अ-
शीर्पाणा) बिना दिमाग के, बिना सिरवाले क्रोधी (अहय इव) साँपों

१८७०—३. यो नः स्वो यो अरणः स जात उत निष्ट्यो यो अस्मां अमित्रा-
सति' इति (१ । २६ । ३) इत्यस्या- पूर्वार्धभाग । 'देवास्तं
सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं' इति (१ । १९ । ४) इत्यस्या
उत्तरार्धभागः इति पाठमेव निवेदितः अर्थ० ।

के समान (अन्वा. मवत) अन्वे, आविवेकी होजाओ । (अग्निनुष्ठाना)
अपने ही क्रांति की भाग से फुंके हुए, (तेषां) उनके (धरं धरं) उत्तम २
पुरुष या शिर को (इन्द्रः) राजा, प्रभु नाश करे ।

(३) (य.) जो (नः) हमारा (स्वः) सम्बन्धी होकर भी या
स्वयं (अरय.) अप्रियाचरण करने वाला है और जो (निष्ट्यः) दूर
रहकर भी छुपे रूप में (न.) हमें (जिघासति) मारना चाहता
(त) उसके (सर्वे) समस्त (देवा.) विद्वान् पुरुष (धूवेन्तु) विनाश
करें । (ब्रह्म) वेदज्ञान और परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तर) भीतरी
(धर्म) कवच या रक्षासाधन हो । (शर्म) वह सुखकारी, आनन्दधन
सब का शरण दाता हो (मम) मेरा (अन्तरम्) भीतर का एकमात्र
रक्षक साक्षी है ।

[१८७३] ^{३ १ ३}मृगो न ^{३ १}भूमि. ^{२ ३ १}कुचरो ^{२ ३ १}गिरिष्ठा. ^{२ ३ २ ३}परावत आ ^{१ २}जंगम्या
^{१ २}परस्या. ^{३ २ ३}सुकं स ^{१ २}शाय ^{३ १ २}पविमन्द्र ^{३ १}तिग्म ^{२ २}वि शत्रू. ^३ताडि
^२वि मुधो ^{२ २}नुदस्व ॥ १ ॥

[१८७४] ^{३ २}भद्रं ^{३ १ ३}कर्णोभि. ^{३ १ २}शृणुयाम ^{३ १ ३}देवा भद्रं ^{३ १ २}पश्येमाक्षभिर्वजत्राः ।
^{३ १ २ २ २}स्थिरैरगैस्तुष्टुवा ^{३ १ २ ३}सस्तनूभिर्व्यशेमहि ^{३ १ २ ३}देवहितं यदायु ॥

[१८७५] ^३स्वस्ति न ^{३ १ ३}इन्द्रो ^{३ १ २}वृद्धथवाः ^{३ १ २}स्वस्ति नः ^{३ १ २}पूरा ^{३ १ २}विश्वयन्ता ।
^३स्वरित नमन्ताद्यो ^{३ १ २}आग्निनेमि. ^{३ १ २}स्वस्ति नो ^{३ १ २}वृहस्पतिर्दधातु ॥

धानु ॥ स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आणा श्र० २० । १८० । २ ॥ उत्तरे द्वे ॥ १८६ । ८. ६ ॥

भा०—(■) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप [गिरिष्ठाः कुचर मृग. न
भूमिः] पर्वतों में रहने वाले, कुलित रूप से विचरण करने वाले, जंगलों

हिंसक हाथी या सिंह के समान भयकारी एवं आप (मृग-) योगियों से भीतरी गुफा में खोजने योग्य, या आत्म-परिशोधन करने योग्य हैं, आप (कुचर) कहा नहीं गयापक हो ? अर्थान् सर्वव्यापक हो । आप (गिरिष्ठा) विद्वानों, त्राणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हो और साथ ही सबके ऊपर शासक होने से सब में भयप्रद हो । (आ परस्था परायत । दूर से आ देश, अज्ञान्य मुक्तिधाम से हमारे हृदयों तक या 'परा' ब्रह्मविद्या के भी । परायतः) निगूढ परम रहस्यमय भाग से आप (आजगन्ध) आते हो, या प्रकट होते हो । हे (इन्द्र) परमात्मन् (सूक्त) प्रसरणशील (तिग्मं) तेजोमय, तीक्ष्ण (पविम्) परमपावन ज्ञानवज्र को (सशाय) अति तीक्ष्ण करके (शत्रून्) अन्तः-शत्रुओं को राजा के समान (वि ताडि) विनाश करो और (मृधः) हमारा सर्वस्य अपहरण करनेहारे डाकुओं के समान तामस भावों को (वि लु-पस्व) परे करो, दूर हटाओ ।

(२) हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) कल्याणकारी, एवं सदा सुखपूर्क उत्तम उपदेशकों को (शृणु-याम) श्रवण करें । और हे (यजत्राः) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनेहारे भद्र पुरुषों ! हम सब (अक्षभिः) आँखों से (भद्रं) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों को (पर्येयं) दर्शन करें और (तु-ष्टुवासाः) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए (स्थिरैः) दृढ़ (अग्रे) अगों और (तनूभिः) दृढ़ शरीरों से (यद्) जो (आयु) आयु (देयदित) विद्वानों के हित में लगे या देव, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान करे उम दीर्घ ११६ या १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम (वि अशेमहि) भोग करें ।

(३) (वृद्धश्रवाः) महान्, यशस्वी और ज्ञानवान् (इन्द्रः) परमे-श्वर (न) हमारा (स्तास्ति दधानुः) कल्याण करे । (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ,

सब पदार्थों का स्वामी, (पूषा) सब ससार का पालक, पोषक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (अरिष्टनेमिः) जिसके काल-रूप महान् शासन का कोई विनाश नहीं करता वह (तार्यम्) सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । बृह-स्पति) वेदवाणी का पति, स्वामी, पालक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे ।

॥ ओ३म् ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

वेद-भगवान् का स्वामी भगवान् हमारा सदा कल्याण करे ।

इति तृतीयाऽर्धप्रपाठकः नवमश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इत्युत्तरार्चिक समाप्तः ॥

इति सामवेदसंहिता समाप्ता ॥

रामग्रन्थद्वयचन्द्रेण्डे पृष्ठ्यां पौवे सिते शनौ ।

आलोकभाष्यं वेदस्य साम्नोऽवधिमुपागमत् ॥

इति श्रीभाग्डीगुरुकुलविश्वविद्यालयस्य प्रतिष्ठितविद्यालकारपदवीविभूषतेन

कृतिज्ञातः स्वमहोदयविद्यालयाध्यक्ष श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

श्रीम.स.नी.वी.रा.भलकुनेन गुरुकुलप्रवक्तृ

[१००२] इन्द्रा मदाय वावृधे श्वसे घृत्रहा नृभि ।

तामेन्महत्स्वाजषूतमभे हवामहे सवाजेपु प्र ना विपत् १

[१००३] असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः । असि दम्भस्य

चिद्धयो यजमानाय शिक्तसि सुन्वते भूरे ते वसु ॥ २ ॥

[१००४] यदुधीरत आजयो घृष्णाव धीयते घनम् । युद्धत्वा

मदच्युता हरी क हनः कं वसौ दधाऽस्मा इन्द्र वसौ दधः

॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० १ । ८१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे वीर । (सेन्यः असि) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत (पराददिः) शत्रुओं को पराजय देने हारा है । और तू (दम्भस्य) स्वल्प थोड़े मामर्थ्य वाले निर्बल को (चित्) भी (वृधः) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिक्तसि) देता है । जो 'हन' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेता के संग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा 'सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करने स्वल्प (दम्भ) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त योग्य वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अवि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरिथा विपूवनो मधोः पिबन्ति गौर्य । या इन्द्रेण

सयावरार्चुणा मदन्ति शोभथा वस्वार्चु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभते' इति अ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
[१००६] ता अस्य पृथनायुव सोमं श्रान्ति पृथयः। प्रिया इन्द्रस्य

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धिरे पुरुषि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

अ० २ । द० ४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [४०१] पृ० २०८ ।

(२) (ताः) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृथनायुव.) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य यदार्थों तक पहुँचने की चेष्टा करने वाली (पृथयः) इस तक पहुँचने वाली, (प्रिया.) प्रिय (धेनवः) गौश्रों के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (श्रान्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने वाले आत्मा की शक्ति (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्नवृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (तां) वे इन्द्रियरूप गौश्रं (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले वज्र को (नमसा) शरीर के वज्र को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये), पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

उ १६ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१३] प्राणा शिशुर्महीना ह्रिन्वन्नतस्य दीधितिम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१०१४] उप त्रितस्य पाप्योऽऽमक्त यद् गुहा पदम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

यज्ञस्य सप्तधामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[१०१५] त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्टेऽन्यद्वयम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

मिमीते अस्य योजना सुक्रतुः ॥ ३ ॥ १८ ॥

श्रु० ६ । १०२ । १-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७०] पृ० २२५ ।

(२) (यत्) जब (त्रितस्य) मन, वाक्, काय तीनों से साधना करने हारे योगी आत्मा के (पाप्यो.) पापाण के समान कुचल डालने वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर वह आनन्दरस (गुहा) भीतरी आकाशगुहा में (पदं) स्थिति को (उप अमक्त) प्राप्त होता है, तब (यज्ञस्य) यज्ञस्वरूप आत्मा के (सप्तधामभिः) सातों ऊपर के धारणीय प्राणों से (प्रियम्) आनन्दकारी, उस आत्मानन्दरस का अस्वादन किया जाता है ।

(३) (त्रितस्य) साधक आत्मा की (धारया) धारणा से केवल (त्रीणि) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं । और उन तीनों (पृष्टेषु) रस के सेचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने (रयिम्) कान्तिसय ऐश्वर्य को (ऐरयत्) प्रकट करता है । (सुक्रतुः) उत्तम योगी साधक (अस्य) इस आत्मा के (योजना) तीनों योग द्वारा-जागृत स्थानों को (वि मिमीते) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है । तीन स्थान-१ महारन्ध्र,

१०१५—'पृष्टेऽन्यद्वयम्' इति श्रु० ।

■ आज्ञाचक्र या सोमचक्र और ३ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और अमन्य ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०१६] पवस्य वाजसातये पवित्रे धारया सुत ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिस्पवित्रे अद्भुहः ।

३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं जातं न मानरः पवमान विधर्मणि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०१८] त्वं द्यां च महिष्रत पृथिवीं चाति जन्निषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ६ । १०० । ६, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (वाजसातये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (धारया) धारणावती बुद्धि द्वारा निरन्तर (सुतः) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, तू (मधुमत्तरः) बराबर कम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और (देवेभ्यः) विद्वानों के हितार्थ या प्राणों के ज्ञान के लिये (पवमान) प्रकट हो ।

(२) हे (पवमान) व्यापक रसस्वरूप ! (मानरः) गौण (जातं) उत्पन्न हुए (वत्सं न) बछड़े को जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं । उसी प्रकार (धीतयः) ध्यानवृत्तियाँ (विधर्मणि) विशेष धारणा के स्थल, (पवित्रे) पवित्र धारणास्थान में (अद्भुहः) एक दूसरे का चात-प्रतिचात या विरोध न करती हुई (हरिं) सब दुःखों के हारक (स्वा) तुझको उत्सुकता से (रिहन्ति) आस्वाद लेती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं ।

.. (३) हे (महिमत) महान् कर्मों के करने वाले परमात्मन् ! आप (यां) आकाश या सूर्य, और (पृथिवीं च) पृथिवी दोनों लोकों को (अति जम्भिये) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो । (पवमान) सर्वव्यापक ! (महिस्वना) अपनी महिमा से आप (दापि) रूपवान् जगत् को कवच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुन्वथा) धारण कर रहे हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१०१६] इन्द्रुर्वाजी पवते गोन्वोधा इन्द्रं सामः सह इन्धन्मदाय ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ति रक्षो वाधते पर्यरति धरिस्त्वन्वजन्वृजनस्य राजा ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१०२०] अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रि दुग्धः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २

इन्द्रुरिन्द्रस्य मख्यं जुपाणां देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

[१०२१] अभि प्रतानि पवते पुनानां देवो देवान्स्त्रेन रमेन पृञ्चन् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रुर्दुर्मययुतुथा वसानां दश क्षिपो अयत सानां अये

॥ ३ ॥ २० ॥

श्रु० ॥ ६७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [५४०] पृ० २७० ।

(२) (अध) और (अद्रिदुग्धः) दूध साधनों द्वारा वा धर्ममेघ द्वारा उत्पन्न किया गया (इन्द्रुः) आनन्दरूप सोमरस (मध्वा) आनन्दरूप, मधुर, मनोहर (धारया) धारया द्वारा (पृचानः) संपुक्त होकर (रोम) बन्ध-घापक पदार्थों (तिरः) पार करके (पवते) बहता या प्रकट होता है । यह (इन्द्राय) आत्मा की (मख्यं) मित्रभाव, प्रेम वा आनन्दरूपता को (जुपायाः) प्राप्त करता हुआ (देवः) प्रकाशमान, (सामाः) आनन्द-हर्षस्वरूप होकर (देवस्य) दश, आत्मा के (मदाय) दान और आनन्द का कारण होता है ।

(३) (स्वेन रसेन) अपने आनन्द एव से (देवान्) विद्वानों या इन्द्रियों को (पृच्छन्) पूछ करता हुआ (देवः) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, (पुनान्) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं व्यापक होकर (व्रतानि) सब कर्मों को (अभिपवते) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है । (इन्द्रः) आत्मा (अतुथा) प्रत्येक ऋतु के अनुकूल, या प्राणों के बल से (धर्माणि वसान) धारण-सामर्थ्य या नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पादन करता हुआ (अन्ये सानो) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखग्राहक अन्तःकरण में (दश विप) दशों विप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को (अभ्यत) प्राप्त होता है ।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब ऋतुओं में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है ।

इति षष्ठः सर्गः ।



[१०२२] आ० ते० अग्न इवीमदि धूमन्त देवाजरम् । यद्धस्या ते०
पनीयसी समिहीदयनि द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥ ॥

[१०२३] आ० ते० अग्न क्रचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते । सुध्वन्द्र
दस्म विशपते हव्यवाद् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥

[१०२४] ओमे सुध्वन्द्र विशपत दवी श्रीणीष आसनि । उतो न
उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥ ३॥२१॥

अ० ५ । ६ । ४, ५, ६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन् !
हे (देव) सबके प्रकाशक ! (ते) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुझ से हम

१०२३—'शोचिषस्पते' । १०२४—'ओमे सुध्वन्द्र सर्पिषो' इति अ० ।

(शुमन्तं) प्रकाशित, (अजरम्) न जीर्ण होने वाले, अमर, नित्य अपने आत्मा को (हवीमहि) प्रकाशित करते हैं । (यत्) और जो (धवि) मध्य आकाश में (पनीयसी) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य (समिद्) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप ज्योति (दीदयति) चमकती है (स्य०) वह भी (ते) तेरा ही प्रकाश है । इम कारण परमात्मन् ! (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही (इपं) उत्तम ज्ञान और अन्न (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(२) हे (ज्योतिषः स्पते) सूर्य आदि ज्योतियों के परिपालक परमात्मन् ! (शुक्रस्य) शुद्ध कान्तिस्वरूप (ते) आपको (अच्चा) ऋग्वेद के ज्ञान द्वारा (हविः) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि को (तुभ्यं) आपके लिये (आहूयते) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । (सु० चन्द्र) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने हारे ! हे (इस्म) सबके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्ता ! हे (इव्यवाद्) समस्त संसार को वहन करने हारे ! (विरपते) समस्त प्रजाओं के स्वामी (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त (इपम्) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(३) हे (सु० चन्द्र) सर्व उत्तम पेश्यों स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, (विरपते) प्रजेश्वर ! हे (शवस स्पते) सर्वशक्तिमन् ! सब बलों के स्वामिन् ! आप (उमे) दोनों (दर्वी) अज्ञान का दहन करने हारे ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को (आसनि) अपने सुखस्थानीय तप में (भीणीपे) परिपक्व करते हो और (उक्थेषु) प्रशंसा करने योग्य धर्म-युक्त कर्मों में, यज्ञों में (नः) हमें (उरुपुष्पां) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें (इपं स्तोतृभ्यः, आ भर) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[१०२५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २} इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥१॥

[१०२६] त्वामेन्द्र॥ अभूरासि त्वं सूर्यमरोचय ।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महौ असि ॥२॥

[१०२७] विभ्राजज्यातिपा स्वाऽऽरगच्छो रोचनोन्दिव ।

देवास्त इन्द्र सख्याय येभिरे ॥३॥२२॥ अ० ६ । सू० २३ । १-३॥

भा०—(१) अपारया देवो अविकल सं० [३८८] पृ० २०० ।

(२) हे इन्द्र ! (त्वम्) आप (अभिभू०) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् (असि) हो । (त्वं) आप ही (सूर्य) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करते हो । और आप ही (विश्वकर्मा) समस्त मंसार के बनाने वाले (विश्वदेवः) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब ऐश्वर्यों के दाता, सब देवों के वेष और (महान्) सबसे बड़े पूजनीय (असि) हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (दिवः) सूर्य आदि समस्त बौलोक के (रोचनं) प्रकाशक, आनन्दमय, सात्विक (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर (स्व) आनन्दमय मोक्ष में (अगच्छ) व्यस्य हो । (देवाः) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येभिरे) प्रयत्न करते हैं ।

[१०२८] असावि सोम इन्द्र त शनिष्ठ घृण्णवागहि ।

आ त्वा पृणक्तिन्द्रिय रजः सूर्यो न राश्मिभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहन् रथ युक्ता ते महारणा हरी ।

अर्वाचीनं सुने मनो आवा कृणोतु वरनुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहता प्रतिघृण्णवसम् ।

ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥

अ० २ । सू० २३ । २, ३, ४

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४७] पृ० १८० ।

(२) हे (वृत्रहन्) वित्रों के नाशक ! (रथम्) रमणीय, अत्यन्त प्रिय, रस रूप हृदय या आत्मा में, रथमें चोर पुरुष के समान (आ तिष्ठ) आ, विराज । (ते) तेरे (हरी) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और वाणी दोनों को (ब्रह्मणा) मन्त्र द्वारा (युक्ता) वाणी (वस्तुना) मनोहर ध्यान द्वारा हमें (ते) तेरे (अर्वाचीनां) अभिसुख (सु-कृत्योः) उत्तम प्रकार से करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

(३) (हरी) हरण करने हारे मन और वाणी, ज्ञान और कर्म दोनों (अप्रतिष्टुष्ट-शवमं) अवश्य और असह्य, बलवान् (इन्द्र) आत्मा को (अर्वाणां) विद्वानों या इन्द्रियों की (सुस्तुतीः) उत्तम स्तुतियों और अभिज्ञायाओं को और (मानुषाणां) मनुष्यों (यज्ञम्) यजन योग्य, उपार्य और सगति करने योग्य परमेश्वर को (उप बहतः) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तमः खण्डः ।



इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति तृतीयाः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति पट्टोऽध्यायः ॥



अथ चतुर्थः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ सप्तमोऽध्यायः



अपिः—१ (१) आकृत्यामाया (२, ३) मित्रानिवापरी च । २, ११ कश्यपः । २ मेधाविधिः । ३ शिरण्यम्बुः । ४ सप्तमारः । ५ जमदग्निः । ६ कुम्भ

आगिन्सुः । ८ वसिष्ठः । ९ मित्रोक्तः जातः । १० ददावाभः । १२ सत्तप्यः ।
 १३ वनदीयुः । १४ धुनःशेष आत्रीगर्तिः । १५ मान्वाता यौवनाथः । १५
 मधुच्छन्दा वैशागिन्सुः । १७ अग्निः कादयपो देवलो वा । १८ अणवयः क्षात्तयः ।
 १९ पवननारदो । २० मनुः सानरणः । २१ कुन्सः । २२ वन्धुः सुवन्धुः श्रुतव
 न्धुर्विप्रवन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । २३ मुवन आप्त्यः साधनो वा भीवनः ।
 २४ अपि रक्षाः, प्रतीकज्ञय वा ॥ देवता—१—६, २१—२२, १७—२१
 एगानः सोमः । ७, २२ अग्निः । १० इन्द्राग्नी । ६, २४, १६, इन्द्रः । १५
 सोमः । ८ आदित्यः । २३ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, ८ आती । २—६, ८—२२,
 १६, २४, १७ गायत्री । २२, १५, इहती । १६ महापृथ्विः । १८ गायत्री
 सतोवृद्धी च । १६ छण्डिक् । २० अनुष्टुप् २१, २३ त्रिष्टुप् । २२ मुरिगवृष्टी ।
 स्वरः—१, ७ निपाः । २—६, ८—११, १३, १४, १७ पङ्क्तः । १—१५,
 २२ पङ्क्तः । १६ पञ्चमः । १८ पङ्क्तः मध्यमश्च । १६ अपभः । २० गान्धारः ।
 २१, २३ धैवतः ॥

[१०३१] ज्यानिर्घृष्टस्य पचते मधुप्रियं पिना देवनां जनिता
 विभूवसुः । दधानि रत्नं स्वधयोरेपाव्य मदिन्तमो मत्सर
 इन्द्रिया रसः ॥१॥

[१०३२] अभिरुन्दन् कलशं वाज्यर्पति पतिर्दिवः शतधारो विच-
 क्षणः । हरिमित्रस्य सदनेषु सीदति ममृजानोऽविभिः
 सिन्धुभञ्जपा ॥२॥

[१०३३] अग्रे सन्धूनां पचमानां अर्घ्यमग्रे वाचा अग्रिया गोषु
 यच्छसि । अग्रे वाजस्य भजसे महश्चनं स्वायुधः सौतृभिः
 सोम सूरसे ॥३॥ १॥ अ० ६ । १०—१२ ॥

भा०—(१) (यज्ञस्य) यज्ञ, जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड का (ज्योतिः) प्रकाशक (प्रियम् । सबसे उत्कृष्ट (मधु) मनुष्य करने योग्य, योग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, (देवाना पिता) २४ देवों का पात्रक और (जनिता) उत्पादक, (विभूवसुः) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करने और सबको वास कराने द्वारा, (स्वधयोः) अपनी सत्ता से देह और विद्या को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर (अपीच्यम्) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक (मदिन्तमः) सबसे अधिक आनन्दमय और (मत्सरः) सबके हृदयों में आनन्द को बहाने वाला (इन्द्रियः) ऐश्वर्यमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, (रसः) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा (रत्नं) समस्त ज्योतिर्मय पियूष, हिरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोक्ष को (दधाति) धारण करता है ।

(२) (वाजी) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (दिवः पतिः) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नाश होने से बचाने वाला स्वामी, (शतधार । सैकड़ों धारण-शक्तियों से युक्त, (विचक्षणः) समस्त संसार को देखने वाला, (अभिक्तन्दन्) जादू करता हुआ, गर्जता हुआ (कलशेषु) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान (अप्रति) व्याप्त रहता है । और वही (हरिः) सबके कष्टों और तारों को हरने वाला, सबको गति देने द्वारा (मित्रस्य) अपने सौहार्दपूर्ण आत्मा के (सदानेषु) निवासगृह, देहों में भी (सीदति) व्यापक होकर विराजता है । वही (धृपा) सब सुखों का वर्धक (सिन्धुमि.) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली (अविभिः । तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा (मर्मज्ञान) चार २ शोषा, पाँच २ खोजा, या साक्षात् परिष्कृत किया जाता है ।

(३) हे आत्मन् ! तू (सिन्धूना) उन सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों प्राणों के (अग्ने) आगे ही (पथमानः) उद्योति-स्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्ने) वाणी के भी आगे और (गोषु) प्राणेंद्रियों के भी (अग्निः) नेता के समान (अग्ने) आगे होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता । (वाजस्य) ज्ञान और यज्ञ का स्वामी प्राण के भी (अग्ने) आगे (महद् धनं) बड़े भारी आनन्दरूप फौज को (भजसे) धारण करता है और (सु आयुधः) उत्तम सत्संग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तियों से सम्पन्न होकर है (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन् ! (सोतृभिः) योगियों द्वारा (सूयसे) साक्षात् किया जाता है ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
[१०३४] अखुक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

३ १ ३ १ २ २
शुक्रालो वीर्याशुचः ॥१॥

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३५] शुम्भमाना ऋतायुभिर्भुज्यमाना गमस्त्योः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पवन्ते वारं अग्नये ॥२॥

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३६] ते विश्वा दाशुष वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पवन्तामान्तरिच्या ॥३॥ २॥ अ० ६ । १६४ । ३-६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४८२] पृ० २२४ ।

(२) (ऋतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करते वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुम्भमानाः) स्तुति किये गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गमस्त्योः) अन्धकार को दूर करने हारे, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (भुज्यमानाः) अपने को परिष्कृत शुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अग्नये) आत्मा से उत्पन्न, या

अप्यय, अधिनाशी (चारे) सत्र कष्टों के धारक, रक्षास्थान, अमय परमेश्वर में (पवन्ते) विचरते हैं ।

(३) (ते) वे (सोमाः) सोम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् भोगीजन (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के लिये (दिव्यानि) दिव्य, पारलौकिक और (पार्थिवा) इहलोक के और (आन्तरिक्षा) मध्यमलोक के (वसु) वास योग्य ज्ञानरूप ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ ॥ ३ १५ २५ ३ १ २ ३ १ २
[१०३७] पवस्व देववीरनि पावत्र सोम रंक्षा ।

१ २ ॥ १५ २५
इन्द्रमिन्द्रो वृषा विश ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१०३८] आयज्यस्व महि प्सरो वृषेन्द्रो धुञ्जवत्तमः ।

१५ २५ ३ २
आ यो नन्धर्णसिस्सदः ॥२॥

१ २ ॥ २५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३९] अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य घेघसः ।

३ १ २ ३ १ २
अपो धसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥

३ १ २ ३ १५ २५ ३ १ २
[१०४०] महान्तं त्वामहीरन्वापां अर्पन्ते सिन्धवः ।

११ २५ ३ १ २
यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०४१] समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।

१ २ ३ १ २ ३ २
सोम पवित्रे अस्मयुः ॥५॥

१ २ ॥ ३ १ २ ३ २ ३ १५ २५ ३ २
[१०४२] अचिक्रद्दृष्ट्वा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।

१५ २५
स सूर्येण विद्युते ॥६॥

^२ ^{१ २} ^{३ १ २} ^{३ १ २}
[१०४३] गिरस्त इन्द्र ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युव- ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २}

याभिमदाय शुम्भसे ॥७॥

^{२ ३ १ २ ३ १ २}

[१०४४] तन्त्वा मदाय घृण्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।

^{२ ३ १ २} ^{३ १}

तव प्रशस्तये महे ॥८॥

^{३ १ २} ^{३ १ २} ^{३ १ २ ३ १ २ ३ २}

[१०४५] गोषा इन्द्रो नृपा अस्यश्वसा वाजसा उत ।

^{■ २ ३ १ २ ३ २}

आत्मा यशस्य पूर्ये ॥९॥

^{■ ■ २} ^{३ १ २ २ २} ^{३ १ २}

[१०४६] अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मभ्रोः पवस्व धारया ।

^{३ १ २} ^{३ १ २}

गर्जन्यो घृष्टिर्माँ इव ॥२०॥३॥ अ० १ । २ । १-६० ॥

भा०—(१) (देवकी.) पृथिवी तत्वों और प्राणों में भी व्यापक, उनको कान्ति देने द्वारा, उनको प्रेरित करने द्वारा, तू हे (सोम) आत्मन् ! (रंझा) वेग से (पवित्रे) हृदयदेश, तू को (असि) अतिक्रमण करके (पवस्व) प्रकाशित हा । ■ (इन्द्रो) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त । (नृपा) सुखों का वर्धक ! तू (इन्द्रं) आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्यमय स्वरूप में (विश) प्रवेश कर ।

(२) ■ (इन्द्रो) आत्मन् । (नृपा) सुखों का वर्धक (घृष्टिर्माँ इव) अति अधिक तेजःसम्पन्न, यशस्वी, होकर (महि) बड़े (पसर) ज्ञान को (आ वन्मस्व) प्रकट कर । और (अर्यसिः) धृतिशील, भुव होकर (योनिम्) अपने आश्रय स्थान या स्वरूप में (सदः) प्रतिष्ठित हो ।

(३) (सुतस्य) योग साधनों से निष्पन्न (वर्धसः) स्वयं कर्त्ता, विद्वान् योगी की (धारा) धारणा शक्ति (प्रिय मधु) अति, आनन्द

अमृत रस को (अधुसत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुक्रतुः) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रजानों और कर्मों और लोकों पर (व सिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है ।

मधु अमृतम् [सा०]

(४) हे सोम ! (यत्) जब (गोमिः) आदित्य की सी किरणों से तू (वासयिष्यसे) आच्छादित हो जाता है तब (त्वा) तुझे (महान्त) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (मिहीः) बड़े भारी (आपः) प्राप्त होने योग्य लोक (अनु अर्षन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करते, तेरे वशवर्ती होते हैं ।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोम) सूर्य (अस्मयुः) हमारा आश्रय (दिवः धरुण) चौलोक को धारण करने वाला (विष्टम्) नाना प्रकार के पियरों का स्तम्भक, आश्रय, (समुद्रः) समुद्रों को बहाने वाला होकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैने (मासुत्रे) विशुद्ध रूप में भासता है । उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा होकर विराजमान होता है ।

(६) ग्याख्या देखो अविकल सं० [४६७] पृ० २४६।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन् ! (ते) तेरे (ओजसा) बल से (अपस्युवः) और, इच्छा को प्रकाश करने वाली (गिरिः) वाणिया (ममृज्यन्ते) परिष्कृत स्वच्छ शुद्ध हो जाती हैं (आभिः) जिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है ।

(८) हे सोम ! परमात्मन् ! (मदाय) हर्ष के लिये (घृण्वये) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (लोककृत्तु) दर्शन करने हारे, सर्वदृष्टा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त ससार के रचयिता (त) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपको (महे)

चढ़े भारी (तव) आपकी (प्रशस्तये) महिमा होने का कारण (ईमहे) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं ।

(६) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (गोपा) वाणियों, गौओं, गरमियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता (नृपा) पुत्र मृत्पादि तथा नेता अमरणी पुरुषों के देने हारे, (अश्वसा) देहों का आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणोन्द्रियों और धन में अश्वों के देने हारे, (वाजसा) ज्ञानबल और अन्न के देने वाले (उत) मी (असि) हो । आप ही (यज्ञस्य) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के (पूज्यः) पूज्य करनेहार, सबसे आदिम (आत्मा) आत्मा, कर्त्ता, स्वामी हो ।

(१०) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (मघोः) असुत की (धारया) धारणा शक्ति (इन्द्रियं) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रस को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये जिस प्रकार (वृष्टि-मान्) वर्षाने वाला (पर्जन्यः) मेघ रस को वर्षाता है वसी प्रकार (पवस्व) बरसाओ ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:०:—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ■ २ ३ १ २
[१०४७] सना च सोम जेधि च पवमान महिश्चवः ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽऽर्विश्वा च सोम सौमगा ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम सृधो जहि ।

१ २ ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

[१०५०] ^{१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} पवीतारः पुनीतन साममिन्द्राय पातवे ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

[१०५१] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वं सूर्ये न आभज तव कृत्वा तवोतिभिः ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

[१०५२] ^{२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} तव कृत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम् ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

[१०५३] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अभ्यर्प स्वायुध सोम द्विवर्हसं रथिम् ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥

[१०५४] ^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} अभ्याऽर्धानश्च्युतो वाजिन्समस्तु सासदिः ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥

[१०५५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वा यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥

[१०५६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} रथि वध्विभ्रमश्विनामिन्द्रो विश्वायुमाभर ।

^{१ २ ३ १ २} अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १० ॥ ४॥ ५० ॥ १ ॥ १-१० ॥

भा०—(१) हे (पवमान) सधन्यापक ! हमें (मर्दि) बहुत पदा (अन्न) यज्ञ और ज्ञान का (मन) दान करो और (जेथि च) पितों पर विजय करो । (अथ) और याज्ञ में (न) हमें (वस्यस.) ऐश्वर्य से युक्त या जानियों में ध्वष्ट (कृधि) करो ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हमें (ज्योतिः) प्रकाश, ज्ञान (मन) दो । (स्व) सुख (मन) दो । और (विश्वा च सौमगा) जनपद सौभाग्ययुक्त वदार्थ दो । (या न हव्यम कृधि) और हमें उत्तम यज्ञ-मान् अर्थात् शर्मा गनों में प्रदत्त करो ।

(३) हे प्रभो ! हमें (दक्षम् उत ऋतुं) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य (सन) दो और (मृध.) प्रतिस्पर्धी, विघ्नकारी हिंसकों को (अप जाहि) विनाश करो, (अथ नः०) और हमें सब में श्रेष्ठ करा ।

(४) हे (पवितारः) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय पातवे) आत्मा को पान कराने के लिये । (सोम) आनन्दरस या ज्ञान को (पुनीतन) उत्पादन करो, प्रकट करो (अथ न००) और हमें श्रेष्ठ करो ।

(५) (सोम) परमात्मन् ! (तव) तेरे (ऋधा) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और (तव ऊतिभिः) तेरी शक्तियों से (त्व) तू (न.) हमें (सूर्ये) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में (आ भज) प्राप्त करा (अथ न.०) और हमें सबसे उत्तम बना ।

(६) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (तव ऋधा) तेरे ज्ञान से (तव ऊतिभिः) तेरी प्रेरणाओं से (सूर्ये) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा (ज्योक्) धिरकाल तक (परमेम) दर्शन करें ।

(७) (सोम) सर्वप्रेरक ! हे (स्वायुध) उत्तम साधनों, यज्ञों से युक्त ! (त्व) तू (द्विवहंस) दोनों लोकों में बढ़ाने वाले (रभिः) प्राणरूप सामर्थ्य को (अभि अर्पे) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ बना ।

(८) हे (सोम) प्रेरक ! (समत्सु) समान भाव से आनन्द प्राप्त करने के अवसरों में हे (धाजिन्) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! (अत-पच्युत) अविचल और (सासहि) अम्यन्तर शत्रुओं को दधाने हारा होकर तू (अभि अर्पे) प्रकट हो (अथ न०) और हमें सबसे श्रेष्ठ बना ।

(९) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (विधमंशि) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नाम शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में (यज्ञैः) कर्म, ज्ञान, तप आदि यज्ञों द्वारा साधकजन (त्वा) तुम्हें ही (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं और तू (अथ न.०) हमें सबसे उत्तम बना ।

(१०) हे (इन्दो) परमेश्वर ! तू (चित्र) संग्रह करने योग्य नाना प्रकार के (अधिनम्) इन्द्रियों का धारण करने हारे (विशायुं) समस्त आयु को देने वाले (रयि) आत्मिक सामर्थ्य, वीर्य को (आ भर) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना ।

[१०५७] ^{२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २} तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।

^{२१ २ ३ १ २} तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

[१०५८] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २} उस्मा वेद वसूनाम्मर्त्तस्य देव्यवसः ।

^{२१ २ ३ १ २} तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

[१०५९] ^{३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २} ध्वजयोः पुरुषन्त्यारा सहस्राणि दशहे ।

^{२३ २ २ १ १} तरत्स मन्दी धावति ॥ ३ ॥

[१०६०] ^{१२ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ ययोस्त्रिंशत तना सहस्राणि च दशहे ।

^{२३ २ ३ १ २} तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ५ ॥ अ० ९ । १८ । १-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्निषण्ड स० [१००] पृ० २४८ ।

(२) (उस्मा) उष्ण की ओर सञ्चरण करने वाली (देवी) सूर्य और प्रकाश की देने वाली, प्रकाशस्वरूप, सोमरूप शुक्र की धारा (मर्त्तस्य) मरुतधर्मा शरीर के भीतर (वसूना) वायु करने हारे प्राणों को (अन्नम्) रक्षा करने का सामर्थ्य (वेद) प्राप्त कराती हैं । सभी (तरत्स मन्दी धावति) वह योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता, दुष्प्रभाव की ओर चला जाता है ।

(३) (ध्वजयोः) दुःखों को श्वय करनेहारे, या स्वतः विनष्ट होने वाले (पुरुषन्त्योः) पुरुषरूप आत्मा के द्वारा ममीष वर्तमान प्राण और अपान दोनों के हे (सोम) परमेश्वर ! (महत्प्राणि) हजारों आस प्रभाम तथा बर,

कर्मों को हम (आदवाहे) धारण करें, अपने वश करें । उन बलों से ही (तरस् स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

(४) हम (ययो०) जिनके बल पर (त्रिंशत् सहस्राणि) तीस हजार ३०००० (तना) दिन, रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पथन्त (आदवाहे) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही (तरस्स मन्दी धावति) वह आनन्दमय जीव सब दुःखों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

[१०६१] एते सोमा असूतत गृणाना शवसे महे ।

मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥

[१०६२] अमि गन्यानि चेतये नृम्या पुनानो अर्पसि ।

सनद्वाज परिस्व ॥ २ ॥

[१०६३] उन नो गोमतीरिषा जित्वा अर्पे परिष्टुम ।

गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६२ । २२-२४ ॥

भा०—(१) (मदिन्तमस्य) अति आनन्दकारक परमात्मा की (धारया) आनन्दरूप धारणा शक्ति (महे) बड़े भारी (शवसे) ज्ञान प्राप्ति के लिये (गृणाना०) वेद का अभ्ययन, प्रवेचन करते हुए (एते सोमाः) वे विद्वान् गुरुजन (अमृत) उत्पन्न हो । 'अवमे' इति अ० ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (चेतये) सर्वत्र कान्ति या प्रकाश करने के लिये (गन्यानि । ज्ञान-वाणियों के योग्य । नृम्यानि) मनुष्यों के चित्तों को (पुनान) पवित्र करता हुआ तू (अमि अर्पसि) साक्षात् प्रकाशित होता है । हे (सनद्वाजः) ज्ञान देने हारे, बल के देने हारे ईश्वर ! आप हमें ज्ञान और बल (परिस्व) प्राप्त करावें ।

(३) हे परमात्मन् ! (जमदग्निना) आत्मा को साक्षात् करने हारे योगी द्वारा (गृणान०) स्तुति किये हुए (न०) हमारे लिये (गोमतीः)

वेदवाणियों से सम्पन्न (विद्या, इष.) सब कामनाओं और ऐश्वर्यों को और (परिशुभ.) सब प्रार्थनाओं को (उक्त) भी (अर्प) पूर्ण स्वीकार कर प्रदान करो ।

[१०६४] ^{३ २ ३} इमं ^{३ १ २} स्नाममर्कते ^{३ १ २} जातवेदसे ^{३ १ २} रथमित्र ^{३ १ २} सम्मदेमा ^{३ १ २} मनीष्या ।
^{३ २ ३} भद्रा हि न. ^{३ १ २} प्रमतिरस्य ^{२ १ २ २ ३} संसद्यन् ^{३ १ २} सस्ये ^{३ १ २} मा ^{३ १ २} रिषामा ^{३ १ २} यथं
 तव ॥ १ ॥

[१०६५] ^{१ २ ३} भरामेधं ^{३ १ २} हृण्वामा ^{३ १ २} हवीषि ते ^{३ १ २} चितयन् ^{३ १ २} पर्यगा ^{३ १ २} गर्भसा
^{३ १ २} ययम् । ^{३ १ २} जीवातये ^{३ १ २} प्रसरा ^{३ १ २} साधया ^{३ १ २} धियोऽग्ने ^{३ १ २} मरय मा
^{३ १ २} रिषामा ^{३ १ २} यथं तव ॥ २ ॥

[१०६६] ^{३ १ २} शक्रेण ^{३ १ २} स्या ^{३ १ २} समिध ^{३ १ २} साधया ^{३ १ २} धियोऽस्य ^{३ १ २} द्या ^{३ १ २} हृषिरदमया-
^{३ १ २} द्युतम् । ^{३ १ २} नमोऽन्या ^{३ १ २} आधह ^{३ १ २} मानुषुऽऽऽमस्यन् ^{३ १ २} यथे
 मा रिषामा यथं तव ॥ ३ ॥ ५० १ । १४ । १, ५, ३ ॥

भा०—(१) (अर्धेण) पूजनीय (जगवेदये) तव के ज्ञाना, इस विद्वान्, परमेश्वर और आकाश के शिष्य (मनीषया) अर्धमी मनि मे (रथम इष) उक्तम ज्ञानम के समान सुखदाक (ययम्) सुख कर्त्तव्य (समदेम) को । (भवति) ज्ञान में (ययम्) हृण्वामा (धमति) उक्तम मने और ज्ञान (साधया) हमारे शिष्य (मरय) कदावा तव सुखकारी होना है । हृषिर (आधह) मिनमाय मे (मा रिषाम) इस कर्मो का न दारे । हे अर्ध ! और हे विद्वन् पुरुष ! (यथं तव) इस मरदने है । हृषिर (आधह) के ज्ञान, साधो का ईश्वर के ज्ञान और शिष्यो का दार के ज्ञानमरदने के यथम् है ।

(२) ॥ अर्धेण ' अर्धमस्य ज्ञानम् ' (मे १) अर्धे शिष्य (हृण्वामा) अर्धम्, अर्धम् ईश्वर ॥ मरदने के (मरदने) इस मरदने को । (हृषिर)

ग्रहण करने योग्य नाचा पदार्थों को (कृण्वाम) सम्पादन करें । और (वय) हम (ते) तेरा (पर्वणा) पोरु २ पर, या पूर्ण साधन या प्रति पर्व, या अध्याय ॥ द्वारा (चित्तयन्त) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, (जीवात्तवे) अपने जीवन के निमित्त (तव सख्ये) तेरे सहयोग या मैत्री में (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों । और तू (प्रतरां) बहुत उत्तम प्रकार से (धियः) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों को (साधय) सुदृढ़ बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! प्रभो ! गुरो ! (धियः) हमारी बुद्धियों को (साधय) उत्तम बना । हम (समिधम्) उत्तमरूप से प्रकाशित होने वाले (त्वा) तेरी सेवा करने में (शकेम) समर्थ हों । (त्वे) तेरे आचार पर (देवाः) विद्वान् लोग (आहुतम्) अद्वापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थों को (अदन्ति) भोग करते हैं । (त्वम्) और तू सूर्य के समान (आदित्यान्) किरणों, चारहों मासों, अथवा आदित्य के समान, तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य (आ वह) प्राप्त कर, हम (तान्) उनको (उष्मासि) चाहते हैं । और हे (अग्ने) प्रकाशक ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (मा रिषाम) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

अति द्वितीयः खण्डः ।

—१०.—

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६७] प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे चरुणम् ।

३ १ २ ३ १ २

अर्यमणं रिशदसम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६८] राया हिरण्यया मतिरियमघृक्राय श्वसे ।

३ १ १ २ ३ १ २

इय विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

[१०६६] ^{१ २}ने स्याम ^{३ १ २}देव वरुण ^{३ १ २ २ २}ते मित्र सूरिमिः सह ।

^{३ २ २ २}

इषं स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ७ । ६६ । ७-६ ॥

भा०—(१) (सूर) सूर्य । समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा । (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्र) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (रिषादस) विघ्नों के नाशक (अर्थमयम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रति-पृथीपे) उन दोनों को उपदेश करता हूँ ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मतिः) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (राया) सम्पत्ति द्वारा, (अयुकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शशसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्र) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेधसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने वाले ! (सूरिमिः) तत्त्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इषं) इष, ज्ञान और (स्वः च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] ^{३ १ २}मिन्धि विश्वा अप ^{३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २}द्विपः परि बाधो जहो मयम् ।

^{१ २ ३ १ २ २}वसु स्वाह नदाभर ॥ १ ॥

[१०७१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}यस्य ते विश्वमानुषभूरदक्षस्य वदति ।

^{१ २ ३ १ २ २}वसु सार्हन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] ^{२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २}यद्दीडानिन्द्र यत् स्थिर यत्पशानि परा मृनम् ।

^{१ २ ३ १ २ २}वसु स्वाह तदाभर ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ४५ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१३४] पृ० ७२ ।

(२) हे इन्द्र (ते) तेरे (भूरे) बहुतसे (यस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनु-
पम्) बराबर सदा युक्त रह कर (वेदति) जानता या प्राप्त करता है (तत्)
वह (स्पर्श) अभिलाषा करने योग्य (यस्तु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम
धन (आ हर) होने प्राप्त करा ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२०७] पृ० १०८ ।

३ २ ३ २४ ■ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सखी वाजेषु कर्मसु ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २४

[१०७४] तोशाखा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।

■ ३ १ ■

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १४ २४ ३ १ २ ३ १ २

[१०७५] इदं वा मद्रिं मघ्वधुक्षत्रिभिर्नर ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । ३८ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो । और अग्ने । विद्वन् । आचार्य
और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान
दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथाश्रित प्रवर्तक एवं प्राणों
साधना द्वारा उपासना करने हारे (स्थ) हो । और (वाजेषु) ज्ञान यज्ञों
में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सखी) सातक पारगत हो । (तस्य)
उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधतम्) हमें ज्ञान कराइये ।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को
प्राप्त होने हारे (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने हारे,
(अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (तोशाखा) चिह्नों के नाशक

हैं, (इन्द्राग्नी) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों।
मुझको उस यज्ञ का ज्ञान कराइये ।

(३) (नरः) विद्वान् मनुष्य (अग्निभिः) अखण्ड व्रतों से (वा)
आप दोनों के (इदं) इस दर्शनीय (मधु) अमृत, ज्ञान को (अधुचन्)
प्राप्त करते हैं (तस्य) उसका (बोधतम्) हमें भी ज्ञान कराइये ।

इति तृतीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१०७६] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्कस्य योनिमासदम् ॥१॥

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१०७७] नस्त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृत्यन्ति धर्षांसिम् ।

१ २ ३ १ २

स त्वा मृजन्त्यायव ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१०७८] रसं ते मित्रो अयमा पिबन्तु वरुण कवे ।

१ २ ३ १ २

पवमानस्य मरुत ॥३॥११॥ ऋ० ३ । ४४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४७२] पृ० २३८ ।

(२) हे प्रमो ! (वचोविद) वेदवाणी का तत्त्व जानने हारे वे (वि-
प्रा) मेधावी लोग (तं) उस स्मरणीय (धर्षांसि) समस्त संसार को
देह के समान धारण करने हारे (त्वा) तुझ परम आत्मा को (परिष्क-
र्यन्ति) नाना प्रकार से धत्तान्त । (त्वा) तुझको ही (आयव) मनुष्य
लोग (सं मृजन्ति) योग साधनों से खोजने और आत्मा को पवित्र करते हैं ।

(३) हे (कवे) अन्तर्दार्शिन् विद्वन् ! (मित्र.) मृत्यु से बचाने
हारा प्राण और (वरुणः) वरुणरूप अपान और (अयमा) समान और
(मरुतः) शेष प्राणरूप भी (पवमानस्य ते) प्रवाहित होते हुए तेरे
(रस) को (पिबन्तु) पान करें ।

[१०७६] ^{३ १ २} मृज्यमानः ^{३ १ २} सुहस्त्या ^{३ १ २} ममुद्रे ^{३ १ २} वाचामन्वासि ।

^{३ २ ३ १ २} राधे ^{३ १ २} पिशङ्गे ^{३ १ २} बहुलं ^{३ १ २} पुरुम्पृदं ^{३ १ २} पवगानाभ्यर्षामि ॥१॥

[१०८०] ^{३ १ २} पुनानो ^{३ १ २} वारं ^{३ १ २} पवमानो ^{३ १ २} अज्यये ^{३ १ २} वृषो ^{३ १ २} अचिक्रवद्वने ।

^{३ १ २} देवानां ^{३ १ २} सोम ^{३ १ २} पवमान ^{३ १ २} निष्कृतं ^{३ १ २} गोभिरञ्जानां ^{३ १ २} अर्षसि

॥२॥१२॥ अ० ६ । १०७ । २१-२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५१७] पृ० २५५ ।

(२) (अज्यये वारं) प्राथम्य या कर्ममय आवरण मे से (पुनानः) पवित्र होता हुआ, (पवमान) व्यापक आत्मा (वृषः) सुखों का वर्षक होकर (वने) इस ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में मेघ के समान (अचिक्रवत्) अनाहत रूप से नाद करता और सुखों की वर्षा करता है । हे (सोम) प्रेरक ! आप (गीर्भिः) शरिर्मयो से (अञ्जानः) अभिव्यक्त होते हुए (देवाना) समस्त प्रकाशमान पदार्थों क (निष्कृतं) स्थान या मूलकारण को (अर्षसि) प्राप्त हो । आत्मपक्ष में—ब्रह्म (गोभिः) प्राणों से (अञ्जानः) प्रकट होकर इन्द्रियों के आश्रय को प्राप्त है ।

[१०८१] ^{३ १ २} एतमु ^{३ १ २} न्यं ^{३ १ २} दश ^{३ १ २} क्षिपां ^{३ १ २} मृजन्ति ^{३ १ २} सिन्धुमानरम् ।

^{१ २ ३ १ २} ममादित्येभिरस्यन ॥१॥

[१०८२] ^{१ २ ३ १ २} समिन्द्रेणात ^{१ २ ३ १ २} वायुना ^{१ २ ३ १ २} सुत ^{१ २ ३ १ २} एणि ^{१ २ ३ १ २} पवित्र ^{१ २ ३ १ २} आ ।

^{१ २ ३ १ २} सं सूर्यस्य गश्मिभिः ॥२॥

[१०८३] ^{१ २ ३ १ २} न नो ^{१ २ ३ १ २} भगाय ^{१ २ ३ १ २} वायव ^{१ २ ३ १ २} पूष्णा ^{१ २ ३ १ २} पवस्व ^{१ २ ३ १ २} मधुमान् ।

^{१ २ ३ १ २} चारुमित्रे वरुणं च ॥३॥१३॥ अ० ६ । ६१ । ७-६ ॥

१०८१—२ 'मृजानो वारे,' वृषावच्छादो वने' इति अ० ।

भा०—(१) (एतम्) इस (उ त्वं) ही उस (सिन्धुमातरं) द्रव्य शील प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को (दश विपः) बाहर फैके गये दस गौण प्राण, इन्द्रियां (सृजन्ति) परिष्कृत करती हैं। वह (आदि-योमे) किरणों के समान सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (सम् अ-वपत) भली प्रकार देखता है। परमेश्वर के पक्ष में—उस (सिन्धुमातरं) समस्त आकाश और सागर आदि निर्माता प्रभु को दशों दिशाएँ सुशोभित करती हैं। वह सूर्य से सबको प्रकाशित करता है।

(२) (इन्द्रं य) आत्मा । उस वायुना) और प्राण से (सुतः) निष्पादित होकर वह आनन्दरस (सूर्यस्य) सबके प्रेरक मुख्य प्राण को (ररिम-भिः) किरणों से (पवित्रे) पवित्र करने द्वारे अन्तःकरण में (सम् वा पति) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है।

(३) (सः) वह (मनुमान्) अमृत स्वरूप (भगव) ऐश्वर्यवान् (वायवे) प्राण स्वरूप (पूण्याः) पृष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और (मित्रे) प्राण और (वरुणे च) अपान के लिये भी (पवस्व) प्रकट हो। परमेश्वर पक्ष में—(मित्रे वरुणे च) सर्व जलवायु और सर्व हृत् वायु के रूप में प्रकट होता है।

इति चतुर्थः खण्डः ।

—ॐ—

अ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०८४] रेवतीर्षं सत्रमाद इन्द्रे सन्तु तुविमजाः ।

३ १ ३ २ ३ १ २

सुमन्नो यामिर्मदम ॥ १४

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१०८५] आ घ त्वावान्मना युक्तः स्तातृभ्यो घृण्णीयीयानः ।

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३

‘अथारक्षं न चक्ष्या’ ।

१२ २२ ३ १२ २२ ३ २
[१०८२] आ यहुत्र शतक्रवाकामं जरितृणाम् ।

३ २२ ३ १२ २२
ऋणोरक्षं न शचीभि ॥३॥१४॥ द० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे (चक्षुः) शत्रुओं के या काम क्रोधादि के धर्पण अर्थात् मान मर्दन करने हारे (चक्षुः) रथ के चक्रों का (अक्ष न) धुग जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भी राण को दूर देश में पहुँचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! (त्वाचान्) तेरे सदृश तू ही (त्मना युक्त) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर (इयान्) इसको अभीष्टतक पहुँचाता हुआ (आ ऋणोः) मोक्ष तक पहुँचता और साथ ही स्वयं भी बड़ा प्राप्त होता है ।

(३) (अक्ष न) जिस प्रकार धुरा (शचीभिः) अपने में लगे अरों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुँचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैकड़ों प्रश्नों से युक्त आत्मन् ! (जरितृणाम्) विद्वान् ज्ञानोपदेशकों को भी (आकाम) उनकी कामताओं के अनुसार (युवः) उनके मनोरथ या प्रार्थित पदार्थ (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (आ ऋणोः) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वाप्तकाम ब्रह्मवेदी जीवनमुक्त की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१०८७] सुरूपकृत्तुमूतये सुदुधामिव गोदुहे ।

२ ३ २ ३ २
जुहूमसि दधिवि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८८] उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पित्र ।

३ २२ ३ २ ३ २
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८६] अथा ने अन्तमाना विद्याम सुमतीनाम् ।

मा नो अतिरूप आगहि ॥३॥१५॥ अ० १ । ४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविकल सं० [१६०] पृ० ८६ ।

(२) (सोमपा) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने द्वारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रचक, सोम्य गुणों को धारण करने वाले विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक आचार्य और परमात्मा (सोमस्य) उत्पन्न कार्य ऊगत् के बीच (स-वना) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिये (न.) हमारे (उप) समीप (आगहि) आवे और (विद्य) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्यो का पान करावे । (गोदा.) ज्ञान की आत्मा को देने वाला (इन्द्र) ही (रचत) इष्ट पदार्थ प्राप्त करने वाले जीव को (मद.) हर्षकारी होता है ।

(३) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्तमाना) समीप में प्राप्त (सुमती-ना) उत्तम मेधावी ज्ञानियों के पास से (विद्याम) हम तेरा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करें (न., आगहि) आप हमें प्राप्त होइये, (मा नो अतिरूप) हमें त्याग कीजिये ।

[१०६०] उभ यदिन्द्र रात्रली आरप्राथोपा इव ।

महान्त त्वा मदीना सन्नज चर्पणीनाम् ।

देवा जनिज्यजीजनद्द्रा जनिज्यजीजनत् ॥१॥

[१०६१] दीर्घ ह्यरकुश यथा गक्ति त्रिमपि मन्तुमः ।

पूर्वेण मघवन् पदा त्रयामजा यथा यम ।

देवा जानज्यजीजनद्द्रा जानज्यजीजनत् ॥२॥

१ २ ३ ५ २ ७ २ ३ २
[१०६२] अथ स्म दुर्हणायतो मर्त्तस्य तनुहि स्थिरम् ।

३ १ २ ७ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अथस्पदं तभी कृत्रि यो अस्मो अभिदासति ॥

३ १ २ १ २ ३ १ २ ७ २

देवी जनित्र्यजीजनद्वा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥१६॥

अ० १०। १२४। १, ६, २ ॥

भा०—(१) व्याख्य देखो अविकल सं० [३०६] पृ० १६६ ।

(२) हे (मन्तुम.) ज्ञानवान् ! सर्वज्ञ ! (यथा) जिस प्रकार आप (दीर्घ) दूर तक जाने वाले (अकुशम्) ज्ञानांकुश को (विमर्षि) धारण करते हो उसी प्रकार (शक्ति) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो । हे (मधवन्) ऐश्वर्यवान् ! (यथा) जिस प्रकार से (यमः) इन्द्रियों और उनके समान लोकों पर वश करने द्वारा (अज.) अजन्मा आत्मा परममा-मा (पूवेण) पूर्व (पदा) ज्ञान को सामर्थ्य से (यथा) व्यापक प्रकृति को वश करता है और तभी (देवी) दिव्यगुण वाली वह प्रकृति (जनित्री) समस्त ससार को उत्पन्न करने वाली (अजीजनत्) इस ससार को उत्पन्न करती है । (भद्रा) कल्याण और सुख को देने वाली (जनित्री) प्रकृति (अजीजनत्) इस ससार को उत्पन्न करती है । और (भद्रा) वह सुखदात्री (जनित्री) माता के समान ससार की जननी होकर भी महिमा को प्रकट करती है ।

(३) हे परमेश्वर (दुर्हणायत.) दुष्ट और (मर्त्तस्य) मनुष्य की (स्थिरं) स्थिति को (अघतनु हि त्म) नीचा कर । (य.) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) गुलाम बनाना चाहता है (तम् ईम्) उसको ही (अध पदं) नीचे के स्थान में (कृधि) करदे । (देवी जनित्री ०.) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तेरी महिमा को

प्रकट करती है । वह कल्याणकारी सब की माता होकर भी तेरी महिमा को प्रकट करती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

^{१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १}
[१०६३] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।

^{१ २ ३ १}
मदेषु सर्वधा अग्नि ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २}
[१०६४] त्वं विप्रस्त्व कविर्मधुप्रजातमन्त्र उ ।

^{१ २ ३ १ २}
मदेषु सर्वधा असि ॥२॥

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१०६५] त्वं विश्व सजाषसो दवासः पीतिमाशत ।

^{१ २ ३ १ २}
मदेषु सर्वधा असि ॥३॥१७॥ अ० ॥ १८ । १-१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४७५] पृ० २२६ ।

(२) (सोम) परमात्मन् (त्वं) तू (विप्र०) मेधावी (कवि०) क्रान्त दर्शी है । (अन्धस) अज्ञ से (जातम्) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट होने वाले (मधु) अमृतस्वरूप वीर्य और आनन्द को (प्र) प्रदान कर । तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा०) समस्त ससार को धारण करने हारा है ।

(३) (त्वं) तू (विश्वे) समस्त (सजाषसः) समान रूप में आप को प्रेम करने वाले (दवासः) विद्वान् लोग (पीतिम्) आपके रसाम्वादन का आनन्द (आशत) प्राप्त करते हैं और (मदेषु) सब आनन्दों में आप ही सबको धारण करने वाले हो ।

^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१०६६] स सुन्वे या वसुना यो रायामानना य इडानाम् ।

^{२ ३ १ २ ३ २}
सोमो यः सुचितीनाम् ॥१॥

[१०६७] यस्य त इन्द्र पिबाद्यस्य मरुतो यस्य धर्मिण्या भगः ।

आ येन मित्रावरुणा करामहे एन्द्रमवसे महे ॥२॥१८॥
अ० ६। १०८। १३-१४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१८२] ॥ २६३ ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर (यस्य) जिस (ते) तेरे रस को (इन्द्र-)
मह आत्मा (पिबात्) पान करता है (यस्य) जिस तेरे रस को (मरुत-)
ये दश प्राण और समस्त विद्वान्गण और (यस्य धो) जिस तेरे रस या
बल को (धर्मिण्या) धर्मिणी अर्थात् समान वायु के साथ (भगः) उद्दान
वायु और सूर्य पान करते हैं और (येन) जिसके बल पर (मित्रावरुणा)
प्राण और अपान दोनों को (आ करामहे) परिचाजित करते हैं और
(इन्द्रम्) जिसके बल पर विद्वान्गण आत्मा को (धो) साक्षात् करते ।
वह व (महे अवसे) बड़ी रक्षा करने के लिये व ही शान्तिप्रद,
अमय स्वरूप हैं ।

[१०६८] तं च सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

शिशुशहन्यैः स्वदयन्त गृक्षिभिः ॥१॥

[१०६९] स वत्स इव मातृभिरन्तुहिन्वाना अज्यते ।

देवावीमदो मातेभिः परिष्कृतः ॥ २ ॥

[११००] अयं दद्याय साधनाज्य शर्धाय वीतये ।

अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥३॥१९॥ अ० ६। १०८। १५-१६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१६६] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभि) दूध पिलाने वाली माताओं द्वारा (वत्स-
इव) जिस प्रकार बच्चा (हिन्वानः) भोजि और परिषिद्ध और पालित

१०६८—३ 'मधुमत्तगः सुतः' इति अ० ।

पोषित होकर (भज्यते) प्रकट होता है । उसी प्रकार (इन्दुः) सोम= विद्वान् शिष्य भी (मातृभिः) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान (हिन्वानः) शिक्षित किया गया (भज्यते) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । वह (देवावीः) विद्वानों के पास जाने द्वारा (मदः) सबको हर्षकारक (मतिभिः) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा (परिष्कृतः) परिष्कृत, अलंकृत होता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष (दद्याय) बलशाली कार्य को (साधनः) साधन करने वाला और (अयं) यह (दद्याय) बल या ज्ञान के प्राप्त करने (वीतये) और कान्ति, दीप्ति या तेज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । (अयं) यह (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये (मधुमत्तरः) माधुर्य आदि गुणों और अधिक युक्त होकर (सुतः) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के इष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

[११०१] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्य गातुविस्तमाः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाभ्यः स्वर्विदः ॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[११०२] ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

सूरासो न दर्शतासां जिगत्सवो ध्रुवा घृते ॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[११०३] सु ष्वाणासो व्यद्विभिधिताना गोरत्रि त्वचि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इषमस्मभ्यममितः समस्वरत्नसुविदः ॥३॥२०॥

अ० २ । १०१ । १०, १२, ११ ॥

भा० — (१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१४८] पृ० २७५ ।

११०१—१. 'मित्रा स्वानाः' २. 'अरे पूताः' इति अ० ।

(२) (ते) वे (पूनासः) पवित्र हृदय-वाले (विपश्चितः) मेधावी (सोमासः) सोम्यगुण वाले विद्वान्- (धृते) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में (जिगत्सवः) उत्पत्ति की तरफ जाने वाले (धृवा-) स्थिर, अखण्डित, दृढ़ (सुरासः) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर (दर्शतासः) दर्शनीय, मन्व्य हों ।

(३) (गोः) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के (अधि त्वचि) आश्रय या संरक्षकता में (सु स्वानासः) ज्ञानवान् होते हुए (अद्रिमिः) 'विद्वानों द्वारा (वि चित्ताना-) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (वसुविदः) 'आत्मज्ञान के जानने वाले (अस्मभ्यम्) हमें (अभित-) सब ओर से (हर्ष) ज्ञान का (सम्-अस्वरम्) उपदेश करें ।

■ १ ३ १ २ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०४] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधत्स्व ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्नश्चिद्यस्य वातो न जूर्ति पुरुमेधाश्चिच्चकवे नरं धातु॥१॥

[११०५] न पना पवया पवस्वाधि श्रुते अवायस्य तीर्थे ।

३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २
पहिं सहस्रा नैगुनो वसूनि वृक्षं न पकं धूनवद्रणाय॥२॥

[११०६] महीमे अस्य वृषनाम शूपे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधेत् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ २
अस्वापयानिगुतः सैहयच्चापामिर्त्रो अपाचितो अचेतः
॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ९ । ५२-५४ ॥

भा०—(३) व्याख्या देखो अविकल स० [५४१] पृ० २७० ।

(२) हे (सोम । परमेश्वर । (अवायस्य) अवयव करने योग्य उपदेश के दाता तुम प्रसिद्ध जगद्गुरु (तीर्थे) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप (श्रुते) वेद में (अधि) और भी अधिक (पूना) इस प्रकार की (पवया) पवित्र करने वाली ज्ञान धारा या धारणा से- (न ।)

। हमारे लिये (पवस्व) उपदेश करो । (वृषं न यकं) जिस प्रकार फल चाहने वाला, पके फलों से लदे वृक्ष को बल से कंपाता है और सहस्रों फल नीचे, आ टपकते । उसी प्रकार आप (नैपुतः) जो सुख से कभी न कहे जाते हों ऐसे अत्यन्त गुहा, ज्ञानों के रक्षक हैं । आप (यष्टि सहस्रा) ६० हजार या १०६० (वसुनि) ज्ञान रत्नों को (रक्षाय) आत्मा के आनन्द प्राप्ति के लिये (धूनतव) हमें प्राप्त कराओ ।

(३) (अस्थ) इस आत्मा के (इमे) ये (वृष नाम) सुखों का वर्णन और उद्धर्तों का नमन, ये दोनों काम (मही) बड़े भारी (शूरे) सुखकारी, मन के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं । हे साधक (वा) और (वृशने) स्पर्शन करने वाले (यधन्ने) हिंसा या पीड़ा से बचना वाले आश्रय त्वनिन्द्रिय में (निगुतः) छुपे हुए, निगूढ़, काम और क्रोध आदि शत्रुओं को (अस्वापयन्) सुजाता हुआ (स्नेहयत च) और उन का नाश करता हुआ तू (अभिग्राहन्) उन शत्रुओं और (अचित्त अप) ज्ञान रहितों को दूर और (अचंस) चेतना रहित जड़ पदार्थों मूर्खों, हृदयहीनों को भी (अप) दूर कर ।

इति पठ० तन्म ।



- [११०७] अग्ने त्वं नो अन्तम उम आता शिवा मुत्रो वरुध्य ॥१॥
 [११०८] वसुरग्निर्वसुधया अच्छा नक्षि शुमत्तमो रयि दा ॥२॥
 [११०९] तं त्वा शोषिष्ठ दादिव सुन्ताय नूनभीमहं सप्रिभ्य ।
 ॥३॥ २२ ॥ ऋ० ५ । २४ । १, २, ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११८] पृ० २२६ ।

(२) (वसु.) मयमें वास करने द्वारा (वसुधया) ज्ञान का अवगुण करने वाला ज्ञानधन (अग्नि) ज्ञानवान् (शुमत्तमः) अग्नि अधिक

तेजस्वी, आत्मा (नदि) हृदय व्यापक है । वह तू हमें (रयि) समस्त जीवन रूप धन को (दाः) दान कर ।

(३) (शोचिष्ठ) कान्ति और तेज से युक्त । (वीदिषः) दीप्तिमान् भवने । प्रभो, हम (सुन्वाय) सुख के लिये और (सखिभ्यः) अपने समान बयाति वाले अपने मित्रों और बन्धुओं के लिये (नून) अवश्य (हमारे) आप से याचना करते हैं ।

[१११०] ^{३ १ २} इमां ^{३ १ २} तु कं ^{३ १ २} भुवना ^{३ १ २} सीपधमन्तश्च ^{३ १ २} विप्रैश्च ^{३ १ २} देवाः ॥३॥

[११११] यत्र च नस्तन्यं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीपधातु ॥२

[१११२] आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजां करत् ॥ ३ ॥ २३ ॥ अ० १० । १५७ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकतर [४५२] पृ० २२० ।

(२) (नः) हमारे (यज्ञम्) आत्मा को (तन्यं च) और पारीर को (प्रजां च) और प्रजा सन्तति को (इन्द्रः) परमात्मा (आदित्यैः) द्वादश भासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों के (सह) साथ (सीपधातु) रक्षा ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मरुद्भिः) प्राणों और (आदित्यैः) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या वायुओं और अक्षुओं के द्वारा सूर्य के समान (सगणः) अपनी अन्य सहायक शक्तियों सहित (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भेषजा) आरोग्यकारक उपाय (करत्) करें ।

[१११३-१५] ^{१ २} प्रचोर्वोप ॥२४॥

भा०—(१) () आप लोग (२) परमेश्वर की उत्तम रूप से, (२) (अर्चः) स्तुति करो,

११११—२, 'सहवीर्यपाति' ३, 'अस्माक भूतविता कनूना' इति च ।

१ (१) और (उप) उपासना करो ।

[सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक श्रुति मान कर व्याख्या की है । माधव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक संक्षिप्त प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र व इन्द्राय०' 'अर्चन्त्यर्क०' 'उप प्रवं मधुम०' इन मन्त्रों के आद्य, अन्तों से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अविकल सं० [४४६, ४४५, ४४४] पृ० २२५, २२४ । तदनुसार इनको यहाँ संक्षेप से रख देने का प्रयोजन 'उद्देश्यपुत्र' नामक ऊहगान को दर्शाना मात्र है ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य (द्वितीयोऽर्थः)

ऋषि — १ वृषगणो वामिष्ठः । ■ असितः काश्यपो दिक्लो वा । ११ भृगु-
र्वाक्यणिर्जमदग्निः । ■ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ■ यजत आत्रेयः । ■ मधुच्छन्दो
वैश्वामित्रः । ■ सिकता निवावरी । ८ पुरुहन्मा । ६ पर्वतानारदौ शिखण्डिन्यौ
काश्यप्यावप्सरसौ । १० अत्ययो धिष्ण्याः । २२ वत्सः काव्यः । श्रुमेधः । १४
अग्निः ॥ देवता—१, २, ७, ६, १० यजमान सोमः । ४ मित्रावरुणौ । ५, ८,
१६, १४ इन्द्र । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २,
■, २, ६, ११, १२ गायत्री । ७ जगती । ८ प्रागाथः । ६ उष्णिक् । १०
द्विपदा विराट् । ■ ककुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ■ स्वरः—१—३
वैवतः । २, ४, ५, ६, १२ पङ्क्तः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ ऋषभः ।

■ गान्धारः ■

- १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१११६] प्रकाण्यमुशनं वृवाणो देवो देवाना जनिमाविवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मद्विवतः शुचिवन्धु पाथक पदा वराहो अभ्येनि रेभन् ॥१॥
२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २
[१११७] प्रहंसासस्तृपलावन्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अङ्गोषिणो पवमानं सखायो दुर्मर्षे वाणं प्रवदन्ति साकम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१११८] स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परीक्षसं कृणुते तिग्मशृङ्गो विषा हरिर्दृष्टो नक्तमृजः ॥३॥
३ ० ६ । ३-६ ॥
[१११९] प्र स्वानासो रथा इवार्धन्तो न श्वस्यथ ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥
[११२०] द्विस्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥
[११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यज्ञा न सप्त धातुभिः ॥ ६ ॥
[११२२] परिस्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मघो अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥
[११२३] आपानासो विवस्वतो जिन्वन्ति उपसो भगम् ।
१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुरा अयं वितन्वने ॥ ८ ॥

१११७—'वृषल मन्त्र', 'आगूय पवमान', 'दुर्मर्ष साकं प्रवदन्ति वाण' ।

१११८—'सरहत उरुगायस्य' इति ॥ ११२३—'जिन्वन्त उपसो भग' ।

[११२४] अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋणवन्ति कारवः ।

वृणो हरस आयवः ॥ ६ ॥

[११२५] समीचीनास आशत होता नः सप्त जानयः ।

पदमकस्य विप्रतः ॥ १० ॥

[११२६] नामा नामि न आददे चक्षुषा सूर्य दृशे ।

कथरपत्यमावुहे ॥ ११ ॥

[११२७] अभि प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।

सुरः पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ अ० ६ । १० । १-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११२४] पृ० ४८७ ।

(२) (हंसासः) नीर और का विवेक करने हारे हंसों के समान सत्यासत्य का विवेक करने हारे परमहंस योगी लोग (तुप्रसा^१) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करके जाने हारे, या काम क्रोधादि को प्रहार करने हारे, उन पर कभी, (वानुम्) रमणीय अनादित नाद को (अच्छ) लक्ष्य करके (वृषगणाः) उत्तम, धर्ममेध समाधि के साधक योगिजन (अमात्^२) अल्पक बल या ज्ञान से (अस्तं) शरण-योग्य आत्मा को (प्र अयासुः) प्राप्त करते हैं । (सखायः) वे समान आत्मा नाम वाले, या परम प्रभु के प्यारे, (साकं) एक साथ (पदमानं) व्यापक (दुर्मर्षं) न सहन करने योग्य, असह्य तेज के युक्त (अंगोपिगं^३) हृदय देह में

११२५—‘नामने होनार’, ‘सप्त जानयः’ ।

११२६—‘ननुभिर्गुहो मचा’ । ११२७—‘अभिप्रिया दिवस्पद’ इति अ० ।

१. तुप्रस. क्षिप्रप्रहारी, सुप्रप्रहारी मोमो वा इन्टो वा (निर० ५।१।७)

२. अमा पुनर्निर्मित अयनि (निर० ५।१।८)

३. हर शोः दीप्तौ च ; दीप्त मोमं इति (मा० नि०)

बसने द्वारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य (वाचं) भोग्य आत्मा को (प्र वदन्ति) उपदेश करते हैं ।

(३) (स०) वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा को (जूर्ति) ज्योति या प्रेरणा को (योजते) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । (गाथः) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग (वृथा) अनायास (क्रीडन्तं) नाना प्रकार से भगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को (न) नहीं (मिमते) ज्ञान करते । (हरिः) वह सब दुःखों को हरण करने वाला, हरि (तिग्मशृंगः) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदिस्थ के समान (परीणसं) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह (अजः) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त अजु मार्ग पर चलने द्वारा, धार्मिक, होकर (दिवा नक्तं) रात दिन (ददृशे) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है । जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

(४) (स्वानासः) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले (सोमासः) ज्ञानी लोग (रथा इव) वेगवान् रथों के समान और (अर्धन्तः न) अर्धों के समान (अवस्थयः) अस्त, ज्ञान और परम ऐश्वर्य का समान करने द्वारे (रायं) आत्म साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये (अक्रमुः) और आगे कदम रखते हैं ।

(५) वे (रथा इव) रथों के समान वेगवान् होकर और (कारिणाम्) योद्धाओं के (भरासः) समान या यज्ञकर्त्ताओं के कर्त्ताओं के समान (दिव्यानासः) आगे बढ़ते हुए (गमस्त्योः) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा (दधान्विरे) साधना करते हैं ।

(६) (प्रशस्तिभिः) उत्तम कीर्तियों, स्तुतियों से (राजानः न) राजाओं के समान और (ससघातुभिः) सात ज्ञान धारण करवेद्वारे

याज्ञिक ऋचियों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान (गोभिः) प्रकाश की किरणों द्वारा (अज्जते) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

(७) (इन्द्रव) ज्ञान सम्पन्न योगिजन (स्वानासः) महारस का सम्पादन करते हुए, (बर्हणा) बड़ी, नक्षत्ररूप (गिरा) वेदवाणी द्वारा (मर्धाः) असृज्य रस या आत्मानन्द की (धारया) धारक शक्ति से युक्त होकर (मदाय) महानन्द प्राप्ति के लिये (परि अर्पन्ति) और आगे बढ़ते हैं । [देखो अवि० सं० ४८५ । पृ० २४२]

(८) (अप नास) अपान को बरस करने वाले योगिजन (विवस्वतः) विशेषरूप से देह में निशाम करने वाले आत्मा के (उषसः) पापनाशक, तमोनाशक संज्ञ के (मगम् ऐश्वर्य) का (निवन्ति) प्राप्त करते हैं । वे (सूर्य) सूर्य के समान आदिम्य योगी उस (अराव) अति सूक्ष्म आत्म-तत्त्व को (वितन्वते) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

(९) (प्रनाः) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी, (कारवः) योगक्रिया के करने वाले (वृष्यः) वर्षणशील, सुगन्धपंक आत्मा के (हरसः) स्वरूप को प्राप्त होने वाले (आयवः) उस तक पहुँचे हुए जन (मतीनां) मनन शक्तियों के (द्वारा) द्वारा को । अप अर्पन्ति) सोज दाखते हैं ।

(१०) जिस प्रकार वज्र में एक वज्रमान का कार्य सम्पादन करने के लिये मात्र होता लोग बैठते हैं उसी प्रकार । समीचीनासः) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने वाले, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप (सप्त) सात, या प्रसर्पणशील, प्राण (होतार) आत्मा का अनुसन्धान करने वाले (जानयः) ज्ञानोपायक इन्द्रियगण और विद्वान्जन (एकसा) एक ही आत्मा (पदं) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य (विप्रतः) पूर्य करते (आशतः) विराजते हैं, आनन्द का गोग करते हैं ।

(११) (नाभि) सबको केन्द्ररूप होकर बांधने वाले आत्मा को (नः) हम (नाभा) अपने शरीर के केन्द्र, या मुख्य बन्धनस्थान अपने मन में (आददे) धारण करें जिससे (चक्षुषा) ज्ञान चक्षु से हम (सूर्य) सर्वप्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का (दृशे) दर्शन करें । (कवेः) क्रान्तदर्शी, मेधावी के (अपत्यं) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाले भुव स्वरूप परमात्मा के (आदुहे) आनन्द रस का ग्रहण करें ।

अपत्यं कस्मादपततं भवति, न अनेन पतति इति (निरु० ३। १। १)

(१२) (सूर.) सूर्य के समान आदित्य योगी, उत्तम योगबल से सम्पन्न होकर (चक्षसा) दिव्य चक्षु द्वारा (अभिप्रियं) अत्यन्त मनोहर (अस्वर्युभि.) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित (गुहा हितम्) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुह्यरूप परमात्मा के भीतर (दिव.) दीप्त तेजस्वरूप आत्मा के (पद) स्वरूप को (परयति) देखता है ।

दिवस्पदं तस्यात्मनः पदम् (सा०) ।

इति प्रथमः खण्डः ।

[११२८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} असुप्रमिन्दव पथा धर्मवृत्तस्य सुश्रियः ।

^{३ १ २ ३ १ २} विद्वानां अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२९] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र धारा मध्या अग्नियो महरिषो विगाहते ।

^{३ २ ३ १ २ ३ १ २} हविर्हविषु वन्द्यः ॥ २ ॥

[११३०] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र युजा वाचो अग्नियो वृषा अचिक्रदद्वने ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नमामि सत्या अघ्नरः ॥ ३ ॥

२ ३ १२ २२ ३ २३ १ २ ३१२ २२
[११३१] परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्पति ।

१२ ३ १ २
स्वर्वाजी सिपासति ॥ ४ ॥

१ २ ३ २२ ३ १ २
[११३२] पवमानो अभिस्पृधो विशो राजेव सीदति ।

१ २ ३ १ २ ३१२
यदीमृगवन्ति वेधसः ॥ ५ ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २२ ३ १
[११३३] अव्या घारे परि प्रियो हरिवनेषु सीदति ।

३ १ २ ३ २
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥

२ ३१२ २२ ३ १ २ ३१२ २२
[११३४] स वायुमिन्द्रमभिवना साकं मदेन गच्छति ।

१ ३ १ २ ३ १ २
रणा यो अस्य धर्मणा ॥ ७ ॥

२ ३१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[११३५] आ मित्रं घरुणे भगे मधो. पवन्त ऊमयः ।

३ १ २ १ २
त्रिदाना अस्य शकमभिः ॥ ८ ॥

१ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३६] अस्मभ्य रोदसी रयि मघ्यो याजस्य सानये ।

१ ३ १ २ ३ १ २
धर्मो वसुनि सज्जिनम् ॥ ९ ॥

२ ३१२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३७] आ ते दत्तं मयोमुत्रं यद्विमद्या मृणीमहे ।

१ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुष्मृहम् ॥ १० ॥

२ ३ १२ २२ ३ २२ ३ १ २ ३ १ २
[११३८] आगच्छमागरेगयमाधिप्रमा मनार्थिहम् ।

१ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुष्मृहम् ॥ ११ ॥

११३१—'रुग्णा वानाने' । ११३३—'उज्जो वाने' ।

११३४—'सम्यक् धर्मः' । ११३५—'अ. 'मि' वदन्त इति' इति ५० ।

[११३६] आ रथिमा सुचतुर्नमा सुकृतो तनूष्वा ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

आज्ञा नव अ० ६ । ७ । १-६ । शेषास्तिस्रः अ० ॥ । ६५ । ६८-६० ॥

भा०—(१) (इन्द्रव.) आत्मसम्पत्ति से सम्पन्न, शमादि गुणयुक्त योगीजन, (अतस्य) सत्यज्ञान के (धर्मन्) धारण करने हारे परमात्मा के स्वरूप में (सुप्रियः) उत्तम रूप से आश्रय प्राप्त करने वाले (पथा) सत्य ज्ञान के मार्ग से (अस्य) इस आत्मा (योजना) योग-समाधि द्वारा मिलापों के आनन्दों का (विद्वान्) लाभ करते हुए (अघप्रम्) कृतकृत्य होजाते हैं ।

(२) (इन्द्रि. पु) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदेव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम (अग्निः) स्वीकार करने और धरने योग्य पदार्थ आत्मा ही (वन्द्यः) स्तुतियोग्य है । वह (मही.) बड़े (अपः) ध्यान, धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुद्रों के समान (विगा-हते) पार कर जाता है और (मधो.) अमृत की (अग्निः) आगे प्रकट होने वाली, मुख्य, उत्तम (धाराः) शक्तियों को (प्र) प्राप्त करता है ।

(३) (अग्निः.) मुख्य या प्रबल (वृषा उ) सुखों का वर्षक आत्मा ही (प्रयुजाः) प्रयोग करने योग्य (वाच.) वाचियों को (चने.) भजन करने योग्य महा में (अचिक्रदद्) उच्चारण करता है । वह योगी आत्मा (सत्यः) सत्याचरण करने द्वारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, (अक्षर) किसी की हिंसा न करने द्वारा, (सदा) अपने आश्रयस्वरूप, परम शरण परमेश्वर को (अभि) प्राप्त होता और साक्षात् करता है ।

(४) (यत्) जब (कथिः) मेधावी, ज्ञानवान् (नृम्यानि) मनुष्यों के मन्त्रशक्ति साधन, चित्त को (पुनानः) शुद्ध पवित्र करता हुआ (कोष्ठा.) उत्तम वेदवाचियों का (प्रति भर्षति) ज्ञान प्राप्त करता है

तब वह (वाजी) ज्ञानज्ञान होकर (स्वः) परमसुखमोक्षरूप आनन्द को (सिषास्येति) सेवन करना है ।

(१) (यद्) जब (ईम्) इस आत्मा को (वेधसः) योगसाधक ज्ञानी लोग (ऋचवन्ति) प्राप्त करते हैं तब (पवमानः) देदीप्यमान, आत्मा (अभिस्पृघः) स्पर्धा करने हारे, विघ्नकारी, बाधक कार्यों या व्युत्थान लक्ष्यों का दूर करके (विशः राज इव) प्रजाओं पर राजा के समान (सीदति) प्रबल होकर बैठता है ।

(६) (हरिः) दुःखों के विनाशक आत्मा (प्रियः) अत्यन्त प्यारा होकर (वनेषु) देहों में (अन्याः वारे) चित्तिशक्तिरूप अदि के आवरणकारी, या वरण-योग्य त्रिपुटी आदि स्थान (परिसीदति) विराजता है । और (रेभः) अप्रतिहत नाद करने द्वारा, या स्तुतिशील (मती) मनन-शक्ति द्वारा (वनुष्यते) प्राप्त किया जाता है ।

वनुष्यतिर्हन्तिर्कर्मज्ञवगतसस्कारो भवति (निरु० ५ । ६ । २)

(७) (यः) जो (अस्य) इस सोम के (धर्मणा) धारणयोग्य गुण या धारणा बल से (रथा) रमण करता है, (इन्द्रम्) वह आत्मज्ञानी (वायुम्) प्राणवायु, (इन्द्रम्) आत्मा और (अभिनौ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को (मदेन) आनन्द और हर्ष के साथ (गच्छति) वश कर लेता है ।

(८) (मधो) हर्षकारक आनन्दरूप सोमरस की (कर्मणः) ऊर्ध्वगतिमा या तरंगों (मित्रे) प्राण और (वरुणे) अपान (भगो) और समान में (पवन्ते) गति करती हैं । और साधकजन (अस्य) आत्मा की (शक-मभि) शक्तियों द्वारा (सं-विद्वानाः) उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

(९) (रोदसी) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अपान तुम दोनों (अभ्यः) हमें (वाजस्य) ज्ञान और (मध्व) आनन्दस्वरूप अमृत की (सातये)

प्राप्ति के लिये (रयि) प्राण सामर्थ्य, बल, (भवः) उपदेश, (वसूनि) जीवनोपयोगी पदार्थों पर (स जितं) वश करादो ।

(१०) हे सोम ! (वयं) हम लोग (अथ) आज (मयोभुवं) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, (वह्नि) शक्तियों को धहन करने हारे, (पान्तं) हमारे पालक, (पुरुस्पृहं) सब कामना के योग्य, (ते दक्षं) तेरे बल को (आवृणीमहे) उत्तम समक कर प्राप्त करते हैं । अवि० [४६८]।

(११) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वोत्तम, (विप्रं) मेधावी और (मनीषिणं) सबके हृदयों के प्रेरणा करने हारे (पान्तं) सब के पालक (पुरुस्पृहम्) सब के प्रेमपात्र आपको हम (आ) साक्षात् करते हैं ।

(१२) हे (सुकतो) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न । हे (साम) सब के प्रेरक ! (रयिम्) रयिस्वरूप (सुचेतुनम्) उत्तम ज्ञाता (तनूषु आ) हमारे देहों में भी व्याप्त (पान्तं) सब (पुरुस्पृहम्) प्रजा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको (आ) वरण करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[११४०] मूर्धनं दिवा अरतिं पृथिव्या वैश्वानरसृत आ जानमागमः ।

कवि संम्राजमतिथि जनानामासन्नः पात्र जनयन्त देवाः ॥१॥

[११४१] त्वा विश्वे अमृतं जायमानं शशुं न देवा अभि सं नवन्ते ।

तव कतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रा दीदः ॥२॥

[११४२] नाभि यज्ञाना सदन रयीणा महामाहावमभि सं नवन्त ।

वैश्वानरं रथ्यमध्वराणा यज्ञस्य केतु जनयन्त देवाः ॥३॥

। ११४० ॥ ११४१ ॥ ११४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६७] पृ० ३४ ।

(१) हे (अमृत) मरणरहित अमृतस्वरूप ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । आत्मन् ! (शिशुं न) लोम बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको बार २ देखने की इच्छा से उस पर मुकते और प्रेम प्रकाश करते हैं (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणयुक्तः सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार (शिशुं) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक (जायमानं) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने हारे आपको (अभि सन्वन्ते) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे (वैश्वानर) समस्त मनुष्यों के हृद्यों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग (तव) आपके ही (ऋतुभिः) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा (अमृतत्वम् आपन्नं) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (पित्रोः) मातृ पिता के बीच में पुत्र के समान ही देह के पालक प्राण और अपान के मध्य सुषुम्ना नाडी (अदीदेः) प्रकाशित होता है ।

(३) (यज्ञाना) देवपूजा, सत्संग, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार के कार्यों के (तामि) एकमात्र आश्रय, केन्द्र (रयीणा सदन) समस्त पेश्वों और धीर्य-सामर्थ्यों के भयद्वार (महा) बड़े भारी (आहार्यं) तृण का शान्त करने निमित्त सब को अपने प्रति बुलाने वाले जलाशय (समान जीवनाधार रस के समुद्र, आपको (देवाः) विद्वान् लोग (अभि मं नवन्ते) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उसको (अश्वराणां) समस्त हिंसा रहित पवित्र कार्यों (रथ्यम्) महारथी के समान वहन करनेहारे (वैश्वानरं) समस्त हृद्यों में व्यापक, सबके नेता और (यज्ञस्य) आत्मा का (केतुं) आपक (जनयस्त) उत्पत्ति है ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ २
[१६४३] प्र दो मित्राय गायत वरुणाय विषा गिरा ।
२ ३ २ ३ २

अदि क्षत्रावृतं पृथक् ॥१॥

३ २ ■ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
[११४४] सन्नाजा या घृतयोनी मित्रस्योभा वरुणस्य ।

३ २ ३ १ २ ३ २
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥

१ २ ■ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[११४५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।

१ २ ३ २ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ अ० ५ । ॥ १-३ ॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (मित्राय) जीवन को स्नेह करने
हारे प्राण और (वरुणाय) दोनों का धारण करने वाले अपान को या
विद्वान् और उपदेशक को (विषा) ज्ञानयुक्त, मन से मोरति, सार्थक
(गिरा) बाणी से (प्र गायत) स्तुति करो । हे मित्र और वरुण, (महि-
स्रवा) बड़े बलशाली आप दोनों (वृहत्) बड़े भारी (जतं) सत्य आत्म-
ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

(२) (या) जो (मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण प्राण और
अपान हैं वे (उभा) दोनों (घृतयोनी) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-
स्थान और (सन्नाजा) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे (देवेषु)
दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में (प्रशस्ता) प्रशंसा योग्य
(देवा) सुख के दाता हैं ।

(३) (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिये (पार्थिवस्य) पृथिवी
और (दिव्यस्य) आकाश से होने वाले (महः) बड़े भारी (रायः)
ऐश्वर्य सामर्थ्य को (शक्तं) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं ।
(देवेषु) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में (वां) आप दोनों का भी
(महि क्षत्रं) बड़ा भारी बल है ।

१ २ २ ३ २ ३ १ २
[११४६] इन्द्रा याहि चित्रमानो सुता इमे त्वायवः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्नीभिस्तना पूतासः ॥१॥

[११४६] तमीडिष्व यो अर्चिषा घना विश्वा परिष्वजत् ।

कृष्णा कृणोति जिह्वा ॥१॥

[११५०] य इन्द्र आ विवासनि सुग्नमिन्द्रस्य मर्त्ये ।

द्युम्नाय सुतग अपः ॥२॥

[११५१] ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।

एन्द्रमग्निं च वाढवे ॥३॥६॥ अ० ६ । ६० । १०-२२ ॥

भा०—(१) हे मनुष्य ! (तम् अग्निम्) उस सबके पापों के दहन करने द्वारे ज्ञानमय परमात्मा की (इडिष्व) उपासना कर (य०) जो (अर्चिषा) अपने तेज से (विश्वा) समस्त (घना) भोगने योग्य कर्म-बंधनों को घनों में अग्नि के समान (परिष्वजत) जा लगता है और जैसे अग्नि घनों में लगकर उनको जलाकर काळा कर देता है उसी प्रकार वह अपनी (जिह्वा) अग्नि की उवाला के समान भस्म करने वाली शक्ति से सबको (कृष्णा) छिन्न भिन्न, दग्ध (कृणोति) कर डालता है । जंगलों को जला देने वाली अग्नि से कर्मदाहक ज्ञानाग्नि की तुलना है ।

(२) (य मर्त्ये०) जो मरणधर्मी मनुष्य (इन्द्र) स्वयं प्रकाशित, ज्ञानवान् होकर (इन्द्रस्य) आत्मा (सुग्नं) सुख करने वाले ज्ञान को (आ विवासति) उद्घाटन करता है उस (द्युम्नाय) प्रकाशस्वरूप ज्ञानों के लिये (अप) कर्म बन्धन (सुतग) सुख में तरण योग्य हो जाते हैं ।

(३) हे प्राण और अपान ! (ता) वे आप दोनों (वाजवती, इष०) ज्ञानसम्पन्न कामनाओं और (आशून्) शीघ्रगामी वेगवान् (अर्वतः) ज्ञानेन्द्रियों को (पिपृत) तृप्त करो जिससे हम । इन्द्रम् अग्निम् च) हम आत्मा और उस ज्ञानस्वरूप ईश्वर को (वाढवे) अपने सुख से धारण करें ।

इति तृतीय खण्डः ।

[११५२] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति
 सङ्गिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्पति सोमः कलशे
 शनयामना पथा ॥१॥

[११५३] म नो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवो मनस्युव संवरणेषु
 क्रमुः । हरि क्रीडन्तमभ्यनूयत स्तुभो भि धेनव पयस
 दधिध्रयुः ॥२॥

[११५४] आ न सोम संयतं पिप्युभीमिपमिन्दो पवस्व पवमान
 ऊर्मिणा । या नो दादात निरहससम्पुभी जुमन्वाजवत्स
 धुमत्सुवीर्यम् ॥३॥ ७॥ ऋ० ६ । ६८ । १६-२८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५७] पृ० ७८० ।

(२) हे (सोमाः) विद्वान् पुरुषो ! (व०) आप लोगों की (धिया)
 प्रज्ञाएं, बुद्धियां, वाणिया (मन्द्रयुवः) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ
 लगी हुई (मनस्युव०) स्तुति करने की इच्छा करती हुई, (विपन्युव०)
 और स्तुति करती हुई (संवरणेषु) हृदयों में विशेषरूप से या विविध
 वज्रगृहों नमास्थानों, विद्वन्-मण्डलों में (अक्रमुः) फैलती हैं । (स्तुमः)
 विद्वान् लोग (क्रीडन्तं) जगत् का सर्जन और (हरि) प्रलय करने हारे
 परमात्मा को (इत्) ही (अभ्यनूयत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।
 (धेनव) रसपात्र करने करने हारे व्याख्याता लोग भी अपने (पयसा)
 वर्णनरस से, दुग्धरस में गीर्वाणें समाप्त उसको (अभि अभिध्रयुः)
 अपना आधार बनाते हैं । अथवा (धेनव०) वेदवाणियों (पयसा) अपने
 ज्ञानरस में उसका ही अभिप्रेक करती हैं ।

११५२—१. 'अयासीना' २. 'मिगन्नेध्रयुः' 'मोम मनीषा अत्यन्त' '५१'।

मृनिध्रियु 'गमानो मनिध' इति ॥ ।

(३) (हे इन्दो) तेजस्विन् ! सोम ! (पवमान) सर्वत्र व्यापक !
(या) जो (नः) हमारे लिये (अहन्) दिन में (त्रि.) तीनवार (अस
श्चुपी) बिना रोक टोक के (सुमत्) कीर्तियुक्त (वाजवत्) बलयुक्त,
ज्ञानयुक्त (मधुमत्) आनन्दरस से पूर्ण (सुवीर्यम्) उत्तम बल (दोहते)
प्राप्त करावे ऐसी (संयतं) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त (पिप्पुपीम्) सदा
वृद्धि करने वाली (हर्षं) समृद्धि को (कर्मिणा) अपनी अनन्त शक्ति से
(पवस्व) प्राप्त कराओ ।

[११५५] नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।

इन्द्रश्च यज्ञैर्विभ्वगूर्त्तमभ्वन्नमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ ॥

[११५६] अपादमुग्रं पृतनासु सासहि यस्मिन्महीरुप्रयः ।

सं धेनवी जायमाने अनोनसुर्धौवः क्षाभीरनोनधुः ॥२॥

अ० ८ । सू० ४ । सू० २-४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१४३] पृ० १२४ ।

(०) (यस्मिन्) जिसके (जायमाने) प्रादुर्भाव होने पर (उरुप्रयः)
अति वेगवान् पराक्रमी (मही) बड़ी २ (धेनवः) गौओं के समान अधिक
सम्पत्ति देनेवाले प्रजागण या विद्वानगण (अनोनधुः) शुकते और स्तुति करते
हैं । उस (अपादं) असहा (पृतनासु सासहि) सेनाओं में सबसे अधिक
सामर्थ्य वाले शासक प्रति (याव) तेजस्वी, उत्तम श्रेणी के धनाढ्य
और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजापुं (क्षाभीः) पृथिवी के निवासी
जमींदार या भूपाल भी (अनोनधुः) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । आत्मप्रय
में—पृतना=इन्द्रियगण । धेनवः—वायिवा, वेद-अर्चाएं आधिदैविक पक्ष
या ब्रह्मपक्ष में, धेनवः=वेदवायिवा, क्षावः, क्षाभीः=तेजोमय लोक और
पार्थिव लोक । इति चतुर्थं खण्डः ।

११५५—'धृष्णुमोजसा' २. अपाल्ह' 'क्षव. क्षमो' इति श्रु० ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[११५७] सखाय आ निर्पादित पुनानाय प्रगायत ।

२ ३ २ ३ ५२ २२ ३ २
जिथुन्न यज्ञैः परिभूयत श्रिये ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ५२
[११५८] सधी वत्स न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।

३ २ १ २ ३ ५२ २२
देवाव्यादेमदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११५९] पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्द्धाय वीतये ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० ६ । १०४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६८] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभिः) माताओं से जिस प्रकार (वत्स न) बच्चे या बछड़े को-उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार (ई) इस (सोमं) सोम रूप शुक्र को (मातृभिः) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मन-शक्तियों से और (सोमं मातृभिः) निहासु शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से (अभि स सृजनः) साक्षात् रूप से संयोजित करो । उस (गयसाधनम्) समस्त प्राणों को बश करने हारे, (देवाव्य) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक (मदम्) हर्षकारक और (द्विशवस) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करनेहारे वीर्य तथा शिष्य को (अभि) उत्तम रूप से सम्पादन करो, शिक्षित करो ।

(३) (दक्षसाधनं) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इस सोम अर्थात् शुक्र को इस प्रकार (पुनात) सम्पादन करो, प्राप्त करो कि (यथा) जिस प्रकार वह (शर्द्धाय) शरीर के बल की वृद्धि और (वीतये) कान्ति के निमित्त हो । और (यथा) जिस प्रकार (मित्राय) मित्र और

११५८—'अभि द्विशवसम्' इति वचिन् प्रामादिकः मायणादिभ्यः।

नादृशत्वात् ।

(वरुणाय) अपान इन दोनों जीवनाधारों के लिये भी (शान्तमम्) अति अधिक सुख और कल्याणकारक हो ।

[११६०] ^{२ ३६ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिग्गः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥१॥

[११६१] ^{२ ३६ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणान् ॥२॥

[११६२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षो नृभिर्धेमाणो अद्रिमिः सुतः

॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ६। १०६। १६-१८ ॥

भा०—(१) (वाजी) शक्तिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस (सहस्रधारः), सहस्रों धारण करने वाली शक्तियों से युक्त होकर (अव्यम्) भुव, प्राणमय, (पवित्रं) पावन करने वाले (वारं) वरणीय, या दुःखों के धारक आत्मा को (तिर. वि प्र अक्षाः) साक्षात्, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो ।

(२) (सः) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, (सहस्ररेता) सहस्रों पदार्थों का मूलकारण, सहस्रों शक्तियों से युक्त (अद्भिः) कर्मों और प्रज्ञाओं से (मृजानः) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ (गोभिः), वाणियों द्वारा (श्रीणानः), परिपक्व होकर (अक्षा) हृदय में प्रकट हो ।

(३) (सोम) आत्मन् ! (नृभिः) नेताओं द्वारा (धेमानः) हृदय-देश में यम नियमों द्वारा या ईश्वर-अधिष्ठान द्वारा विचार किया जाकर (अद्रिमिः) स्थायी असंखित तपःकर्मों, ज्ञानी पुरुषों से (सुतः) साधित होकर (कुक्षौ) आत्माकाशरूप गुहा में (आयोहि) गया, प्रकट हो ।

[११६३] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} य सोमास परावति य अर्वावति सुन्विरे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ये वादः शर्यणावति ॥ १ ॥

[११६४] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} य आजोकिपु कृत्वसु य मध्ये पस्त्यानाम् ।

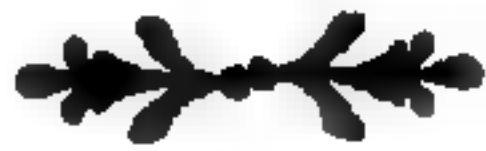
^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ये वा जनेपु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३ १ ३ १ ३ १ ३ १ २
[११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।

३ २ ३ १ ३ १ २
स्वाना देवास इन्द्रवः ॥४॥११॥ ऋ० ९ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—(१, २, ३) (ये) जो (सोमासः) सोम, विद्वान् लोग (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप-देश में और (ये वा) जो (शरण्यावति) विषम अरण्यभूमि में और जो (अर्जीकेषु) ऋजु और सरल, सम देशों में और जो (पस्त्याना) गृहमेधी, गृहस्थियों के (मध्ये) बीच में (कृत्वसु) बनाये हुए गृहों में, (ये वा) और जो (पञ्चसु) पाँचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पाषण्ड निपाद जो चारों वर्गों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा से बाहर कर दिये जाते हैं उनमें भी (सोमासः) ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् लोग हैं (ते) वे (न०) हमें (दिव०) आकाश या प्रकाश और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकाश से उत्तम हितोपदेशों की (वृष्टिं) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को (परिपवन्ता) दें और (सुवीर्यं) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि (देवासः) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (स्वानाः) ज्ञानी पुरुष ही (इन्द्रवः) सोम या 'इन्दु' कहाते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।



१ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
[११६६] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाश्रितसधस्थात् ।

२ ३ १ २ ३ १
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[११६७] पुरुषा हि सदद्दुसि दिशो विभ्वा अनु प्रभुः ।

३ १ २
समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] ^{३ २ ३ १ २ २} समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।

^{१ २ ३ १ २} वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८ । ११ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८] पृ० ४ ।

(२) (अग्ने) परमात्मन् ! (पुरुषा) समस्त प्रजाओं को आप (सद्गुरु । समान दृष्टि से देखने वाले (असि) हो । (विश्वा दिशः, अनु) समस्त दिशाओं में (प्रभुः) आप ही ईश्वर, उत्तम सामर्थ्यवान् हो । (नमस्तु) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर (त्वा) तेरी ही (हवामहे) याद करते हैं ।

(३) हम (नमस्तु) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में (वाजेषु । ज्ञान, बल और अस्त्रादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में (वाजयन्तः) जानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए या बल प्राप्त करते हुए हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) आगे नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही (हवामहे) स्मरण-करते हैं ।

[११६९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वं न इन्द्राभर औजो नृम्यं शतक्रतो विचपंथे ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} आ धीरं पूननासहम् ॥ १ ॥

[११७०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो यभूविथ ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अथा ते सुसमीमहे ॥ २ ॥

[११७१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} त्वां शुष्मिन्पुरुहत वाजयन्तमुगृध्वे सहस्कृत ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} स मां रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०५] पृ० २०६ ।

(२) हे (वसो) सब में निवास करने वाले सर्वव्यापक ! (त्वं हि) आप ही हमारे (पिता) पालक हैं । (त्व) आप (माता) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता (बभूविथ) हैं । (अथ) और हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों को अनायास सम्पादन करने वाले ! हम (ते) आपके (सुग्म) आनन्द, सुख की (ईमहे) प्रार्थना करते ।

(३) हे (शुष्मिन्) सर्वशक्तिमन् ! हे (पुरुहूत) बहुतों से, स्तुति योग्य हे (सहस्कृत) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के, उत्पादक ! (वाजयन्तम्) ज्ञान और बल को दान करने हारे आपसे मैं (उपमुवे) प्रार्थना करता हूँ कि (नः) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, तेज और यश का (रास्व) प्रदान करें ।

[११७२] यदिन्द्र चित्रं मं इहनास्ति त्वांदातमद्रिवः ।

राधस्तन्नो विद्वत्स उभया हस्त्याभर ॥ १ ॥

[११७३] यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षन्तदाभर ।

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावना ॥ २ ॥

[११७४] यत्ते दिक्षु प्रराध्य मनो अस्ति श्रुनंघ्रहत् ।

तेन दृढा विदद्रिव आ वाजं दर्पि सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

अ० ५ । १६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो, अधि० सं० [३४५] पृ० १०६ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जो (शुष्म) अन्न, धन और यश आप (वरेण्यं) वरणा करने योग्य अंश (मन्यसे) जानते हैं (तद्) वही (आभर) हमें प्राप्त करावें । (तस्य) उम अधिन्त्य महिमा वाले (अकूपारस्य) अति सुन्दर, अनिन्दनीय, असीम परम आनन्द के

११७२—'उपमुवे सहस्रान्' इति अ० ।

११७३—'दावने' । ११७४—'यत्ते दिक्षु' इति अ० ।

सागरस्वरूप, सबको उत्तमरूप से पालन करने हारे (ते) तुम्ह (दावनः) दानशील के दान को हम (विधाम) प्राप्त करें ।

(३) हे (अदिवः) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने वाली शक्ति के मालिक ! (यत्) जो (ते) तेरा । दिक्षु) समस्त दिशाओं में (प्रराध्यं) उत्तम रूप से पाराधन करने योग्य, । बृहत्) बड़ा विशाल, (श्रुतं) श्रवण करने योग्य (मनः) मनन करने योग्य बल और ज्ञान । (तेन) उस से ही (बृहाचित्) पुष्ट, उत्तम । चार्जं) ज्ञान और बल को (सातये) सबको समान रूप से दान करने के लिये (आदर्षि) खण्ड करके, अनुभव और विचारक्रम से देते हो ।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्ध ।

इति चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः । इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोर्धः)

अथ नवमोऽध्यायः ।



। अथिः—१ प्रतर्दनो देवोदामि । २-४ अमितः काश्यपो देवलो वा । ५, ११, १२ चक्षुः । ६, ७ अमहीयुः । ८, १५ निप्रुवि कश्यपः । ९ वसिष्ठः । १० सुमन्त्रः । १२ कविः । १३ देवात्रिभिः काण्वः । १४ मर्गः प्रागावः । १५ अम्बरीषः । अजिष्ठा च । १७ अश्विनो धिष्ण्या ऐश्वराः । १८ वशेना काव्य । १९ मृगेशः । २० जेताभाषुच्छन्तमः ॥ देवता—१-८, ११, १२, १५-१७ पवमानः सोमः । ९, १८ अग्निः । १०, १३, १४, १५, १६ इन्द्रः ॥ छन्दः—२-११, १५, १८ गायत्री । त्रिष्टुप् । १२ अगती । १५ बृहती । १६

प्रागाथ । १६, २० अनुष्टुप् १७ द्विपदा विराट् । १६ उज्जिक् ॥ स्वरः—२—११,
१२, १८ पद्जः । ॥ भैवतः । १२ निपादः । १३, १४ मध्यमः । १६, २०
गान्धारः । ॥ पञ्चमः । १६ श्रवणः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११७५] शिशुं जज्ञानं ह्येतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गयेन ।
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
कविर्गोभिष्काव्येन कविः सन्तसोमः पवित्रमत्यानि रभन् ॥ १ ॥

१ २ १ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ २ ॥
[११७६] ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रनीथः पदधीः कवी
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
नाम् । तृतीयं धाम महिषः विषासन्तसोमो विराजमनु
राजनि ष्टुप् ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[११७७] समूषच्छ्रयेनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रष्टा आयुधानि
१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
विभ्रत् । अपामूर्मि सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो
विवक्ति ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ९ । १६ । १७-१९ ॥

भा०—(१) विद्वान् ज्ञेय (मरुत गयेन) अपने प्राणों गय
प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, देवदत्त, कृकल, धनंजय, नाग, कूर्म
आदि, अथवा मूर्धा स्थान के ७ प्राणों द्वारा (जज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करने
हारे (ह्येतं) कान्तिस्वरूप, सब का प्रकाशक (विप्रं) ज्ञान और कर्म
से सम्पन्न, (शिशुं) शरीर में शयन करने हारे, आत्मा को (मृजन्ति)
शुद्ध करते और (शुम्भन्ति) नाना गुणों से सुशोभित करते हैं । (कविः)
ऋन्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी मेधावी, पुरुष (काव्येन) ऋन्तदर्शी परम ज्ञानी
परमेश्वर ज्ञानमय वदमय काव्य से (कवि) अन्यो को ज्ञान देने हारा
(सन्) परमगति प्राप्त मुक्त होकर (सोमः) सोम्यगुणवान् आनन्द
और शमादि से सम्पन्न आत्मा (पवित्रं) पतितों के पावन परमात्मा

की (रेमेन्^२) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुआ (अति एति) कर्म बन्धन को पार कर जाता है ।

(२) (य) जो (ऋषिमनाः) मन्त्रद्वारा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं (ऋषिकृत्) अपने आपको ऋषि, तत्त्वदर्शी बनाने द्वारा, विवेकी, (स्वर्पाः) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, (सहस्रनीयः) सहस्रों प्रकार से ईश्वर को स्तुति करने द्वारा, या सहस्रों सुख और ज्ञान औरों को प्राप्त कराने द्वारा (कवीना) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को (पदवीः) ज्ञान प्राप्त कराने द्वारा, सम्मार्ग का दर्शक स्वयं (महिषः) महान् है, यह सुमुख जीव (तृतीयं) तीसरे (धाम) लोक अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम ज्योति स्वरूप मोक्ष को (सिपात्मन्) प्राप्त करता हुआ, (विराजन्) विराट परमेश्वर की (ष्टुप्) स्तुति करता हुआ (अनु राजति) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है ।

(३) (चमूपत्) अपनी ग्राहक इन्द्रिय-शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान (रयेन) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने द्वारा, (शकुनः) शक्तिसम्पन्न, (विभूत्वा) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र होकर (गोविन्दुः) समस्त ज्ञान-रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमब्रह्म को प्राप्त करने द्वारा जितेन्द्रिय या जितेन्द्रिय लोको को प्राप्त करने द्वारा, (आयुधानि) सकल सामर्थ्यों को (विभ्रत्) धारण करता हुआ, (महिषः) महिमा में सम्पन्न, महत्त्व को प्राप्त होकर (अपा) समस्त लोकों के (कर्मिन्) प्रेरक (समुद्रं) समुद्र के समान एकमात्र उत्कृष्ट सब के आश्रय परमेश्वर को (स्तवमानः) भजन करता हुआ (तुरीयं) मोक्षस्वरूप (धाम) आनन्द को (विवक्ति) प्राप्त करता है । इस सूक्त में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने वाले को वेद गोविन्दु, शकुन, रयेन आदि नामों से,

पुकारता है । पौराणिकों ने गरुड गोविन्द, समुद्रशायी आदि की कल्पना इन्हीं शब्दों के आधार पर की प्रतीत होती है ।

[११७८] एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन् ।
^{३ १२ २२ ३ २ २ ॥ १२ ३ १ २}

वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥१॥

[११७९] पुनानासश्चमूपदो गच्छन्तो वायुमभिनो ।
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ २}

ते नो घत्त सुवीर्यम् ॥२॥

[११८०] इन्द्रस्य सोम राघले पुनानो हार्दो चोदय ।
^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २}

दधाना योनमासदम् ॥३॥

[११८१] मुजान्ति त्वा वश क्षिपो हिन्यन्ति सप्त धीतयः ।
^{३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २}

अनु प्रिमा अमादिपुः ॥४॥

[११८२] देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेध्यः ।
^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}

स गोभिर्वासयामसि ॥५॥

[११८३] पुनानः कलशेष्वा वैखाग्यारूपो हरि ।
^{३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २}

परि गव्यान्यन्यत ॥६॥

[११८४] मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः ।
^{३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३}

इन्द्रो सखायमाविश ॥७॥

[११८५] नृचक्षुर्ल त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
^{३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २}

मजमिहि प्रजामिपम् ॥८॥

[११८६] वृष्टि विव पारस्वत्र द्युम्नं पृथिव्या आध ।
^{३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २}

सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥ ॥१३॥

११७८—१. 'वत्सुवीर्यम्', 'वत्स्य योनि' इति 'नवम्याष्टम्यो ल्यत्ययः', अ० ।

भा०—(१) (एते सोमाः) ये सोम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण (अस्य) इन्द्र के (वीर्य) सामर्थ्य या यश को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, फैलाते हुए (इन्द्रस्य) ईश्वर के (प्रियं) उत्तम (कामम्) अभिलषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को (अचरन्) प्रकाशित करते हैं ।

(२) (चमूषद्) अपने ज्ञान ग्रहण शक्तियों में नितेन्द्रिय होकर विराजमान (पुनानास) पवित्र होते हुए (अभिना) प्राण और अपान दोनों और (वायुम्) सबके प्रेरक आत्मा को (गच्छन्तः) उपलब्ध करते हुए (तेन) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर (उ) ही (सुवीर्यम्) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को (धत्त) धारण करने हैं ।

(३) हे (योम) साधक ! (राधसे) इन्द्रस्वरूप परमात्मा की आराधना के लिये (हार्दि) हृदय में विराजमान (देवाना) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों के (आसदं) प्रतिष्ठास्थान और (योनिं) मूलकारण धिति शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(४) हे (सोम) योगीन्, (स्वा) तुम्हको (दश) दश (विपः) यम और नियम, या दश धर्मलक्षणा, या दश प्राण (मृजन्ति) पवित्र, परिशोधन करते हैं और (सप्त) सात (धीतवः) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धों में स्थित सप्त छिदों में प्रवाहित प्राणशक्तियों, या सात स्थानों में ललाई गई ध्यानवृत्तियाँ, (हिन्वान्ति) तुम्हको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं । (त्रिप्राः) क्षात्री पुरुष तुम्हको लक्ष्य करके, अनुकूल होकर (अमादिपु) प्रसन्न होते हैं ।

(५) (देवेभ्यः) इन्द्रियगण या विद्वानों को (मदाय कं) आनन्दलाम करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये (मेधः) आत्मा में

आनन्दरस वर्णन करने वाली प्राण शक्ति को (अति) पार करके (सृजान्) वर्तमान आत्मानन्दरस को (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (सं वासयामसि) आच्छादित करते हैं । उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं ।

(६) (कलशेषु) हृदय प्रदेशों में (पुनानः) पवित्र होता हुआ (अरुषः) कान्तिमान् (हरिः) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस (गव्यानि) वेदवाणियों या प्राणों के बने (वस्त्राणि) आच्छादनों को (परि अन्यत) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है ।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन् ! (भवोनः) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् (नः) हमारे प्रति तू (आपवस्व) प्रकट हो । और (विश्वाः) समस्त (दिवः) दूसरे के प्रति अप्रेम या द्वेष के भावों को (अय) दूर कर । (सखायम्) परम सखा परमात्मा में (आविश) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर ।

(८) हे (सोम) साधक आत्मन् (स्वर्चिदः) मोक्ष सुख को प्राप्त करने और जानने वाले (इन्द्रपीतं) ईश्वर के अनुग्रह से, या आत्मा के अपनी ही रस से तृप्त (नृचक्षसम्) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने वाले (त्वा) तुझको हम (भधीमहि) सेवन और (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (इयम्) बल, ज्ञान और सत् ज्ञान को भी (भधीमहि) प्राप्त करें ।

(९) हे (सोम) परमात्मन् (दिवः) अपने तेजमय प्रकाश से आकाश से मेघ के समान (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (वृष्टिं) सुखों की वर्षा (परिस्रज) चरसा । और (शुम्नं) तेज, यश या धन और (सहः) सहन शक्ति, या बल को (नः) हमारी (वृत्सु) इन्द्रियों और प्रजाओं में (धाः) धारण करा ।

इति प्रथम खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८७] सोम पुनानो अर्धति सहस्रधारो अत्यवि ।

३ १२ २२ ३ २
घाथेरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[११८८] पवमानमवस्यवा विप्रमभिप्रगायत ।

३ १ २ ३ १ २
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८९] पवन्ते वाजसातये सोमा सहस्रपाजसः ।

२ ३ १ २
गृणाना देववीतये ॥३॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[११९०] उत नो वाजसातये पवस्व वृद्धतीरेष ।

३ १ २ ३ १ २
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९१] अत्या हियाता न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।

२२ ३ १ ० ३ १ २
विथारमव्यमाशवः ॥५॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[११९२] ने न सहस्रिणं रयि पवन्तामा सुवीर्यम् ।

३ ३ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्द्रवः ॥६॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ ३ १ २
[११९३] वाथा अर्पतीन्द्रवोऽग्नि वत्सं न मातरः ।

३ १२ २२
हधन्विरे गमस्त्यो ॥७॥

२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सर पवमान कनिकदत् ।

२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विपो जहि ॥८॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९५] अप धन्तो अराव्य पवमाना स्वर्दशः ।

१ २ ३ १ २
योनावृत्तस्य सीदत ॥९॥३॥ क० ॥ १३ । १-९ ॥

भा०—(१) (सोमः) आत्मा, (पुनान) पवित्र करने हारा (सहस्रधारः) हजारों, अनेक अगणित शक्तियों से सम्पन्न होकर (वायोः) सर्वव्यापक (इन्द्रस्य) परमात्मा के (निष्कृतं) कर्म-बन्धनों से परे परम पद को (अत्यवि.) प्राण के आवरण को पार करके (अर्पति) प्राप्त होता है ।

(२) हे (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! (पवमानं) सब को पवित्र करने हारे (विप्रम्) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, (देववीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (सुष्वाणं) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान को या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को (अभि प्र गायत) स्तुति कर स्तुति करो ।

(३) (सहस्रपाजसः) सहस्रों ज्ञानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त (सोमा.) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण (देववीतये) परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (गृणानाः) उसकी स्तुति करते हुए (पवन्त) अपने आत्मा को पवित्र करत हैं ।

(४) (सोम) सबके उत्पादक ! (नः) हमें (वाजसातये) ज्ञान प्राप्त करने के लिये (बृहती. इष.) बड़ी २ प्रेरणायें, दीसियें, शक्तियें (पवस्व) प्रकाशित कर । हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यवन् । हमें (शुमत्) दिव्य गुणों से युक्त (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्य भी दो ।

(५) (वाजसातये) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये (हिराना.) प्रयत्न करते हुए (आशव) मोक्ष या ज्ञान मार्ग से भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग (हेतुभिः) साधनों से (अव्यं धारं) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण को (वि-अति-असृगन्) पार कर जाते हैं ।

(६) (ते) वे (इन्द्रवः) योगीजन (देवायः) विद्वान् पुरुष (स्वानाः) साधना करते हुए (न.) हमारे लिये भी (सुवीर्यम्) उत्तम बलयुक्त, यश उत्पादक (सहस्रिण) हजारों तत्त्वों के प्रदर्शक (रायेम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्राप्त करें और प्रकट करें ।

(७) (वाश्वा०) उत्तम उपदेश करनेहारे (मातरः) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्द्रव०) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार (अर्षन्ति) जाते हैं जैसे (मातर० वत्सं न) गौर्वें अपने बच्चों प्रति जाती हैं । और वे (गमस्त्यो) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को (दधन्विरे) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ़ बनाये रहते हैं ।

(८) हे (पवमान) परमपावनकारी ! तू (इन्द्राय) परमात्मा के स्त्रिये (जुष्ट०) प्रेम करने हारा साधक (मत्सर०) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वतः तृप्त (क्रनिकृषत्) सबको समान भाव से उपदेश करके (विश्वाः) ममस्त (द्वेष) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को (जहि) नाश कर अर्थात् अज्ञात शत्रु हो जा ।

(९) हे (पवमाना) समस्त जगत् को अपने धर्माचरणों पवित्र करते हुए, पक्लिपावन (स्वर्द्रुश०) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग (अराभ्या) दान रहित, कदर्यवृत्तियों को (अप धनन्त) दूर करते हुए (अतस्य) सत्यज्ञान क (योनों) परम आश्रय, ब्रह्म में (सीदत) प्राप्त होवो ।

अति द्वितीयः खण्डः ।

—:०—

[११६६] सोमा असमिन्द्रवः सुता क्रतस्य धारया ।

इन्द्राय मधुमत्तपा ॥ १ ॥

[११६७] अभि विगा अनूयत गात्रो वत्सं न धेनवः ।

इन्द्रं सोमस्य पौत्रे ॥ २ ॥

[११६८] मदच्युत् घनि सावनं सिन्धोरुर्मा त्रिपथित् ।

सोमा गौरी अनिश्रतः ॥ ३ ॥

३ १२ २२ ३ २ ३ १ ३
[११६६] दिवो नामा विचक्षणेऽव्या वारे महीयते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥ ५ ॥

१२ २२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२००] यः सोमः कलशेषा अन्तः पवित्र आहितः ।

२४ ३ १ २
समिन्दु परिष्वजे ॥ ५ ॥

२४ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।

२ ३ १ २ ३ १ १
जिन्वन् कोशं मधुश्रुतम् ॥ ६ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०२] नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सवर्दुधाम् ।

३ १२ २२ ३ २
हिंशानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०३] आ पवमान धारय रयि सहस्रवर्चसम् ।

३ १ २ ३ १ २
अस्मे इन्द्रो स्वाभुषम् ॥ ८ ॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[१२०४] अमि प्रिया दिव कविर्विप्रः स धारया सुतः ।

१ २ ३ १ २
सोमो हिन्वे परावति ॥ ६ ॥ ॥ अ० १ । १२ । १-६ ॥

भा०—(१) (इन्द्राय) परमेश्वर के निमित्त (मधुमत्तमा) अमृतमय ज्ञानों से सम्पन्न (अतस्य) सत्य ज्ञान की (धारया) धारा, व्यवस्था, या वाणी से (सुता) प्रेरित हुए (इन्द्रव) ज्ञानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब के आह्वानक (सोमाः) शुभ गुणों से युक्त विद्वान् लोग (असुप्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (कसं न) जिस प्रकार बछड़े के प्रति (धेनवः) वृषार (गावः) गौएँ हंभारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति धुलाती हैं उसी प्रकार (सोमस्य पीतये) ज्ञानरस का पान करने के लिये (इन्द्रं)

अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (विप्रः) मेधावी लोग प्रेम से (अनूपत) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

(३) (विपश्चित्) ज्ञान और कर्म फल का सन्धय करने वाला, (मदच्युत्) हर्ष और आनन्द का जनक, (सोमः) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, (गौरी) वेदमयी बायीं में । अधिभितः) आश्रय पाकर (मदच्युत्) ज्ञानी होकर (सादने) अपने आश्रय देने वाले (ऊर्मौ) ऊर्ध्व गति की तरफ़ लेजाने हारे (सिन्धौ) सिन्धु समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपने में आश्रय देने हारे, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में (क्षेति) निवास करता है ।

(४) (विश्वसृणः) विशेष तत्त्व का द्रष्टा, (कवि) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सुक्रतु) उत्तम प्रज्ञावान्, (दिवः) समस्त बौलोक को (नामौ) अपनी शक्ति में बांधने वाले (अभ्याः वरे) महान् प्रकृति को भी आचरण करने हारे परमात्मा या प्राण के बने अन्तःकरण में (महीयते) महत्त्व को प्राप्त करता, बड़ी शक्ति प्राप्त करता है ।

(५) (यः) जो (सोमः) आनन्दमय परमात्मा (कलशेषु) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्यामी होकर विराजता और (पवित्रे) पवित्र हुए आत्मा के बीच (आहितः) विशेष रूप से प्रकट होता है । तम्) उसको, (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष, जीव (परि सस्वजे) जा चिपटता है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

(६) (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष (समुद्रस्य) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के (अधिविष्टपि) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर । मधुरचुतम्) परम आनन्दरस देने हारे, आनन्दमय (कोश) कोश को (निन्वन्) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुष्प कोशः

को प्राप्त और के समान (वाचं) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को (इष्यति) प्राप्त करता है ।

(७) (वनस्पति०) समस्त लोकों का स्वामी (नित्यस्तोत्र०) नित्य-स्तुतिकर्ता ज्ञानी, (युजा । योग सम्पादन करने हारे (मानुषा) मनुष्यों के (अन्तः) भीतर (सचर्दुधाम्) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली (धेना) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चित्ति शक्ति को (हिन्द्वान०) प्रेरण करने और उसके बल को बढ़ाने द्वारा है ।

(८) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हे (इन्द्रो) तेज-स्वरूप ! (सहस्रवर्चमम्) सहस्रों दीप्तियों से युक्त, (स्वामुधम्) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, (रधिं) ऐश्वर्य और बल को (अस्मे) हमें (धारय) धारण करा ।

(९) (कवि०) क्रान्तदर्शी, (सुतः) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् (परावति) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर (विप्रः) मेधावी (धारया) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से (सः) वह (दिव) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश में उज्ज्वल (प्रिया) अति उत्तम कान्तियुक्त लोकों में (अभि हिन्वे) विहार करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१२०५] उच्चे शुष्मास ईरने सिन्धोरुर्नेरिच स्वनः ।

३ १ २ ३ १
वाणम्य चोदया पत्रिम् ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१२०६] प्रमथे न उदीरने तिस्रो वाचो मस्यस्युवः ।

२ ३ ३ २ ३ १ २
यदथ्य एषि सानवि ॥ २ ॥

१२०५—[१] अग्नौ वारे' इति-श्रु० ।

■ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ■ १ २
[१२०७] अग्न्या धारैः परि प्रिय हरिं दिन्वन्त्यादिभिः ।

१ २ ३ १ २
पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ■ ॥

१ २ ३ ३ २ १ २
[१२०८] आगन्मन्त्र मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य यानिमासदम् ॥ ■ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२०९] स पयस्व मदिन्तम गोभिरक्षानो अकुभिः ।

१ २ ३ १ २
एन्द्रस्य जठरं विश ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ६। ५०। १-५ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (सिन्धोः) नदी या समुद्र के (कर्मैः) समझने वाले तरङ्ग का (इव) जिस प्रकार (स्वनः) ध्वनि (उत् ईरते) उठता है उसी प्रकार (ते) तेरे (~~गुण्यगुण्य~~) बल और शक्तियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू (वायस्य) इस ससार या इस शरीर (पथि) बाणी या प्रवर्तक शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(२) (ते) तेरे (प्रसवे) प्रकट होने पर (मलस्युव) तेरी अर्चना के इच्छुक भक्तजन की (तिस्र वाचः) तीनों प्रकार की वेदवाणियों ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, अक्, साम, यजु-स्वरूप उस समय (उत् ईरते) उठती हैं, प्रकट होती हैं । जब तू (अग्न्ये) चितिशक्ति या प्राण के बने (सानौ) उन्नत मस्तक देश या आनन्द प्रकट करने वाले अन्तःकरण में (एषि) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

(३) विद्वान् लोग (प्रियं) नृसिंहर, उत्कृष्ट, (हरिं) दुःखों को दूर करने वाले, (पवमानं) हृदय को पवित्र करने वाले, (मधुश्चुतम्) अमृततरस का चुआने वाले उस प्रभु को (अदिभिः) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से (अग्न्याः धारैः) चितिशक्ति की वृत्तियों धारणा और निदिध्यासवादि व्यापारों द्वारा (दिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, उत्पादन करते हैं ।

(४) हे (मदिन्तम) सबमे अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् !
हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वन् ! (अर्केस्य) प्रकाशमान परमात्मा के
(श्वेति) परम स्थान को (आसद) प्राप्त होने के लिये (धारया)
अपनी धारया शक्ति या वाणी से (पवित्रं) स्वच्छ, शुद्ध, उस पतितपावन
के प्रति (आपवस्व) गति कर, उसकी तरफ लौट जा उसकी स्तुति ।

(५) हे (मदिन्तम) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! (अ-
क्तुभि) ज्ञान-साधनों और (गोभिः) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा
(अम्नाम) अभिव्यक्त और भी प्रकाशमान होकर (सः) वह परम
रूप होकर (पवस्व) चरित हो, गति कर, उद्योग कर और (इन्द्रस्य)
ऐश्वर्यशील परमात्मा के (जठरे) भीतर गर्भ में (विश) प्रवेश कर,
उसी में रम ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



उ २ उ १२ २४ उ १ २ उ २ उ २
[१२१०] अया वीती परिस्त्रव यस्त इन्द्रा मदेष्वा ।

उ १ २ उ १२ २
अवाहस्त्रवतीर्नव ॥ १ ॥

१ २ उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[१२११] पुरः सद्य इत्या धिये दिवा दासाय शंवरम् ।

२ उ २ उ २ उ २ ॥ २ ॥
अथ त्वं तुर्वशं यदुम् ॥ २ ॥

१ २ उ १ २ उ १२ २४ उ १ २
[१२१२] परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्द्रो हिरण्यवत् ।

१ २ उ २ उ २ उ २ ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० । ६ । ६१ । १-२ ॥
क्षरा सहस्रिणीरिप ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० । ६ । ६१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [४६५] पृ० २४६ ।

(२) हे सोम ! (इत्या धिये) सत्य प्रज्ञानों से युक्त और सत्यकर्मा-
(दिवोदासाय) सूर्य के समान ज्ञानमय प्रकाश में निवास करनेहारे, जीवन्मुक्त
पुरुष के लिये (शंवरं) सुख, कल्याण के विनाशक उस (तुर्वशं)

हिंसक स्वभाव, क्रोध और (गृहं) नियम करने योग्य काम को (अध) भी (अधः) नाश करता है ।

(३) ■ (इन्द्रो) रसरूप आत्मन् ! (अश्वविद्) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाभ करने हारा, (गोमत्) ज्ञानेन्द्रियों और (हिरण्यवत्) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त [अश्वं] मन को वश करके (नः) हमें (सहस्रिणीः) सहस्रों प्रकार से वर्तने वाली या बलवती (इषः) कामनाओं को (हर) पूर्ण कर ।

[१२१३] अपघ्नन् पवते मृधोप सोमो अराव्यः ।

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] महो नो राय आभर पवमान जहि मृधः ।

रास्वेन्दो धीरवद्यशः ॥२॥

[१२१५] न त्वा शने चन हुतो एधो दित्सन्तमामिनन् ।

यत् पुनानो मस्त्रस्यसे ॥३॥ ७॥ अ० ■ । ११ । २५-२७ ॥

भा—(१) (सोम) परमात्मा (इन्द्रस्य निष्कृतं गच्छन्) जीव आत्मा के पवित्र अन्तःकरण में प्रकट होना हुआ (अराव्यः मृधः) सुख न देने हार, दुस्त्रदायी कार्यों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (पवते) प्रकट होता है ।

(२) हे (पवमान) ■ सबको पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (नः) हमें (रायः) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं (आभर) प्राप्त करा । (मृधः) हिंसक शत्रुओं को (जहि) नाश कर । ■ (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील हमें (धीरवत्) पुत्र पौत्रों से युक्त (यशः) यश और सम्पत्ति का (रास्व) दान कर ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! (राधः) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश (दित्सन्तम्) करने की इच्छा

बाले (स्वा) आपको (शतं चन) सैकड़ों भी (हुनः) कुटिलाचारी हिंसक पुरुष (न अभिनन्) नहीं मार सकते । [यत्) क्योंकि पुनान्) सबको पवित्र करते हुए आप (मस्तस्यमे) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

[१२१६] अया पवस्त्र धारया यया सूर्यमरोचयः ।

३ ३ १ २ ३ २ ३ २
दिन्यानां मानुषीरपः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[१२१७] अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावयि ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अम्भरिचणं या न वे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२१८] उत त्या हरतो रथे सूर्यो अयुक्त यानवे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रुरिन्द्र इानं प्रुवन् ॥३॥ अ० ॥ ६१ । ७-१ ॥

भा०—(१) क्यालया देखो आविकल सं० [४६३] पृ० २४६ ।

(२) (पवमानः) आत्मा को पवित्र करने द्वारा (सूरः) सूर्य के समान ज्ञानी (मनौ) मननशील चित्त में (अम्भरिचणं) भीतर हृदयाकाश में, या परमसुख, या मोक्ष मार्ग में (या न वे) जाने के लिये (एतशं) अश्व के समान गमन साधन मन को (अयुक्त) योगसमाधि द्वारा ईश्वर से मिला, उसके प्रति जाँवे ।

(३) (इन्द्रुः) ईश्वर के प्रति द्रुतगति से जाने द्वारा (सूरः) ज्ञानी, योगी (उत) भी (त्या हरितः) उन हरणशील प्राणों को (इन्द्रुः) 'परमेश्वर ही (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् हैं' इति इस प्रकार (प्रुवन्) कहता हुआ (रथे) अपने रमण करने योग्य परब्रह्म में ही आपको (अयुक्त) योगसमाधि से जाड़ दे ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

उ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१२१६] अग्निं चो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे
२ १२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

कृणुध्वम् । या मर्त्येषु निधुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः
३ १

पावकः ॥१॥

२ ३ २ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२०] प्रोथदश्वो न यवसेजविष्यन् यदा मरुः संवरणाद्व्यस्थात् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १

आदम्य वानो अनुवानि शोचिरथ स्म ते मज्जनं कृणु-

मस्ति ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५२१] उद्यम्य ते नवजानस्य वृ शोऽग्ने चगन्त्यजरा इधाना ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

अच्छा घामरुषो धूमपयि सं दूतो अग्न इयसे हि देवान्

॥३॥ ६॥ अ० ७ । ३ । १-३ ॥

भा०—(१) विद्वान् गण्य ! (व०) आप लोग (अग्निभिः)
सूर्यादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ (सजोषाः)
समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, (यजिष्ठ) दानशक्ति पुण्यकर्मा
(अग्निम्) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान को (अध्वरे) हिसारहित धर्म
कार्यों और व्यवहारों में (दूत) दूत के समान अपना संदेशहर (कृणु-
ध्वम्) बनाओ (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निधुवि) सूख स्थिर
निश्चय वात्ता, धैर्यवान् (ऋतावा) सत्याचारी, सत्यकर्मा, (तपुः) तपस्या
युक्त सहनशील और राजाओं को तापकारी, (मूर्धा) सब में शिर के
समान मुख्य और (घृतान्न) तेजस्वी, सात्विक भोजन करने द्वारा
(पावकः) पवित्रकारी है । अध्यात्मपद में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात
अवाक्षार्थियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप
अध्वर=यज्ञ में दूत, उपदेशक या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरणाधर्मों
पुरुषों में भी आत्मा रूप से अचक्षुष सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने द्वारा है । परमात्म पक्ष में—(अग्निभिः सजोषा)
सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक (धृताश्रः) तेजोयुक्त समस्त हिरण्य-
गर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में लीन करने द्वारा (तपुः) सब
का तापक, (पावकः) सब का शोधक, (निधुविः) नित्य ध्रुव (अस्तावा)
सत्य स्वरूप, सत्योपदेष्टा है उसको अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता
'गुरु समझो ।

(२) (प्रोथम्) शब्द करता हुआ (अश्वः न) अश्व जिस प्रकार
(अधिप्यन्) भोजन करने की कामना से (यवसे) घास पर जाता है
उसी प्रकार (यदा) जब (मह) महान् श्रेष्ठ (संवरणान्) संवरण
निरोधस्थान या वरण योग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने पशु
और धनादि प्राप्ति और गृस्थादि भोग्य आश्रमों के लिये (वि अस्थात्)
बाहर आता है और (आत्) अनन्तर (अस्य) इसके (शोचिः) तेज
के (अनु) अनुकूल (वातिः) प्राण भी (वाति) गति करता है (अध)
तब ही हे विद्वान् ! (ते) तेरा (व्रजन) मार्ग या गमन करना (कृष्याम्)
समस्त लोकों को अपनी ओर आकर्षण करने वाला (अस्ति) होता है ।
ब्रह्मचर्य करने के बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यव-
हार और जीवन यापन करने वाले विद्वानों के जीवनपथ पर दुनिया भी
खिंची खली आती है । मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः । गीता ।

(३) हे अग्ने ! (नवजातस्य) सावित्री के गर्भ से अभी नये ही
बाहर आये नवस्नातक, (वृष्णः) ज्ञानों के वर्पण करने वाले (यस्य ते)
जिस तेरे (अजरा) जरारहित होकर बलवान् प्रखर, (इधाना) तेजः
(उच्चरन्ति) प्रकट होते हैं । और (अरुपः) कान्तिमान् (धूमः) प्रति
पक्षियों में कम्पना उत्पन्न करने द्वारा होकर (याम्) सूर्य या तेज प्रका-
शक और ज्ञान को (एषि) प्राप्त करता है वह तू हे (अग्ने) ज्ञानवान् !
(देवान्) विद्वानों के प्रति (दून्) ज्ञान संदेश के जाने के लिये दूत या

गुरु के समान उम तक (ईपसे) पहुँचता है । साधक की आत्मा के भीतर जब नया अतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है उस समय विशोक चितिशक्ति या प्रदीप्त आत्मा की जो दशा होती है उसका भी वर्णन इस तीनों मन्त्रों में साथ ही किया है । तीसरे में—अजरा=आयुगण । धूम=आर्यों को गति देने हारा आत्मा । दूत=गतिशील, प्रेरक आत्मा । देवान्=इन्द्रियों को । ईपसे=प्राप्त होता है, वश करता है । शेष स्पष्ट है ।

१४ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२२२] तमिन्तं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।

१ २४ ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥

१ ३ १४ २४ ३ १४ २४ ३ १४ २४ ३ २
[१२२३] इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठ स बल हितः

३ २ ३ २४ ३ २
यस्मिन् श्लोकी स सोम्य ॥२॥

३ २४ २ १४ २४ ३ १ २ ३ १ २
[१२२४] गिरा वज्रो न सम्भूत स बलो अनपच्युतः ।

३ २ ३ १४ २४
ववक्ष उग्रा अस्तून ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६३ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो प्रविकल सं० [११६] पृ० ६४

(२) (सः) वह (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर । दामने) समस्त सुख देने में (कृतः) समर्थ, (ओजिष्ठ) सबसे अधिक बलशाली होने के कारण (सः) वह (बलः) बल योग्य, संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि विशाल कार्य में (हितः) लगा हुआ है । वही (यस्मिन्) यशस्वी, (श्लोकी) वेदमय स्तुतियों में युक्त और (सोम्यः) उत्तम गुणों से सम्पन्न है ।

(३) (सः) वह (वज्रः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी अपने कर्त्तव्य जगत् रचनादि कार्यों से न तिरगने वाला (उग्रः) दुर्जेनों के प्रति

अति उग्रस्वभाव (अस्तूनः) कभी न हिंमित (वज्र. न) विघ्न नाशक
आयुध के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृ-न.) उत्तम रीति से
धारण किया गया (ववचे) संसार का धारण करता है ।

इति पष्ठः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२५] अद्यर्यो अट्टिभि सुन सोम पवित्र आनय ।

३ १ २ ३ १ २
पुनादीन्द्राय पानवे ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२२६] तव त्य इन्द्रो अन्धसो देवा मघाः श्रुतः ।

१ २ ३ १ २
पवमानस्य भूरुतः ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२७] दिव पीयूषमुत्तम सोमोन्द्राय वज्रिण ।

३ २ ३ १ २
सुतोता मधुमत्तमम् ॥३॥ ११ अ० ६ । ५१ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल म० [४६६] पृ० २४८ ।

(२) हे (इन्द्रो) सोम ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (पवमानस्य) पवित्र
करने वाले, या स्वयं पवित्र, (मघो) अमृतरसरूप ते) तेरे (अन्धम.)
जीवन धारण करने की शक्ति या उपभोग्य आनन्दरस का (त्ये) वे (भ-
रुत) प्राणरूप (देवा) देव अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि और विद्वान्जन
(वि आगत) विविध प्रकार से उपभाग करते हैं ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आग लाग (दिव पीयूषम्) आकाश को
आनन्द में भर देने वाले, चन्द्रालोक के मनाने वाले शाश्वतजनक, ज्ञान-
स्वरूप प्रकाश के (पीयूषम्) अमृतरसमरूप, (मधुमत्तम्) अति मधुर,
आनन्दकारी, (सोमम्) आनन्दरस को । वज्रिण ज्ञान और वैराग्य रूप
वज्र के धारण करने वाले (इन्द्राय) आत्मा के लिये । सुतोता, उत्पन्न करे ।

१२२५—१. 'पुनादीन्द्राय' र्थात् न० ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे (पवमान) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू (तविष्णमाय.) महान् सामर्थ्यवान् होकर (इन्द्रस्य) परमात्मा के (जठरेषु) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हारे लोकों में (ऊर्मिणा) ऊर्ध्वगति द्वारा (आविश) प्रविष्ट हो ! (विद्युत् भम्ना इव । जिस प्रकार विद्युत् उत्पन्न होकर मेघों को जल बरसाने के लिये पूर्ण करती है उसी प्रकार तू (रोदसी) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और (त । हमारे लिये (शश्वतः) बहुत से (वाजान्) बलों और ज्ञानों को (उप माहि) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[२१३१] यादेन्द्र प्रागपाशुदग्न्यग्वा ह्यसे नृभि ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

सिमा पुरुनृषूना अस्यानवसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥१॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१२३२] यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

कण्वालस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्यागहि

॥२॥१३॥ अ० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १३४ ।

(२) हे इन्द्र ! आप (रुमे) शमणीय, (रुशमे) हिंसक (श्यावके) गतिमान और (कृपे) सामर्थ्यवान् पुरुष में (सचा) समान भाव से (मादयसे) आनन्द और हर्ष को प्राप्त कराते हो । (ब्रह्मवाहसः) ज्ञान धारण करने हारे (कण्वासः) मेधावी पुरुष (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (यच्छन्ति) बाधते हैं, वश करते या प्राप्त होते हैं । तू (आगहि) आ, दर्शन दे । यहां आत्मा के प्रति सम्बोधन करके कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और 'कृप' ये चार शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । "जात पात पूछे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।"

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१२३३] उभयं शृणुष्व न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
 उ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 सत्राज्या मघवान्तसोमपीतं यधियां शयिषु आगमत् ॥१॥
 २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१२३४] तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिपये निष्टुततुः ।
 उ १ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 उनोपमाना प्रथमो निपीदसि सोमकामं हि तं मनः ।
 ॥ २ ॥ १४ ॥ अ० ८ । ६१ । २, ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आर्विकल सं० [२६०], पृ० १४८ ।

(२) (हि) क्योंकि (तं) उस (स्वराज) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सयके प्रकाशक, (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को (धिपये) आकाश और पृथिवी (ओजसा) अपने बल [निःसृततुः] धारण करती हैं । हे प्रभो ! वृ (उपमाना) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी (प्रथमः) प्रथम ज्ञानोपदेश करने द्वारा या रचने द्वारा होकर उनमें (निपीदसि) गुप्तरूप से व्यापक है । (मे) तेरे (मनः) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा (सोमकामं हि) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है ।

‘सोऽकामयत प्रजायेय’ इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप [स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को बराबर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है । (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सर्वं स्पृष्ट्वाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च । इत्यादि (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द चल्ली २ । अनु० ६ ।) आकाश और पृथिवी परमात्मा को अपने भीतर धारण करती हैं । जैसे (सुण्डकोपनि० २ सु० व० १. क० ४) ‘‘अग्निसूची, चतुषी चन्द्र-

२२३३—२, ‘तमोजसे’ इति ।

सूर्यो दिशः श्रोत्रे, चाग्निवृत्ताश्च वेदाः । वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्या
 पृथिवी, होष सर्वभूतान्तरात्मा" । अथवा छान्दोग्य में, वैश्वानर प्रकरण में-
 "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य भूर्धैव सुतेजाश्चतुर्विधरूपः प्राणः पृथ-
 ग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लो-
 मानि हृदये गार्हपत्यो मनोऽन्वहार्यपचनः आस्थमाहननीयः ।" (छा० उप०
 १० । २ । १०) अथवा स्वयं वेद श्रुति—'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतो
 वरम् । दिवं यश्चक्रे भूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" (अथर्व० का० १०।
 सू० ८ । म० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पवस्व देव आयुषाभिन्दं गच्छतु ते मदः ।

वायुमारोह धर्मणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तोशसे रयि सोम अवाप्यम् ।

इन्द्रो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अपमन् पवने मृधः क्रतुवित्साम मत्सरः ।

नुदस्वा देवयुं जनम् ॥३॥१५॥ ऋ० ६ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविशत सं० [४८३] पृ० २३२ ।

(२) हे (पवमान) सोम ! विद्वद् । आप (अवाप्यं) यश और कीर्ति
 जनक अथवा वेद द्वारा अवकाश करने योग्य (रयिं नितोशसे) आत्मज्ञान
 रूप ऐश्वर्य का प्रदान करते हो एवं अभ्यास करते हो । अतः ॥ (इन्द्रो)
 ज्ञान-प्रकाशक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय
 परमेश ज्ञान में (आविश) प्रवेश करें ।

१२३५—'प्रिन्. ससुद्र' इति ऋ० ।

(१) जन्माद्यु संदितायु 'मथार पासे मृष०' ज्ञानदेव ननुप्रकीर्ण
 मुपलभ्यते ॥

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६२] पृ० २४६ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३८] अभी नो वाजसातमं रयिमर्षं शनस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दो सहस्रमर्षं सन्तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३९] वयं ते अस्य रावसं वसोर्वसो पुरुस्पृह ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

नि नेदिष्ठतमा इयः स्याम सुम्ने ते अधिगो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्यं मदव्युतः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ २

धारा य ऊर्ध्वो अक्षरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥१६॥

अ० ६। ६८। १, ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४६] पृ० २४६ ।

(२) हे (अधिगो) ध्रुव ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (वसो)

सबके अन्तर्यामिन् ! (वय) हम लोग (ते वसो.) सब को वास देने

हारे और [] में बसने हारे तेरे (पुरुस्पृहः) सब को प्रेम करने-हारे

और सब के प्रेमपात्र (अस्य रावसः) इस आराधनीय (इयः) सब

प्रेरक, [] के विषय, जीवन और अज्ञादिक शक्तिस्वरूप

(नेदिष्ठतमाः) अति निकटवर्ती होकर हम (ते सुम्ने) तेरे सुखमय स्वरूप

में (नि स्याम) रहें ।

(३) (यः) जो (इन्दुः) सोम अर्थात् वीर्य, (गव्ययुः) गौ-

इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त (न) जिस-

प्रकार (भ्राजा) अपनी दीप्ति से, (अक्षरे) हिसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु संहितासु प्रतीकमात्रम् अभी नो वाजसातम० ।

१२३९—‘वयं ते अस्व पृथङ् नसो वस्वः पुरुस्पृहः’—‘स्याम सुम्नस्याधिगो’ ।

१२४०—‘परिसुवानो अक्षरद्’ ‘भ्राजानेति’ इति ॥ ।-

१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२
[१२४१] पवस्व सोम महान्तसमुद्रः पिता देवानां विश्वाभिवामः॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१२४२] शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिव पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१२४३] दिवो धर्तासि शुक्र. पांयूष. सत्ये विवर्मन् वाजी पवस्व
॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ॥ १०६ ॥ ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अधिकृत सं० [४२३] पृ० २१६।

। (२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् (दिवः) आकाश और दिव्य, जागृत्यमान सूर्य में तेजःस्वरूप होकर (पृथिव्यै) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के लिये अन्न, औषधि और वीर्यरूप होकर (वां) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है ।

१० (३) (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) तेजस्वरूप, शुक्ल,
कान्तिमान् (दिव.) सूर्य को भी (धर्ता) धारण करने द्वारा, (सत्ये)
सत्यस्वरूप (विघ्नमर्त्त) विश्व को ज्ञाना रूप से धारण करने वाले परमेश्वर
में- (पीयूष.) समस्त जीवों द्वारा पान करने, उनको तृप्त अनुकूल
संवेदन करने योग्य, अनन्त आनन्दस्वरूप, (वाजी) बलवान्, ऐश्वर्यवान्
होकर (पवस्व) प्रकाशित हो ।

इति ऋषभ खण्डः ।

[१२४४] प्रेष्टं चो अनिधिं स्तुपे मित्रमिव प्रियम् ।

अप्रे रथं न नेष्टम् ॥ १ ॥

[१२४५] कविमिव प्रशंस्यं य देवास इति द्विता ।

नि मर्त्येष्वदधुः ॥ २ ॥

[१२४६] त्वं यविष्ठ दाशुषो नृः पाहि शृणुही गिरः ।

रक्षा लोकमुत्त त्मना ॥ ३ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ८४ । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [५] पृ० ३ ।

(२) (देवामः) विद्वान् लोग (प्रशंस्यं) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, (कविम् इव) क्रान्तदर्शी, मेधावी के समान (इति) इन्प्र प्रकार प्रत्यक्षरूप से (यं) जिसको जानकर (द्विता) दो रूपों में (मर्त्येषु) मनुष्यों में (नि-आदधुः) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं—एक समस्त संसार में व्यापक सर्वमाही परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्त्ता और फल भोक्ता जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

(३) हे (यविष्ठ) सब में व्यापक ! सबसे अधिक शक्ति वाले ! (त्वं) तू (दाशुष) दानशील, उदार होकर (नृः) मनुष्यों को (पाहि) पालन कर । (गिरः) स्तुति वाणियों को (शृणुहि) श्रवण कर । (उत्त) और (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (लोक) बालक या उसके समान कार्य जगत् की (रक्ष) रक्षा कर ।

[१२४७] एन्द्रो नो गधि प्रियं सत्राजिदगोहा ।

गिरिर्न त्रिध्वतः पृथुः पतिर्द्विधः ॥ १ ॥

१२४४—२. 'कविमिव प्रचेतसं', 'अथ द्विता' ३. 'शृणुही गिरः' इति क० ।

■ १२ २३ ३२ ३२ ३ १ २
[१२४८] अमि हि सत्य सोमपा उमे वमूथ रोदसी ।

२२ ३ २ ३ १२ २२ ■ २
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥

१२ २२ ■ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१२४९] त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दत्ता पुगामसि ।

३ २३ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
हन्ता दस्योर्मनो वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥ १६ ॥

श्रु० ८ । ६८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६३] पृ० २०२ ।

(२) हे (सत्य) सत्यस्वरूप परमात्मन् ! (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान् ! आप (सोमपाः) समस्त ससार के पावन करने वाले, प्रलय काल में सब संसार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान अर्थात् लीन करने हारे हो । आप (उमे) दोनों (रोदसी) लोकों को या उत्पत्ति और विनाशरूप दोनों मर्यादाओं को (वमूथ) बरस करने में समर्थ हो । आप (सुन्वत) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए (दिवः) सूर्य या प्रकाश को भी (वृधः) बड़े भारी, बढ़ानेहारे (पतिः) मालिक हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! आप (शश्वतीनां) अनादिकाल, 'से चले आये' (पुराम्) देहरूप पुरों के (दत्ता) दारण करने हारे, 'सुक्रिदायक (असि) हो । (दस्योः) नाशकारी अज्ञान (हन्ता) नाश करने वाले और (मनोः) मननशील ज्ञानी आत्मा के (वृधः) बढ़ाने वाले और (दिवः) सूर्य तथा उसके समान देदीप्यमान आदित्य योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान-प्रकाश के भी (पतिः) स्वामी हो ।

१२४७—३. वर्त्ता पुराम् इति पाठः सायणसम्मतः । परमार्थतस्तु सायणोऽपि

'दारयित्वा हत्येव' पर्वविमुक्तिवति । मुम्वर्त्त, अजमेरादिमुद्रितो 'वर्त्ता'

इति पाठस्तु भाष्यकृद्भिरनादृतः । 'पुराम्भिन्दुरित्वादिभ्यस्तन्तरनिरोधाय ।

[१२५०] पुरां भिन्दुर्युक्ता कठिरामनौजा अजायत ।

इन्द्रा विश्वस्य कर्मणो अर्चा वजी पुरुषदुतः ॥ १ ॥

[१२५१] त्वं बलस्य गोमतो पावगद्विर्वा विलम् ।

त्वां देवा अपिभ्युषन्तुज्यमानास आविषुः ॥ २ ॥

[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसामिस्तेमैरनूषत ।

सहस्रं यस्य रानय उत वा सन्ति भूयसीः ॥ ३ ॥ २० ॥

श्रु० १। ११। ॥, ५, ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५३] पृ० १८६ ।

(२) हे (अविष) दीर्घ या विनाश न होने वाले अविनाशी स्वरूप वाले आत्मन् । त्वं (गोमत) इन्द्रियों से युक्त (बलस्य) प्राण के (विलम्) प्रवेशस्थान शरीर सम्बन्ध (अपिभव) खोल देता है, (देव) समस्त अग्नि आदि देव (अपिभ्युषन्) तेरी रक्षा में मग्न न करते हुए (तुज्यमानास) पीड़ित होकर अथवा तुम्हारे ही शक्ति प्राप्त करते हुए । (स्वा) तेरे पास (आविषुः) शरणा में प्राप्त होते हैं ।

जैसा ऐतरेयोपनिषद् में—“ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्थे वे प्रापतन्” ता एनमनुवन् आयतनं न प्रजानीहि ताभ्यः पुरुष-मानयत् । ता अभुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ताः अभवीद्, यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्रविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद् ।” इत्यादि समस्त देवताओं को पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा इन्द्रस्वरूप स्वयं नानूयद्वार से प्रविष्ट होगया । “स एतमेव सीमाचं विदार्थः एतया द्वारा प्रापयत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ।” इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोजा गया है । (ऐतरेय उप० अ० १। ख० २। ३)

१२५०—२. 'गोगतोऽपाव', ३. 'अभिस्तोमा' इति श्रु० ।

(३) हे विद्वानो ! (ओजसा) अपने ओज बल और वीर्य से (ईशानं समस्त संपार को वश करने हारे मालिक (इन्द्र) परम आत्मा की (स्तोमै.) चैत्रमन्त्रों द्वारा (अग्नि अनूपत) स्तुति करो । (यस्य) जिसके (रातय.) दिये हुए दान हज़ारों और (वत) और भी (भूयसी.) बहुत अधिक (सन्ति) हैं ।

इति नवमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य (द्वितीयाऽर्धः) प्रपाठकः ।

अग्नि — १ पराशरः । २ शुनःशेषः । ३ असित काश्यपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः मित्रमेधश्च । ८ पवित्रो वसिष्ठो बोधो वा । ९ वसिष्ठः । १० वत्सः काण्वः । ११ शत वेदानमाः । १२ सप्तर्षयः । १३ वसुमर्त्याजः । १४ नृमेधः । १५ भर्गो प्रागायः । १६ भर्द्वाजः । १७ मलुराप्सवः । १८ अम्बरीषः । १९ अमर्षो धिष्ण्याः ऐश्वराः । २० अमर्षीयुः । २१ विशोकः काण्वः । २२ गोतमो राहूगणः । २३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६—२० पवमान सोमः । ८ पावमान्वभ्येतृस्तुतिः । ९ अग्निः । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप् । १९ जगती । १४ निचृष्टहती । १५ प्रागायः । १७, २२ उज्जिह्व । १२, १६ द्विपदा पक्षिः ॥ स्वरः—१, ९ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ पङ्क्तः । ८, १८, २३ गान्धारः । १३ निषादः । १४, १५ मध्यमः । १२, १६ पञ्चमः । १७, २२ ऋषभः ॥

- [१२५६] एष देवा अमर्त्यः पर्णैरिव दीयते ।
अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥
- [१२५७] एष त्रिप्रैरभिष्टुनोऽपो देवा विगाहते ।
दधद्रत्नानि दाशुष ॥ २ ॥
- [१२५८] एष विश्वानि धार्या शूरा यच्चिव सत्त्वभिः ।
पत्रमानः सिषासनि ॥ ३ ॥
- [१२५९] एष देवो रथर्यति पत्रमानो दिशस्यति ।
आत्रिक्वणोनि वग्वनुम् ॥ ४ ॥
- [१२६०] एष देवा विपग्युभिः पत्रमानः श्रुतायुभिः ।
हरिषाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥
- [१२६१] एष देवो विपाकनोऽनिह्रासि धावति ।
पत्रमानो अदाभ्यः ॥ ६ ॥
- [१२६२] एष दिवं त्रिधावति तिरा रजासि धारया ।
पत्रमानः कानिकदत् ॥ ७ ॥
- [१२६३] एष दिवं व्यासरत्तिरा रजास्यस्तनः ।
पत्रमानः स्वध्वरः ॥ ८ ॥
- [१२६४] एष प्रत्नेन जन्मना देवा देवभ्यः सुतः ।
हरि पवित्र अर्पति ॥ ९ ॥
- [१२६५] एष उ स्य पुरुवना जमाना जमयन्निधः ।
धारया पश्यते सुतः ॥ १० ॥ ॥ १० ॥ ॥ १० ॥ ॥ १० ॥

भा०—(■) (देवः) प्रकाशमान, (अमर्त्यः) मरणादिरहित, अमृत-
स्वरूप जीव (द्रोणकलशानि) द्रोण कलशों, अर्थात् दणों के (अभि)
प्राप्ति (आसदम् । प्रवृत्त होकर उनमें विराजने के लिये (पर्याची. इव)
पक्षी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पक्षों से युक्त वृक्ष के समान
(दीयते) प्राप्त होता या उनमें विराजता है ।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या
स्वरूप २ संचय करके बना हुआ । फलतः यह शरीर द्रोणकलश है ।
इनमें शुक्रस्वरूप दीक्षिगय चेतनावान् आत्मा 'सोम' है । वह इन शरीरों
में निवास करने के लिये पिन्जरे में पक्षी के समान आता है । इस
आत्मा साम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो (पञ्चवेद
अ० १० । मं० ८६-८५) यथा—“आन्प्राणि स्थास्तीर्मधु पिन्विमाना गुदाः
पान्प्राणि सुदुषा न धनुः । रयंस्य पत्रं न ग्रीहा गचीमिरासन्दी नामिरुदरं
न माता ॥ ८६ ॥ इत्यादि ।

(२) (एषः) वह आत्मा (विप्रैः) मेधावी, ज्ञानी पुरुषों द्वारा
(अभिस्तुतः) ठीक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ (देवः)
प्रकाशस्वरूप (अपः) समस्त जगत्, कर्मों और लोकों को (नि ग्राहते)
अमण करता है । और (दाशुषे) आत्म समर्पण करने वाले साधकों को
(रत्नानि) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को (दधत्) पुष्ट
करता या धारण करता, या देता है ।

(३) (एषः) वह (पवमानः) समस्त शरीर में व्यापक और
गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ,
(सत्त्वभिः) अपने सात्विक बलों से (शूर यन्) धीर योद्धा के स-
मान गति करता हुआ (विमानि) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य
आनन्दों, सुखों का (सिपासति) सेवन करता है ।

(४) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान, (पवमानः) समस्त शरीर और हृदय पवित्र करता हुआ (रययंति) रथ के समान शरीर में रहता है और (दिशस्यति) उपदेश प्रदान करता और (वयं) ज्ञानवाणी या स्तुति को (आवि. कृद्येति) प्रकट करता है ।

(५) (एषः) वह (हरिः) हरण करने द्वारा । देवः) देव (पवमानः) व्यापक आत्मा (विपन्युभिः) विद्वान्, सत्य अर्थों के प्रकाशक (अतायुभिः) सत्य कामना वाले विद्वानों द्वारा (वाजाय) बल की प्राप्ति के लिये (सृज्यते) और भी पवित्र किया जाता है ।

(६) (एष देवः) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा (पवमानः) पवित्र किया हुआ (विपा । विशेष प्राप्तना करने द्वारा शक्ति से (कृतः । सम्पन्न होकर (अदाभ्यः) बिना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, अमृत होकर (हरासि) समस्त कुटिल विचारों, या पापसकल्यों, या बंधनों को (अति धावति) पार कर जाता है ।

(७) (एषः) वह (पवमानः) शुद्ध, पवित्र होकर (रजासि) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को (धारया) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (अति) अतिक्रमण करके (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ (दिव) ज्ञानमय, प्रकाशमय मोक्ष को (विधावति) प्राप्त कर, विचरण करता है ।

(८) (एषः पवमानः) वह सुक्रात्मा सोम (अस्तृतः) वासनाओं से बाधित न होकर (सु-अध्वरः) सुकृत कर्म करके सभी माश को न प्राप्त होने वाला, होकर (रजासि) रजोमय विघ्नों को (तिरः) एक तरफ हटाकर (दिव) प्रकाशमान मोक्षलोक को (वि आसरत्) विशेष रूप से प्राप्त होजाता है ।

(९) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर (हरिः) सब दुःखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा

(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों के हितार्थे । प्रत्नेन) पुराने परिपक्व
[जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा (पवित्रे) परम पावन, परमात्मा
में (अर्धति) जा लगता है ।

(१०) (एषः उ स्य.) और वही यह (पुरुषतः) नाना सत्कर्म
अनुष्ठान करने द्वारा (अज्ञानः) शरीर में आकर (इष.) नाना कर्मों,
कर्मफलों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सुतः) गुरुओं से उपदेशों
द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान सम्पन्न होकर (धारया) अपनी
धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा (पवते) उत्तम मार्ग में गति करता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:०.—

[१२६६] एष धियायात्यख्या शूरो रथेभिराशुभिः ।
३ २ ३ ७ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ २

[१२६७] एष पुरु धियायते बृहते देवतातये ।
३ ७ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

यत्रामृतास आशत ॥ २ ॥

[१२६८] एतं मृजन्ति मर्ज्यमुपद्राणेन्वायवः ।
३ १ ७ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

प्र चक्राण महीरिष ॥ ३ ॥

[१२६९] एष हिना विनीयनेऽन्तः शुन्ध्यावता पथा ।
३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

यदी तुजन्ति भूर्यय ॥ ४ ॥

[१२७०] एष रुक्ममिदीयते वाजी शुभ्रैभिरंशुभिः ।
३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पतिः सिन्धुना भवन् ॥ ५ ॥

[१२७१] ^{३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २} एष ऋक्णाणि दोधुवच्छिशीते यूध्यो ३ वृषा ।

^{३ १२ २२ ३ २ २} नृणां दधान आजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] ^{३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२} एष वसुनि पिबन्, पुरुषा ययिर्वा अति ।

^{२ ३ १ २} अव शोदेषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] ^{३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} एतमु त्थ दश क्षिपौ हरि हिन्वन्ति यातवे ।

^{३ ३ ३ १ २} स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

श्रु० ६ । १२ । १, २, ३, ४, ५, ६, ८ ॥

भा०—(१) (रयेभिः । रयों द्वारा जिस प्रकार (शूरः) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक व्यापन करने हारे सात्विक साधनों से युक्त होकर (एषः) वह शमादि-गुणसम्पन्न योगी (आशुभिः) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलने वाले (अग्न्या) सूक्ष्म (धिया) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा (इन्द्रस्य) आत्मा और प्रभु परमात्मा के (निष्कृतम्) परम दिव्य धाम को (गच्छन्) जाता हुआ (याति) मानस सुख को प्राप्त करता है ।

(२) (एषः) वह आत्मा योगी उस (वृहते) बड़े भारी (देवतातमे) दिव्यगुण प्राप्त प्रभु को साक्षात् करने के लिये (पुरु) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा (धियायते) ध्यान करता और योग-समाधि का अनुष्ठान करता है । अथवा (धिया अयते) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है । (यत्र) जहाँ जिसमें वे (अमृतासः) अन्य सुक्तात्मागण अमृत स्वरूप होकर (आसत) मोक्षसुख का भोग करते हैं ।

(३) (आयधः) दीर्घ आयु की कामना करने हारे, या ज्ञानी मनुष्य (एतं) इस (सोमम्) शमदमादि-सोम्यगुणों से सम्पन्न, (मज्यं) प्रयत्न से शोधने योग्य, या सौजवं योग्य (महीः) नदी (इषः), इच्छाओं के

या बल साधनाओं को (प्र चक्रायाम्) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को (द्रोणेपु) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसव्यापारों या कोशों में (मृजन्ति) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं ।

(४) (यद् ई) जब (भूर्ययः) भरणशील प्राण और अपान को यथास्थान, यथामार्ग में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष (तुम्जन्ति) प्राण और अपान की आहुतिया प्रदान करते हैं तब (एषः) यह सोम (अन्तः) भीतर (हितः) गुप्तरूप से विद्यमान (शुन्ध्यावता) शुद्धियुक्त (पथा) मार्ग से (विनीयते) प्राप्त कराया जाता है ।

(५) (एषः) यह सोम (रुक्मिभिः) उत्तम कान्ति से सम्पन्न, देवीप्यमान तेज वाले, (शुभ्रेभिः) श्वेत शुद्ध (अंशुभिः) किरणों से युक्त (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान्, (सिन्धूनां) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रनादियों का (पतिः) पालक (भवन्) होता हुआ (ईयते) जाना जाता है ।

(६) जिस प्रकार (यूयं वृषा) गोयूथ में विचरण करने द्वारा महावृषभ (शृङ्गाणि दोधुवन्) अपने सींग दिखाता हुआ (शिशीते) समीप के पदार्थों को भी कंपाता है उसी प्रकार (एषः) यह विद्वान् अपने (शृङ्गाणि) किरणों को या प्रेरक बलों को (दोधुवन्) प्रेरित करता हुआ (ओतसा) अपने बल (नृभ्या) प्राणों को (दधानः) धारण करता हुआ (शिशीते) सब प्राणों को भी, कम्पित करता सबको संचालित करता है ।

(७) (एषः) यह ज्ञानी (वसूनि) वास करने वाले प्राणों को (पिबन्) पीड़ित या प्रेरित करता हुआ (परुषा) प्रत्येक पर्व या मंजिष्ठ को (अति यविमान्) पार करता हुआ (आदेपु) कठिन तपस्याओं या मूमियों में (अब गच्छति) प्रवेश करता है ।

(८) (हरिः) दुःखों से हरने वाले मनोहर, सबके प्रेरक, सबके धारक, (त्यपंतं) उस इस (सु-आयुधम्) उत्तम साधनाओं से सम्पन्न, (मदिन्त-मं) अति आनन्द और हर्षयुक्त सोमरूप साधक आत्मा को (दश विपं) दशों प्राणगण (पातवे) प्राप्त करने या आनन्दरस पान कराने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

१. ३ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ २
[१२७४] एष उ स्य वृषा रथोऽज्या वारोभिरव्यत ।
॥ ३२ १ २ ३ १ २
गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥
३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७५] एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिमिः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥
३ २ २४ ३ २ ३ २४ ३ १ २
[१२७६] एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
१ २ ३ २४ ३ १ २
गच्छन्नारो न योषितम् ॥ ३ ॥
३२४ २ १ २४ ३ १२ २४
[१२७७] एष स्य मद्यो रसोऽवचष्टे दिवः शिशुः ।
२४ ३ २ ३ ॥ २
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥
३२४ ३ १ २ ॥ १२ २४ ३ २
[१२७८] एष स्य पीतये सुनो हाररर्षति धर्षसिः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १
क्रन्दन्योनिममि प्रियम् ॥ ५ ॥
३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७९] एतं त्य हरितो दश प्रमृज्यन्ते अपस्युधः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

अ०-१, ३२४ । १, २, ४ ३, ६, ३४

भा०—(१) (स्य० एषः) वह यह सोम अर्थात् शम आदि पट्क-सम्पत्ति ■ युक्त सुमुष्ट जन (वृषा) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने हारा, (रथ०) गतिशील, रमण्यस्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न होकर विचरने हारा, (सहस्रियम्) बल से युक्त या नाना प्रकार ■ सुखों के देने वाले (वाजं) ज्ञान ऐश्वर्य का (गच्छन्) प्राप्त होता ■ और वह (अन्या) चित्तिशक्ति या मुख्य प्राण के (वारः) वरण योग्य साधनों से (अभ्यत) मुक्तिमार्ग पर गमन करता है ।

(२) (एतं) एत (हरिम्) दुःखों ■ हरने वाले, सबके नेता, सुमुष्ट आत्मा को (प्रितस्य) तीनों प्रकार के दुःखों से परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों से युक्त मुख्य प्राण ■ साथ (घोषणाः) भ्रम करने हारी, उसका सेवन करने हारी, इन्द्रिय-वृत्तियाँ (इन्द्राय) परम आत्मा के (प्रीतये) आनन्दरस प्राप्त करने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करतीं या उस ■ बल की वृद्धि करती हैं ।

(३) (एष स्यः) यह वह योगी (मानुषीषु) मनुष्य (विष्टु) प्रजाओं में (रयेन न) पक्षियों में वेगवान् गरुड़ के समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और (घोषितम्) स्त्री के प्रति (गच्छन्) गमन करते हुए (वारः न) उसके प्रिय पुरुष के समान गुप्तरूप से परमसुख का अभिलाषी होकर (सीदति) तन्मय भाव से विराजता है ।

(४) (यः) जो (इन्द्र) परम ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा (वारम्) वरण करने योग्य मोक्षमार्ग में (आविशत्) प्रवेश करता है (एष स्यः) वह यह (मधु) अतिहर्षयुक्त (रसः) आनन्दमय, रमण्य होकर (दिवः) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में (शिशुः) बालक ■ समान, या मध्य आकाश में सूर्य के समान रहकर (अवचष्टे) समस्त भुवनों को देखता है ।

(१) (एयः स्यः) यह वह सोम मुमुक्षु आत्मा (पीतये) आनन्द-
रम पान करने के लिये (सुतः । तैयार, निष्पन्न होकर (मन्दत्) शब्द
करता हुआ, स्तुति करता हुआ, (हरिः) सब इन्द्रियों का नेता, (धर्मसिः)
सब प्राणों को धारण करने द्वारा होकर (प्रिय) अपने प्रिय, उत्तम
(योनिम्) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के (अभि-अर्पति) प्रति गमन
करता है ।

(६) (त्वं एनं) उस इमको (अपस्युयः) कर्म करने की इच्छा
करने वाली चेष्टावान् (दश) दस (हरितः) हरणशील इन्द्रियां, या
प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर (ममृज्यन्ते) और अधिक उज्ज्वल होती हैं
(याभिः) जिनसे वह मुमुक्षु (इन्द्रस्य) अपने भीतर विराजमान पेश्वर्य-
शील आत्मा क (मदाय । परम आनन्द प्राप्त करने के लिये (शुग्मते)
स्वयं प्रकाशित, या सुशोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीय खण्डः ।



उ २ उ २ उ १ २ २ २ उ १ २ २ उ १ २
[१२८०] एव वाजी नितं नृभिर्विश्वविन्मनसरूपनिः ।

२ उ १ ३ १ २
अव्य वार विधावति ॥ १ ॥

उ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २
[१२८१] एव पयिषे अक्षरत्नोमो देवभ्य सुतः ।

३ उ १ २ उ २
विश्वो धामान्या विशन् ॥ २ ॥

उ २ उ १ २ उ २ उ २ उ १ २
[१२८२] एव वेव शमायतेऽधि योनावमर्त्यः ।

उ । २ उ १ २
वृषदा देववीतम ॥ ३ ॥

१२८०—१. 'गव्यो वार', ६ "संवसानं विश्वतः पति वाचो अदायम्"

इति च अ० ।

[१२८३] एष वृषा कनिकदहशभिर्जामिभिर्यतः ।

अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥

[१२८४] एष सूर्यमरोचयत्पन्नमानो अधि द्यवि ।

पवित्रे मत्सरो मद ॥ ५ ॥

[१२८५] एष सूर्येण हामन्त संवसानो विवस्वता ।

पतिर्वाची अदाभ्य ॥ ६ ॥ ५ ॥

“एष वाजी” इत्यारभ्य “एष सूर्यमरोचय” इत्यन्तं, अ० ॥ १२८ । १-४ ॥ पञ्चम्याश्च-प्रथम पाद. ‘पवमान’ इत्यारभ्य “हासते” इत्यन्तं पादद्वयं च, अ० २० । ६ । २५ ॥ “संवसान” इत्यारभ्य “अदाभ्य” इत्यन्तं अ० ६ । २६ । ४ ॥

भा०—(१) (एष.) यह सोम, आत्मा (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, सबको कपाने द्वारा (विश्ववित्) समस्त ससार के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने द्वारा, सर्वज्ञ (मनसस्पति.) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभि.) सब मनुष्यों और देह में प्राणों द्वारा (हित) धारण किया हुआ है । वही अस्यं) आत्मा या प्राण के (वार) वरण करने योग्य सीमा को भी, (वि धावति) पार कर जाता है, उनसे परं है ।

(२) (एष) (सोमः । सौम्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा (देवभ्य.) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों के और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त (सुत) सूक्ष्मरूप से सब में प्रकट हुआ (पवित्रे) शुद्ध कान्तिमय रूपों में (अक्षरत्) प्रकट होता है और (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों या तेजों में (आविशान्) व्यापक है ।

(३) (एष. देव.) वही प्रकाशमान देव (असत्यं.) असंख्यधर्मा, अविनाशी, (वृत्रहा) सब आवरणकारी अन्धकारों का नाशक, (देववीतम)

सब दिव्य पदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक (योनौ अधि) मूलकारण रूप प्रकृति में (शुभायते) भासमान है ।

(४) (वृषा) समस्त काम्य सुखों का वर्णन करने द्वारा, (एषः) यह आत्मा (दशभिः) दश (जामिभिः) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से (यतः) घारण किया गया । द्रोण्यानि) समस्त लोकों में (भावति) व्यापक रहा है । आत्मपक्ष में— (दश जामिभिः) वह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने वाली दश इन्द्रियों सहित (द्रोण्यानि भावति) देहरूप कलशों में व्यापक है ।

(५) (एषः) वह परमात्मा (यवमानः) सर्वत्र व्यापक (अभि-
द्यति) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्पर्ध (मद्ः) आनन्द
स्वरूप (पवित्रे) पवित्र करने वाले आत्मा में (मत्सरः) आनन्दरस का
ज्वरण करने द्वारा हांकर (सूर्य) सूर्य के समान प्राण को भी (अरोचनम्)
प्रकाशित करता है ।

(६) (एषः) वह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा
(विश्वस्वता) वीक्षिमान् (सूर्येण) सबके प्रेरक सूर्य के द्वारा (संवसानः)
समस्त संसार को आवृत करता हुआ (वाचः) वाच वेदवाणी का
(अदाभ्य) अद्वितीय (पतिः) स्वामी होकर (आसते ह) निभय से
विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



३ २ ३ २ ३ । २ ३ २ ३ १ २
[१२८६] एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोयते ।
३ २ ३ ३ १ २
पुनानां ज्ञानपद्विषः ॥ १ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३}
[१२८७] एष इन्द्राय वायवे स्वर्जितपरिषिच्यते ।

^{३ १ २ ३ १ २}
पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१२८८] एष नृभिर्विनीयते दिवो मूर्धा वृषा सुत ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१२८९] एष गव्युर्गन्धर्वदत्पवमानो हिरण्ययुः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
इन्द्रः सप्तजिह्वस्तुनः ॥ ४ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१२९०] एष शुष्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
पुनान इन्द्रुरिन्द्रमा ॥ ५ ॥

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१२९१] एष शुष्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २}
देवाधीरघशंसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

अ० ६ । २० । १-४, ६ ॥ २ । २८ । ६ ॥

भा०—(१) (एषः) यह (कवि) कान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा, (द्विषः) द्वेष करने वाले दुष्ट पुरुषों को (अपन्नः) दूर ही विनाश करता हुआ (पुनानः) सबको पवित्र करने द्वारा, पतितपावन (अभिस्तुत) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया (पवित्रे) शुद्ध, पवित्र हृदय-देश में (अधि तोषते) विराजता है ।

(२) (एषः) यह सोम, सब का प्रेरक (दक्षसाधनः) समस्त ब्रह्मों का साधक, उत्पादक, (स्वर्जित्) समस्त उत्तम लोक और आनन्द, मोक्षसुखों का विजय करने द्वारा, (वायवे) प्राणस्वरूप (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदय-देश में (परि-सिच्यते) सब प्रकार से ध्यानवृत्तियों द्वारा प्रवाहित, आप्लावित अर्थात् मनन किया जाता है ।

(३) (एषः) यह (दिवः सूर्यो) महान आकाश या प्रकाश का सूर्योत्तरूप, मुख्य केन्द्र, सब का प्रेरक, (वृषा) सब सुखों का वर्णक, (सोमः) सोम (विश्ववित्) सर्वज्ञ, (नृभिः) विद्वान् नेता लोगों द्वारा (चनेषु) सेवन करने, योग्य कार्यों, देहों और लोकों में (विनीयते) नाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता ।

(४) (एषः) यह (पवमानः) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने द्वारा, (हिरण्ययु)-समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, (इन्द्रुः) ऐश्वर्यशील, (सत्राजित्) समस्त संसार पर विजय करने द्वारा, (अस्तृतः) किसी से भी स्वयं हिसित या विनाश न होने द्वारा अद्वितीय, (गन्धुः) समस्त गतिमान् पियहों भी व्यापक, सबका हितकारी, (अधिक्रदत्) वेद द्वारा उपदेश करता है ।

(५) (एषः) यह सोम (हविः) सबका नेता, सब दुःखों का हर्ता (वृषा) सब सुखों का वर्णक, (शुष्मी) सर्वशक्तिमान् (इन्द्रुः) सर्वैश्वर्यवान्, (इन्द्रं) भीतरी अन्तर आत्मा (पुनानः) पवित्र करता हुआ (अन्तरिक्षे) हृदयदेश में (असिष्यदत्) प्रवाहित होता है ।

(६) (एषः) यह (अशम्वः) अमर, हिसित न होने वाला, स्वतः पीडारहित (देवावीः) इन्द्रियों, देहों, पञ्चभूतों और दिव्य लोकों में भी व्यापक और उन्नत, रक्षक (अघशंसहा) पापवार्ता कहने वाले का विनाशक, (सोमः) सोम परमेश्वर (पुनानः) सब को पवित्र और शिष्ट करता हुआ (अर्पति) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चमः सूक्तः ।

—॥१॥—

[१२६२] स सुतः पीनये वृषा सोमः पवित्रे अर्पति ।

अभिषिक्तोऽसि प्रेक्षयुः ॥ १ ॥

[१२६३] स पवित्रे विचक्षणो हरिर्घनि घर्षसिः ।

अभि योनिं कनिकरत् ॥ २ ॥

[१२६४] स वाजी रोचनं दिनः पवमानो विधावति ।

रक्षोदा वारमव्ययम् ॥ ३ ॥

[१२६५] स त्रिनस्याधिसाननि पवमानो अरोचयत् ।

जामिभि सूर्ये सह ॥ ४ ॥

[१२६६] स वृषहा वृषा सुतो वरिविद्वदाभ्यः ।

सोमो वाजमिवासरत् ॥ ५ ॥

[१२६७] स देव कविर्नेपिर्नेपिर्द्रोणानि धावति ।

इन्दुरिन्द्राय महयन् ॥ ६ ॥ ७ ॥ अ० ९ । सू० १-६ ॥

भा०—(१) (सः) वह (वृषा) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का वर्पक (सोमः) असत्स्वरूप, सबका उत्पादक (देवयु) विद्वानों और प्राणों की अभिलाषा पूर्ण करने द्वारा, (पीतये) आनन्द पान कराने निमित्त (सुतः) निष्पन्न होकर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिक्ष में (अर्पति) अर्पित होता है ।

(२) (सः) वह (हरिः) शक्तिमान्, सर्व दुःखों का हर्ता, (विचक्षणा) सब का दष्टा, (घर्षसि) समस्त जगत् का घर्त्ता, (कनिकरत्) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा (पवित्र) पवित्र, अन्तःकरण में (अर्पति) प्रकट होता है ।

(३) (सः) आत्मा (वाजी) बलवान्, ज्ञानवान् (दिवः) सूर्य और प्राण का भी (रोचनं) प्रकाशक (पवमानः) सब को पवित्र करने हारा, (रक्षोहा) दुष्टों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक, (अव्ययम्)

अधि अर्थात् प्राणों के बने (वारं) स्थूल आवरण को (विधावति) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

(४) (स.) वह (त्रितस्य) प्राण के (अधिसानवि) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में (पवमान.) परिशुद्ध होकर (जामिभि) अन्य ज्ञानों-त्पादक इन्द्रिय वृत्तियों के (सह) साथ मिलकर (सूर्य) सूर्य के समान सब के प्रेरक मुख्य, प्राण को (अरोचयत्) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

(५) (सः) वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का विनाशक (सुतः) निष्पन्न (सोमः) सब इन्द्रियों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा (अदाभ्यः) किसी से हिसित या पराजित न होकर (वरिवेविद्) सबसे उत्तम आत्म रूप या आत्मानन्द कोश=सज्जाने को लाभ कराने द्वारा (वाजम् इव) युद्ध में शूरवीर के समान परम ज्ञानमय ब्रह्म की और (असरत्) गति करता है ।

(६) (सः) वह (देवः) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप (कविना) ज्ञानतदर्शी मेधावी सबके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा (ईपितः) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर (इन्द्रु.) भीतर ही द्रवित होता हुआ (इन्द्रा-य) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को (मंहयत्) आनन्द प्रदान करता हुआ (योयानि) समस्त ज्ञान कलशों, कोष्ठों, देहों और जोशों में (अभिधावति) विचरण करता है ।

इति षष्ठः सूक्तः ।



१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ॥ २
[१२६८] यः पावमानीरभ्येत्यृषिभिः संभृत रसम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिभुवना ॥ १ ॥

३ ७ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१२६६] पावमानीः योऽध्ययन्योपमि. संभृते रत्नम् ।

२ ३ १ ७ ३ २ ३ १२ २२ ३ ७
तस्मै सरस्वती दुहं क्षीरं सपिर्मधूदकम् ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २
[१३००] पावमानीः स्वस्त्ययनी. सुदृघा हि घृतश्रुतः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अभिभिः सम्भृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हिनम् ॥३॥

३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[१३०१] पावमानीदधन्तु न इमं लाकमथा अमुम् ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कामान्समर्द्धयन्तु नो देवीदेवैः समाहृता. ॥४॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
[१३०२] येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनरे सदा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥५॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३०३] पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नाग्दनम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
पुण्याश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥

भाषे हे अ० ९ । ६७ । ११, ३२॥ शेषा अग्नेर् नोपलभ्यन्ते ।

मा०—(१ । जो (अभिभिः) का साक्षात् दर्शन करने वाले
अपिर्गो द्वारा (सम्भृतम्) अच्छी प्रकार चारित, और प्राप्त एवं साक्षात्
किये और अन्यो को उपदेश किये हुए (रसं) आत्म-ज्ञानस्वरूप मधु
विषामय, रसरूप (पावमानी) सोम, पवमान सम्बन्धी अन्धकारों को
(अभ्येति) अध्ययन करता है, उनके तत्त्वार्थ ज्ञान का लाभ करता है
(स) वह (सर्व) सब (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म
या प्राणेश्वरूप जीवनशक्ति द्वारा या (मातरि ज्ञानसाधने इन्द्रिये आत्मनि
वा श्रवति गच्छति इति मातरिश्वा मनः) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों या
आत्मा में निरन्तर गति करने वाले मन द्वारा (स्वदितं) आस्वादन करने
योग्य (पूनं) पवित्र ज्ञान का (अश्नाति) लाभ करता है और उप-
योग करता है । 'मन पून समाचरेत्' इति मनुः ।

(२) (य०) जो (ऋषिभिः समृतं रस) मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् माहात् किंये गये ज्ञान रसस्वरूप (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी वेद की ऋचाओं का (अभ्येति) अभ्ययन करता है (तस्मै) उसके लिये (सरस्वती) वेदवाणी (वीरं) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान (सर्पिः) घृत • समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, ज्योतिःस्वरूप आत्मदर्शन और (मधु) मधु के समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्मा, स्वाद और (उदक) जल के समान शान्ति, शान्तिरस को (हुहे) दोहन करती है ।

(३) (याः पावमान्यः ऋचाः) जो पवमान सोमसम्बन्धी ऋचाएँ हैं वे (स्वस्ययनी०) कह्याल और योग्येय को प्राप्त कराने वाली, (सु-दुषाः) सुखसे ही परमानन्द रस को देने वाली, (घृतरसुतः) ज्ञान और सात्विक प्रकाश के उत्पन्न करने वाली हैं । वे तो साक्षात् (ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा (समृत) प्राप्त (रस०) परम रसस्वरूप (ब्राह्मणेषु) वेद के विद्वानों के भीतर (हितम्) स्थापित (अमृत) कभी न नष्ट होने वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं ।

१ (४) (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएँ ही (य०) हमें (इमं) इस (लोक) लोक (यथा) और (अमुं लोकं) परलोक को (दधन्तु) धारण करावें । और वे (देवीः) दिव्यगुणप्रकाशक होकर (देवैः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा (समाहृताः) उपदेशों और व्याख्यानो द्वारा सर्वत्र प्रकाशित होकर (न०) हमारे (कामान्) शुभसंस्कारों को (समर्धयन्तु) पूर्ण करें ।

(५) (देवाः) विद्वान् योगी जन (येन) जिस (पवित्रेण) समस्त संसार को पवित्र करने वाले उपाय से (यदा) नित्य अपने (आत्मानं) आत्मा को (पुनत) पवित्र करते हैं (तेन) उस (यदस्त्रघोरं) सदस्यों

१. विषयो विरजोऽविचिदितो जादणो अर्वात् । [गृ० उप० अ० ॥]

१ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ - ३ १ २, ,
 [१३०६] त्वं वरुण उत मित्रो अग्न त्वा वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
 १२ २४ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
 त्वं वक्षु सुषण्णानि सन्तु यूयं पात स्वास्तभिः सदा
 नः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ७ । १२।१-३.॥

भा०—(१) (स०) जो (त्वं) अपने (-दुरोणे) इस ब्रह्माण्ड
 रूप अनन्त संसार में (समिद्धः) प्रकाशमान, होकर (दीदाय) चमकता
 है । उत (विश्वतः) सर्वत्र (प्रत्यञ्च) व्यापक, (उर्वी) महान् (रोदसी),
 और पृथिवी लोकों के (अन्तः) बीच (स्वाहुतं) स्वयं सब को
 करने हारे, सबके आश्रयरूप (वसिष्ठं) सबसे अधिक बलवान्, सब
 में व्यापक, (धिप्रभातुं) पूजनीय, कातिमय परमेश्वर को (महानमसा)
 बड़ी विनय से (अगन्म) हम प्राप्त हों ।

यद्वर्चिमह् पदणुभ्योऽणु यद्विमहोका निहिता लोकिनश्च, (सुषण्णक०
 २ । २ । २)

(२) (स०) वह (महा) अपनी महिमा से (विश्वाऽदुरितानि)
 समस्त पापों को (साह्वान्) दूर करने द्वारा, (अग्निः) अग्निस्वरूप
 परमात्मा (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का जानने द्वारा (दमे) हमारे
 हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में (आस्तवे) सर्व प्रकार
 से स्तुति किया जाता है । (सः) वह (नः) हमें (अवघात्) निन्द-
 नीय (दुरितात्) पापाचरण से । रक्षिषत् । रक्षा करे । और (गृणतः)
 स्तुति करने हारे (अस्मान्) हम लोगों को बचावें । (उत) और (मघोनः) ज्ञान
 धन-सम्पन्न (नः) हमें पापाचरण से बचावें ।

(३) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप (त्वं) तू (वरुण , उत मित्रः)
 सब पापों से निवारण करने और सर्वश्रेष्ठ होने से 'वरुण' और सबको
 बँधने करने द्वारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से 'मित्र' है । (वसिष्ठाः)
 ऋषयः । वश में स्थित अथवा परमपद में वास करने हारे ज्ञानी अथवा

अपने स्वरूप में स्थित सुमुक्त लोग या प्राणायाम (मतिभिः) मननशक्ति-
यों द्वारा (त्वा) तुम्हें या तेरी महिमा को ही (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं । । (त्वे)
तुम्हें मैं, तेरी साक्षिता में (वमूनि) समस्त ज्ञान, धन, (सुषणानि)
उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने योग्य (सन्तु)
हों । हे विद्वान् लोगो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमें (सदा)
निश्चय (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से
(पात) रक्षा करो ।

^{३ २ ४ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २}
[१३०७] महा इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिर्मां इव ।

^{१ २ ३ १}
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

^{२ ३ २ २ १ २ १ २ ३ १ २}
[१३०८] कएवा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।

^{३ १ २ ३ १ २}
जामि घृषत आयुधा ॥ २ ॥

^{३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २}
[१३०९] प्रजामृतस्य पिप्रत प्रयजुस्त बह्वयः ।

^{१ २ ३ २ ३ १ २}
विप्रा क्रतस्य बाहसा ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । सू० ११, १२, १३ ॥

भा०—(१) (वृष्टिमान्) वृष्टि करने वाला (पर्जन्यः इव) मेघ
जिम प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी
प्रकार (य.) ओ (इन्द्र.) इन्द्र (ओजसा) अपने बल से (महान्)
बड़ा होकर (वत्सस्य) वत्स के समान अपने आश्रय पर रहने वाले
समस्त संसार की (स्तोमैः) स्तुतियों द्वारा (वावृधे) बढ़ा कीर्तिमान्,
प्रसिद्ध होता है ।

(२) (कएवाः) ज्ञानी स्तोतागण (स्तोमैः) अपने स्तोत्रों द्वारा
(यद्) जब (इन्द्रं) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को (यज्ञस्य) जीवनरूप
यज्ञ का (साधनं) साधन (अक्रत) बना लेते हैं तब विद्वान् लोग

(आयुधा) अन्य प्राणादि इन्द्रिय-साधनों को या यज्ञ के पात्रादि को (जामि) प्रयोजनरहित ही (अवृत्ते) कहते हैं । साधक लोग जब अभ्यास यज्ञ करते हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

(३) (यद्) जय (पिप्रतः) पूर्य करने हारे (वहयः) अग्नि के समान दीप्तिमान् ज्ञान को धारण न करने हारे (विप्राः) मेधावी, ज्ञानी लोग (ऋतस्य) सत्यज्ञान रूप-आत्मा की (प्रजा) उत्तम रीति प्रादुर्भाव होने वाली आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा विषय आदि को (प्र भरन्त) उत्तम रीति से धारण करते हैं सभी वे (ऋतस्य) ज्ञान और सत्य के, (वाहसा) प्रापक यज्ञ से ही उसे धारण करते हैं ।

इति अष्टमः सूक्तः ।

—०—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

[१३१०] पवमानस्य जिघ्रन्तो हरेश्चन्द्रा असृद्यत ।

[१३११] पवमानो रथीनम. शुभ्रभि. शुभ्रस्तमः ।

[१३१२] पवमान ध्यश्नुहि रथीनभिर्वाजसानम ।

[१३१३] पवमानो सुधीयम् ॥३॥१॥ अ० ॥ ६६ ॥ ३४-२७ ॥

भा०—(१) (पवमानस्य) पवित्र शुद्ध रूप में (हरेश्चन्द्रा)

(हरेश्चन्द्रा) समस्त दुर्गों का हरण करने हारे और (जिघ्रन्तो) समस्त

अज्ञान पटले का नाश करने हुए सोम अर्थात् आत्मा की (चन्द्रा)

आह्लादकारिणी (जीरा) और दुर्गनाशिनी (अजिरगोचिप) अग्नि

नाशनील कान्तिया (असृद्यत) उत्पन्न होती है ।

१३१०—१. 'जानो' शब्द अ० ।

(२) वह (पवमान) परमपावन आत्मा (रथीतमः) इस देहरूप रथ-परायति करने द्वारा, सब से उत्तम रथी, (चन्द्रः) आह्लादक, (हरिः) दुःखनाशक (मरुद्गणः) प्राणगण के साथ वर्तमान (शुभ्रेभिः) शुभ्र-सेजों से, (शुभ्रशस्तमः) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है ।

(३) हे (पवमान) सब का पवित्र करने हारे ! स्वयं पवित्ररूप में, प्रकट होता हुआ तू (स्तोत्रे) विद्वान् पुरुष में (सुवीर्यं) यश, बल और पुत्रादि धन को (दधत्) धारण पोषण करता हुआ (हरिमभिः) अपने किरणों से (वाजसातमः) ज्ञान और बल का प्रदान करने द्वारा होकर (व्यश्नुहि) विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१३१३] परीतो पिञ्चता सुनं सोमो य उत्तमं हविः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

दधन्वा यो नर्यो अस्वादेऽन्तरा सुषाव सौममद्रिमिः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३१४] नूनं पुनानोऽविमिः परित्स्वानश्चक्षुः सुरभिन्तरः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सुते चित्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गाभिरुत्तरम् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३१५] परि स्वातश्चक्षुः देवमादन क्रतुर्गिन्दुर्विचक्षुः ॥३॥१२॥

अ० ६ । १०७ । १-३ ॥

भा०—(१) (य सोम) जो सोम, शरीर वीर्य, ब्रह्माण्ड में धारक तेज या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पिण्डों आकाश का रूप (उत्तम) उत्तम, श्रेष्ठ (हवि) उपादान करने योग्य अन्न और खाद्य और जीवनप्रद आश्रय होता है और (य) जो (नर्य) नेता, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और (अ-सु) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और देह के जलीय रुधिरादि अशों और लोकों के भीतर विद्यमान रहना हुआ उनको (दधन्वान्) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोम)

१३१३—१ 'अस्वादेऽन्तरा' । २. 'परित्स्वान' इति अ० ।

सोम अर्थात् वीर्य को (अविभि०) न दीर्य होने हारे अखण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों से । आ सुषाव) उत्पन्न किया जाता है । अतः वस (सुतं) उत्पन्न वीर्य और तेज को हे विद्वान् लोगो (इतः) इस मूल स्थान से ऊपर (परिषिञ्चत) गिर आदि प्रदेशों और द्रवित करो अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या देखो [५१२] पृ० ।

(२) सोम ! तू (अदब्ध०) किसी से दितित न होने वाला, सब से अधिक बलशाली (सुरभिंतर०) सब प्राणों से अधिक उत्तम गंध और बल वाला, (नून) निश्चय से (अविभि) प्राणों द्वारा (पुनान०) अति पवित्र होता हुआ (परि जव) समस्त शरीर गति कर । और (सुतेचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले णा और (गोभिः), इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (श्रीयन्तः) तुम्हें परिपक्व करते हुए (अप्सु) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द-लाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रः) परमेश्वर्यवान् उक्त सोम रूप शुक्र का पालन करने द्वारा ब्रह्मचारी, (विचक्षन्) माना प्रकार के विज्ञानों का ब्रह्मा, (क्रतु) कर्म करने द्वारा, (देवमान्) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों को हृष्ट पुष्ट करने और आनन्द देने द्वारा, (स्वान०) स्वयं निष्पन्न होता हुआ (परिचक्षसे) के देखने योग्य होजाता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१३१६] असावि सोमो अरुपा वृषा हरी राजेव दसो अभि ना
अन्दिक्कत् । पुनानो वारमत्यप्यव्ययं श्येनो न योनिं
वृत्तयन्तमासदत् ॥ १ ॥

(२) हे मनुष्य ! (अलर्षि रार्ति) निष्पाप सात्विक, दानशील, (व-
सुदाम्) वास योग्य पदार्थ प्राण आदि का दान करने हारे परमेश्वर की
(.उप स्तुहि) स्तुति कर । क्योंकि (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा
के (रातय) सब दान (मद्रा) कल्याणकारी हैं । (य०) जो स्वामी
के समान (मनः) अपने मन अर्थात् ज्ञान को (दानाय) दान करने
के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ (अस्य विधत्) हम अपने
भक्त, सेवा करने हारे स्तोता की (कामं) इच्छा को (न) नहीं (रोपति)
नाश करता ।

[१३२१] यत् इन्द्र मयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

मघवछग्धि तव तन्न ऊनये विधिषा वि मृधो जदि ॥१॥

[१३२२] त्वं हि राघसस्पते राघसो मह जयम्यासि विधत्ता ।

त त्वाचयं मघरन्निन्द्र गिर्वण सुतावन्तो हवामहे ॥२॥ १५॥

अ० ८ । ६१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) ज्याख्या देखो अधिकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

(२) हे (राघस पते) हे सकल धनों और ऐश्वर्य के स्वामिन् !
(त्वं) तू (हि) निश्चय से (महः) बड़े भारी (जयस्य) निवासस्थान और
(राघस) बड़े भारी धन का (विधत्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा
स्वामी (असि) है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (इन्द्र) विघ्नों का नाशक !
हे (गिर्वण) वाणियों के एकमात्र विषय ! (सुतावन्तः) उत्पन्न समस्त
पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष (त्वां) तुम्हें
को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते ।

इति दशम. खण्ड ।



१३२२—'त्वं हि राघसस्पते', 'विधत्ता' इति श्रु० ।

[१३२३] त्वं^{१ २} सोमासि^{३ २ ३} धारयुर्मन्द्र^{१ २ २ २} ओजिष्ठो^{३ २} अभ्वर ।

पवस्व^{१ २} मंहयद्रयि^{३ १ २} ॥१॥

[१३२४] त्वं^{१ २} सुतो^{३ २} मदिन्तमो^{३ १ २} दधन्वान्मत्सरिन्तमः^{३ १ २ ३ १ २} ।

इन्दुः^{१ २} सत्राजिदस्तुत^{२ १ २ २} ॥२॥

[१३२५] त्वं^{१ २} सुष्वाणा^{३ १ २} आद्रिभिरभ्यर्ध^{२ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} कनिक्रदत् ।

शुमन्तं^{३ २ ३ १ ३ १ २} शुष्ममामर ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ३ । ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (सोम) परमेश्वर ! (त्वं) तू (धारयुः) धार-
यायुक्त अथवा धारा या वेदवाणी का स्वामी, (मन्द्र) अति आनन्दपूर्ण
(ओजिष्ठः) अति बलवान्, (मंहयद् रयिः) ऐश्वर्य का प्रापक होकर
(अभ्वरे) उपासनामय यज्ञ में (पवस्व) प्रकाशित हो ।

(२) (त्वं) तू (सुतः) निष्पन्न होकर (मदिन्तमः) अति
जनक, (मत्सरिन्तमः) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में
हर्ष का प्रसारक (इन्दुः) कान्तिसम्पन्न (अस्तुतः) किसी से भी पराजित
न होकर (सत्राजिद्) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशाली होकर
सबको (दधन्वान्) धारण करता है ।

(३) (त्वं) तू (अद्रिभिः) विदीर्घ न होने वाले, अभेद्य, दृढ़,
सर्पों या अस्त्रयुद्ध तपस्वियों द्वारा (सुष्वाणः) निष्पादित किया हुआ
परिपक्व या अभ्यास किया हुआ (कनिक्रदत्) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने
द्वारा होकर (अभि अर्धः) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । अतः (शुमन्तं) यशोजनक
('शुष्मं') बल को (आ मर) प्राप्त करा ।

[१३२६] पवस्व^{१ २} देव^{३ १ २} वीतय^{३ १ ३} इन्दो^{३ १ ३} धाराभिरोजसा^{१ २ ३ १ २} ।

आ कलशं^{२ ३ २ १ २} मधुमान्तसोम न सदः ॥ १ ॥

१३२४—'एव सुतो नृमादन', 'इन्द्राय सतिन्वसा' । १३२५—'शुष्ममुत्तमसु' इति ऋ० ।

[१३२७] तव द्रप्सा उदग्रत इन्द्रमदाय वावृधुः ।

त्वा देवासो अमृताय कं पपु ॥ २ ॥

[१३२८] आ नः सुतास इन्द्रवः पुनाना धावना रयिम् ।

वृष्टिधावो रीत्याप स्वर्विदः ॥३॥ १७॥ अ० १० । ख० ११ । सू० १७-६॥

भा०—(१) आत्मा देखो अधिक सं० [१७१] पृ०

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक ! आनन्दस्वरूप ! (तव) तेरे (उदग्रतः) रस को प्रवाहित करने द्वारे (द्रप्साः) हुतगनि से बहने वाला आनन्दरस (इन्द्र) आत्मा को (मदाय) अति आनन्द प्राप्त कराके निमित्त (वावृधुः) बढ़ाते हैं, उसे और अधिक शक्तियाँ बनाते हैं । (देवासः) विद्वान् योगीजन (क) आनन्दस्वरूप (त्वा) तुम्हको (अमृताय) अमृत-स्वरूप परम आनन्द-प्राप्ति के लिये (पपुः) पान करते हैं ।

(३) हे (इन्द्रवः) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने द्वारे, कान्ति-युक्त ! (सुतासः) ज्ञानानन्द रसों ! या क्षात्री पुरुषों ! तुम निष्पन्न होकर (पुनाना.) स्वतः पवित्र (रीत्यापः) रसों के पापक (वृष्टिधावः) ज्ञान कान्ति के वर्षक, (स्वर्विदः) सुखों के प्राप्त कराने द्वारे, आप (रयिम्) अति रमणीयरूप आत्मा प्रति (आ धावत) गति करो और आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त कराओ ।

[१३२९] परि त्यं हर्यतं हरिं वभ्रु पुनन्ति वारेण ।

यो देवानिष्ववा इत्यग्नि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

[१३३०] द्विर्न पक्ष स्वयशसं सखायो अद्रिसंहनम् ।

प्रियमिन्द्रस्य कार्म्यं प्रस्तापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥

१३३०—'स्वयशस स्वमार.' 'प्रस्तापयन्तूर्मिणम्' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१३३१] इन्द्राय सोमपातये वृत्रघ्ने परिशिष्यसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नरे च दक्षिणावते वीराय सद्नासदे ॥ ३ ॥ १८ ॥

श्र० ९ । ६८ । ■, ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१५२] पृ० २७७ ।

(२) (य) जिस मुख्य प्राणरूप, सबके प्रेरक, सोम को (द्वि पंच च) दोगुना पाच अर्थात् दश । ससाय) समान नाम वाले इन्द्रिय नामक प्राण (ऊर्मयः । ऊर्ध्वगति होकर [स्वयशसं] अपने कीर्तिस्वरूप (अद्विसंहतम् । पर्वत के समान अमोघ बल से युक्त (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा ■ अति कामना योग्य, (प्रियम्) अपने प्यारे को (प्रज्ञापयन्त) उत्तम रीति से ज्ञान कराते हैं सुखरूप जलों से मानो डमका अभिप्रेक करते हैं उसका साक्षात् ज्ञान करो ।

(३) हे । सोम । सबके प्रेरक बल ! आनन्दमय ! (पातये) तेरा पान या पावन करने हारे, (वृत्रघ्ने) अज्ञान रूप धित के विनाशक । दक्षिणावते) क्रिया शक्ति से सम्पन्न (सद्नासदे) प्रत्येक आश्रयस्थान, जीवनरूप पशु के गृह अर्थात् शरीर में स्थिर रूप से वर्तमान (वीराय) शक्तिशाली (नरे), सबके नेता, प्रवर्तक, (इन्द्राय) आत्मा के निमित्त वृ (परिशिष्यसे) प्रवाहित किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१३३२] एवस्व सोम महे दक्षायाश्वा न निक्तो वाजी धनाय ॥१॥

१ २ ३ १ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३३३] प्र ते सांतारो रसं मदाय पुनन्ति सोम महे शुम्भाय ॥२॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३३४] शिशुं जज्ञानं हरिम्मृजन्ति पाणित्रे सोमं दधेभ्य इन्द्रम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

श्र० ■ । १०६ । १०-११ ■

भा०—(१) व्याख्या देखो अयिकल सं० [४३०] पृ० २१६ ।

१३३१—'दवाय सन्नामः' इति च ■ ।

(२) (ते) वे (सोतारः) निष्पादक साधक योगीजन (रस) रसस्वरूप उस (सोमं) सबके प्रेरक आनन्दरस सोम को (महे) वड़े भारी (शुक्लाय) यश और ज्ञान और (मदाय) आनन्द प्राप्ति के लिये (प्र पुनन्ति) उत्तम रीति से परिशोधित करते हैं ।

(३) (शिशु) इस शरीर में शबन करने द्वारे (हरिं) दुःखों के हर्ता और इन्द्रियों के नेता रूप में (जज्ञान) प्रादुर्भाव होने द्वारे मुख्य प्राणरूप (इन्दुम्) देदीप्यमान (सोमं, सोमरूप आनन्दरस का (देवेभ्यः) देवों, इन्द्रियों और विद्वानों के लिये । पवित्रे । पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में (सृजन्ति) परिशुद्ध करते हैं उसका साक्षात् करते हैं ।

[१३३५] उपो^१ पु^३ जानमसुरं^२ गोमभगं^३ परिष्कृतम् ।

इन्द्र देवा अयासिपुः ॥ १ ॥

[१३३६] न^१ मित्रवर्धन्तु^२ नो^३ गिरौ^४ वत्सं^५ सं शिश्वरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ २ ॥

[१३३७] अर्षो^१ नः^२ सोम^३ गवे^४ धुक्षस्व^५ पिप्युषीमिषम् ।

वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ २० ॥ अ० ६ । ६१ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८०] पृ० २४३ ।

(१) (शिश्वरी) माताएं जिस प्रकार (वत्सं इव) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार (न) हमारी (गिर) ज्ञान-कथाएं (तमिद्) उस आत्मा के आनन्द को ही (वर्धन्तु) वृद्धि करें । उसके बल को बढ़ावें (य) जो (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के (हृदसनिः) हृदय में स्थापक रहता है ।

(३) हे 'सोम' तु (न) हमारे (गवे) गोरूप घाणी के लिये (शं) शान्तिदायक कल्याणकारी सुख को (अर्षे) प्रेरित कर और

(पिप्युषी) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली () इच्छा शक्ति और
 - समान पोषक बल को (पुष्टय) प्राप्त करा और (उक्थ्य) प्रशंसनीय !
 (समुद्रं) रसों सागर रूप आत्मा को (वर्ध) बढ़ा ।

इति पञ्चादशः सूक्तः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २
 [१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति वर्धिरानुषक् ।

१ ३ २ ३ २ ३ १ २
 येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २ ४ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
 [१३३९] बृहन्निदिधम एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वकः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
 येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

२ ३ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १
 [१३४०] आयुध इद्युधा वृत्तं शूर आजति सत्त्वभिः ।

३ २ ३ २ ३ १ २
 येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ अ० ॥ २५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्निमिन्द्र सं० [१३३] सू० ७२ ।

(२) (युवा) बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर या आत्मा (येषां)
 जिनका (सखा) मित्र है (एषा) इनका (इधमः) तेज (बृहत् इत्)
 बहुत ही बड़ा है और (शस्त्रं) उसकी स्तुति, महिमा गान करने वाली
 वाणी भी (भूरि) बहुत है और (स्वकः) उनका स्वयं या प्राण बल या
 तेज भी (पृथुः) बड़ा है ।

(३) (येषाम् इन्द्रः युवा सखा) बलवान् परमात्मा जिनका मित्र
 है उनमें से (आयुध इत्) युद्ध न करने वाला भी चक्रेला (शूर) शूर
 वीर के समान (युधावृत्तः) योधागण में विरे प्रतिपक्षी शत्रु पर (सत्त्वभिः)
 अपने बलों द्वारा (आजति) चढ़ाई करता है, और उसे उन्नाद फैलता है ।

२३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४१] य एक इद्विद्यते वसु मर्त्याय वाशुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

इशानो अप्रतिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४२] यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावो आविवासति ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१३४३] कदा मर्त्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

कदा न शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

अ० १। द० ४। ७, ६, द०।

भा०—(१) आख्या देखो अधिकृत सं० [३८६] पृ० २०० ।

(२) (बहुभ्यः) बहुत से पुरुषों में से (यः चिद् द्वि) जो कोई भी (सुतावान्) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप (आविवासति) साक्षात् देख लेता है (अङ्ग) हे नर ! (इन्द्रः) परमेश्वर उसको शीघ्र ही (तत्) वह (उग्रं शवः) उग्र, वीर्य सम्पन्न बल (पत्यते) प्रदान करता है ।

(३) (अङ्ग) हे पुरुषो ! (इन्द्र) वह परमेश्वर तो (नः गिरः) हमारी बाणियों को (कदा) जब कभी भी (शुश्रवद्) सुन लेता है और (मराधसं) आराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को (पदा) चरण स्थिति मात्र से नष्ट होजाने वाले (क्षुम्पम् इव) साँप की छतरी, खुम्ब या पदबहेरे के नन्हे पौदे के समान (पदा) अपने सामर्थ्य से (कदा) कभी भी (स्फुरत्) विनाश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४४] गायन्ति त्वा गायत्रिणो नन्त्यकर्मकिण ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वशमिव येमिरे ॥१॥

२४ ३ १२ २२ ३ १ २२ ३ १ २
[१३४५] यत्सानोः सान्वाकहो भूर्यस्पष्ट कर्त्तव्यम् ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तादिन्द्रो अर्थ चेतनि यथैन वृष्णिरेजति ।

२ २४ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१३४६] युंक्त्वा हि केशिना हरी वृषणा कदयप्रा ॥२॥

१ ३ १ २ २२
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिश्चर ॥ ३ ॥ २३ ॥

अ० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [३४२] पृ० १७७ ।

(२) (यत्) जब (सानोः सानु) ऊँची से ऊँची चित्तमूर्ति में साधक (आरुहः) चढ़ जाता है और (भूरि) बहुत ~~उप~~ मन संकल्प (कर्त्तव्य) पूर्ण करने के लिये । (अस्पष्ट) साधन करता है । (तद्) तब (~~वृष्णि~~) परमेश्वर (अर्थ) ~~इष्ट~~ इष्ट प्रयोजन को (चेतति) जान लेता है और तब (वृष्णिः) सुखों की वर्षा करने द्वारा यह आत्मा (पृग-ति) सेनापति के समान आगे बढ़ता है ।

(३) (सोमपाः) सोमरूप आनन्दरस ~~का~~ पान करने वाले (इन्द्र) आत्मन् ! (अथा) अब (नः) हमारे (गिराम्) वायियों की (उपश्रुतिम्) ध्वनि को (चर) अवस्था कर । और (केशिना) ज्ञान, साधना से सम्पन्न (वृषणा) सुखों की वर्षक (कदयप्रा) कदा याज्ञों को पूर्ण करने वाले प्राण और अपान दोनों को (~~युंक्त्वा~~ हि) साधना में नियुक्त कर ।

इति द्वादशः गणः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः पञ्चमस्य प्रपाठकः समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होतः) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्तःकरणों के पवित्र करने वाले ! आप (इविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने वाले ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यधि) आप प्रेम करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं ।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपात्) शरीर के छोटे स छोटे भागों की रक्षा करने वाले ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (यः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि साकर्मरूप यज्ञ को (अथ) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नरायंसं) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुजिह्वा) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने, वाले । इविष्मते) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने वाले अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस (अरिमन् यज्ञे) यज्ञ इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान कर ।

(४) हे (अरने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुखतमे) अति अधिक सुख कारक (रथे) रमण करने के साधन इस देह में (हंसितः) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (देवान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनुः हितः) इस हृदयगुहा में मनन-शील या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने वाला (अति) है ।

(१३५१) यदद्य मूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।

सुवाने सविता भग॥१॥

[१३५२] सु^{३२}प्र^१वी^२र^३म्तु^{२४} स^३क्षय^३. प्र^३नु^३यामन्तु^३दानवः^{२२}।

य^२ नो^३ अ^१हो^२ऽनि^३पि^३प्रति^२ ॥२॥

[१३५३] उ^३त्त^२ स्व^३राजो^३ अ^१दिति^२रद^३व्यस्य^३ व्रत^३स्य^३ ये^२।

म^३हो^२ राजान^२ ई^२शने ॥३॥ २४ अ० १। ६६। ४-६ ॥

भा०—(१) (यद् । जो (अथ) इस समय आज या इस कक्ष में (भगः) सेवन करने योग्य है, (सूर) सूर्य प्राणात्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागाः) सब अपराधों और दोषों से वियुक्त, पाप रहित, (मिथः) सब का स्नेही, (अर्थमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब ससार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (यः) जो (अहः) पाप को (अति पिप्रति) पार कर लेते हैं वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानवः प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने हारे हों । और (सक्षय) निवास सहित हमारा (सुप्रवी) उत्तम रक्षा का प्रग्रन्थ भी (अस्तु) ।

(३) (उत्) और (यः) जो (अदितिः) अविच्छिन्न चरित्र वाले (अद्वयस्य) अविनाशी, सुमग्नादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महः राजानः) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत ॥ पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् बली हो जाता है ।

[१३५४] उ^१ त्वा^२ मदन्तु^३ सोमा^३ कृ^३णुष्व^३ राधो^३ अ^३द्रिव^२।

अ^१व^२ ब्रह्मा^३द्वि^३षो^३ जहि^३ ॥१॥

[१३५५] प^३दा^२ प^३णीन^३राधसो^३ नि^३ बाध^३स्व^३ म^३हो^३ अ^३सि^३।

न^३ हि^३ त्वा^३ क^३श्चन^३ प्रति^३ ॥२॥

[१३५६] त्वमशिषे सुनानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।

त्व राजा जनानाम् ॥३॥३॥ अ० ८ । ६४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सू० [१६४] पृ० १०३ ।

(२) हे (इन्द्र) ज्ञानवन् ! । पणीन्) केवल अदले बदले के व्यवहार को करने हारे, धन लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हारे मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (नि बाधस्व) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लोभवृत्ति को नाश करदे । तू (महान्) सबसे बड़ा (असि) है । (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले में (क. चन) कोई भी (नहि) नहीं है ।

(३) (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (११) आप (सुताना) उत्पन्न, शिक्षित और (असुतानां) अनुत्पन्न और अशिक्षित, जो कालान्तर में उत्पन्न या शिक्षित होंगे उन सब पर (अशिषे) सामर्थ्यवान् है क्योंकि (त्वं) तू (जनाना) सब मनुष्यों, और उत्पन्न होने हारे प्राणिनों (राजा) अधिपति, राजा है ।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं । वे से बोली और शिष्यों को और प्रजाओं को निरन्तर शिक्षा में और उनकी व्यवस्था करें ।

इति प्रथमं सूक्तम् ।

— ० —

[१३५७] आ जागृनिर्निम्र क्रतु मनीना सोम पुनानां अमरशमू-

पु । सपन्ति यं मिथुसानो निदामा अमर्यशा रमिरा

स. मुहम्ना ॥ १ ॥

१३५७—१. 'मनीना' । २. 'एव मनीना', 'मिथुसानो', 'मिथु' ।

■ 'सदिहम्ना' इति अ० ।

■ २ ३२४ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ ■
 [१३५८] स पुनान उपसूर दधान आभ अप्रा रोदसी वी प
 २२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ १२ ३ ३
 आव । प्रियाचिद्यस्य प्रियसास कता सतो धनं कारिणे
 १२ २२

न प्रयसत् ॥ २ ॥

१ ■ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
 [१३५९] स वद्धिता वद्धनः पूयमानः सोमा मद्भिर्वा अभि नो
 १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 ज्योतिषा वीत् । यत्र नः पूर्वे पितरः पदक्षाः स्वविंदो
 १२ १२ ३ २
 अभिगा अद्रिमिष्णन् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ९ । २७ । ३७-३६ ॥

भा०—(१) (जागृषि.) जागरणशील, कभी आज्ञा न करने
 द्वारा, सर्वदा सचेत, (मतीना) मनन करनेवाली बुद्धियों या मनन करने
 योग्य वेदवाणियों के (अतः) सारभूत सत्यज्ञान को (पुनान) प्रकाशित
 करता हुआ (विप्र) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् (सोमः) शम, दम
 आदि साधनों से सम्पन्न होकर (अमृत) प्रवाशों में (असदम्) विरा-
 जता है । (यं) जिसके पास (निकामः) नाना प्रकार की कामनाओं
 से युक्त (मिथुनासः) गृहस्थ नर नारी (अश्वर्यव.) अपने यज्ञादि
 कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् (रषिरासः) देहधारी, (सुहस्ता) उत्तम
 कर्म करने में कुशल पुरुष भी (सपन्ति) ज्ञान और सरसता प्राप्त करने
 के लिये आते हैं ।

(२) (स) वह विद्वान् (पुनान) अपने स्वरूप में स्वतः और
 अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को (सुरे) सबके उत्पादक और
 प्रेरक परमेश्वर में (उपदधान) ईश्वर प्राणिधान द्वारा लगाता हुआ
 (उभे) दोनों (रोदसी) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य
 और पृथिवी ■ समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों ■ ज्ञान सेज से (अप्रा)
 पूर्ण करता है, (स.) और वह (वि आवः) विविध प्रकार का
 ज्ञान प्रकट करता है । और (सतः) अपने उद्देश्य तक पहुँचे हुए (यस्य)

त्रिमयी (त्रिधा) भेद, और (त्रियमास) कृषाणदायिनी कामनायें
(उगी) रक्ष्य करने, भयों और विघ्नों से बचाने के निमित्त होनी हैं । वा
(यः) हमें (धर्म) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को (कारिणे न) अपने
बादर ■ समान समझ कर (य यमत्) प्रदान करे ।

(३) (य) वह (धर्षिता) मर की मृत्ति करने द्वारा और (यर्धनः)
स्वयं भी आगे बढाने द्वारा, या स्वयं के संग्रहों को काटने द्वारा और
बन्धनों का भी मूलोत्प्रेद करने द्वारा (पूयमान.) शुद्ध पवित्र ज्ञानवान्
होकर । (मोम) शमदमादि पदक सम्पत्ति से युक्त विद्वान् (मीढ्यान्)
आनन्द और सुखों का स्वर्ण, धर्ममेघ समाधि ■ मिद, (ज्योतिषा)
आत्मज्ञानमय ज्योति से (न.) हमें (अभि आर्षात्) उस म्याम पर ले
जावे (यत्र । गहा (ग.) हमारे (पद्माः) परम पद, प्राप्त मन्त्र के ज्ञाता
(स्वर्षिदः) मुक्ति मुक्त का लाभ करने हारे (गा) वेदवाणियों ■
(अभि) साक्षात् करके (पूर्वे पितरः) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि
पुरुषा एवं आचार्य लोग (भदिम्) उस असंख्य ब्रह्म को (हव्यान्) प्राप्त
होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ ३

[१३६०] मा त्विदम्याष्ठशंसत सखायो मा रिपण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रमित्स्नाता वृषण सखा सुन मुहुक्यथा च शंसत ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३६१] अत्रक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्पणीसहम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ ॥ १२ ३ १ २

विष्टेपणं संवननमुभयङ्कर मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ॥

अ० ६ । १ । १-२ ॥

भा०—(१) हे (सखायः) मित्रो ! समान रूप से प्रवचन करने
हारे विद्वान् लोगो ! (अन्यद्) ईश्वर की स्तुति से अतिरिक्त व्यर्थवाद

१३६०—२. 'वृषभ यथा जुव', 'सवननोभयकर' इति अ० ।

(मा चित्) कभी भक्त (वि शंसत) उच्चारण किया करो । आप कभी (मा विपश्यत) बलेश को प्राप्त न होओ । (च) और (सुते) शान उत्पन्न होजाने पर (मचा) एकत्र होकर एक साथ (वृषयं) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे (इन्द्रम्, इव) परमेश्वर को ही लक्ष्य करके (उपया) वेद-मन्त्रों को (मुहु) बार २ (गसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो ।

(२) और हे विद्वानो ! आप लोग (जुव) बेगवान्, शक्तिशाली, (अक्रधिय) सयकी अपनी और रीचने हारे (वृषम) बलवान् श्रेष्ठ (गां न) बैल के समान बलवान्, (वृषमं) समस्त सुखों के वर्षक (चर्पणीसहम्) समस्त संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर समा-जीत, उनके व्यवस्थापक, (विद्वेषयं) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अश्रीति का पात्र और (सवनन) श्रेष्ठ पुरुषों के शरण करने योग्य (उभयकरं) धनुप्रह और दण्ड पालन और सहार दोनों के करने हारे अतएव (महिष्ठ) सबसे बड़े दाता, (उभयाकिनं) सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनो में समान भाव से रक्षा करने हारे (इन्द्रम् इन् स्तोत) हम परमेश्वर की ही स्तुति करो ।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा प्रति इस भाव से रहना चाहिये । इन्द्रियों के पक्षमें—आत्मा (विद्वेषय सवननं) द्वेष और राग से युक्त, ईप्सा और जिहामा या पाने और त्यागने की इच्छा द्वारा दोनों कार्यों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारोंके मार्गों पर जानेहारा है ।

[१३६२] उदु त्य मधुमत्तमा गिर. स्तोमास ईरते ।

सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कएवा इव भृगव. सूर्या इव विश्वमिद्धातमाशत ।

इन्द्रं म्तीमभिर्मह्यन्त आयवः प्रियमधासो अस्वरन्
॥ २ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ३ । १५, १६ ॥

भा०—(१) (रथा इव) रथसाधन, रथ जिस प्रकार (वाजयन्तः) संग्राम में गमन करते हुए (अचित्तोत्तयः) अपने रथा साधनों को निरन्तर स्थिर रखने हारे (सप्रावितः) समस्त शत्रुओं का विजय करके (धनसा) धन, लक्ष्मी को प्राप्ति कराते हैं और राजा प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वे) वे (मधुमत्तमाः) अति ज्ञान, और आनन्दरूप मधु से पूर्ण (गिरः) वेदवाणीस्वरूप (स्तोमासः) वेद के स्तुति सूक्त, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उव ईरते) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुम्हें परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

(२) (मृगचः) पाप को भूल ढाकने हारे, लपस्वी, (कण्वाः) विद्वान् पुरुष (सूर्या इव) सूर्य की किरणों के समान (विश्वम् इत्) इस समस्त संसार को (धीतम्) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के (आशत) भोग करते हैं । और वे (प्रियमेधासः) सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी, धारणावली बुद्धियों और ज्ञानधाराओं के प्रेमी (आयवः) मनुष्य (स्तोमेभिः) नाना प्रकार के स्तुति-वचनों से (इन्द्रं) परमेश्वरवान् परमेश्वर की (महयन्तः) अर्चना करते हुए (अस्वरन्) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

[१३६४] पर्युषु प्रधन्व वाजसातय परि धृत्राणि सजाणि-।
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

द्विषस्तरज्या ऋण्या न ईरसे ॥ ॥

[१३६५] अजीजना हि पवमान सूर्य विधारे शक्मना पय-।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

गोजरिया रहमाणः पुरन्त्या ॥ ॥

[१३६६] अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजा अभि पवमान प्रगाढसे ॥३॥७॥क्र० ९।११०।१, २, ३॥

१३६६—तृतीयस्था अचः प्रायः सामसहितासु 'मदामसीत्यन्तं' प्रतीकमुपलभ्यते ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल मं० [४२८] पृ० २१८।

(०) हे (पवमान) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक । आप (गोजरया । गति के वेग से युक्त । पुरन्ध्या) ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली शक्ति से (रहमाणा) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही (शक्मना) शक्ति । (पय०) सबके पुष्टिकारक जल को (विधारे) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये (सूर्य) सूर्य को (अजीजनः) उत्पन्न करते हैं। अथवा—(पय सूर्य विधारे अजीजन०) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हैं।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [४३२] पृ० २२० ।

■ ३ १ ३

[१३६७] परिप्रथन्व० ॥१॥

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३६८] एवामृताय महं क्षयाय स शुक्रो अर्प दिव्य पीयूष॥२॥

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुनस्य पेयात् ऋत्वे क्षयाय विश्वे च देवा

॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ६ । १०६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२७] ■ २१८ ।

(२) हे प्रभो । तू (दिव्यः) दिव्य (पीयूष०) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दस्वरूप, (अमृताय) अमृत, परम ब्रह्मसुख या मुक्ति प्रदान करने ■ लिये और (महं) बड़े भारी (क्षयाय) शरण प्राप्त कराने के लिये (एव) ही ■ । हे सबके उत्पादक (स) वह आप (शुक्र०) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर (अर्प) अपनी ज्ञान और

१३६७—३ 'पेयाः' इति ■ । एव एव 'स्टीवन्सनसम्पादिते' लन्दनमुद्रिते

ग्रन्थे आद्ये द्वे अचावेकीकृत्य मुद्रिते 'परिप्रथन्वा एवामृतायेत्यादि, नच

प्रागादिभ्यम् । अत्रमेरमुद्रिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ । तं
विद्यात् शुक्रममृतम् । कठ० उप० ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् ! (सुतस्य) हृदय में
प्रकट हुए (ते) आनन्दस्वरूप आपके रस का (इन्द्रः) यह आत्मा (च)
और (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण, अथवा विद्वान्
गण भी (ऋत्वे) ज्ञानप्राप्ति और (दद्यात्) बल प्राप्ति के लिये (पे
यात्) पान करें ।

शति द्वितीयः पण्डः ।

—१०.—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३७०] सूर्यस्येव रश्मिर्गो द्रावयित्त्वो मत्सरास प्रसृत साक-
२ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
मीरते । तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादते पत्रते
२ ३ २ २ ३
धाम किञ्चन ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३७१] उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधुमन्डाजनी चांदते अन्न-
३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
रासनि । पत्रमानः सन्तनिः सन्वतामिव मधुर्मा वृष-
३ १ २
परिवारमर्षनि ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति
३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
निष्कृतम् । अत्यक्रमदिर्जुनधारमव्ययमत्क न नित्तं परि
१, २,
सामो अव्यत ॥३॥६॥ श्र० ॥ । ६० । ४, २, ४ ॥

भा०—(१) (सूर्यस्य) सबके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रश्म
य, इव) किरणों के समान (द्रावयित्त्वो) द्रुतगति से जाने लगे (म

१३७०—१. 'प्रसृतः' २. 'सन्वति' ३. 'वृष । मिमाति' ४. 'न' 'प्र०' ।

सुत) उत्तम रीति से उत्पन्न, प्रकट या प्रेरित होकर (मत्सरासः) निर-
पेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित, (आशवः) शीघ्रगामी (सर्गोत्सः) सगर्भ
लोक (ततं) विस्तृत विशाल । तन्तुं) सर्ग, स्थिति, प्रलय के अनादि
तन्तु ब्रह्म को आश्रयण करके (साक) एक ही काल में (परि ईरते)
अग्नीः कषा में परिक्रमा करते हैं, वास्तव में (विज्ञान) कुछ भी
(धाम) शक्ति और तेज (इन्द्राद् कते) बिना उस परमेश्वर के कहीं से
भी (न) नहीं (पवते) प्रकट होता । यहा तेजस्वी लोकों को 'सोमा,'
' मत्सरासः ' शब्दों से कहा गया है । अत्यात्मपद में ये प्राण हैं और
इन्द्र=आत्मा ।

(२) (मति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द्र । समाधि द्वारा (उप-
पृथ्वते) लग जाती है तब (मधु) आनन्द-रस (सिध्यते) अन्त करण
में प्रवाहित होने लगता है । (मन्दाजनी) अति आनन्ददायक रसधारा
(आसनि) मुख के भीतर या मुखस्थान शिरोभाग में (अन्त) भीतर
(चोदते) प्रेरित होती है । (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत
हाने हारा (पवमानः) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (द्रप्स) धीर्य
और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर
(वारम् । मृकृटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या वरणीय प्रदेश में
(परि अर्पति) प्रकट होता है ।

इसमें प्रह्लादगत सोम से अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी
दर्शाया गया है ।

(३) जैसे (उच्चा) धीर्य मेचन में समर्थ साह (मिमेति) शब्द
करता है और (धेनवः) गौण (त) उसकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं ।
इसी प्रकार (देवी) दिव्यगुण वाली शक्तियां या बुद्धिया (देवस्य) दिव्यगुण
शुद्ध अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विशुद्ध स्वरूप को भी (उ-

पयन्ति) पहुँचती हैं । (सोमः) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति (अर्जुनम्)
शुभ्र या देह के उपचय अपचय करने में समर्थ (अव्ययम्) प्राणमय
(धारम्) आवरणकारी कोष को (अति अकमीत्) अतिक्रमण करता
है और (निक्रम्) शुद्ध (अत्कं) कवच से समान रक्षण करने हारे शरण
योग्य पद को (अव्यत) प्राप्त होता है ।

■ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१३७३] अग्नि नरो दीनिति मिररयार्हस्तच्युनं जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदभं गृहपतिमथव्युम् ॥१॥

■ २ ३ १४ ३ १ २ ३ २ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७४] समग्निमस्ये वसवो न्ययवन्सुप्रतिचक्षमवसे कृतश्चित् ।

■ २ ३ १४ ३ २ ३ १ २
वक्ष्याया यो दम आस नित्यः ॥२॥

१ २ ३ १४ २४ ३ १४
[१३७५] प्रेक्षा अभने दीदिदि पुगे नोज्ज्वलाया सूर्या यचिष्ट ।

११ २४ ३ १ २ ३ ३ १ २
त्वा शुभ्रवन्त उपयन्ति वाजाः ॥ ३ ॥ १० ॥

श० ७ । १ । १-२ ॥

भा० — (१) 'व्याख्या देखो अविकल सं० [७२] पृ० ३७ ।

(२) (सुप्रतिचक्षं) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, (सम)
उस वरण करने योग्य (अग्निम्) आग्निरूप ज्ञानवान् तेजस्वी आत्मा को
(वसवः) आर्वाक्ष साधन या देह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण
या विद्वान् लोग (कृतश्चित्) सब ओर से (अवसे) रक्षा प्राप्त करने के

■ अज गतिम्यानोपार्जनेषु । अजी मृजी अर्जने । अर्ज वर्ज मर्जने, इति
म्वादयः । अर्ज प्रतिवर्त्तने मृजादिः । अर्जो यद्रूपगुण ।
अर्जुन = गतिमान्, स्तिरः, उपार्जनशीलः, भर्जनशीलः, प्रतिपत्न-
वान् इत्यर्थः ।

लिये (अस्ते) अपने गृह, देह, या हृदयगुहा में (निऋयन्) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो (दक्षायः) बल को प्राप्त कराने में चतुर (नित्य.) अग्नय आविनाशी, (दमे) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में (आस) विद्यमान रहता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशक आत्मन् ! (यन्निष्ठ) हे बलशालिन् ! अति युक्तम । अजर, अमर । (प्रेक्ष.) योग-साधनों से प्रदीप्त, प्रज्वालित होकर (अजस्रया) निरन्तर प्रकाशमान (सूर्या) बाला, ज्ञानमय न्योति (दीदिहि) प्रकाशित हो । (शश्वन्त.) अनादिकाल से बड़े तपस्वी (बाजाः) ज्ञानी पुरुष (स्वा) तुम्हको (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

२४ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३७६] आयं गौः पृश्निरक्रमादसदन्मातरं पुरः ।

३ १ २ ३ १ २
पितरं च प्रयन्तस्वः ॥१॥

३ १ २ ३ २४ ३ १ २ ३ २
[१३७७] अन्तश्चरन्ति रोचनास्य प्राणादपानर्ता ।

१॥ २२ ३ १ २ २४
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥

३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७८] त्रिशङ्काम विराजन्ति वाक्पतङ्गाय धीयते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह शुभिः ॥३॥ ११॥ अ० १० । १८९ । १-३॥

भा०—(१) (२) (३) व्याख्या देखो अधिकृत सं० क्रम से [६३०, ६३१ और ६३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीयः खण्डः ।

इति षष्ठस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः
इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

—७१—

अथ षष्ठप्रपाठकस्यः द्वितीयोऽर्धः ।

अपिः—१ गोतमो राहूगणः, वसिष्ठस्वतीयस्वा । २, ७ धीतहव्यो भरद्वाजो वा बाहस्पत्यः । ३ मनापतिः । ४, १३ सोमरिः काण्वः । ५ मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । ६ अजिबोर्ध्वसना च क्रमेण । ८, ११ वसिष्ठः । ९ तिरश्चीः । १० सुतमर आत्रेयः । १२, १६ नृमेधपुरुमेधौ । १४ सुम शेष आजीर्गर्गः । १५ नोथाः । १६ मेधातिथिमेधातिथिर्वा काण्वः । १७ रेणुर्वैशामित्रः । १८ कुत्स । २० आगस्त्यः ॥ देवता—१, २, ८, १०, ११, १४ अग्निः । ६, ९, ८, ११, १५, १७, १८ पवमानः सोमः । ४, ५, ६, १२, १६, १६, २० इन्द्रः ॥ छन्दः—१, २, ७, १०, १४ गायत्री । ३, ८ अनुष्टुप् । ४, १२, १६, १६ प्रागाय । ५ बृहती । ६ ककुप् सतोऽहती च क्रमेण । ८, ११, १५, १० त्रिष्टुप् । १७ अगती । १६ अनुष्टुप् बृहती च क्रमेण । १८ बृहती अनुष्टुप् क्रमेण ॥ स्वरः—१, २, ७, १०, १४ पङ्क्तः । ३, ६, १० गान्धारः । ४-६, १२, १३, १६, २० मध्यमः । ८, ११, १५, १८ धैवतः । १७ निषादः ।

[१३७६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} उपप्रयन्तो अक्षर मन्त्र वोचमाग्नये ।

^{३ २ ३ १ २ ३ २} आरे असं च शृण्वते ॥ ॥

[१३८०] ^{१ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} यः कीदृतीषु पूज्यः सञ्जग्मानासु कृष्टिषु ।

^{१ २ ३ २ २ १ २} अरक्षद्वाशुषं गयम् ॥ ॥

[१३८१] ^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} स नो चंदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः ।

^{३ २ ३ ३ १ २} उनास्मान्पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१३८१—'अग्नी रक्षतु विषतः' इति श्रु० ।

उत्तं ध्रुवन्तु जन्तव उदश्विर्वृत्रहाजनि ।

धनञ्जयो रणे रणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[१, २, ४] अ० १ । ७४ । १-३ [३] अ० ७ । १५ । ३ ।

भा०—(१) (अध्वरं) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को (उप प्रयन्त.) अनुष्ठान करते हुए हम लोग (आरे) दूर देश में (च) भी (अस्मे) हमारी स्तुति को (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिये (मन्त्रं) मन्त्र करने योग्य वेदमन्त्र का (वोचेम) उच्चारण करें ।

(२) (यः) जो (संगग्मानासु) समान भाव से संग करने हारी और (जीहि।तिषु) परस्पर खेद करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (पूर्व्यः) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विराजमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही (दाशुषे) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के (गये) प्राण और धन की (अरक्षत्) रक्षा करे ।

(३) (सः) (शंतमः) अत्यन्त शान्तिदायक, शान्त आदि युक्त, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, । नः । हमारे (अमार्त्यं) सहायक-पुत्र आदि और (वेदः) ज्ञान और धन की (रक्षतु) रक्षा करे । (उत्तं) और (अस्मान्) हमको (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

(४) और इसी प्रकार (वन्तवः) सब लोग (ध्रुवन्तु) उसका वर्णन करें और जानें कि (वृत्रहा) आवश्यककारी अज्ञान और अधकार का नाश करने हारा (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा (रणे रणे) रमणीय । प्रवेशों और सग्राओं में (धनजयः) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१३८३] अग्ने युंक्ष्व हि ये तवाभ्वासां देव साधवः ।

२ ३ १ २ ३ १ २
अरं वहन्त्याशवः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१३८४] अच्छा नो याह्यावहाभिप्रयासि वीतये ।

२ ३ १ २ २ २
आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१३८५] उदग्ने भारत शुमदजस्रण दविद्युतत् ।

शोचा विभाह्यजर ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । १६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) हे (देव) प्रकाशमान आत्मन् ! (ये) जो (सा-
धवः) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल (तव) तेरे (आशवाः)
शीघ्रगामी (अभ्वासा) विषय प्रदण करने वाले, (अरं) पर्याप्त ज्ञान
और फलप्राप्ति को (वहन्ति) प्राप्त करते हैं उन इन्द्रिय आदि साधनों
और विद्वानों को (युंक्ष्व हि) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर । व्याख्या
देखिये अविकल सं० [२५] पृ० ११ ।

(२) हे (अग्ने) परमपुरुष परमेश्वर ! (न०) हमारे (अच्छ)
सन्मुख (याहि) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और (वीतये) ज्ञान साक्षात्कार
करने और (सोमपीतये) पंचमर्य, आनन्दरस को पान करने के लिये
(देवान्) इन्द्रियगणों या विद्वान्त्रुओं को निश्चय (प्रयासि) ज्ञान (अभि-
आ-वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (भारत) समस्त संसार में मरण पोषण करने वाले ! हे
(अजर) जलामरणरहित ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् ! (दधि-
द्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू (अजस्रं) निरन्तर वर्तमान,
(शुमत्) प्रकाशमान तेज से (शोच) स्वयं प्रकाशित हो और (द-
वि-भाहि) उत्तम रीति से समस्त जगत् को भी प्रकाशित कर ।

[१३८६] ^{१ २ ३ ५२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ ५२ २२} प्रसुन्वानागान्धसो मर्तो न घट् तद्वच ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ५२ २२} अप श्वानमरावसं हता मखन्न भृगव ॥ १ ॥

[१३८७] ^{२ ३ ५२ २२ ३ ५२ ३ २ ३ २२} आ जामिरत्क अव्यत भुजे न पुत्र ओरयो ।

^{१ २ ३ ५२ २२ ३ ५२ २ ३ १ २} सरज्जारा न याषणां वरा न योनिमासदम् ॥ २ ॥

[१३८८] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २} स वीरा दक्षसाधना वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।

^{१ २ ३ १ २ ३ ५२ २ ३ ३ १ २} हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥

श्रु० ६ । १०१ । १३-१५ ॥

भा०—(■) व्याख्या देखो अवि० सं० [११३ तथा ■■■]
पृ० २६८ और ५५३ ।

(२) (जामिः) आनन्द को उत्पन्न करने द्वारा, निर्दोष, शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक सोम (अत्के) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोष में (ओरयोः) माँ बाप के (भुजे) गोद में (पुत्रः न) पुत्र के समान और (योषणा) कामिनी स्त्री के प्रति (जारः ■) उस में आसक्त पुरुष ■ समान और (योनिं) कन्यागृह के प्रति (वरः न) वरण करने योग्य पुरुष के समान (सरज्) गमन करता हुआ (योनिं) अपने आश्रय आत्मा में (आसदं) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये (अव्यत) पहुँच जाता है ।

(३) (दक्षसाधनः) अपने बल्लोपाजैन का साधक (यः) जो (रोदसी) प्राण और अपान के वेगों को (तस्तम्भ) रोक लेता या चश कर लेता है (सः) वह (हरिः) इन्द्रियों का विजय करने द्वारा (वेधाः) ज्ञानी गृहस्थ (योनिं न , जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी (वेधाः) मेधावी, ज्ञानवान् साधक (योनिम्) आश्रयस्थान, परम

शरणरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (पवित्रे) परम पावन परमात्मा में
[अव्यत) विचरता है ।

इतिः प्रथमः खण्डः ।

— ० —

उ २ ३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१३८६] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुपा सनादास ।

३ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वमिच्छस ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३८७] नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसं पीयन्ति ते सुराश्वः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

यदा कृणोषि नदनुं समूहस्याटिपितेव हूयसे ॥ २ ॥ ॥

श्र० ८ । २१ । ११, १४ ॥

भा०—(३) व्याख्या [१३८६] पृ० २०४ ।

(२) हे प्रभो ! आप (रेवन्त) केवल धनसम्पन्न, धनाभिमान।
पुरुष को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकी) कभी नहीं
(विन्दसे) प्राप्त करते । क्योंकि (सुराश्वः^१) शराव पीकर, या राज्य सन्धियों के
मद से फूले हुए (ते) वे लोग हितैषियों तक को (पीयन्ति) मारते हैं ।
और जब (नदनु) सत्य गुणों का उपदेश करने द्वारे पुरुष को आप अपना
मित्र । कृणोषि) बना लेते हो और (समूहस्य) उसका उत्तम रीति
से उन्नति के मार्ग पर लेजाते हो । (आत् इन्) तब ही हे परमेश्वर !
आप (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) याद किये जाते हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१३८९] आ न्या सहस्रमाशनं युक्ता रथे हिरण्यये ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २

ब्रह्मयुजा हरय इन्द्र केजिनो वहन्तु सामगीनये ॥ १ ॥

१३८९—१. 'दुर्मास्त्रि गतिरुदयोः [श्वादि]

१. सुरपा दत्ता. शनि सुराश्वः ।

२ ३ ५ २ ■ २३ १ २ ३ १ २ ■
[१३६२] आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेष्या ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतय ॥२॥

१ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६३] पिवा त्वाऽस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यने ॥३॥५॥

अ० ८। १। २४-२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४५] पृ० १२५।

(२) हे इन्द्र ! (हिरण्यये) हरणशील (रथे) रमण-साधन,
भोगायतन इस देह में (मयूरशेष्या) मयूर के पंखों के समान धर्पे वाले,
(शितिपृष्ठा) श्वेत या नील कान्ति ■ शरीर करने वाले, (हरी) दुःखहारी
या हरणशील, अन्नरूप प्राण और अपान (त्वा) तुझ आत्मा के (विव-
क्षणस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय या प्राप्त करने योग्य, महान्, । मध्वः) मधुर
अमृतसरूप (अन्धः) जीवनशक्तिमय सोमरस के (पीतये) पान करने
के लिये (वहता) प्राप्त करावें । विशुद्ध चितिशक्ति के योगसिद्ध अनुभवों
को लक्ष्य करके प्राणापान के साधकों के निमित्त प्राण और अपान दोनों
का वर्णन ही इसी प्रकार कहा गया है । जैसे—

“ काली कराली च मनोज्ञा च सुलोहिता च सुधूम्रवर्णा ।

स्फुलिङ्गिनी विमरुची च देवी ते जायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥मुण्डक॥

जो इन मन्त्रों को सूर्यपरक लगाया जाता है ■ आदित्य भी साधक
द्वारा अन्तर्दृष्ट आदित्य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है ।

(३) हे (गिर्वणः) वाणियों ■ एकमात्र पात्र । (अस्य) इस
(सुतस्य) समाधि द्वारा निष्पादित मोम को (जु) शीघ्र ही (पूर्वपा
इव) प्राण वायु के समान (पिब) पान कर । क्योंकि (परिष्कृतस्य)
योग-साधन पूर्व प्राणायाम आदि भंगों द्वारा परिशोधित (रसिनः)

ब्रह्मास्वाद रस की (रमम्) यह (आसुतिः) निष्कर्ष या प्राप्ति (मदाय) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये (चारु.) सर्वोत्तम (पत्यते) जानी और प्राप्त की जाती है ।

[१३६४] ^{१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ १२ ३१२ ३ १२} आसोता परिपिचताश्व न स्तोमममुर रजस्तुरम् ।

^{३ १ २ ३ १ २} धनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ऋतेन य ऋतजातो वि षावृधं राजा देव ऋतं बृहत् ॥ २ ॥ ६ ॥

अ० ॥ १०८ । ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५८०] पृ० २६२ ।

(२) (सहस्रधार) सहस्रों धारयाकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या नाना स्तुति वाचियों स युक्त (वृषभं) सुखों के वर्णक (पयो-दुह) पुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे (प्रिय) आत्मा के समान सब से अधिक प्रीति के विषय (देवाय) परम इष्टदेव के (जन्मने) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो । जो आत्मारूप सोम (राजा) ज्ञान से प्रकाशित, इस देहोन्मिय सघात का प्रकाशक राजा (ऋतजातः) तप से परिष्कृत होकर (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (वि षावृध) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वयं (देव) दिव्यगुण हाकर (ऋतं) सत्य स्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है ।

इति द्वितीय खण्डः ।

[१३६६] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अग्निर्वृत्राणि जह्यघनदं द्रविणस्युर्विपन्यया ।

^{१ २ ३ १ २ २ ३} समिद्धं शुक्र आहुन ॥ १ ॥

१३६५—२. 'वृषभ पयोदुह' इति अ० ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३६७] गर्भे मातुः पितुः पिता विदिद्युतानो अक्षरं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २
आदिभूतस्य योनिमा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६८] ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्रे यद्दीदयदिवि ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० ॥ १ ६ । ३४, - १६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४] पृ० ३ ।

(२) (पितुः पिता) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, (अग्निः) ज्ञानवान् परमात्मा (अक्षरे) अविच्युत, स्थिर (मातुः) प्रमाता आत्मा के (गर्भे) अन्तःकरण में (विदिद्युतान) प्रकाश करता हुआ (भूतस्य) सत्य ज्ञान के (योनि) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को (आसीदन्) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है । अथवा सूर्य आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एवं सबका अप्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर (मातुः गर्भे) जगत् को रचाने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच । विदिद्युतानः) अपने प्रकाश को स्थापित करता हुआ (भूतस्य योनिम्) अव्यक्त जगत् के मूल कारण रूप तत्त्व को (आसीदन्) अपने वश करता है ।

(३) (जातवेदः) समस्त संसार उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे ! (विचर्षणे) सबके द्रष्टः ! आप हमें (प्रजावद्) पुत्र आदि सहित (ब्रह्म) ऐसे अज्ञ और ज्ञान को (आभर) प्राप्त कराइये (यत्) जो (दिवि) दिव्यगुण से युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी (दीदयत्) प्रकाशित रहे । अर्थात् ऐसा अज्ञ और ज्ञान प्राप्त कराओ जिसका परलोक और विद्वानों में भी आदर हो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६९] अस्य प्रेपा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुतः पवित्रं पयसि रेसन् मितेव सन्न पशुमन्ति होता ॥ १ ॥

३ १ ३ १ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
[१४००] भद्रा वस्त्रा समन्याऽवसानो महान् कविर्विवचनानि

१ २ १ २ २६ २२ ३ १ २ ३ १ २२
शंसन् । आवच्यस्व चम्बो- पूयमानो विचक्षणं जागृवि-

३ १ २
देवधीतौ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४०१] समु प्रियो मृज्यन्त सानो अग्रे यशस्तरौ यशसा चैतौ

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३
अस्मे । अभि स्वर धन्वा पूयमानं यूय पात स्वास्तिभिः

१ २
सदा नः ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० ॥ ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २६१ ।

(२) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! (भद्रा) कल्याणकारी
(समन्या) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करने योग्य, या सग्राम योग्य,
केसरिया, तेजस्वी या कापाय (वस्त्रा) वस्त्र (वसातः) धारण करता
हुआ (महान्) बड़ा (कवि) मेधावी पुरुष होकर (निवचनानि) निरन्तर
उपदेश करने योग्य वचनों को (शंसन्) उपदेश करता हुआ (विचक्षणः)
भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ (देवधीतौ) परमेश्वर के प्राप्ति
के मार्ग में (पूयमानः) अपने अन्तःकरण से पवित्र होकर (चम्बोः)
धौलोक और पृथिवी ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों प्रकार के जनों में
(आवच्यस्व) विचरण कर ।

(३) (यशसां) यशस्वियों के बीच, (यशस्तरः) अति अधिक
यशस्वी, (चैतः) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर (उ) भी (अग्रे) प्राणा-
वास और (सानां) उच्चतम अध्यात्म तपः-कोटि में स्थित एवं (प्रियः)
अतिप्रिय होकर (अस्मे) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से (सम
मृज्यन्ते) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या मूषित होता है ।
सुतः (पूयमानः) पवित्र होकर (धन्वा) गमनशील, परिव्राट् होकर

(अभि स्वर) उत्तम २ उपदेश कर । अध्यात्मपथ में—आनन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है । हे इसी प्रकार के विद्वान् पुरुषो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमारी (स्वास्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों में (पात) रचा करो ।

१ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १ २
[१४०२] एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृष्वासं शुद्धैरार्शीर्वात्ममत्तु ॥ १ ॥

१ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१४०३] इन्द्रं शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरुतिभिः ।

३ ३ ३ १ २ २ ३ १ २
शुद्धो रथिभिर्धारय शुद्धो ममदि सोम्य ॥ २ ॥

१ १ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१४०४] इन्द्रं शुद्धो हि नो रथि शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ २
शुद्धो वृषाणि जिघ्रसे शुद्धां वाजं सिपाससि ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० ८ . १५ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [३५०] पृ० १८१ ।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न.) हमें (आगहि) सम्मुख साक्षात् दर्शन दें । और (शुद्धाभि) शुद्ध पवित्र (उतिभि) मस्तक रूप या प्राणात्मक शक्तियों सहित आप (शुद्धः) शुद्धस्वरूप ही हैं । अतः (शुद्धः) शुद्धरूप ही आप (रथि) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को (नि धारय) पूर्णरूप से धारण करें और हे (सोम्य) परमानन्द के पात्र शक्तिमय ! आप (शुद्धः) शुद्ध रूप ही (ममदि) निज आनन्द प्राप्त करें ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न.) हमें (रथि) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ (सिपाससि) प्रदान करते हैं । क्योंकि (दाशुषे) दाता आत्म समर्पक को आप

(शुद्धः) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही (रत्नानि) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । (शुद्धः) स्वयं शुद्ध होकर ही (वृत्राणि) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और (शुद्धः) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त संसार को (वानं) ज्ञान, धन और बल (सि- वासति) प्रदान करते हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१४०५] अग्ने स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य दिविस्पृशः ।

देवस्य द्रविणस्य वः ॥१॥

[१४०६] अग्निर्जुपत नो गिरो होता या मानुषेष्वा ।

स यत्तदु देव्यं जनम् ॥२॥

[१४०७] त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टा होता वरयथ ।

त्यया यक्ष वितन्वते ॥३॥ १०॥ अ० ५ । १२ । ६४ ॥

भा०—(१) (द्रविणस्यवः) धन और हुत गति से प्राप्त करने योग्य द्रष्टव्य को प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम (अद्य) आज, अद्य (देवस्य) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) सचके अप्रणीत ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के । सिद्धम्) निश्चय (स्तोमं) स्मृति, सत्यगुण वर्णन रूप वेद का (मनामहे) मनन करते हैं ।

(२) (यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (होता) समस्त संसार का आदान और वितर्ग, प्रलय और सर्ग करने वाला (मानुषेष्वा) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में (आ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्ने' स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य' इति सू० ।

'सिध्निति पाठो ग्रीकानन्दोदः', सिध्निति सप्तम्या ।

होकर (नः) हमारी (गिरः) समस्त वाणियों को (जुषते) अर्चना करता है (सः) वही (दैव्यम्) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले (जनं) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को (यच्छत्) आनन्द सुख प्रदान करता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप ही (वरेण्यः) सबके वरण करने योग्य, (होता) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त यज्ञों के कर्त्ता, (जुष्ट) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और (सप्रथाः) सब से महान् (असि) हो । (त्वया) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने (यज्ञं) इष्ट साधन रूप धर्म कार्यों और पूजा आदि का (वितन्वते) सम्पादन करते हैं ।

३ । २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[१४०८] अग्निं त्रिपुष्टं वृषणं वयोधामहोपिणमवावशन्त वाणीः ।

■ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वायाणि ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४०९] शूराग्राम सर्ववीरः सहावाञ्जिता पवस्व सनिता धनानि ।

■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समस्त्रपाढ साहान् पृतनासु
■ २

शत्रून् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३

[१४१०] वरुणज्युतिरभयानि कृण्वन्तसमीचीने आपवस्था पुरन्धी ।

३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २ २ २ ३ १ २ ३
अप सिषासन्नपसः स्वाऽऽर्गाः संचिक्रदो महो अस्मभ्यं
१ २

वाजान् ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ६ । ६० । २-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२८] पृ० २५२ ।

१४०८—१. 'अङ्गुष्ठाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धुर्वि' इति ऋ० । 'वायाणि.'

इति पाठस्तु अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः ।

(२) हे (सोम) प्राणरूप आत्मन् । तू (शूरभामः) गति में
 मेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, (सर्वकार) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्,
 (सहायान्) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दुःख आदि इन्द्रों का
 सहन करने द्वारा, (नेता) सबको परानय करने द्वारा या (नेता) काम
 क्रोध आदि और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील, (धनानि) समस्त रम-
 णीय विषय भोगों को (सनिता) प्रति इन्द्रिय विभाग करने द्वारा (ति-
 व्मायुधः) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों में सम्पन्न, (विप्रधन्वा) प्रति,
 शीघ्र गति देने द्वारा, या स्वयं, सबसे अधिक वेगवान् (समस्तु) परस्पर
 हथकों के, स्थलों में (अपावः) किसी से न दबने द्वारा (धृतनासु)
 प्रजारूप इन्द्रिय वृत्तियों में (साह्वान्) सबको अपने वश करने द्वारा
 होकर (आपवस्व) प्रकट हो । और हमारे शरीर और अन्तःकरण को
 भी पवित्र कर ।

(३) (सोम) हे आत्मन् । हे विद्वन् । (उरु गव्यूति) स्वयं समस्त
 गौ अर्थात् वाणियों और इन्द्रियों के लिये रक्षा या शरण्य हाकर सर्वत्र
 (अभयानि) अभय (कृणवत्) करते हुए (पुरन्धी) इन दहरूप पुर
 को धारण करने, हारे प्राण और अपान दोनों को (सर्माचीने) समुचित
 प्रकार से (आपवस्व) गति दो और पवित्र करो । और (अप.) समस्त
 कर्मों और प्रज्ञाओं को (सिपासन्) यथाकाल और यथास्थान विभाग
 करते हुए (स्व.) सुख, आनन्ददायक (गाः) वेदवाणियों को (अ-
 समवसू) हम लोगों को (मधु) श्रेष्ठ २ (वाजान्) ज्ञानतथ्यों के देने के
 लिये (सचिक्रदन्) उपहार्य करो, उपदेश करो ।

१ ■ ३ १ २ ३ १ २ ३ ■ १ २

[१४११] त्वमिन्द्रं यथा अस्य जीर्णं शर्वसस्पतिः ।

■ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तमर्पणीधृनि ॥१॥

१९११—'शर्वसस्पति' 'हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तमर्पणीधृनि' ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्
॥२॥१२॥ अ० ४ । सू० १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २० ॥

मा०—(१) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (यथा) यथावत् (शवस-
स्पतिः) शक्ति और वल का मालिक, (अजीषो) सब को अंजु, सरल,
उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने द्वारा (पुरु-अनुत्तं) बहुतों से भी प्रेरित
या संचालित न होकर, स्वतन्त्र ही (चर्याधिपतिः) स्वधर्म से दृष्टा
होकर सबको धारण करने द्वारा है । (एव) व (अप्रतीनि) जिनका
मुकाबला न किया जा सके ऐसे दुर्घट (वृत्राणि) विघ्न और दुःसाध्य
अमर, अधर्मी पुरुषों को (एक इव) अकेला ही (हसि) विनाश करता
है । अधि० सं० [२४८]

(२) हे (असुर) प्राणों में रमण करने वाले आत्मन् ! हे
(इन्द्र) ऐश्वर्यवान् (तं) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्वप्रसिद्ध (प्रचेतसं)
प्रकृत उत्तम ज्ञानवान् (त्वा उ) तुरू से ही हम (राधो) आराधना
करने योग्य ज्ञान को (भागम् इव) अन्न के समान (इमहे) पाचना
करते हैं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (कृत्तिः) कीर्ति ही (मही)
बड़ी भारी (शरणा इव) शरण रक्षा के समान है (ते) तेरे से (सु-
म्नानि) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन (नः) हमें (अश्नु-
वन्) प्राप्त हों ।

१४१२ —“सुम्नानो अश्नुवन्” इति च अ० । ‘पूर्वजुत्’ इति अजमेरसुद्रिनः

प्राभादिकः पाठः ।

[१४१३] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवता होतारममर्त्यम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥१॥

[१४१४] अपानपातं सुभग सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिपम् । स नो

मित्रस्य वरुणस्य सा अपामा सुम्न यक्षते दिवि

॥२॥१३॥

भा०—(१) (देवता) विद्वान् पुरुषों के भी (देव) उपासनीय देव, (होतारं) सब यज्ञों के सम्पादक (अमर्त्यम्) मरणरहित, अमृत-स्वरूप (अस्य) इस (यज्ञस्य) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और प्रक्षय रूप यज्ञ के (सुकृतम्) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव (यजिष्ठं) सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ (त्वा) आपको (ववृमहे) वरण करते हैं । वरावया देखो [११२]

(२) (अपा नपातं) लोकों, कर्मों और प्रजाओं के पतन, विनाश का लोप न होने देने हारे, (सुभग) पुण्यसंपन्न, (सुदीति) उत्तमकामि से युक्त (श्रेष्ठशोचिपम्) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न (अग्निम्) अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को वरण करो क्योंकि (स.) वह जीवरूप अग्नि (मित्रस्य) समस्त जीव को स्नेह से देखने हारे और (वरुणस्य) सब दुःखों का वरण करने हारे परमेश्वर के (अपा) समस्त प्रजाओं, कर्मों और समस्त लोकों के (सुम्न) सुप्त को (दिवि) ज्ञान प्रकाशमान मुक्तदशा में भी (नः) हमें (यक्षते) प्राप्त कराता ।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नासिकेतोपायान काठक उपनिषद् और मुण्डक उपनिषद् में ।

इति चतुर्थः गद्यः ।



[१४१५] यमग्नं पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यज्जुनाः ।

स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ १ ॥

[१४१६] न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।

वाजो अस्ति अवाय्यः ॥ २ ॥

[१४१७] स वाजं विश्वचर्षणिरर्वाङ्गिरस्तु तरुता ।

विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० १ । १७ । ७-६ ॥

भा०—(१) (अग्ने) परमेश्वर ! (यं) जिस (मर्त्यं) मरण-
धर्मी पुरुष को आप (अवा.) मृत्यु से बचा लेते हैं और (यं) जिसको
(वाजेषु) ज्ञान और भेद कर्मों में (जुनाः) प्रेरित करते, चला वेते हो
(सः) वह आपकी (शश्वतीः) नित्य अनादि काल से चली आई
(इय-) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को (यन्ता) बराबर कर लेता है ।

(२) हे (सहन्त्य) सब बिगड़ों के विनाशक ! (अस्य) इस
आपके (कयस्य चित्) किसी भी उपासक साधक को (पर्येता) कष्ट
देने द्वारा या उस पर आक्रमण करने द्वारा (नकिः) कोई भी नहीं ।
प्रत्युत उसके पास [अवाय्य-] अवण करने योग्य उत्तम (वाजः) ज्ञान
या बल (अस्ति) प्राप्त होता है ।

(३) (य.) वह (विश्वचर्षणिः) समस्त मनुष्यों का स्वामी
(अर्वाङ्गिरः) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों से ही (वाजं) ज्ञान को, बल
का, या जीवन संग्राम को (तरुता) पार करने द्वारा (अस्तु) हो और
वही अग्नि (विप्रेभिः) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा (सनिता) इष्टफल
का दाता (अस्तु) हो ।

[१४१८] साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो
धनुर्ग्रीः । हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणजनक्ष अत्यो न
वाजी ॥ १ ॥

[१४१६] सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारा
 अद्भिः । मर्यो न योषामामि निष्कृतं यन् संगच्छते कलश
 उक्षियाभिः ॥२॥

[१४२०] उत प्रपिप्य ऊधरज्याया इन्दुर्धाराभिः सचतं
 सुमेधा । मूर्धन गावः पयसा चमूष्वभिधीणन्ति
 वसुभिर्न निक्षैः ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० ६ । ६३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अदिकल सं० [१३८] पृ० २६८ ।
 (२) जिस प्रकार (मातृभिः न । माताओं द्वारा (शिशु.) उनकी,
 गोद में सोने हारा बालक शिशु (दधन्वे) पालित पोषित होता है उसी,
 प्रकार (अद्भिः) विषयों तक प्राप्त होने वाली (मातृभिः) ज्ञान कराने
 वाली इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसृत
 रूप से शिशु के समान सोने हारा और उनका (वावशान.) निरन्तर
 चाहने द्वारा (सोमः) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय अक्षरस (दधन्वे)
 पालित पोषित होता या धारण किया जाता है । और जिस प्रकार (मर्यो)
 पुरुष (योषा न) स्त्री के पास अपने गृह में जाता और उससे आनन्द
 लाभ करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा (निष्कृतम् अभि) अपने मूल
 आश्रय मस्तकदेह में (यन्) जाता हुआ (कलशे) नाना कलारूप धिति
 शक्ति की नाना वृत्तियों से युक्त सहस्रदल कमल, मूर्ध्ना भाग या देह में
 (उक्षियाभिः) ऊर्ध्वसर्पण करने वाली इन्द्रिय शक्तियों से (मत्पश्यन्)
 मिलकर एक हो जाता है ।

(३) (उत) और वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के तानुभाग
 में लगी इन्द्रियोनि से टपकने द्वारा रस (यज्यायाः) कभी न बिटुल

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के (ऊधः) रस के भण्डार रूप कर्ध्वस्थान मस्तक भाग को (प्रापिप्ये) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब (सुमेधाः) उत्तम ज्ञानधारण में समर्थ धारणावती मध्या बुद्धि से युक्त, (इन्द्रुः) ज्ञान और तप में प्रकाशमान योगी (धाराभिः) अपने धारणा के अभ्यासों या स्तुति वाणियों से (सचते) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुँचने में समर्थ होता है तब ही (गावः) गन्तव्यार्थी सूक्ष्म इन्द्रियों की संवित् शक्तिया या वाणिया (वसुपु) अपने स्थानों में स्थित होकर (पयसा) अपने विषयग्रहण के रस से (मूर्धानं) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहजदक्ष कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को (अभिः श्रीयन्ति) ऐसे घेर लेती है, आच्छादित कर लेती है जैसे (निक्षैः) स्वच्छ सुन्दर (वसुभिः) धनों से मातार्य अपने बालकों को या शुद्ध (वसुभिः) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजापु अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती है ।

यहा सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, कर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और प्रहारसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४२१] पित्रा सुनस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र नोमनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिनो योधि सध्रमाद्यं वृधेऽऽस्मां अवन्तु ते धियः ॥१॥
४ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
[१४२२] मूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तारमिमातये ।
३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
अस्मां चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा न सुसंपु यामय ॥२॥ १६॥

अ० ८। ३। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३६] पृ० १२२ ।

(२) (वयं) हम (ते) तेरी (सुमतौ) उत्तम मति, प्रज्ञा चेतनरूप ज्ञान के अधीन रहकर (वाजिनः) ज्ञानवान् पुरुष ('स्याम') होंगे ।

(अभिमातये^१) अभित—चारों ओर से नाना प्रकार के माति अर्थात् हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की बड़ती के लिये (न.) हमें (मा स्त^२) मत ठक, अर्थात् उसमें मत फँसा । [चित्राभिः] ज्ञानमय, नाना प्रकार की संग्रह करने योग्य (अभिष्टिभिः) अपनी प्रेरणाओं से (अस्मान्) हमें (अवतात्) रक्षा कर । और (न.) हमें (सुक्षेपु) सुखमार्गों में (आ यामय) व्यवस्थित रख, चला ।

[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहिरे सत्यामाशिरं परम ज्यो-
मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे यद्

मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारुणि चक्रे यद्
तैरनर्द्धत ॥ १ ॥

[१४२४] स भक्षमाणो अमृतम्य चारुण उमे छाषा काव्येना
विशथथे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य
अभसा सदो विदु ॥ २ ॥

[१४२५] ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽष्टाभ्यासो जनुपी उमे
अनु । येमिर्नुम्या च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनता

अगृम्यात ॥ ३ ॥ १७ ॥

अ० ॥ । ७० । १-३ ॥

१ स्मृन् जान्छादने क्रयादिः । हिंसार्थस्य स्तृणातेरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमातिः शत्रुरिति सायण । रोग माधवः ।

१४२३—१ 'दुदुहे' 'पूर्वो ज्योमनि', ३. 'स भिक्षमाणो' इति अ० ।

'भिक्षमाण', 'मक्षमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीने 'मक्ष-

माण' इति च सर्वे प्रामादिक-पाठ. निर्णयसागरीने अथमायणभाष्ये,

अन्यासु सामसहितासु छन्दन-कालिकातामुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [१६०] पृ० २८२ ।

(२) (यदि) जिस दशा में विद्वान् लोग (देवस्य) उस उपास्य-
देव के (सदः) आश्रयस्थान हृदय देश को (श्रवसा) गुरुपदेश द्वारा
(विदुः) ज्ञान कर लेते हैं तब (सः) वह पवमान सोमसाधक (चारुणः)
अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य (अमृतस्य) अमृत या अमरत्व
का (भक्षमाणाः) सेवन करता हुआ (कान्येन) अपने ज्ञान-सामर्थ्य
से (उभे यावा) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों को (विश-
श्रये^१) प्राप्त करता है और (ग्रहणा) अपने तपोमहत्त्व से (तेजिष्ठा)
अति तेज से सम्पन्न (अपः) लोकों या प्रायों में (परि व्यस्य) विचरता है ।
अग्वेद में 'मिषमाणाः' पाठ है । इसलिये उस पक्ष में (सः) वह साधक
(चारुणः, अमृतस्य) उत्तम अमरत्व की (मिषमाणाः) याचना करता
हुआ (उभे यावा विशश्रये) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है,
हृत्पादि पूर्ववत् । अथवा (उभे यावा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान
दोनों को (विशश्रये) शिथिल या बराबर कर लेता है । दोनों के बन्धनों को
ढीला कर देता है । दोनों को बराबर करके विदेह-मुक्त होजाता है ।

(३) (अथ) इस सोमरूप योगी आत्मा के (उभे जनुषी अनु)
दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में (अमृत्यवः) अमर,
अविनाशी, (अदाभ्यामः) अस्वादिहृत, अमिट (ते) वह २ (केतवः)
ज्ञान और रश्मियाँ, विभूतियाँ (सन्तु) उत्पन्न हो जाती हैं (याभिः)
जिन के बल से वह (नृमणा) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और (देव्या)

१. वावापृथिव्यौ प्राणापानौ, (सूत०)

२. 'अथ हिंसार्य' कथादिः, अथ प्रवर्त्तने प्रस्थाने च, चुरादिः,
अथ मोक्षणे, चुरादिः, अथ दौर्वल्ये, चुरादिः, अथ शैथिल्ये,
म्वादिः, अन्य विमोचनप्रतिद्वन्द्वोः, कथादि० ।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी (पुनर्ते) प्राप्त करता है । (आत् इत्) और उस विभूति क प्राप्त कर लेने के अनन्तर (राजानम्) सर्वतः प्रकाशमान्, सर्वतो वशी राजास्वरूप उस आत्मा को, (मनना) मनन करने से प्राप्त मानसिक सकल्प ही (अगृभ्यत) धारण, किये रहते हैं, अर्थात् उस दशा में उसके समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुँचाते ।

॥ पञ्चम खण्डः ।



३ ॥ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१४२६] अभि वायु वीतिर्षा गुणानोऽभि मित्रावरुणा पूयमानः ।

अभी नरं धीजिवनं रथेष्टामभीन्द्र वृषणा वज्रबाहुम् ॥ १ ॥

[१४२७] अभि वखां सुवसनान्यर्षाभिधेनू सुदुघा पूयमानः ।

अभि चन्द्रा भर्तृवे ना हिरण्याभ्यश्वाप्रथिनां देवसोम ॥ २ ॥

[१४२८] अभी नो अर्षादव्या वसून्त्यभि विश्वा मार्थिवा पूयमानः ।

अभि येन द्रविणमश्रवामाभ्यार्पेय जमदग्निवत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० १ । ६७ । ४९-५१ ॥

। भा०—(॥) हे (सोम) विद्मन् ! (वायु) कोष्ठगत वायुरूप प्राण को (वीति) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये (अभि अर्षे) प्रेरित कर । और (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (पूयमानः) पावन करता हुआ, उत्तम रूप स गति देता हुआ (अभि) उनको भी प्रेरित कर । (रथेष्टाम्) इस देहरूप रथ पर मारयि पत्कर स्थित (धीजिवन) ध्यान, सकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, (नर) इन्द्रियगणों के नेता

मन को (अभि) उत्तम रीति ने प्रेरित कर, और इन प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब (वज्रबाहुम्) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये अतम्भरावस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर (वृषणं) सब सुप्तों के वर्णक (इन्द्रं) उस आत्मा को (अभि-अर्प) साक्षात् कर ।

(०) हे सोम ! विद्वन् ! (पूयमान) पवित्र होकर या निरन्तर उत्पत्ति की साधना करता हुआ तू (सुवसनानि) उत्तम रूप से आच्छादन करने हारे (वस्त्रा) चमचमाते विभूति, मिद्विगौ अर्थात् सात्विक आचरणों या पंचकोषों को (अभि-अर्प) वश कर । और (सुदुघा.) उत्तम रूप से ज्ञानरम या आनन्दरम का दोहन करने हारे (धेनू.) भीतरी व आनन्दवाहिनी सुषुम्णा आदि नाटियों पर, या इन्द्रिय-शक्तियों पर (अभि) वश कर और (नः) हमें (चन्द्रा) आह्लादकारी (हिरण्या) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (भक्तैवे) भरण, पोषण करने या आत्मतृप्ति करने के लिये (अभि-अर्प) प्रदान कर । हे (देव) ज्ञानद्रष्टा ! शमादिमाधनों से युक्त योगीन् ! (रथिन) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय (अभ्यान्) ज्ञानी पुरुषों को (अभि-अर्प) हमें प्राप्त करा ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! आप हमें (दिव्या वसुति) दिव्यगुण युक्त जीवन के वाम-हेतु पदार्थों का प्रदान करें और (पूयमानः), सर्वत्र प्रकाशमान, शुद्ध पवित्र चित्त होकर (विधा पार्थिवा) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों को (अभि) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे (अभि) सामर्थ्य दें कि (येन) जिससे हम (दक्षिणम्) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को (अक्षवान) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे सोम ! आप (नः) हमें (जमदग्निवत्) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान (आप्येय) अधियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का (अभि) उपदेश करें ।

- १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
 [१४२६] यज्जार्थथा अपूर्व्यं मघवन् वृत्रहत्याय ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 तत्पृथिवीमप्रथयस्तदभ्मा उता दिवम् ॥१॥
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 [१४३०] तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः ।
 १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
 तद्विश्वमभिभूरासि यज्जात यच्च जन्त्वम् ॥२॥-
 ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २
 [१४३१] आमासु पक्रमैरय आ सूर्य रोहयो दिवि ।
 ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
 घर्म न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥१६।
 ऋ० म । ८६ ५-७ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् ! समस्त ससार को यज्ञरूप में सम्पादन करने हारे, समस्त विभूतियों के स्वामिन् । हे (अपूर्व्य) सर्वसे पूर्व होने हारे । अद्वितीय मूलकारण परमेश्वर । (यत्) जब (वृत्र-हत्याय) आवरणकारी ' वृत्रह ' रूप प्रकृति के रजः पटल को गति देन और उस में विशोम उत्पन्न करने के लिये (जायथा) उस में शक्तिरूप से प्रकट होना है (तत्) तब (पृथिवी) अति विस्तृत व्यापक पृथिवी, मूलकारण प्रकृति को या जीवों के निवास के लिये इस पृथिवी को (अ-प्रथम) वही विस्तृत करता है और (दिवं) इस समस्त आकाश स्थित लोकसमूह को भी (अस्तभ्ना) अपने २ स्थान पर स्तम्भित, स्था-पित करता है ।

(२) (तत्) और तब ही (ते) तेरी शक्ति से सम्पादित (यज्ञ) समस्त वायु, तेज, पृथिवी, आकाश, काळ, दिग्, आत्मा, मन इत्यादि देवगणों का उचित रूप से संघटित यज्ञ भी (अजायत) सुसम्पन्न होता है (तद्) और तब ही (अर्क) यह प्रकाशमान तेजस्वी सूर्य भी प्रकट होता है (उत) और साथ ही (हस्कृति) दिन की रचना होती है ।

(तत्) उस समय ही तू हे परमात्मन् ! (विश्वम्) यह समस्त जगत् (यत् जातं) जो कुछ उत्पन्न हुआ (यत् च) और जो (जन्तवम्) आगे उत्पन्न होता उस सब में (अमिभूः) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही (असि) है ।

(३) हे परमेश्वर ! तू ही (आमासु) न पके, अपक, कच्चे, स्यावर और जंगम पदार्थों में (पकं) परिपक्व भाव को (ऐरप) प्राप्त करता है । और इस निमित्त तू ही (सूर्य) सबके प्रेरक सूर्य को (दिवि) इस महान् आकाश में (आरोहयः) इतनी उन्नता पर स्थापित करता है । हे विद्वान् लोगो ! (सामन्) सामवेद द्वारा (धर्म न) जिस प्रकार आप धर्मयोग या प्रवर्गेष्टि को (तपत) प्रसन्न करते हो उसी प्रकार आप लोग (सुवृत्तिभिः) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान चर्चाओं द्वारा (निर्वाणसे) समस्त वेदवाणियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विषय में (जुष्ट) अतिप्रिय, रुचिकर (वृहत्) महान् या बृहत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो ।

नत्यभिति सत्यवचा रथतिर । तप इति तपो नित्य. पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको भौद्गल्य । तद्धि स्तपस्ताद्धि तपः । (तैत्ति० उप० शिखावल्ली अनु० ६) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है । प्रवर्गेष्टि में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है । (देखो शतपथ में प्रवर्गेष्टि प्रकरण)

१२ २५ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१४३२] मत्स्यपायि ते मधः पात्रस्येव हृदि मत्सरो मदः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसानमः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३३] आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।

३ १ २ ३ १ ३ १२ २३
सहावाँ इन्द्र सानसि. पृतनापादमर्त्यः ॥२॥

२४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३४] त्वं हि शूरः सनिना चोदयो मनुषो रथम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहावान्दस्युमवतमोषः पात्रं न शोधिषा ॥३॥२०॥

क० । २७६ । १-३॥

भा०—(।) (पात्रस्य इष मद्) जिस प्रकार पात्र में रक्सा वृत्ति-
कारी, हर्षजनक जल और दुग्धादिरस (आपयि) पान कर लिया जाता
है उसी प्रकार हे (हरिवः) हरणशील शक्तियों, अन्धकार और अज्ञान के
हरने वाले किरणों से युक्त परमेश्वर । (मत्सरः) आनन्दरूप में सर्वत्र
प्रसरणशील (मद्) आनन्दप्रद तेजोरूप, सर्वत्रैक उत्पादकशक्ति रूप से
(ते) संसार में व्यापक तेरा महान् सामर्थ्य (आपयि) पान किया जाता है
अर्थात् विद्वान्जन उसको अपने भीतर धारण करते हैं अथवा आप ही
उस महान् शक्ति के धारण करने हारे हो । (वृष्ण) समस्त सुखों और
शक्तियों के वर्पक (ते) तेरा (इन्दुः) ऐश्वर्य, विभूति और सामर्थ्य
(वाजी) बलवान् (सहस्रसातम) सहस्रों पदार्थों को देने हारा, (वृषा)
सब सुखों का वर्पक है ।

अध्यात्म पक्ष में—इन्दु=आत्मा, मत्सरः=आनन्दरस, इन्दुः=विभूति
सिद्धयोगी, वाजी=ज्ञानवान् । वृषा=ज्ञानवर्पक, सहस्रसातम—सहस्रों
उपदेशों का दाता, अथवा सहस्रों को सन्तोष, आशीर्वाद, एवं सुखसाधनों
का प्रदाता, इत्यादि ।

(२) हे (इन्द) परमेश्वर (ते) तेरा (मत्सरः) हर्षप्रद ज्ञान
और आनन्दरस (न) हमें (आगन्तु) प्राप्त हो । तू ही (वृषा) सुखों
का वर्पक, (मद्) आनन्द और वृत्तिकारक (घरेण्य) एकमात्र धरण
करने योग्य, प्रिय, (सहावान्) सब कष्टों का सहन करने हारा, बलवान्
या सहायसम्पन्न, (सानसि) सेवन योग्य, (वृत्तनापाद्) समस्त
प्रज्ञाओं का शासक और (अमर्त्यः) अविनाशी है ।

यहां योगी का साधक आत्मा के प्रति, भक्त का ईश्वर के प्रति, प्रजा-
गण का राजा के प्रति समानरूप से वचन ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप ही (शूरः) सबमें गति
देने हारे, (सनिता) समस्त पदार्थों के दाता होकर (मनुष्यः) मननशील
जीव के (रथ) इस रमण स्थान देह या समस्त विश्व को (चोदयः)
प्रेरित कर रहे हो । आप (दस्युम्) नाश करने हारे, दुष्ट (अप्रतम्)
नियम रहित, निकम्मे, नियम को न पालने हारे पुरुष को (सहायान्)
शक्तिशाली या सहायसम्पन्न होकर (शोचिषा) अपने तेज से (आप्)
पेसे ही तपाते हो जैसे (शोचिषा) आग्नि के ताप से हम लोग (पात्रं न)
हडिया को तपाया करते हैं ।

इति षष्ठः ।

इति षष्ठस्य द्वितीयोऽर्थः प्रपाठक । इति द्वादशोऽध्यायः ।



अथ अयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्थः ।



अधि.—१ कविर्मर्गिवः । २, ६, १६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ३ असितः
काश्यपो देवलो वा । ४ सुवक्षः । ५ विम्राट् सौर्यः । ६, ११ वसिष्ठः । ७ भर्गः
प्रागाथः १०, १७ विश्वामित्रः । १९ मेधातिथिः काण्वः । २२ शत वैश्वानसाः ।
१३ यजन आत्रेयः ॥ १४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १५ उशना । १८ हर्यतः
प्रागाथः । १९ बृहद्वि आथर्वणः । २० गृत्तमदः ॥ देवता—१, ३, १५ पद्मनाभः
सोमः । २, ४, ६, ७, १४, १६, २० इन्द्रः । ५ सूर्यः । ८ सरस्वान् सरस्वती ।
१० सविता । ११ ब्रह्मणस्पतिः । १२, १६, १७ अग्निः । १३ मित्रावरुणौ ।
१८ अग्निर्हवीषि वा ॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १०—१४, १७, १८
गायत्री । २० बृहती चरमस्य, अनुष्टुप् शेषः । ५ जगती । ६, ७ प्रागाथम् । १५,

■ ६ त्रिष्टुप् । ■ ६ वर्धमाना पूर्वस्व, गायत्री उत्तरयोः । १० अष्टि. पूर्वस्व, अष्टि-
शक्ती उत्तरयोः ॥ स्वर.—१, २, ४, ८, ६, १०—१४, १६—१८
यद्जः । २ मध्यमः, चरमस्य गान्धार. । २ निषाद. । ६, ७ मध्यम. । ११,
१६ धैवतः । २० मध्यम. पूर्वस्व, पञ्चम उत्तरयो. ॥

१ २ ■ २३ ■ २ ३ २ ३ १ २ २ ३
[१४३५] पवस्व घृष्टिमा सु नोऽगामूर्मि दिवस्परे ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३
अयदमा बृहर्तारिष ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
[१४३६] तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।

१ २ ३ १ २ ३ २
जन्या स उप ना गृहम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३७] घृतस्पवस्व धारया यक्षेपु देवघातमः ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३
अस्मभ्यं घृष्टिमापन्न ॥ ३ ॥

१ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३८] स न ऊर्जेत्याऽश्व्यय पविश्रं धाव धारया ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २
देवासः शृण्वन् हि कम ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३९] पवमानो असिष्यद्रक्षाभ्यपजद्धनत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रनयद्राच्यष्ट्य. ॥ ५ ॥ २ ॥ ५० ० । ४० । १-२ ॥

भा०—(१) हे पवमान सोम, सर्वश्रेष्ठ, सूर्य । (न.) हमारे
प्रति (सु) सुष्ठु, उत्तम रीति से (■) सूर्यो और जलों की कृष्टि
(शायवम्य) नय और से वर्षा करो । और (दिव) द्यौलोक और मृगशंखा
से (अया) यत्नों, प्रज्ञानों और कैमों को (ऊर्जिम्) जान पा ऊपर उठने
वाली परम्परा को (परि पवस्व) सव और से भेरेन कर । और (घृष्टां)
घुष्टिकारक, ननि अधिक (अयदमा) यदम अर्थात् चिपट जानेदार मृध्न रांग
कीटों में रहित (इय) ऊँचों और दृष्टदेव और विद्वानों की, उपाग सत्य
के जालक दुर्विचारा में रहित नन ■ सत्यमनाओं को भोरित करो ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर वा योगिन् ! (तथा) उस (धारया) धारा से वा धारया शक्ति से (पवस्व) प्रेरित कर (यया) जिससे (गाव) दीप्त-रश्मियाँ, कान्तियाँ एवं ज्ञानवाणियाँ (इह) इस हमारे अन्तःकरण, एवं गृह में (आगमन्) प्राप्त हों । और (नन्यास.) जन, मनुष्य एवं प्राणियों के हितकारक पदार्थ भी (न.) हमारे (गृहम्) देह और गेह को (उप) प्राप्त हों ।

(३) अपनी (धारया) धारया, पावन पोषण करने वाली शक्ति से (यज्ञेषु) नाना प्रकार के यज्ञों में (देववीतये) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर (अस्मभ्य) हमको (घृतं) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को (पवस्व) प्राप्त करा । और (अस्मभ्यं) हमें (वृष्टिं) अन्तः आनन्द-सुखों की वृष्टि को भी (आपव) प्रदान कर ।

(४) हे सोम ! (सः) वह तू (न.) हमारे (ऊर्जे) बल सम्पादन के निमित्त (धारया) धारया पोषण करने वाली शक्ति (अग्नये) सूर्य, प्राण, आत्मारूप (पवित्रं) पवन करने वाले वायु, अन्तःकरण वा धारया देश के प्रति (विधाव) विशेष रूप से गति कर । (देवास.) समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्त्व पदार्थ और इन्द्रिया (कम्) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को (शृण्वत्) श्रवण करते हैं ।

(५) (पचमान.) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरात्मा का ब्रह्मानन्द रस (असिध्यद्) जब द्रवित होता है तब (प्रत्नवत्) पूर्व के अपने पुरातन (रुच) कान्तियों को (रोचयन्) चमकाता हुआ (रक्षसि) समस्त पाप, कुवासना, दुःसंकल्पों को अनायास (अप जघनत्) दूर मार भगाता है ।

इस सूक्त में सूर्य, आत्मा, राजा, प्राण, शुक्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा द्वारा दृष्टान्त से वर्णित किया गया है । मधु, घृत आदि

शब्द वेद में ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—पय आहुति=ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय, अग्न्याहुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मंदाहुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नारायणी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । (शत० का० १२ । ५ । ६ । ३ । ८)

इत्यादि रूप से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रशंसा प्रकरण में 'मधु ह वा ऋचः ।' घृत ह सामानि 'अमृत यजूपि' यद् इवा अयं वाकोवाक्यमधीनो वीरोदन-मासोदनौ भवतः । (शत० का० ११ । ५ । ७ । ५)

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीपने विश्वानि त्रिदुपे भग ।

अरुहमाय जामयऽपश्चादध्वने नरः ॥ १ ॥

[१४४१] एमेतं प्रत्येतन सामेभिः सामपातमम् ।

अध्वनेभिर्कजीपिणमिन्द्र सुनेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यनी सुतेभिरिन्दुभिः सामेभिः प्रातिभूपथ ।

येदा विश्वस्य मधिरा धूपत्त तामदपते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा इन्द्रमोऽध्वर्यो प्रभग सुनम ।

कुतः तस्मै लन्यम्य शद्धताभमगन्नेरत्रम्वरन् ॥ ४ ॥

शत० ६ । २२ । १-४ ॥

भा०—(१) स्वात्मा देवो अवि० सं० [३५०] पृ० १८० ।

(२) हे विद्वान् पुण्यो ! (एन) इम (सामपातम) सामरम का पान करने द्वारा मैं मे मयमे अष्ट, ज्ञान के परम आगार, परमेश्वर का

१४४३—'इमिदन्नेरस्मन्तः' शनि ५० ।

(सोमेभि) ज्ञानों और ज्ञानियों द्वारा (आ प्रति एतन्) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । (अमग्नेभिः) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा (ऋजीपिणं) ऋजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, संतुष्टगतिकारी परमेश्वर को (सुतेभि) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित (इन्दुभिः) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनके उपदेश पाकर (प्रत्येतन्) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसको पहिचानो ।

(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (यदि) जब (सुतेभिः) सिद्ध, निष्पन्न (इन्दुभिः) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतिषों से युक्त (सोमेभिः) पूर्वोक्त सोमों द्वारा (इन्द्रं) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को (प्रतिभुपथ) अलंकृत करो तो वह (मेधिरः) मेधाबुद्धि से युक्त (धृपन्) सब पर वश करने हारा ईश्वर (विश्वस्य) सब कुछ (वेद) जान लेता है और (तं त) उस २ संकल्प को भी (एतन्) पूर्ण करता है ।

(४) हे (अन्धयो) यज्ञ करनेहारे विद्वद् ! (अस्मै अस्मै इत्) इस ही इन्द्र को लिये (अन्धसः) जीवन धारण करने हारे मृत्युतत्त्व के (सुतम्) निष्पादित आनन्द रस को (प्रभर) समर्पित कर । क्योंकि (ममस्य) समस्त (जेन्यस्य) वश करने योग्य (शर्धतः) ऊपर उठते हुए (अभिशस्तेः) अभिमानी, घातक काम क्रोधादि शत्रुरूप से (कुविद) यहुत बार (अवस्वरत्) बचा लेता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—०:—

३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१४४४] वभ्रवे नु स्वतवसे रुणाय दिविस्पृशे ।

१ २ ३ १ २
सोमाय गायमर्चन ॥ १ ॥

[१४४५] ^{१ १ ३ १ २ ३ १ २ २} हस्तच्युनेभिरद्रिभिः सुन सोम पुनीतन ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} मघागघावना मधु ॥ २ ॥

[१४४६] ^{१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} नमस्ते दुपसीदत दध्ने दमिर्थाणीतन ।

^{१ २ १ २} इन्दुमिन्द्रं दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अमित्रहा विचर्षणि पवस्व सोम शं गर्वे ।

^{३ १ २ ३ १} देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राय सोम पातवे मदाय परिपिच्यसे ।

^{३ १ २ ३ १} मनश्चिन्मनसरूपनिः ॥ ५ ॥

[१४४९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १} पवमान सुधीर्य रयि सोमं रिरीहि श ।

^{१ २ १ २ ३ १} इन्द्रविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ अ० ॥ ११ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (वज्रवे) सब का भरण पोषण करने हारे (स्वतवसे) दूसरे की बिना अपेक्षा किये, स्वयं बलशाली, (दिविस्पृशे) इस देह में मूर्धास्थान और ग्रहाण्ड में, महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक विष्णुगुण वाले लोकों और पदार्थों के भीतर विद्यमान, (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति, प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि की (गाधम्) वास्तविक सत्य गुण कथा का (अर्चत) वर्णन करो ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (हस्तच्युतेभिः) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, (अद्रिभिः) पर्वत एवं शिखारों के समान स्थिर, सदा-चारी, विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये (सोमं) ज्ञानराशि को (पुनीतन) बराबर उन्नत करो, उसका सम्पादन करो और यज्ञार्थों और उसको नि संशय करके पवित्र बनाओ । भीत (मघो) अत्यन्त आनन्द करने हारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस (मधु) परम-आत्मज्ञानरूप अमृत को (आधावत) प्राप्त करो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्त-
र्धामी, शक्तिमान् परमेश्वर एवं इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के (नमसा
इन्) नमस्कार, श्रद्धा, भक्ति द्वारा (उप सीदत) समीप पहुँचो, उसकी
उपासना करो । (दध्ना) ध्यान और धारणा-बल से (अभि धीर्यीतन)
साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य-
सम्पन्न सोमरूप जीव को (इन्द्रे) परमेश्वर में (दधातन) स्थापित करो ।
अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो ।

(४) हे (सोम) सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (अमित्रहा) द्वेष करने तथा
कोह न करने द्वारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने द्वारा, (विचर्यगिः)
विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-युक्त
पदार्थों, विद्वानों एवं इन्द्रिय शक्तियों के (अनुकामकृत्) कामनानुकूल कार्य
करने द्वारा होकर (गवे) ज्ञानशील आत्मा के लिये (श) कल्याण-सुख
को (पवस्व) प्रवाहित कर ।

(५) हे (सोम) सबके प्रेरक ! ज्ञान-आनन्द रस स्वरूप !
(इन्द्राय) अन्तरात्मा के (यातवे) पान करने और (मदाय) हर्षोत्पादन
के लिये (परिनिष्यसे) तू ही इस प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-
प्राप्त स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही
(मन. चित्) मननशील मन को भी जानने द्वारा एवं (मनसस्पतिः)
मन-स्वरूप आत्मा का परियालक है ।

(६) पचमान ! सर्वत्र प्रकाशमान, सर्वव्यापक, सबके प्रेरक
प्रकाशक ! सोम ! तू (नः) हमें (सुधीर्य) उत्तम सामर्थ्य युक्त
(रथि) प्राणबल (रिरीहि) प्रदान कर । और हे (इन्दो) योगीन् !
गुरो ! (इन्द्रेण) परमात्मा या आत्मारूप (युजा) सहायक से (नः
रिरीहि) हमें वह बल प्रदान करा ।

[१४५०] उद्धेदमिश्रुतामघ वृषभन्नर्यापसम् ।

अस्तारमेषि सूर्ये ॥ १ ॥

[१४५१] नव यां नवति पुरो विभेद बाहोजसा ।

अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥

[१४५२] स न इन्द्र शिवः सखाश्वावद्रोमघवमत् ।

उरुधारेण दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६३ । १-३ ॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो अविकल स० [१२५] पृ० ६० ।

(२-३) (य०) जो इन्द्र (बाहोजसा) बाहुओं, विज्जकारी बाधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से (नव नवति) १६ निन्यानवे (पुरः) पुरों, देहों या पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तपक वर्षों को (विभेद) तोड़ कातता है विनाश करता है और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार को नाश करने हारा वह आत्मा (अहिं) सर्व समान हृदय-मन्दिर में आ घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को (अवधीत्) विनाश करता है (सः) वह (इन्द्रः) धरी आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा (शिवः) कल्याणमय, (सखा) सब का मित्ररूप हमारे लिये (उरुधारा इव) दूध की बड़ी धार बहाने वाली कामधेनु के समान, (अश्ववत्) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और (गोमत्) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और (यवमत्) जव आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप से अन्धों, गौओं आदि सस्यादियुक्त पशुओं को (दोहते) प्रदान करता है ।

प्रति द्वितीयः खण्डः ।

[१४५३] विभ्राद् वृहत्पिवतु सोम्य मध्वायुर्दधत्पतावविहृतम् ।
 वातजूना यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपत्ति बहुधा
 विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राद् वृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मं दिवो धरुणे सत्य-
 मर्पितम् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जक्षे
 असुरहा सपत्नहा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं धेष्टुं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिह्वनजिह्वयते
 वृहत् । विश्वभ्राद् आज्ञां महि सूर्यो दृश उरु पमथे सह
 आज्ञो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ॥ अ० १० । १७० । १-३ ॥

भा०—(१) सूर्य दृष्टान्त से ईश्वर, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । (विभ्राद्) विशेष रूप से चमकने वाला, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी (यज्ञपतौ) समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पन्न और प्रलयरूप दान-आदानमय यज्ञ के स्वामी परमात्मा और प्राणापानाहुतिसय यज्ञ के स्वामी आत्मा में (अविहृतम्) सरल, शुद्ध एवं नित्य जागृत, नित्य चेतन, अमर (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता हुआ (वृहत्) बड़े भारी (सोम्य) सोम स्वरूप, प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त (मधु) अमृत ब्रह्मानन्द रस का (पिवतु) पान करे । (य-) जो (वातजूतः) प्राणवायु द्वारा प्रेरित प्रथम (त्मना) स्वयं अपने आप को (अभिरक्षति) रक्षा करता और निरपेक्ष होकर (प्रजा) अपनी इन्द्रियों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और (वि राजति) विशिष्ट रूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (विश्राद्) विशेष रूप से तेज से प्रकाशमान (बृहत्) विशाल, बड़ा भारी (सुभृतं) उत्तम रूप से (पालित) पोषित एवं धारित, (वाजसातमं) ज्ञान और बल प्रदान करने वालों में उत्तम है, (धर्म) धारण करने द्वारा साक्षात् आनन्द का प्रवर्पक आत्मरूप (दिव) समस्त सूर्य एवं सौलोक और विद्वानों के (धरुषे) आश्रय स्वरूप धारण करने वाले परम आश्रय परब्रह्म में (अर्पितम्) प्रतिष्ठापित, (सत्यं) सत्य-स्वरूप, (अमित्रहा) विपरीत जाने वाले शत्रुरूप काम क्रोधादि अन्तःशत्रु और बहिःशत्रुओं का भी नाश करने द्वारा, (वृत्रहा) आत्मा के आवरण अज्ञान और योगसमाधि के विघातक अभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्युत्थान वृत्तियों का नाशक, (हस्यहन्तमं) शरीर आत्मा के उत्तम सम्पदाओं का विनाशक कारकों का नाश करने द्वारा, (असुरहा) पापों में रमण करने वाले आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों को वश करने द्वारा (सप्तानहा) प्रतिस्पर्द्धियों का विनाशक (ज्योतिः) तेज-स्वरूप अर्थात् तेज का धारण करने द्वारा आदित्य के समान सूर्यव्रतचारी आदित्य योगी (जज्ञे) उत्पन्न होता है ।

(३) वह आदित्ययोगी (इद) वह (भेष्टं) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) तेज (ज्योतिषा) समस्त प्रकाशमान पदार्थों में (उत्तम) उत्कृष्ट कोटि का, (विश्वजित्) विजेता, (धनजित्) सब विभूतियों से भी उत्तम (बृहत्) विशाल (उच्यते) कहा जाता है । वह (विश्वभ्राद्) समस्त संसार का प्रकाशक (आनः) सब पापों और पापी पुरुषों का सताप देने द्वारा, स्वयम्प्रकाश, (महि) बड़ा भारी (सूर्य) सूर्य के समान सब का प्रेरक सब को प्रकाश देने द्वारा होकर (अच्युत) अभिनाशी (सह) सहनशील, सब के अभिभावक तेज, (ओजः) और बल को (उरु) बहुत अधिक (पप्रथे) विस्तीर्ण होता फैलाता है ।

[१४५६] इन्द्र ऋतुञ्ज अ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

शिक्षा यो अस्मिन् पुरुषे न यामनि जायते ज्योतिरशीमदि ॥

२ ■ १ २ ३ १ १ ३ २ १ २ ३ १ २
[१४५७] मा नो अज्ञाना वृजना दुराध्यो मा शिवासोऽवक्रमु ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वया वय प्रवत शश्वतीरगार्जत शूर तरामसि ॥२॥६॥

अ० ७ । ३२ । २६-२७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्ररूप योगिन्, आद्रित्य ! अथवा परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) अपने पुत्रों के लिये (पिता) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ लाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी (नः) हमें (अस्तु) ज्ञान, बल और कर्म को (आ हर) उपदेश करके प्राप्त कराइये और (अस्मिन्) इस जीवनमय ऋतुरूप यज्ञ में (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमात्मन् । (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगाण (चामनि) तेरी सिखाई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर (ज्योतिः) जीवन प्राण और ज्ञानमय ज्योति का (अशीमहि) भाग करें देखो अधिकृत सं० [२५६] भी ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर । हे गुरो ! (अज्ञानाः) बिना जाने पहिचाने, लुके छिपे चोर (वृजनाः) पापी, (दुराध्य) दुष्ट, कूट, पट्ट-यन्त्र करने हारे, कुटिलाचारी (अशिवासः) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव (नः) हमें (मा अवक्रमु) कभी न दबा सकें । हे (शूर) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बलवन् प्रभो ! (त्वया) तुम्हें सहायक को पाकर (वयं) हमें (प्रवतः) अति विनयशील होकर भी (शश्वतीः) बहुत से (अपः) कार्यों को (अतितरामसि) निर्विघ्न समाप्त करें ।

३ २ ३ ■ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४५८] अद्याद्या श्वः श्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

विश्वो च नो जरितुन्तसत्पत अहा दिवा नक्त च राक्षिषः ॥१॥

३ १२ २२ ■ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ■
 [१४५६] प्र भङ्गी शूरां मघवा तुवीमघः समिधो वीर्याय कम् ।

३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
 उभा तं बाहू वृषणा शतक्रतां नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥७॥
 अ० ८ । ६१ । १७, १८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (नः) हमें (अथ अथ) सय आल अर्थात् वर्तमान में और (य यः) सय कल अर्थात् आगामी दिनों में (परे च) सय परसों दिनों में (आस्य) रक्षा कर । हे (सत्पते) सञ्जन प्रतिपालक प्रभो ! आप ही (विश्वा च अहा) सभी दिनों और (दिवा नक्तं च) दिन और रात भी हमारी (रक्षिषः) रक्षा किया करते हों ।

(१) (मघवा) समस्त यज्ञों का मालिक (तुवीमघः) ऐश्वर्यवान् (समिधः) सय को मिला देने हारा, सयमें समान भावसे स्थापक, (प्रभागी) सवे वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, पर-
 मेश्वर विक्रमशील होने से ही (वीर्याय कम्) बल वर्धन करने के लिये समर्थ होता है । हे (शतक्रतो) सैंकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त (ते) तैरी (उभा बाहू) धीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान विज्ञाओं को वर्धन वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तियाँ (वृषणा) जाना सुन्ने की योग्यता है (या) जो (वज्रं) यज्ञ को (मिमिक्षतुः) धारण करती हैं ।

परमात्मा के पक्ष में बाहू=ज्ञान और कर्म, वज्र=कर्म, अथ अथ को काटने वाली विद्यारूप असि । जीव के पक्ष में—बाहू=ज्ञान और अपान । वज्र=ज्ञानासि या चित्तिशक्ति या वैराग्य । राजा के पक्ष में वज्र=मन्त्रधार, शस्त्रास्त्र ।

इति तृतीयः खण्डः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
 [१४६०] जनीयन्तोन्वप्रचः पुत्रीयन्त मुदानयः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 सरस्वन्तं द्यामहे ॥ १ ॥ ८ ॥ अ० ८ । ६६ । ४ ॥

भा०—(१) [जनीयन्त) पुत्रोत्पादन ■ निमित्त भार्याओं की कामना करते हुए और (पुत्रीयन्तः] उनमें पुत्रों की कामना करने हारे होकर भी (अग्रव.) उच्चतिशक्ति और (सुदानव.) उत्तम दानी होकर हम लोग (सरस्वन्तं) समस्त आनन्दरस के सागररूप शुक्ल परमात्मा को (हवामहे) नित्य स्मरण करते हैं ।

[१४६१] उत न० प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा ।

सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६१ । १० ॥

भा०—(■) (उत) और (न० प्रियासु) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में (प्रिया) सबसे अधिक प्रिय (सरस्वती) स्वतः सरण करने वाली अथवा ब्रह्मानन्द रस से पूरी (सप्त-स्वसा) २ आँख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात रक्त-सरण करने वाली सात ज्ञान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं जगती के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (न०) हमारी (स्तोम्या) स्तुति करने योग्य (अभूत्) है । अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दांसि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने वाली है ।

[१४६२] तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ अ० ३ । ६२ । १० ॥

[१४६३] सोमानां स्वर्णं कुरुहि ॥ २ ॥ अ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] अग्न आयूपि पवसे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६ । ६६ । १६ ॥

भा०—यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है । (तत्) उस (सविनुः) सर्व ब्रह्म के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वतः प्रकाशमान, सब के प्रकाशक सवसुरों के दाता परमेश्वर के

१४६३—कचिच्च पुस्तकेषु द्वितीयतृतीययोः पूर्णं पाठो दृश्यते । वहीषु सहितासु प्रतीकमात्रमुपलभ्यते इति तदेवात्राप्युद्दिश्यते शिष्टाचारात् ।

(वरेण्य) सर्वोत्कृष्ट, चरण करने योग्य अनुपम, (भर्ग) अधिष्ठा, अज्ञान, काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अज्ञान से पैदा होने वाले तामस अङ्गुओं को अग्नि और सूर्य के प्रखर तेज से समान भस्म कर डालने वाले तेज का हम (भीमहि) ध्यान करें, धारण करें (यः) जो परमेश्वर (न) हमारी (धिया) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों को (प्रचोदयात्) उत्तम सन्मार्ग में प्रेरित करता है ।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करने योग्य व्याख्या इस प्रकार की है ।

“वेदाश्छन्दासि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽसमाहुः ।

कर्मणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति ॥”

इस उत्पादक परमात्म देव का परम चरणीय भर्गरूप तेज 'वेद' 'छन्द' है जिसको कवि विद्वान् लोग 'अस्य' कहते हैं । और 'धिय' का तात्पर्य 'कर्म' है, हे शिष्य ! यही मैं, तुम्हको उपदेश करता हूँ कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबको प्रेरित करता है । #

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३६] पृ० ७६ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल [६१७] पृ० ३१६ ।

१ भीमहि ध्यायाम. धारयेम इति सायणः । आद्य रूप ध्यायते: परच
टिवाडेर्धीह आधार इत्यस्य शेषम् ।

२ हम गायत्री मन्त्र का का प० इत्यु० जोन्स का किया निम्नलिखित
अनुवाद बड़े महत्व का है—

“हम (तत्) हम (देवस्य सवितुः) देव सविता परमात्मा के (भर्ग) उत्तम तेज की (भीमहि) उपामना करते [जो (यः) सब को प्रकाशित करना है, जो (सविता) सब को उत्पन्न करता है और जिससे सब उत्पन्न होते हैं, और जिसमें (भर्ग.) सब लीन होता है, उन्ही को हम (न. धियः) अपनी बुद्धियों को (वरेण्य) परमपद के प्राप्त करने के लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करने की प्रार्थना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ -
[१४६५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य० ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २२
[१४६६] ऋतमृतेन सपन्तेपिरन्दक्षमाशाते ।

३ १ ३ १ २
अद्भुतां देवौ वर्द्धते ॥ २ ॥

३ १ २ २६ २२ ॥ २४ ३ १ २
[१४६७] वृष्टिधावा रीत्यापषस्पती दानुमत्याः ।

१ ३ ३ १ २
वृहन्तं गर्तमाशाते ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११४३] पृ० २६७ ।

(२) राजा मन्त्री, जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणायाम, सूर्यवायु, यज्ञमान, अश्वर्य, सूर्य, पृथिवी, गुरु शिष्य आदि का वर्णन है । वे दोनों मित्र और वरुण (अद्भुत) परस्पर मोह न करते हुए (देवौ) प्रकाशमान ज्ञान से स्वयं प्रकाशित होने, एवं दूसरे को भी प्रकाशित करने हारें, या परस्पर एक दूसरे के आकाशी (ऋतं) सत्यज्ञान को (ऋतेन) वेद ज्ञान से (सपन्ता) प्राप्त करते हुए (इषिरं) सत्यके प्रेरक (वृष्टं) बल को (आशाते) प्राप्त कर लेते हैं । अध्यात्म पक्ष में—
“ (आत्मा) सत्य ज्ञान को (ऋतेन) ब्रह्म से... ” प्राणायाम पक्ष में—
(ऋतं) आत्मा को (ऋतेन) तप से इत्यादि पूर्ववत् ।

(३) वे मित्र और वरुण (वृष्टिधावा) वर्णन और प्रकाश से युक्त (रीत्यापा) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट को प्राप्त करने हारे अथवा जलों के समान कर्म और ज्ञानों को बढ़ाने हारे (दानुमत्याः) दान देने योग्य (इष.) चेतनादायक अन्न के (पती) स्वामी होकर (वृहन्तं) विशाल (गर्तम्) उत्तम देहरूप या ब्रह्माण्ड रथ में (आशाते) व्याप्त रहते हैं । राजा, मन्त्री पक्ष में (गर्ते) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

१४६६—रथोऽपि गर्तं उच्यते गृह्यतेः स्तुतिकर्मणः स्तुततम यानम् (नि० ३।१५)

३ १ २ ■ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१४६८] युञ्जन्ति ब्रह्ममरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।

■ २ ३ २ ३ २
 रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥

■ १ २ ■ ■ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।

१ २ ३ २ ३ १ ■
 शोणा धृष्ण नृवाहसा ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१४७०] केतुं कृश्वक्षकतवे पेशो मर्या अपेशसे ।

२ ३ १ २
 समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० २ । ६ । १-२ ॥

भा०—(■) जो विद्वान् साधक योगी लोग (तस्थुषः) स्थिर आसन होकर (परिचरन्तं) समस्त देह में गति करने हारे, (अरुषं) सब मर्मस्थानों में विराजमान, उनका नाश न करने हारे (ब्रह्मं) विशाल, सब इन्द्रियगण को अपने बल से बाधने और उनको चकाने हारे मुख्य प्राण को (युञ्जन्ति) योगाभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे (रोचना.) कान्तिसम्पन्न होकर (दिवि) सात्विक ऊर्ध्व स्थान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में (रोचन्ते) विराजने और शोभा पाते हैं या (दिवि) सूर्यस्थान में विशेष तेज से प्रकाशमान होते हैं । अथवा—जो विद्वान् योगी (तस्थुषः, परिचरन्तं) समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों में व्यापक (अरुषं) सब के प्रति जेहवान् (ब्रह्मं) सर्वाग्रय, सबसे महान्, ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को (युञ्जन्ति) योग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्थान में (रोचना) तेजोमय होकर (रोचन्ते) विराजमान होते हैं ।

अथवा, जो शिल्पाविद्या की सिद्धि के लिये (ब्रह्मं) सूर्य को, (अरुषं) अग्नि को, (चरन्तं) वायु को सम्यक् रीति से कार्य में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं ।

महर्षि दयानन्द प्रदर्शित, दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं ।

(२) (अस्य) जिसको पूर्ण मन्त्र में 'अध्व' कहा है जो सूर्य आदि शब्दों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा-रूप इन्द्र के (रथे^१) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में (काम्या) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रुचिकर, प्रिय, (हरी) हरणशील (विपक्षसा^२) माना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पार्श्वों में गति करने हारे (शोणा) स्वतः गतिशील, (दृष्टु) शरीर को धारण करने हारे, दृढ़, (नृबाहसा) नेतास्वरूप आत्मा के वाहनरूप प्राण और अपान दोनों को जो योगाभ्यास द्वारा (युज्जन्ति) लगाते-हैं, बश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त होते हैं । सूर्यपक्ष में—(हरी) हरणशील आकर्षण और वेगगुण । रात्रि पक्ष में—(रथे) युद्धोपकरण रथ । परमात्मापक्ष में—(हरी) सूर्य और वायु । सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्वव्यापक इष्टदेव के प्रधान-यहमय विशाल रथ की कल्पना की है । जिसमें जगन्नाथ का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं ।

(३) (मर्याः) मनुष्य लोगो ! मरणाशील मनुष्यो ! या जन्तुगण ! जिस प्रकार (उपनिः) अपनी दाहक शक्तियों (अकेतवे) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये (केतुं) प्रातः चेतना करता हुआ और (अपेशसे) अरूप अर्थात् प्रकाश अभाव में अदृश्य पदार्थों को (पेशः) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करवा हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी (अकेतवे) ज्ञान रहित इस देहादि संघात के निमित्त (केतुं) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और (अपेशसे) रूप रहित अपने लिये (पेश)

१. रथो रहतेर्वागति कर्मणः, स्थितेर्वा, स्थादिप्रीतस्य, रममाणोऽस्मि-

स्तिष्ठति इति रथेर्वा रथेर्वा । (निरु० ॥ ११)

२. विपक्षसा—पक्ष परिग्रहे (स्वादिः)

इस देह को रूपवान् (कृश्वन्) करता हुआ (समुपनि.) संताप देने
हारे कर्म विपाकों द्वारा पुनः (अजायया) उत्पन्न होता है । अथवा—हे
जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चेतन और अरूप अपने आपको सरूप करता
हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है ।

इति चतुर्थः सूक्तः ।

३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७१] अयं सोम इन्द्रं तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व ह यं चकृषे त्व ववृष इन्द्रं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४७२] स ई रथा न सुंरिषादयोजि महः पुरुणि सातये वसुनि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आदी विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्व नवन्तः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४७३] शुभी शर्धो न मारुनं पवस्थानभिस्तदिव्या यथा

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्रिद् । आपो न मक्षु सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतना-

पाद् न यक्ष ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६ । ८८ । १, २, ७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (सोम.) यह

सोम, शमादि सम्पन्न योगी (तुभ्य) तेरे लिये (सुन्वे) साधना करके
निष्पन्न होता है । (तुभ्य पवते) तेरी प्राप्ति के लिये चत्न करता है ।

(यं) जिसका (चकृषे) बनाता है और (त्व ववृषे) तू ही,
सामर्थ्य देता है या वरण करता है उस (इन्द्रम्) देवार्थ और तप से युक्त

(सोमम्) शमदमादि साधन सम्पत्ति से युक्त पुरुष को (मदाय) आ-

नन्दप्राप्ति, मोचलाम और । युज्याय) अपने सग रखने अर्थात् मदासाधा-

त्कार के लिये (त्व) तू (पाहि) उसको विपत्तियों से बचाता है ।

१४७२—पृतनापाणन मयः इति अ० ।

नायमात्मा प्रवचनेन क्षम्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेधैव वृणुते तेन क्षम्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

(कठोपनि० १ । १२ । २२)

(२) (स.) वह सोमरूप योगी (वसूनि) इस में वास करने हारे (पुरुषि) इन्द्रियों को (रथ, न) स्थिर, स्थायु के समान (भूरिपाद्) अति अधिक सहनशील होकर (महः सातमे) तेज को प्राप्त करने के लिये (अयोजि) योग साधन में लग जाता है । (आत् ईम्) और अनन्तर (बने) अभिक्षापा के योग्य (स्वर्पातौ) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में (नहुष्याणि) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य (विश्वा) समस्त (ऊर्ध्वा) उत्कृष्ट (जाता) पदार्थ आपसे आप उसको (नवन्त) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा-(■ भूरिपाद् मह पुरुषि वसूनि सातमे रथ ■ अयोजि) जब वह अति सहनशील विशाल आत्मा वाला योगी बहुत विभूति, शक्ति, सिद्धि की प्राप्ति के लिये सग्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । (आत् ई विश्वा नहुष्याणि ऊर्ध्वा जाता नवन्त) सब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वतः उसके आगे आ सकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । (छान्दोग्य उप० अ० ८ । सू० १३)

(३) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप (मास्तं) प्राणों के (शर्धे न) प्राणयत्न के समान (पवस्व) इस देह को गति देते और (यथा) जिस प्रकार (दिव्या) दिव्यगुण युक्त (विद्) प्रजारूप प्राणोन्द्रिय गण (अनभिशास्ता) अनिन्दित और अखण्डित है उसी प्रकार आप भी अखण्डित और अनिन्दित हैं । आप (आपः न) जलों के समान (मयू) गीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अतः आप (सहस्राप्साः) अनेकों रूप होकर (पृतनापाद् न) युद्ध

विजयी सेनापति के समान [१४] देहरूप चेदी में होने वाले यज्ञ में
यजमानस्वरूप (यज्ञ) आत्मा होकर आप (नः) हमारे क्षियं (सुमतिः)
शुभ संकल्प युक्त (भव) रहो ।

[१४७४] त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वपां हितः ।

देवभिर्मनुष्यैर्जने ॥ १ ॥

[१४७५] स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।

आ देवान्येक्षि यक्षि च ॥ २ ॥

[१४७६] नेत्यां हि धेया अध्वनः पथश्च देनां जसा ।

अग्ने यक्षेपु सुकनो ॥ ३ ॥ १४ ॥ ६ । १६ । १-१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२] पृ० २ ।

(२) हे परमेश्वर ! आत्मन् ! (सः) वह आप (मन्द्राभि.) स्तुति
के योग्य, हर्षजनक, उपादेश, प्रशंसनीय (जिह्वाभि.) जिह्वाओं, वाग्वियों
से या आदान-प्रतिदान करनेहारी इन्द्रियों एवं पञ्चभूतमय शक्तियों में
(नः) महान् होकर (अध्वरे) हिसारहित ध्वरदार एवं एक दूसरे की
सत्तानाश न करनेहारी ध्वनस्था में (यज्ञ) इस प्रकाश में समस्त पदार्थों
को सगत करते और परस्पर मिलाते हो । और (देवान्) पञ्चभूतों वि-
द्वानों और इन्द्रियगणों को (आयाहि) आप अपनी गरण में लेकर रहते

१. यज्ञ इति आत्मना गृह्णो भूतानामपेक्षेपु परिहितः. '५९ आत्मा यज्ञः

यज्ञ नन्वपे' (नि० परि० अ० २ । ११ ।

१४७६—१ जिह्वाभिर्वाणाभिरिति सप्तः । वाग्व्यान्विमिरादि कर्त्तृत्वानि ।

इती कर्माणि । मनोज्ञा च सुपेक्षिता । च सुधनानि । सुपेक्षितानि

विश्वकौटिल्ये अथ जिह्वा. अक्षेकानिभ्यु प्रसज्ज. [अक्षेकानिभ्यु प्रसज्ज]

तादाभ्याम् विभेदः इन्द्रियशक्तियों वृत्तते भवति ।

■ मार्ग में लेजाते और (यच्चि च) संगत करते तथा उनको उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं ।

(३) हे (अग्ने) विद्वन् ! और परमात्मन् ! हे (सुक्रनो) शुभज्ञान और जगत्-रचन आदि नामा कर्मों के सम्पन्न ! हे (देव) प्रकाशक ! हे (वेध-) समस्त संसार के विधाता ! आप (यज्ञेषु) समस्त प्रकार के यज्ञों और आत्माओं (अश्विनः) समस्त बड़े मार्गों और (पथ-) जघु मार्गों को (अवजसा), उत्तम रीति से (वेत्स्य) जानने हारे हो, हमें भी उनका ज्ञान कराओ ।

१ २ ३ १४ ३१ ३ १ २
[१४७७] होना देवा अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।

३ १ २ ३ १ २
विदधानि प्रचोदयन् ॥ १ ॥

३ १४ २४ ३ १ ३ १ २
[१४७८] वाजी वाजेषु धीयतेऽश्वरेषु प्रणायते ।

१ २ ३ २ ३ १ २
विप्रो यज्ञस्य साधन ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४७९] मिया अक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे ।

१ २ ३ २ ३ १ २

दक्षस्य पितरं तना ॥ ३ ॥ १५ ॥ ख० ३ । २७ । ७-१ ॥

भा०—(१) (अमर्त्यः) मरणरहित, अमर (देव-) सवका प्रकाशक परमात्मा (विदधानि) ज्ञान करने योग्य उत्तम कर्मों और आत्म-तरवों को (प्रचोदयन्) हृदय में प्रेरित करता हुआ (मायया) विशेष ज्ञानशक्ति या बुद्धि से (पुरस्तात्) साक्षात् (एति) प्रत्यक्ष होता है ।

(२) (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष (वाजेषु) बल के कार्यों में (धीयते) नियुक्त किया जाता है और उसी प्रकार का ज्ञानवान्

१. विदधानि वेदितव्यानि-इति सायणः ।

२. मायया, कर्मविषयाभिज्ञात्तन इति सायणः ।

बलशाली पुरुष (अश्वरेषु) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में (प्रणीयते) विशेष रूप में नियुक्त किया जाता है, क्योंकि (यज्ञस्य) दान, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि संस्कारों को (साधन.) साधन करने द्वारा (विप्र.) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

(३) पूर्व मन्त्र में विप्र, धनी आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही (धिया) अपने भारण क्षमशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण (धरेण.) सबसे धरण करने योग्य, सबसे भेद होकर (चक्रे) काम कर । वही (मूलाना) सब पदार्थों और प्राणियों को (गर्भे) अपने वश में (आदध.) धारण करता है । और उसको (दक्षस्य) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की (तना) उत्पादित प्रजा, उस (पितर) अपने पालक को पिता के समान (आवधे) धारण करती जानती और मानती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८०] आ सुते लिञ्चन श्रियं रोदस्योरभिधियम् ।

३ १ २ ३ २ ॥
इति वर्धात वृषभम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८१] जानत स्वमोक्याऽऽसं वत्सासो न मातृभिः ।

३ १ २ ३ १ २
मिथो न सन्त जामिभिः ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८२] उप अकेषु वप्सनः कुश्वते धरुषं दिधि ।

१ २ ३ १ २ ३ १
इन्द्रे अग्ना नमः स्व ॥ ३ ॥ ऐदा अ० ५ ॥ ७० । १३-१५ ॥

भा०—(१) (सुते) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान (रोदस्यो.)

मा बाप के (अभि) आश्रित (श्रियं) सम्पत् साधनों को (आसिञ्चत) प्राप्त कराओ और (रसा) रसमय सारिष्ठ पदार्थों में जिस प्रकार अभि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस (वृषभं) सुखों के वर्णक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही (आदधीत) नियुक्त करो । अध्यात्म पक्ष में—(रोदस्योरभिश्रियं सुते आसिञ्चत) प्राण और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और (वृषभं रसा आदधीत) अभिस्वरूप आत्मा को आनन्द रस में प्राप्त कराओ ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है (सुत श्रियं आसिञ्चत) गौ के दुग्ध में वह बकरी का गरम दूध डालो जो (रोदस्योरभिश्रियम्) दूध उफान सारहा हो और फिर मिले दूध में आच हो । आश्रये ।

(१) (वत्सामः) जिस प्रकार बछड़े (जामिभिः) अपनी २ पैदा करने वाली (मातृभिः) माताओं से (मिथः) परस्पर (नसन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से सदैव मिले रहते हैं और (एवं) अपने (ओक्व) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को (सं जानते) भली प्रकार जान लेते हैं और उनके साथ ही मिल जाते हैं । अध्यात्म में—(ते) वे प्राण प्रमातृरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बछड़े अपनी उत्पादक माताओं से । और उन इन्द्रियों को वे दृढ़ों प्राण अपने स्थान के नित्यवासी जान कर उनसे एक हो रहते हैं ।

(२) (लकेषु) सर्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में (वप्सतः) भक्ष्य करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अभिरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष (दिविः) ज्ञान-प्रकाश में सूर्य के समान (धरुण) उसको धारक बल या आश्रय रूप से (उप कृण्वते) स्वीकार करते हैं । उस (अभि) अभिस्वरूप, पाप दहन करने

हारे, ज्ञानवान् परमेश्वर (इन्द्रे) इन्द्ररूप आत्मा में भी (नम) बल और (स्व) सुख और आनन्दरूप से (उप कृण्वते) उपासना करते हैं।

सामाजिक पक्ष में—(सकेषु) आमोद प्रमोद स्थलों में विहार करते हुए उस नवयुवक रूप अग्नि को विद्वान् उच्च प्रतिष्ठा देते हैं और तभी पालन पोषण भार को अपने में धारण करके बल और पारिवारिक सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिवार उत्तम वर्णन किया गया है।

[१४८३] नदिदास भुवनेषु ज्येष्ठ यमो जह उग्रस्त्वेषनृम्या ।
 सद्य जज्ञानो निरिणाति शत्रून् नृवं विश्वे मरन्त्यूमा ॥ १ ॥
 [१४८४] वायुधानः शयसा भूर्योजाः शशुर्दासाय मियस वधाति ।
 अयनश्च व्यनश्च सस्त्रि स ते नवन्त प्रधुना मदेपु ॥ २ ॥
 [१४८५] त्वे कनुमपि वृजान्ति विश्वे द्विर्देते त्रिर्मत्रभ्यूमाः ।
 स्वादाः स्वादीयः स्वादुना सृजा समद सुमधु मधुना
 भियोधीः ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० १० । १२ । ४, २ ॥

भा०—(१) (तत्) वह परम आत्मा (इत्) ही (भुवनेषु) इन समस्त लोकों में (ज्येष्ठ) सब से अधिक प्रशस्त, उत्कृष्ट, धर्मेनीय (यतः) जिससे (त्वेषनृम्या) कान्ति दीप्ति से युक्त बलशाली (उग्रः) तेजस्वी, विशाल शक्तिशाली और उसके समान तेजस्वी पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (सद्य जज्ञानः) उत्पन्न होकर ही वह (शत्रून्) शत्रुओं और पापों (निरिणाति) दूर करता है (वं मधु) जिसको देकर (विश्वे) समस्त (कमा) जीव प्राणाय (मरन्ति) हरिण होते हैं।

(२) वह परमात्मा (शिवसा) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विक्रमशील, प्रतापी होकर (शत्रु-) शिष्टों का शासन करनेहारा (दासीय) विनाश करनेहारे पापी जन के लिये (मित्यसं) भीति, डर (दधाति) उत्पन्न करता है और (अन्यनत्) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और (न्यनत् च) चेतन प्राणी जो माना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को (सन्ति) पवित्र करता है, निहत्ताता है अर्थात् उनमें भी स्वतः माना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है । हे इन्द्र ! (ते) वे सब (प्रभृताः) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पालन पोषण किये गए स्थावर और जंगम सब पदार्थ (मंदंशु) हृष्य में मग्न होकर (ते) तेरे आगे (नवन्त) झुकते और तेरी महिमा गाते हैं ।

(३) (स्वे) तुम्हें (अपि) ही (विश्वे एते जनाः) समस्त ये भूत, प्राणीगण (यद्) जब (द्विः) एक से दो और (त्रिः) दो से तीस होजाते हैं तब भी वे (ऋतुं) अपने उत्तम प्रज्ञान को (घृन्जन्ति) तुम्ह पर ही व्यय कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों में चित्त और सब यज्ञ ऋतु तुम्ह पर ही समाप्त होजाते हैं । हे इन्द्र ! (स्वादो.) आनन्द देने वाले प्रिय धनादि से भी (स्वादीयः) बहुत अधिक आनन्ददायक, प्रिय पदार्थ, पुत्र आदि को (स्वादुना) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी प्रति पति के द्वारा (सज्ज, उत्पन्न च । और (अदः) (मधु) अति आनन्ददायी सन्तान को भी (सुसुधुना) उत्तम प्रिय पदार्थ पुत्रवधू एवं पौत्र आदि से (अभियोधीः) आनन्द प्रसन्न कर । जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है “स्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनासि ऋत-
घोऽपि घृन्जन्ति ।” तुम्ह में ही समस्त भूत, सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं । पुरुष ही स्त्रीरूप से रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा भाग होजाती है । श्रुति भी है “अधो वा एष यत् पत्नीति” (शत०) और पुत्र भी वन पुरुष का ही तीसरा रूप

है जैसे वेद में—“आत्मा वै पुत्रनामासि” (शत०) दो से तीन होजाने हैं जैसे—“द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या” । “पुत्रां ह स्वादु” पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे—“मिथुन वै स्वादु, प्रजा. स्वादु” इत्यादि (शत०) । अभ्यात्म पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभोग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः तद्विज्ञानन्दरस को स्वादुना=प्रिय रूप आत्मा से (सं सृज) सगत कर । (अदः सुमधु) अति मधुर इस अमृत आत्मा को (मधुना) उस परम अमृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या मोक्ष से मिला, आनन्वित कर ।

[१४८६] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ २२ ३} त्रिकटुकेषु महिषा यवाशिरं तुविशुष्मरतृपत्साममपिव-

^{१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २} द्विष्णुना सुनं यथावशम् । स ई ममाह महिकर्म कर्त्तव्ये

^{३ १ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २} महामुरु सैनं सश्वदेवो देवं सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥ १ ॥

[१४८७] ^{३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २} साक जातः क्रतुना साकमाजसा घवाक्षिथ साकं वृद्धा

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} घायः सासहिमृधा विचर्षणि । दाता राघः स्तुघनं काम्य

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वसु प्रचेतन सैनं सश्वदेवा देवं सत्य इन्दुः सत्य-

^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} मिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] ^{२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अध त्विषीमां अभ्योजमा कृवि युधामन्युदा रोदसी अ-

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} पृणदस्य मज्मना प्रवावृधे । अधत्तान्य जठरं प्रमरि

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ज्यत प्रचेतय सैनं सश्वदेवा देवं सत्य इन्द्रः सत्यमिन्द्रम्

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} ॥ ३ ॥ २० ॥

भा०—(॥) व्याख्या देखो अवि० सं० [४५७] पृ० २२८।

४८७—‘यथावशम्’ इति ५० ।

४८८—कृवि इति । तिसृषु ऋषि “सत्यमिन्द्र सत्यमिन्द्रः” इति विपर्यस्तः ५० ।

(२) हे इन्द्र ! हे (प्रचेतन) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! (ऋतुना) वेदमय ज्ञान के (साकं) साथ (जातः) वर्तमान रह कर आप (ओजसा) अपने बल से (ववासीथ) इस प्रह्लाण्डमय जगत् का वहन करते हो, इसको धारण करते हो । अत एव (वीर्यैः) नाना प्रकार की शक्तियों के (साक) साथ (बुद्धः) समस्त संसार में व्यापक, महान् (मृध०) सब शत्रुओं को (सामहिः) वश करने हारे, (विचर्याणिः) सब संसार के द्रष्टा (स्तुवते) स्तुति करने हारे भक्तजन के कामना करने योग्य (वसु) धन के (दाता) देने हारे हैं । (स०) वह (देवः) प्रकाशरूप (सत्य०) सत्यस्वरूप (इन्द्रुः) जीवात्मा, योगी, । सत्यं) सत्यस्वरूप (देवं) सर्वप्रकाशक (एनं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (सश्वत्) प्राप्त करे ।

(३) (अध) इन प्रकार के ब्रह्मदर्शन के अनन्तर (क्षिपीमान्) काम्तिमान् इन्द्र (ओजसा) बल से, (क्रिविम्) जीव के अन्तर्गत पाँचों अक्षमय आदि कोशों को (युधा) विनाशक प्रयत्न से (अभि अभवत्) ताक देता है । (रोदसी) द्यौ और पृथिवी और प्राण और अपान दोनों को (अपृण्यद्) व्याप्त करता है । तब (अस्य मदमना) इसके ही बल से (प्रवावृधे) वह जीव भी शक्तिशाली, और महान् हो जाता है । वह प्रभु (अभ्य) जीव को अपने (जठरे) गर्भ में, शरण में (अधस्त) धर लेता है (ईम्) और इसको (अरिच्यत) विशेष रूप से शक्तिशाली बनाता है और (प्रचेतय) प्रकृष्ट रूप से ज्ञानवान् बना देता है । (सः) वह (देव) दिव्य ज्ञानवान् (इन्द्रुः) योगी जीव (सत्य०) सत्य स्वरूप, सत्यरूप होकर (एनं) उस (देवं) देव (सत्यं) सत्यस्वरूप (इन्द्रं) परमेश्वर को (सश्वत्) प्राप्त होता है ।

इति पष्ठः खण्डः ।

इति पष्ठस्य तृतीयोऽर्धः । पष्ठश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ सप्तमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अपिः—१ १, ६ प्रियमेधः । २ नृमेधपुष्पेधौ । ३, ७ अयस्यायसदम्बु । ४
 श्रुतः शेष आनीगर्ति । ५ वत्सः काण्वः । ६ अग्निस्तापसः । ७ विश्वमना
 वेदवः । १० वसिष्ठः । सोमरि काण्वः । १२ सत वेदानसा । १३
 वस्यव आत्रेयाः । १४ गोतमो राहूगणः । १५ केतुराग्नेयः । १६ विला
 आतिरस ॥ देवता—१, २, ५, ८ इन्द्रः । ३, ७ पवमानः सोमः । ४, १०—
 १६ अग्निः । ६ विश्वेदेवा । ९ सामेति ॥ छन्दः—१, ४, ६, १२—१६
 गायत्री । २, १० प्रागाथः । ३, ७, १२ वृहती । ५ अनुष्टुप् ८ छण्डिक् ।
 ९ त्रिविदुष्टिक् ॥ स्वरः—१, ४, ६, १२—१६ वद्वः । २, ३, ७, १०,
 ११ मध्यमः । ५ गान्धारः । ८, ९ ऋषभः ॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
 [१४८६] अग्निं प्र गोपतिं गिरन्ध्रमर्चयथा विधे ।

३ २ ३ ७ ३ १ २
 स्रुतं सत्यस्य सन्पतिम् ॥ १ ॥

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
 [१४८७] आ हरयः ससृज्जिरऽरुपीरधि बार्हपि ।

२ ३ ७ ३ १ २
 यत्रामि संनचामहे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
 [१४८८] इन्द्राय गाव आशिरं दुदुहे चज्जिण मधु ।

१ २ ३ २ ३ २
 यत्सांसुपद्वरे विदत् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ८ । ६६ । ४, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [१४८८] ३० ।

(२) (बर्हिपि) धान्य या कुशा घाम दध्ने सप्तमः पाठकः
 हांका पुनः ज्ञानाग्नि या योग समाधि द्वारा कटने योग निरन्तर वृद्धिराज

इस देहवन्धन में (~~सूत्र~~) गतिर्शास्त्र (अस्वीः) धर्म की धारणें
इस भूलोक में जल धाराओं के समान (सस्रजिरे) नदियों के समान
गति कर रही हैं और उस पर (अधि) अधिकार कर रही हैं (यत्र)
जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्जन (अभिसंनवामहे)
आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करते और गान करते
हैं अर्थात् जिस देह में हम उस इन्द्र के साक्षान् अधीन रहते हैं ।

ईश्वर पक्ष में—यदि=यह संसार, अरुपी=कान्तिमान्, हरय=सूर्यसदृश
गतिमान् पियङ्ग ।

(३) (गावः) ये सब गतिमान् रत्नधारणें तथा इन्द्रियगण
(इन्द्राय) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये (आशिरस्) उसके अधिन के
आश्रयरूप (मधु) रूप कर उस शुद्ध वा ज्ञान को (दुबुद्धे) उत्पन्न करती
हैं, (यत्) जिसको वह इन्द्र (उपहरे) भीतरी हृदय कोश में (सीम्) सक्त
और (विदत्) प्राप्त करता है ।

ईश्वर पक्ष में—ये गतिमान् तेजस्वी पियङ्ग (आशिरं) समस्त
ग्रहाण्ड के आश्रयरूप (मधु) शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसको वह इस
ग्रहाण्ड में धारण किये हैं ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४६२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषतः ।

२ ३ १ २ ३ १ २

२ ३ १ २

उप ग्रहाणि सचनानि वृत्रहन् परमज्या ऋत्रपिम ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१४६३] त्वं दाता प्रथमो राघसामस्यासि सत्य ईशानकृत् ।

३ २ ३ १ २

२ २

३ २ ३ १ २

३ २

तुविशुम्भस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥२

अ० ६। ६०। १-२

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (हव्यं) स्मरण
करते स्तुति करने, और पुकारने, आशय करने योग्य (हव्यम्) उस परमेश्वर

को (विश्वासु समस्तु) समस्त आनन्द और उरसत्रों में तथा परस्पर मेल
मिलाप करने के अवसरों पर (आभूषत) ज्ञाना वचनालकारों से सुसू-
षित करो । हे (वृग्रहन्) विघ्नों के निवारक ! हे (परम) सबसे उत्कृष्ट
विजयशील, हे (ऋचीपम) ऋचाओं द्वारा मनन करने योग्य परमात्मन् ।
आप (नः) हमारे (सवनानि) यज्ञों और (ब्रह्माणि) वेद स्वाध्यायों एवं
मृतादि के अवसरों पर (उप) सदा समीप हृदय देश में विराजें । देखो
अवि० सं० [२६६] पृ० १३० ।

(२) हे परमेश्वर ! (एवं) आप (पृथसा) समस्त पदार्थों और
ज्ञानों के (प्रथम) सबसे पहले (दाता) देने हारे (असि) हो और
(सत्यः) सत्यस्वरूप सचे, (ईशानकृत्) सामर्थ्य और प्रभुत्व के देने हारे
हो । (शवसः) बलस्वरूप (पुत्रस्य) पुरुषों की विघ्नों से रक्षा करने
हारे (महः) महान् (तुविशुनस्य) बहुत धनेधर्मसम्पन्न आपके (युष्मा)
सासंगति को समाधि द्वारा हम । आभूषणीमहे) ग्राह करें ।

■ २ ३ १ २ ३ २ ४ २ ४ ३ ■ ३ २ ३ १ २ २

[१४६४] प्रत्नं पीयूषं पूर्य यदुक्थ्यमहो गाहादिव आ निरधुक्षत ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २

इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ■ ३ ४ १ २

[१४६५] आर्दी केन्तित्पश्यमानास आप्यं वसु रुचो दिव्या अभ्य-

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

नूपत् । दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[१४६६] अत्र यदिमे पथमान रादसी इमा च त्रिषवा भुवनाभि

३ १ २ ■ २ ४ ■ ■ २ ३ १ २ २

मज्जन्ता । यूथ न नि ष्ठा वृषभो विराजसि ॥३॥३॥

अ० ३ । ११० । ८, ६, ६, ॥

१४६५—'दिव. पीयूष', १४६६—'वार न देव.' १४६७—'विदवा भुवनेषु वि-
तिष्ठसे' इति अ० ।

भा०—(१) विद्वान् लोग (यत्) जब (प्रति) सनातन अति उत्तम (पूर्य) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन (उक्था) अति प्रशंसनीय (पीयूष) अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द रस को (महतः) बड़े (गाहात्) अति गम्भीर (दिवः) बौलोक, मूर्धा स्थल या सहस्रदलकमल से (आ निरधुस्त) साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे (जायमानं) प्रकट होते हुए, साक्षात् ज्ञान का विषय होते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा की (समू अस्वरन्) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं ।

(२) जब (दिवः) प्रकाशस्वरूप आत्मा (वारं) आवरण को (सविता न) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा (वि ऊ- र्यते) खोलता या हटा देता है (आत्) तब ही (केचित् दिव्या) प्रकाश में वर्तमान होकर भी कुछ एक (वसुरुचः) आत्मा के साधक या इन्द्रियादि उपकरणों के चमत्कारों को प्रेम करने वाले साधक (आप्यं) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप (इम्) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही (परममानामः) देखते हुए उसकी (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं ।

(३) (यूथेन) जिस प्रकार सौधों में गोल में (वृषमः) सांड खड़ा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार (यद्) जब आप डे (पव- मान) सबके प्रेरक ! प्रभो ! (इमे) इन (रोदसी) धौ और पृथिवी प्राण और अपान दोनों को और (इमा) इन (विश्वा) समस्त (मुचना) लोकों या इन्द्रियमय शेष प्राणों (मन्मना) बलपूर्वक (नि) भीतर व्याप्त होते हो तब (वि-राजसि) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते हो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४६७] इममू पुत्वमस्माकं सनि गात्रं नव्यासम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २

अग्ने देवेषु प्र वाच ॥१॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४६८] विभक्तासि चित्रमानो लिङ्घोरुर्मो उपाक आ ।

३ २ ३ १ २
(सप्तो दाशुषे चरसि ॥२॥

३ १ २ ३ १ २
[१४६९] आ नो मज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।

१ ३ १ ३ १ २
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० ११ २७ । ऋ, व, ६४

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८] १२ ।

(२) हे (चित्रमानो) उपास्य । कान्तिसम्पन्न ! विचित्र हरिमर्षों से युक्त ! माता प्रकार के सूर्यों के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार (लिङ्घोः) विशाख नदी के (उपाके) समीप से (रुर्मो) छोटी २ नहरें काटती जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाख निभूतिमवाह में से (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करने द्वारे मरु के प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकार से जाना विभूतियां बांट देते हैं (सप्तः) शीघ्र ही (चरसि) अभिमत आनन्दरस बहा देते हैं ।

(३) हे अग्ने ! (परमेषु) उत्कृष्ट (वाजेषु) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से (नः आ मज) हमें प्राप्त करा और (मध्यमेषु) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और (अन्तमस्य) समीपतम (वस्व) वास योग्य पदार्थों को भी (शिक्ष) प्रदान करा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५००] अहमिद्धि पितु परि मे तामृतस्य जग्रह ।

३ १ २ ३
अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०१] अह प्रत्नेन जन्मना गिर शुभामि कएवयत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
येनेन्द्रः शुष्ममिद्धे ॥ २ ॥

१५०१—'अग्रम' । १५०२—प्रत्नेन जन्मना यति ऋ० ।

[१५०२] यं त्वामिन्द्र न तुष्टुहुःपयो ये च तुष्टुहुः ।

ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ८ । ६ । २०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१५२] पृ० ८५ ।

(२) अपि का आत्मरूप से दर्शन है । मैं जीव (कवचवत्) मेधावी विद्वान् पुरुष । समान (प्रलेन) अपने पूर्व के, सनातन (जन्मना) जन्म अर्थात् अपने स्थाभाविक रूप से ही (गिर) जाना वेदस्तुति वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूँ । (येन) जिससे (इन्द्रः) मेरा आत्मा (शुभ्रं) आगमिक बल का (इत्) ही (दधे) धारण करता है ।

(३) हे आत्मन् ! (ये) जो अज्ञानी लोग (त्वां) तुझको (न) नहीं (तुष्टुहुः) स्तुति करते और (ये च) जो (अपयः) आत्मसाक्षात्कार करने वाले मन्त्रवृष्टा, अपिगया तथा गुरुशिष्य तथा ज्ञानी, जिज्ञासु जन (त्वा तुष्टुहुः) तेरा यथार्थ वर्णन करते हैं उनसे (सु-स्तुतः) उत्तम रूप से स्तुतियों द्वारा अलंकृत होकर (मम इत्) मेरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त करा ।

अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी ही की हुई उपासना और प्रार्थना से बलवान् होता है । हमारे की की, प्रार्थनोपासना उसके लिये निष्फल है ।

श्रुति प्रथमः खण्डः ।

—१०:—

[१५०३] अग्ने विश्वेमिरग्निमिर्जोषि ब्रह्म सहस्रकृत ।

ये देवग्रा य आयुपुतेभिर्नो महया गिरः ॥ १ ॥ अग्नेदे नास्ति ।

१५०३—अग्नेदे (३ । २४ । ४) समानाक्षरसन्निवेशवतीयम् । उपक्रम्यते ।

“ अग्ने विश्वेमिरग्निमिर्जोषि महया गिरः । येषु ये च आयवः ॥ ”

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
 [१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ २ ४ ३ २ ४ ३ १ २
 तनये तोके अस्मदा सम्यक् वाजैः परीवृतः ॥ २ ॥ अग्नेरे नास्ति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निमिधेहा यज्ञं च वर्धय ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २२
 त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० १ । २४२ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्रकृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विधेमि.) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोपि) सब को सेवन कराता है । इसलिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवता) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और ये आयुष्य, जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (य.) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विधेमिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और बड़ी (सम्यक्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और पेशियों से (परीवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (न) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन (वर्धय) वृद्धि और

(न० ।) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,—ऐश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तवर्हिषो महे वाजाय अवसे धियं दधुः ।

१२ २२ ३२ २२
स त्वं ना धीर धीर्याय चोदय ॥ १ ॥

३ २२ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[१५०७] अम्यभि हि अवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षि-

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तम् । शर्याभिर्न भरमाणो गमस्त्यो ॥ २ ॥

१ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०८] अजीजनो अमृतमर्त्याय कमृतस्य धर्मज्ञमृतस्य चाकणः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

श्रु० ६ । ११० । ७, ६, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तवर्हिष) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (अवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुम्हें प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधु) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (धीर) सर्वशक्तिमन् ! (स० त्वं) वह तू (न) हमें भी (धीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ । गमस्त्यो.) बाहुओं की (शर्याभिः) अंगुलियों से (दास न) जल निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (अवसा) ज्ञान बल से

१२ २२ ■ १ २ ३ ५२ २२ ३ १ २
 [१५०४] स विश्वेभिरग्निभिरग्नि स यस्य वाजिनः ।
 १ २ ३ २ ३ २४ ३ २४ ३ १ २
 तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥ २ ॥ अग्नेदेनास्ति ।
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ग्रहा यक्षं च वर्धय ।
 १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
 त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥

अ० १० । १४१ । ■ ॥

भा०—(१) हे (सहस्रत) ब्रह्मपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता । इस-लिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवता) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुष्य) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (न) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स-अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम प्रतिष्ठित है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों में (परीवृतः) घिरा हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यक्षं च) यक्ष आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन (वर्धय) वृद्धि और

(नः) हमें (देवतासमे) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,—ऐश्वर्य आदि पदार्थ-दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तवर्हिषो महे वाजाय अवसे धियं दधुः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
स त्वं ना वीर वीर्याय चोदय ॥ ॥

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०७] अभ्यभि हि अवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षि-

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तम् । शर्याभिर्न भरमाणो गमस्त्यो ॥ २ ॥

१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०८] अजीजनो अमृतमर्त्याय कमृतस्य धर्मममृतस्य चारुणः ।

१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सदा सरो वाजमच्छा समिष्यत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

श्र० ६ । ११० । ७, २, ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तवर्हिषः) देहबन्धन को काटने वाले, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (अवसे) यमास्वरूप महा-महिम तुम्हें प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावली बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गमस्त्यो) बाहुओं को (शर्याभिः) अंगुलियों से (तर्त्सं न) जल के निरन्तर निकलते छोट को काट लेता है उसी प्रकार है (सोम) विद्वन् । आप अपने (अवसा) ज्ञान बल से

अक्षय (जलपानं) समस्तजनों को जलमयधार के समान आनन्दरस—
सार को (भरमाणाः) पूर्ण करते हुए, मेघ को वायु के समान (उत्सं)
मूल निकाम रूप ब्रह्म तत्व को (अवसा) गुरुपदेश, ज्ञान, योग्याभ्यास
से (ततर्दिथ) उद्देश कर देते हों, तब उन्हें अध्यात्म रस प्राप्त होने
लगाता ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! (मत्स्योय) मत्स्याधर्मा इस जीव के लिये आप
(अमृतं) मत्स्याधर्म, अधिनाशी । कम) सुख को (अजीजनः) उत्पन्न
करते हो और (अमृतस्य) अधिनाशी । आरुण्यः) प्राप्त करने योग्य, उगम
(अतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के उद्देश्य किये हुए (धर्मम्) धर्ममार्ग
(वाज) ज्ञान आर धर्म को (सनिष्यत्) प्रदान करते हुए (सदा)
नित्य (अक्षु) भली प्रकार (सरः) प्रकट होते हो ।

[१५०६] ^{२ ३ १ २} एन्दुमिन्द्राय ^{३ १ २} सिञ्चत ^{२ १ २ २} विनाते ^{२ १ २ २} सौम्य मधु ।

^{१ २ १ २} प्र राधासि ^{३ २} चोदयमे सहित्वना ॥१॥

[१५१०] ^{२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २} उपो हरीणा पतिं राधे, ^{३ १ २} पुञ्चन्तमग्रवम् ।

^{३ १ २} सूनं श्रुधि ^{३ २ ३ १ २} स्तुवतो अश्वस्य ॥ २ ॥

[१५११] ^{२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २} न ह्याऽऽङ्ग पुरा ध्व न जज्ञ वरितरस्त्वत् ।

^{१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २} न की राधा नैवथा न मन्दना ॥ ३ ॥ ८ ॥

८ । २४ । ११-१२ ॥

भा०—(■) व्याख्या देखो अवि० स० [३८६] पृ० ।

(२) (राधे) आराधना योग्य ज्ञान या अभिलाषित ऐश्वर्य को
(पुञ्चन्त) प्रदान करते हुए, उद्देश्य तक प्राप्त कराते हुए (हरीणा पतिम्)
हरणशील इन्द्रिय आदि सूर्य और विद्वानों के प्राज्ञक परम आत्मा के

अति (उप अग्रधम्-उ) अति समीप होकर मैं यह कह रहा हूँ कि (स्तु-
तः) तेरा यथार्थस्वरूप वर्णन करने हारे (अवस्थ) गतिशील,
कर्मफल के भोक्ता जो कि आत्मा की प्रार्थना को (नून)-निश्चय से (श्रुधि)
अवश्य करे।

(३) (अहम्) हे परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से अधिक (वीरतर)
सामर्थ्यवान् शक्तिमान् कोई (नहि) नहीं है । (न च) और न (पुरा)
पूर्व कल्पों में भी (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । और (नकिः) न कोई (राया)
ऐश्वर्य विभूति में तुझ से अधिक है और न हुआ, न होया, और (न पृथगा)
न तुझ से अधिक सर्वव्यापक सर्वशक्त दूसरा है, न हुआ और न होगा,
(न भन्दना) न तुझ से अधिक कोई कल्याणकारी प्रशंसा और स्तुति का
पात्र ही है, और न हुआ है, न होगा ।

उ २ उ १ २ उ १५ २२
[१५१२] नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् ।

१ २ उ १ २ उ १ २
पतिं धो अक्ष्यानां धेनूनामिषुष्यसि ॥ १.॥ ६ ॥

अ० ८ । ६९ । ६

भा०—(१) (वः) आप (योयुवतीनां) कर्म का आदेश
करने वाली श्रद्धालुओं के (नदं) उपदेश करने हारे और (ओदतीना)
अज्ञान ज्ञान का उपदेश करने हारे वेद वाणियों के, (नदं) उपदेश
और (अक्ष्यानां) कमी घात न होने वाली अविनाशी, निरर्थ (धेनूना)
ज्ञानरस के पिजाने वाली वेदवाणियों (पतिं) पालक प्रभु को
(ऋष्यसि) आश्रय करो और उसी से इष्ट फल प्राप्त कराने की
याचना करो ।

अति द्वितीयः अण्डः । . . .

३ १ २ ■ २ ३ १ २ ३ ३ २
[१५१३] देवा वो द्रविणोदाः पूर्यां विनष्ट्वा सिचम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उद्धा सिञ्चन्वमुप वा पृणन्वमादिष्ठो देव ओहते ॥१॥

= २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१४] त होनारमन्त्रस्य प्रचेतसे वह्नि देवा अकुरवत् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
दधानि रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुवे ॥२॥१०॥

श्रु० ७ । १६ । १२-१२ ॥

भा०—(■) व्याख्या देखो अचिकल स० [१५] पृ० २६ ।

(२) जो (अग्नि०) ज्ञानवान् आचार्य, परमेश्वर (दाशुवे) दानशील,
आत्मसमर्पक (विधते) पंचिर्वा करते हुए, शिष्य के समान उपासक
(सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्ययुक्त (रत्नं) रमणयोग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य
को (दधानि) धारण कराता है (तं) उस (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानवान्
परम पुरुष को (देवा) विद्वान् पुरुष (अन्धरस्य) हिंसारहित ज्ञानयज्ञ
का (होतारं) सम्पादक और (वह्निम्) कार्यनिर्वाहक (अकुरवत्) नियत
करते जानते, और मानते हैं ।

१ १ १ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१५] अदर्शि गातुविनमो यसिन् व्रतान्यादधुः ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उपो जु जातमार्यस्य वर्धनमग्निश्चक्षन्तु नो गिर ॥१॥

■ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१६] यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कुरवत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सदस्त्रसां मंधसानार्चव त्मनाग्नि धीभिर्नमस्यत ॥२॥

१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१७] ■ दैवादासा अग्नि० ॥३॥११॥

भा०—(■) व्याख्या देखिये अचिकल स० [१७] पृ० ।

(२) (चकृत्स्यानि) समस्त जगत् के कर्तव्य कर्म (कृण्वतः) कराने हारे (यस्मात्) जिससे (कृष्ट्य-) मनुष्य (रेजन्त) कांपते हैं, भय अनुभव करते हैं (सहस्रसां) सहस्रों का दान देने हारे उस (अग्निम्) परमेश्वर को (मेधसातौ) ज्ञानबल और मेधा को प्राप्त करने के लिये (धीभिः) अपनी ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों से (त्मना) अपने आत्मा द्वारा (नमस्यत) उपासना करो ।

(३) व्याख्या देखो अथिकस्य सं० [११] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्न आयूषि पवसे० ॥१॥

[१५१९] अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।

तमीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।

वधत्रयि मयि पौषम् ॥३॥१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अथि० भा० [६८०] पृ० ३१६ ।

(२) (अग्निः) ज्ञानवाक्, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (ऋषिः) स्वतः सब मन्त्रों का द्रष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त संसार का द्रष्टा है, वही (पवमानः) सबका पवित्रकारक ज्योतिष्मात् और सबका प्रेरक होने से (पाञ्चजन्यः) पांचों जन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, या देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितर या ५ इन्द्रियों को समानरूप से हितकारी (पुरोहितः) समस्त कार्यों के पूर्व, हृदय में और समस्त विश्व सृष्टि के पूर्व, जगत् में साक्षी रूप से स्थित है, (तं) उस (महागय) महान् प्राणों के प्राण, अथवा चढ़े २ देवादि से भी स्तुति किये गये महान्, ज्ञानवान्, परम उपदेष्टा, विशाल कीर्ति वाले परमात्मा से हम (ईमहे) याचना करें ।

(३) हे अग्ने ! (स्वपा.) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न
रमात्मन् । आप (अस्मे) हमें (वर्च) तेज (पवस्व) प्राप्त कराओ
और (मयि) मुझ में (रयिम्) प्राण, बल और (पोष) पुष्टि (दधत्)
धारण कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२१] अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।

१ ३ १ २ ३ १ २
आ देवान्वाक्षि यक्षि च ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२२] तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रमानो स्वर्दृशम् ।

३ २ ३ ३ १ २
देवा आ वीतये वह ॥२॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२३] वीतिहोत्रं त्वा कवे तृमन्तं समिधीमहि ।

१ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥१३॥ अ० ५ । २६ । १-३॥

भा०—(■) हे अग्ने ! (पावक) सबको पवित्र करने हारे । हे
(देव) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! (रोचिषा)
आपनी दीप्तिस्वरूप (मन्द्रया) आनन्ददायक (जिह्वया) दान प्रतिदाता
करने की शक्ति से (देवान्) दिव्य पदार्थ, अन्न आदि पचभूतों को और
ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के सूर्यादि
लोकों को (आवाक्षि) आवहर्त्तन करते, उनका धारण करते (वाक्षि च)
संगत करते, और व्यवस्थित रखते हो ।

(२) हे (चित्रमानो) नाना विध कान्तियुक्त परमात्मन् ! हे (घृतस्नो)
समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! (तं) उस महान् आत्मा (स्वर्दृशं) सबके
दृष्टा, या स्व अर्थात् प्रकाशमय और सुखकारक चक्षु से सम्पन्न, या
मोक्षमार्ग को दर्शाने हारे आपको (ईमहे) प्रार्थना करते हैं कि (देवान्)
हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान काने हारे विद्वान्

पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को (चीतये) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुखें प्राप्ति के लिये (आ वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (कवे) समस्त संसार के पदार्थों के मर्म तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् । (अग्ने) प्रकाशस्वरूप । (चीतिहोत्रं) यज्ञों में व्यापक (शुमन्त) प्रकाशमान (बृहन्तं त्वा) सब से महान् आपको ही हम (अश्वरे) हिंसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में (समिधीमहि) प्रदीप्त करते हैं ।

इति तृतीय खण्डः ।

— ० —

[१५२४] अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २

विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५२५] आ नो अग्ने रयि भर सत्रासाहं वरेण्यम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५२६] आ नो अग्ने सुचेतुना रयि विश्वायुपोषसम् ।
३ १ २ ३ १ २

माडीकं धेहि जीवसे ॥३॥ १४॥ अ० १ । ७६ । ७-३॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमात्मन् ! हे (वन्द्य) वन्दना करने योग्य परमात्मन् ! आप (गायत्रस्य) प्राणों के प्राण करने साधन शरीर में, (प्रभर्मणि) उत्तम रीति से मरण पोषण करने के कार्य में (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (नः), हमारी (विश्वासु) समस्त (धीषु) कार्यों से (अव) रक्षा करें ।

१५२५—पूतनाशब्दस्य पृदात्रेयः । पदन्तो० इति [पा० ६ । १ । ६३]

सूत्रे मास पृत्स्नुनामुपसृत्यानमिति वार्तिकम् । पूतनेति मनुष्यनाम
[नि० २ । ३] मंग्रामनाम च [नि० २ । १७]

(२) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमारे लिये (वरेण्यं) सब से श्रेष्ठ (सप्रासाहं) सब विपत्तियों को दूर करने हारे (रयिं) वज्र और अन्न (आभर) प्राप्त करावें जो (विश्वासु) सब (पृथु) मनुष्यों में या संग्रामों में (दुस्तरं) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सके और न समाप्त कर सके ऐसे हों ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमें (जीवसे) जीवन के निमित्त (विश्वायुपोपसं) समस्त मनुष्यों के पालन पोषण में समर्थ (मार्दिकं) सुख, आरोग्य करने हारे (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान सहित (रयिं) अन्न और प्राणवज्र (वेहि) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु ना धियः सप्तिमाशुभिन्नाजिषु ।
तेन जप्स धनं धनम् ॥ १ ॥

[१५२८] यया गा आकरामहे सनयाग्नं तवात्या ।

तां ना हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

[१५२९] आग्ने स्थूरं रयि भर पृथु गोमन्तमग्निनम् ।

अङ्गाध स्व वर्त्तया पविम् ॥ ३ ॥

[१५३०] अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्य रोहयो दिवि ।

दधज्ज्योतिर्जनम्यः ॥ ४ ॥

[१५३१] अग्ने कंतुविशामसि प्रेषुः श्रेष्ठ उपस्थसत् ।

योधा ततोत्र वयो दधत् ॥५॥१५॥ अ० १०।१५६। १-२

१५२९—स वर्त्तया पविम् इति अ० । 'सर्वर्तया' इति अजमेरुद्वितः
ग्रामादिक पाठः ।

भा०—(१) (न०) हमारी (धिय०) बुद्धियों, कर्मों और स्तुतियाँ (अग्नि) ज्ञानवान् पुरुष, या आत्मा या परमात्मा को (वाजिभु) संग्रामों में (आशुं ससिम् इव) शीघ्रगामी, अश्व के समान (हिन्वन्तु) प्रेरणा करें (तेन) उससे हम (धनं धनं) बहुत सा धन (जेष्म) विजय करें, प्राप्त करें ।

(२) हे (अग्ने) प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (उत्था) रक्षा ज्ञान और (सेवया) सेवा से (गा०) वाणियों, रश्मियों और गौशों को (आकरामहे) साक्षात् प्राप्त करें (ता) उस अपनी शक्ति को (नः) हमें (मघस्ये) धन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (हिन्व) प्रेरित कर ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! तू हमारे पास (पृथु) खूब विस्तृत (गोमन्तं) गौशों और (आधिन) अश्वों से युक्त तथा ज्ञान और कर्मेन्द्रिय से नम्रपन्न (स्थूरं) स्थिर (रयि) प्राण और धन को (आभर) प्राप्त करा । (ख०) सुख को (अग्नि) हमारे लिये प्रकाशित कर और (पथिम्) पापनाशक पावकरूप यज्ञ ज्ञानवज्र या ज्ञानप्रवर्तक वाणी को (वर्तय) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर ।

' खं '—यदेव खं तदेव कं यदेव कं तदेव खम्, छान्दोग्य उप० पवि-
रिति वाग्वज्रयज्ञादिनामसु पठितः

(४) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (नक्षत्रम्) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से च्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप (सूर्य) सूर्य को (दिवि) द्यौलोक में (आ रोहयः) स्थापित करते हैं कि वह । जनेभ्यः) सब उत्पन्न होने वाले लोकों और प्राणियों को (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) प्रदान करे ।

(५) (अग्ने) परमात्मन् (विश) समस्त प्राणियों को आप (केतुः) ज्ञान देने वाले, (प्रेष्ठ०) सब से अधिक प्रिय, और सब से (श्रेष्ठ) उत्तम होकर (उपस्थसत्) सब के समीपतम हृदयदेश में विराजमान हो ।

[१५३२] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पानिः पृथिव्या अयम् ।

[१५३३] ईशिषे वायस्य हि वात्रस्याग्ने स्व.पतिः ।

[१५५४] उद्गने शुचयस्तथ शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।

तत्र ज्याताप्यर्चयः ॥३॥१६॥ श्र० ॥ १५५॥ १६, १८, २० ॥

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (आप पतिः) समस्त मोक्ष के
पात्रक हैं । आप ही (दात्रस्य) दान देने योग्य और (वायस्य) वरण
करन योग्य विभूति के भी (दक्षिणे) प्रभु हैं, अतः (तव) सेरी
(शर्मणि) शरण में रहकर मैं (तव) तेरे (स्तोत्रा) साथ गुणों का
वर्णन करने द्वारा (स्याम्) रहूँ ।

(३) हे जग्ने ! (ते) तेरी (शुद्धाः) कान्तिमान् (शुद्धयः) दीक्षिये (भ्रातृन्तः) सब । प्रकाशित करवा दुई स्वयं (दृग्दरते) बड़

रही और (अर्घ्यः) ये सब कान्तियां भी (तव) तेरी ही (ज्योतीषि) जगाई ज्योतियां हैं ।

इति चतुर्थः सूक्तः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोर्धः समाप्तः ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥



अथ पंचदशोऽध्यायः ।



अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।

अपि.—१, १२ गोनमो राहुगणः । २, ६ विश्वामित्रः । ३ विरूप आगिरसः । ४, ६ मगोः प्रागायः । ५ त्रिगः । ६ उजगा काव्यः । ८ सुदीतिपुरुमीक्षुः तयोर्वान्यतर । १० मोमरि काव्यः । ११ गोपवन आत्रेयः । १३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यो भीतहृदो वा । १४ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पापको बार्हस्पत्यः, अथर्गानी गृहपति धर्मिष्ठो सप्तुतो तयोर्वान्यतरः ॥ अग्निर्देवता । छन्द — १—काकुभम् । १५ सजिक् । १६ अनुष्टुप् प्रथमस्य, गायत्री चरमयोः । १७ वगती ॥ स्वरः—१—इ, इ, २५ पद्मः । ४, ७, ८, १० मध्यमः । ५ पैतः । ११ ऋषभः । १२ गान्धरः प्रथमस्य, पद्मश्चरमयोः । १३ निपातः अ ॥

[१५३५] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ २} फस्त जाभिजनानामग्ने का दाश्वध्वर ।

^{२ ३ १ २ ३ १} को ह कस्मिन्नासि श्रिनः ॥१॥

[१५३६] ^{२ ३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २} त्वं जाभिजनानामग्ने मित्रा असि प्रियः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} सखा सतिभ्य ईड्यः ॥२॥

[१५३७] ^{१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २} यजा नो मित्रावरुणौ यजा देवां क्रतुं बृहत् ।

^{२ ३ २ ३ १२ २२} अग्ने यक्षि स्व दमम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । ७५ १५२-३ ॥

। मा०—(१) हे अग्ने ! (जनाना) मनुष्यों में से (तं) तेरा (कः) कौन (जामि.) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तेरे लिये (कः) कौन (दाशवधरः) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? (क ह) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, (कामिन्) और तुम किस में (श्रित) आश्रय किये (असि) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

(२) (त्व) आप (जनाना) सब उत्पन्न होने वाले प्राणियों के (जामि.) उत्पादक और बन्धु हो और (प्रिय.) प्रिय (मित्र) जेही सुहृद् (असि) हो । (सखिभ्यः) समान आश्रयान् अर्थात् नाम वाले भक्त प्रेमी, जीवगण के लिये (सखा) उनके सुहृद् होकर भी उनके लिये (ईदव) उपासना और स्तुति करने योग्य हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! तू (नः) हमारे (मित्रावरुणौ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण्य और अपान दोनों को (यज) यज्ञ और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे (देवान्) इन्द्रियों और विद्वानों को (बृहत्) बड़ा भारी (श्रुतं) सत्य ज्ञान (यज) प्रदान कर । और हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (स्व) अपने (दम) दमन करने योग्य समस्त संसाररूप गृह को अथवा (दम=महं) अपना परम आनन्द और (धि) देता है ।

[१५३८] ^{३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २} ईदैन्यो नमस्यास्निरस्तमासि दशतः ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥

[१५३९] ^{१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २} वृषा अग्निः समिध्यतेऽध्वो न देवशान्तः ।

^{१ ३ १ २ ३ १ २} त द्वाविष्मन्त ईदते ॥२॥

[१५४०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} वृषणं त्वा वय वृषन् वृषणः समिधामहि ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अग्ने दीधितं बृहत् ॥३॥ अ० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की ओर भुके चले आते हैं एवं अन्धेरे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त (तमासि) समस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को (तिरः) दूर करने द्वारा परमात्मा और आचार्य (दर्शतः) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सब मार्गों का दर्शाने वाला (ईडेन्यः) स्तुति उपासना करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है । (अग्निः) बंधी ज्ञानस्वरूप (वृषा) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण (इष्यते) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (वृषः) सब सुखों के देने वाला, आत्मरूप (अग्निः) अग्नि, (देववाहनः) इन्द्रियों को वहन करने द्वारा (अग्नीः न) अथ अर्थात् भोक्ता स्वामी के समान जाना जाकर (समिधयते) युद्धमें विजिगीषु के अथ के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रज्वलित किया जाता है । (हविष्मन्तः) स्तुति उपासना करने वाले अथवा चर आदि से युक्त याज्ञिक लोग भी (तं) उसकी ही (ईडेते) स्तुति करते हैं ।

(३) (वृषन्) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक (त्वा) तुम्ह (वृषथा) सब से बलवान् (दीधत्) चेतनारूप से और तेज स्वरूप सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने वाले (वृहत्) महान् आत्मा परमेश्वर को (वय) हम (समिधमिहि) अपने हृदय में उच्चम रीति से प्रज्वलित करें ।

[१५४१] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} उत्ते घृहन्ता ^{३ १ २} अर्धयः समिधानस्य दीदिवः ।

^{१ २ ३ १ २} अग्ने शुक्राल ईरते ॥२॥

[१५४२] ^{१ २ ३ २ १ २ ३ १ २} उप त्वा जुह्वाऽरे मम घृताचर्यन्तु हर्यत ।

^{१ २ ३ १ २} अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् ।

आग्निमीदं स उ अचत् ॥३॥३॥ अ० ■ । ४४ । ४-६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (रुमिधानस्य) उत्तम रीति से प्रज्वालित, प्रदीप्त (ते) तेरी (शुक्रासः) कान्तिमान् तेजोमय, (बृहन्तः) बड़ी २ (अच्यैः) सूर्य आदि ज्वालाएं (उद् ईरते) उठ रही है ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं ।

(२) हे (हर्यंत) सब को अपने में ही आहरण कर लेने वाले सवके प्रलयकारक परमेश्वर ! (मम) मेरी (घृतार्था) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज को धारण करने वाली (जुह) दान प्रतिदान करने वाली धमसरूप इन्द्रिया (स्वा) तेरे प्रति ही (उप यन्तु) गति करें । (अग्ने) प्रकाशक (नः) हमारे (हव्या) स्तुतियों और प्रदान करने योग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को आप ही (जुपस्व) स्वीकार करो ।

(३) मैं (मन्द्रं) आनन्दस्वरूप (होतार) समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ के होता सम्पादक (मृत्विजम्) ऋतुओं, प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपामना करने योग्य (चित्रभानुम्) नाना प्रकार के चित्र विचित्र कान्तिमान् सूर्यों से अलंकृत, (विभावसुम्) कान्तिरूप धन से सम्पन्न, विशेष दीप्ति मे समस्त जीवों और लोकों का धार देने वाले उस परमेश्वर रूप (अग्निम्) ज्ञान प्रकाशक की (ईदं) स्तुति करता हूँ । (स उ) बड़ी सब स्तुतियों को (अचत्) अर्पण करना है ।

[१५४४] पाहि नो अग्न एकया पातूऽनेन द्वितीयया ।

पाहि गीर्माग्निस्तुभिरजाम्यते पाह चतसृभिर्वसो ॥१॥

[१५४५] पाह विश्वस्माद्वत्सो अरावणः प्र म्म वाजेषु नोऽव ।

त्वामिदं नोऽष्टं दवतातय आरिं नक्षामहे पृथे ॥२॥२॥

अ० ■ । ६० । ६-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६] पृ० १५ ।

(२) हे (अग्ने) तेजस्विन् ! आप (विशस्मात्) सब प्रकार (अराध्याः) जीवन, धन, स्वत्व, अधिकार और सुख आदि न देने हारे कंजूस, पर-स्वत्वापहारी (रक्षसः) दुष्ट स्वभाव, राक्षस पुरुष से (पाहि) रक्षा कर । और (न०) हमारी (वाजेषु) संग्रामों में भी (प्र अव स्म) उत्तम रीति से रक्षा कर । (हि) क्योंकि (त्वाम् इत्) तुम्हको ही (देवतास्ये) विद्वानों की और अपनी (वृधे) बुद्धि के लिये (नेदिष्ठं) सबसे समीपतम (आग्निम्) अपना बन्धु जानकर (नयामहे) तेरे शरण आते हैं, तुम्हें प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथम खण्डः ।

—10:—

उ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५४६] इतो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुपुमौ अदर्शि ।
उ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अकिद्विभाति भासा बृहन् । सिक्तीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥
उ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५४७] कृष्णा यदेनीमगिर्वर्षसाभूजजनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।
उ २ ३ १२ २१ ३ १ २ १२ २२ ३ १२ २२
ऊर्ध्वम्भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररनिर्विभाति २॥
उ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५४८] मद्रो मद्रया सचमान आगात् स्वसारं जागो अभ्येति
१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैर्भिराम
अस्थात् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १० । ॥ १-३ ॥

भा०—(१) हे (राजन्) सुप्रकाशमान परमात्मन् ! आप (इन्) सब के स्वामी (अरतिः) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही (समिद्ध) खूब प्रकाशमान होकर (रौद्रः) दुष्टों को रुझाने हारे, पापों के भयंकर दण्डविधाता होकर भी (दक्षाय) जीव के लिये (सुपुमान्) उत्तम

१५४६—२. सृष्टुं सृष्टे इति सुसुपुः सोमस्तदात् । ओषध्यात्मना स्थितोऽशुरिति सायणः ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने हारे, सौम्य (अदृशि) दिखाई देते हैं । वह आप परमेश्वर (चिकिद्) सर्वज्ञ होकर (बृहता) बड़े भारी (भासा) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप (रुशतीम्) रुधिर कान्तिवाली उपारूप कान्ति को (अपथजन्) दूर कर पुनः (असिक्रीड) कृष्णवर्णा रात्रि को (एति) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिक्षा दिन को छोड़ कर रात्रि में प्रकाश काती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों के अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करते हैं और या (रुशती) कान्तिमय ससार की जाग्रत अवस्था को दूर कर (असिक्रीड्) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल देते हैं । और इसी प्रकार रात्रि या प्रलय दशा को आप ही पुनः उपा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

(२) पूर्वोक्त मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमेश्वर (अरति०) सर्वथा एक (यद्) जब (कृष्णां) कृष्णवर्ण या सब को कर्षण करने हारी, प्रलय करने हारी (पूर्णा३) गमनशीला कालगति को (वर्षसा) अपने रूप से (अभिमूत्) बसा कर लेता है, व्याप लेता है और (बृहत्०) बड़े भारी (पितृ) पालन करने हारे, पिता परमात्मा की (जा) प्रजननशील (योषा४) कुटुम्ब बसानेहारी स्त्री के समान समस्त पञ्चभूतों का परिपाक करके नाना प्रकार से उनको मिलाने हारी, सर्गकारिणी शक्ति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, अथवा (योषा५) हिंसाकारक प्रलय

२. असिक्रीड अशुडा असिता (नि० ॥ २६) । रात्रिनाम च (निघ०)

३. एनीरति नदीनान् । इण् गती (अशदि०) इत्या औणादिको नि. (उ० ४ ४८) । नदीवचनोऽन्तोदात्तोऽन्यत्राधुनात्त इति मायव । अत्र आनुशब्द एनेति नात्र नदीग्रहणम् ।

४. योषा—यूप हिंसायान् जूप च (न्वादि) । यौतेषां मिश्रणमिदं यत्तस्य । अपि वा सामान्या योषा स्त्री, जुगुप्सायैव यावयने (चुरा०) ।

कारिणी शक्ति को भी (पितुः जां जनयन्) पालक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ, (दिवः) इस धौलोक ब्रह्माण्ड के (वसुभिः) वास देने वाले लोकों के सहित (सूर्यस्य) सब के प्रत्येक सूर्य के (भानु) दीप्तिमय पिंड को (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ (वि भाति) आप सब से अधिक प्रकाशमान होता है ।

(३) जिस प्रकार रात्रि और उषा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उषा के दृष्टान्त से पुनः सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध को दर्शाते हैं । (भद्रः) कल्याण और सुख का देनेहारा सब के भजन करने योग्य परमात्मा (भद्रया) समस्त संसार को मोच और भोग द्वारा सुख के सम्पादन करनेहारी प्रकृति से (सच्चिदानन्दः) युक्त होकर (आभासः) प्रकट हुआ । जिस प्रकार (जारः) समस्त संसार को जलाने करने द्वारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करने द्वारा, कर्मरूप वही परमात्मा (पश्चात्) पुनः (स्वसारं) स्वयं सारण करने वाली, स्वतः सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त होने वाली प्रकृति को (अभि एति) पूर्णरूप से व्याप लेता है, वह (अग्निः) प्रकाशमान, देदीप्यमान परमात्मा (सुप्रकेतैः) उत्तम विज्ञान-मय (शुभिः) नियमों से (वितिष्ठन्) नाना रूप से व्याप्त होकर (उशस्वि) मनोहर (वर्यैः) रूपों से (रामं) रमण करने योग्य इस जगत् को (अभि अस्थात्) प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है ।

[१५४६] ^{१ २} कया ते ^{३ १ २} अग्ने अङ्गिर ऊर्जो ^{३ १ २} नपादुपस्तुतिम् ।

^{१ २} वराय देव मन्यवे ॥ १ ॥

[१५५०] ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०} दाशम कस्य मनसा यक्षस्य सहस्रो यहो ।

^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०} कद्रुवाच इदं नमः ॥ २ ॥

[१५५१] अथा त्वं हि नस्करा विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः ।

वाजद्रविणसो गिर ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ८४ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (अगिर) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजस्विन् सब में बल, प्राण और रसरूप में विद्यमान ! (अग्ने) ज्ञान और प्रकाशमान ! हे (कर्जोनपात्) बल के भण्डार ! हे देव ! (वराय) सबसे श्रेष्ठ एवं वरण करने योग्य (मन्यवे) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सब मनन करने योग्य (तं । तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुति दाशेम) स्तुति करें ।

(२) हे (सहस्र यदो) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! (कस्य) किम् (यज्ञस्य) आत्मा को (मनसा) मन या अन्त करण से (दाशेम) आपके समर्पण करें । (इदं) यह (नमः । नमस्कार (कत्) किस विध या किस २ समय (बोध) उच्चारण करें, अर्थात् मन से इस आत्मा को तो दे ही रक्खा है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम कय करें ।

(३) (अध) और परमात्मन् ! (हि) निश्चय से (नः) हमारे लिये (त्वं) आपने () हमारी (सुक्षितीः) उत्तम २ निवासभूमियों और (वाजद्रविणसः) ज्ञान को बढ़ाने वाली, ज्ञानवम्पद (गिर) इन वेदमयी वाणियों का (अस्मभ्यं हि) हमारे ही लिये (करः) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हों ।

१५४८ १ अगिराः—अगारेष्वगिराः (अगारा अङ्गना अञ्चनाः) । (नि० ३ ।

३ । ५) अगाना क्षेप रम्, अति आदानम् ।

२ यदुरित्यपत्यनामसु पठितः । यदुर्वातिर्द्वयतेधौरादिकात्कुप्रयये गृह्यादिरगान्निपातनम् । यातश्चाहृतश्चेति माधवः ।

२ ३ । २ ३ । ३ १ २
 [१५५२] अग्ने आयाह्मग्निमिहोतारं त्वा वृणीमहे ।
 १२ २५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मतां यजिष्ठं बर्हिषासदे ॥१॥
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [१५५३] अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अग्निरः सुचश्चरन्त्यध्वरे ।
 ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्नि यंक्षु पु पूर्व्यम् ॥२॥ ॥

अ० ८। ५८। १, २ ॥

मार्० —(१) हे अग्ने ! परमात्मन् ! और हे आत्मन् ! तू (अग्निभि.) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ (आयाहि) प्राप्त हो। इस ब्रह्माण्ड और विण्ड में अपनी शक्ति का दान—आदान करने हारे (त्वा) तुम्ह को हम (होतारं) अग्ना होतृस्वरूप शक्ति और सुख का दाता (वृणीमहे) वरण करते हैं। (यजिष्ठं) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे (त्वा) तुम्ह को यजोतिष्मती प्रज्ञा से (बर्हिषि) इस हृदयकाश में (आसदे) प्राप्त करके (अनक्तु) ज्ञान करें तुम्हें पहिचानें और अधिक प्रदीप्त हों या तुम्ह में व्याप्त हो जायें।

(२) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्वा द्वारा अभिसन्धन, निर्वाहन अर्थात् उपासना और ज्ञान करने योग्य! हे (अग्निरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अंगों २ में रसस्वरूप होकर विराजमान आत्मन् ! (त्वा) तुम्हको (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (हि) ही (अध्वरे) यज्ञ में जिस प्रकार (सुचः) यज्ञ चमयाकार पात्र अग्नि के प्रति जात हैं उसी प्रकार (अध्वरे) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में (सुचः) स्रवण अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१५५२—१. अवनक्तु, अम्बुध्वनिप्रश्रवणान्तिगतिसु [आदिः]

२. सुचः क., चिरुच । सुचः सक्त इत्येते सुधातो रूपे । सुगतौ म्वादिः।

में प्राण और इन्द्रियगण (चरन्ति) विचरन् कर रहे हैं (यज्ञेषु) सब दान परोपकार और यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्यों में या सब आत्माओं में (पूर्णम्) सबसे श्रेष्ठ, सबसे पूर्ण विद्यमान एवं पूर्णस्वरूप (उर्जं नपात) रस या बल से आत्मा को पालन करने हारे (धृतकेशं) दीप्तिरूप किरणों से युक्त आप (अग्निम्) ज्ञानरूप परमेश्वर को (ईमहे) हम याचना करते और आपकी शरण आते हैं ।

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २
[१५५४] अच्छा नः शीरशोचिषं गिरां यन्तु दर्शनम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा यज्ञासा तमसा पुरुवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५५] अग्निं भूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम् ।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्व होता मन्द्रतमो निशि ॥ २ ॥ ८ ॥

अ० ७ । ७२ । १०, ११ ॥

भा०—(१) (न०) हमारी (गिरां) उच्चारण की हुई वेदवाणियां स्तुतियां (दर्शनम्) ज्ञानदृष्टि से दर्शनीय (शीरशोचिषं) अग्नि के समान वेदीप्यमान कान्तियुक्त (पुरुवसुं) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को बल देने हारे, उनमें बसे या बहुत ऐश्वर्यों के स्वामी (पुरुप्रशस्तं) सबसे श्रेष्ठ या प्रजाओं द्वारा कीर्तित उस उत्तमशक्त परमात्मास्वरूप अग्नि को (कतये) अपनी रक्षा के लिये । यन्तु) प्राप्त हों । (यज्ञासः) हमारे आत्मा भी (तमसा) आदर और भद्रा सहित उसके ही (अच्छा) भली प्रकार प्राप्त हों ।

(२) (सहसः सृजुं) बल, द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करने योग्य और समस्त बलों के प्रेरक (जातवेदम्) व्यापक, सर्वज्ञ सर्वेश्वर्यवान् उस (अग्निं) तेजोमय आत्मा को (वार्याणाम्) वरदान करने योग्य पदार्थों के (दानाय) प्राप्त करने के लिये (अच्छा) प्राप्त होओ । (य) जो (अमृतः)

अमृतस्वरूप होकर भी (द्विता) दो स्वरूपों में विद्यमान है । एक तो (मर्त्येषु) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में (आ होता) भोक्तारूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवों का दाता और (विशि) समस्त प्रजाओं में (मन्दतम) परम आनन्ददाता ईश्वर है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २२
[१५५६] अदाभ्यः पुर एता विशामभिर्मानुपीणाम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २
तूर्णैरथ सदा नवः ॥१॥

३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५५७] अभि प्रयासि वाहसा दाश्वान् अश्नोति मर्त्यः ।

१ २ ३ १ २
क्षयं पावकशोचिपं ॥२॥

३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५८] साह्वान्विभ्या अभियुजः क्रतुर्देवानामसृक्तः ।

३ २ ३ १ २

अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥३॥६॥ अ० ३ । ११ । ५, ७, ६ ॥

भा०—(१) (मानुपीणा) मननशील (विशां) प्रजाओं का (तूर्णैः) अति शीघ्रगामी (रथः) रथ के समान देहेन्द्रियसंघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने हारा या रमणशील (सदा) निरन्तर (नवः) नूतन, अजर (अभिः) आत्मरूप यह अभि (अदाभ्यः) देह के नाश हो जाने पर भी न मरने हारा, (पुरः एता) प्राप्य या पालन करने योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है ।

(२) (दाश्वान्) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करने हारा सावक (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (वर्हिषा) शरीर को रथ समान धारण करने हारे उस आत्मरूप अभि से ही (प्रयासि) समस्त सुख और भोग्य पदार्थ (अभि अश्नोति) भोग करता है और अपने आप

■ (पावकशोचिष) पावन करने होरे तेज के (ज्यं) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है । अर्थात् आत्मा से ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है ।

(३) वह अग्नि (सुविभवस्तमः) बहुत अज्ञादि भोग्य साधनों से सम्पन्न, (विष्वाः) समस्त (अभियुज) आक्रमण करने वालों को (साह्वान्) वश करने द्वारा, (देवाना) विद्वानों का एकमात्र (क्रतुः) कार्यसम्पादक, साक्षात् कर्त्ता, अथवा (देवाना) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का (क्रतुः) कर्त्ता (असृक्तः) अविनाशी और अजम्भा है ।

उ १ २ ३ १२ २२ ३ ४ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[१५५६] भद्रो मां अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अश्वर ।
० २ ३ १२ २२

भद्रा उत प्रशस्तय ॥ १ ॥

उ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५६०] भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येन समस्तु सामहि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २

अवस्थिरा तनुहि भूरि शर्द्धतां वनेमात अभिष्टये ॥ २ ॥ १० ॥

क० ॥ १२६ । १२६, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१११] पृ० ५६ ।

(२) हे' अग्ने परमात्मन् ! (वृत्रतूर्ये) विघ्नकारी अज्ञानों और शत्रुओं को नाश करने के कार्य में (येन) जिस संकल्पशक्ति से आप (समस्तु) संग्रामों में (सामहिः) विघ्नों का नाश करते हैं उस (मनः) हमारे मन को भी (भद्रं) कल्याणकारी (कृणुष्व) । (शर्द्धतां) प्रवृत्त होने वाले शत्रुओं (स्थिराणि) बलों को (अव तनुहि) नीचे दबा दे । हम (अभिष्टये) अभीष्ट प्राप्ति लिये (ते) तेरी शरण को (वनेम) प्राप्त होते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहस्रो यदो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे देहि जातवेदो महिश्रवः ॥ १ ॥

[१५६२] स इधानो वसुः कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।

रैवदस्मभ्यं पुत्रणीक दीदिहि ॥ २ ॥

[१५६३] क्षपो राजन्त तमनाग्ने वस्तोरुतोपसः ।

स तिमजस्म रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

श्रु० १। ७६। ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [६६] पृ० ५३ ।

(२) (५) वह (वसुः) सबको वास देने और सबमें बसने हारा (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (गिरा) वाणी द्वारा (ईडेन्यः) सबके स्तुति करने योग्य है । हे (पुरु अनीक) पुरु=बहुत भारी, अनीक अर्थात् शक्ति से सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन् ! तू (अस्मभ्य) हमारे (रैवत्) प्राणवान् आत्मा के भीतर । दीदिहि) प्रकाशमान् हो ।

(३) (उत) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरंजन करने हारे प्रकाश मान परमात्मन् ! (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप आप (तमना) स्वयं आत्मा के बल से कीर तेजस्वी राजा के समान (रक्षसः) राक्षसों, दुष्टभावों और पुरुषों को (वस्तोः) दिन (उत) और (उपसः) रात्रि के समाप्तिकाल उपाधों अर्थात् नित्य, ज्ञानोदय कालों में (क्षप) दूर भगा दो । हे (तिमजस्म) तीक्ष्णमुख ! अग्नि के समान तेज से अन्धकारों को नाश करने हार ! आप सबसी भावों या राक्षसों (प्रति दह) मस्म करो, निर्मूल करो । जिससे वे निर्धौज होकर पुनः जन्म मरण के बंधन का कारण न हों ।

इति तृतीयः पण्डः ।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथि वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।

अग्नि वो दुर्य वचः स्तुपे शूषस्य मन्मभिः ॥ १ ॥

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
[१५६५] यज्ञनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् ।

२ ३ २ ३ १ २

प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५६६] पन्यांसज्ज्ञानवेदस यो देवतात्युद्यता ।

२ ३ २ ३ २

हव्यान्पेरयद्विदि ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [८७] पृ० ४६ ।

(१) (हविष्मन्तः) ज्ञानवान् (जमास०) पुरुष (य) जिस (सर्पि-आसुतिं) सर्पणशील इन्द्रिय और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे, अथवा घृत की आहुति के समान सर्पणशील प्राणरूप इन्द्रिय और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् लीन करने हारे अग्नि को (मित्रं न) मित्र के समान (प्रशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (प्र शंसन्ति) वर्णन करते हैं ।

(३) (पन्यासं) अति स्तुति करने योग्य, या व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत्-व्यवहार को चक्षाने हारे (जातवेदम्) सर्वज्ञ, सर्वशर्पवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो (य०) जो (देवताति) देवों के हितकारी यज्ञस्थान में (उद्यता) उद्यत, प्रस्तुत (हव्यानि) हव्य आदि उत्तम अन्नमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश में फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को (दिवि) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आश्रय पर (पेरयद्) प्रेरित करता है । अथवा (य०) जो (देवताति) इस महान् देवगण पृथिवी, जल आदि के हितकर (दिवि) आकाश में (उद्यता हव्यानि) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बढ़ सूर्यादि लोकों को (पेरयत्) प्रेरित करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
 [१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरागृण्ये शुचिं पात्रकं पुगे अघ्वरे
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 ध्रुवम् । विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहम् कविं सुमनैरीमहे
 ३ १ २
 जातवेदसम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ २
 [१५६८] त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे हव्यावाहं दधिरे पायुमीड्यम्
 ३ १ १ ३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
 देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्वपतिं नमसा निषेदिरे
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६९] विभुषन्नग्न उभयौ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीपसे ।
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
 यत्तं धीतिं सुमतिमावृणोमहेऽध स्मा नस्त्रिवरुथ शिवा
 २

भय ॥ ३ ॥ १३ ॥

अ० ६ । १५ । ७-६ ॥

भा०—(१) (समिद्ध) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, (शुचिं)
 कान्तिमय, (पात्रकं) सब को पवित्र करने हारे (अघ्वरे) हिंसारहित,
 आविनाशी, जविनप्रद, ससार रूप यज्ञ में (पुगे) सब से पूर्व (ध्रुवम्)
, ... (आग्ने) तेज स्वरूप परमेश्वर को (समिधा)
 ज्ञानमयी (गिरा) वाणी से (गृण्ये) वर्णन करता हू । वसी (विप्रं)
 ज्ञानवान् मेधावी (होतारं) सर्वप्रश्न, (पुरुवारं) प्रजाओं के रक्षक,
 (अद्रुहं) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय (कविं)
 अन्तर्यामी, क्रान्तन्दशी (जातवेदस) सर्वज्ञ उस परमात्मा को (सुमनैः)
 उत्तम मनन निदिध्यासनो द्वारा या सुखकारी स्तोत्रों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना
 उपासना करें ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (अमृतं) अमृतस्वरूप, (हव्यावाहं)
 सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, (पायुं) जगत के पालक, (ईड्यम्)
 सब को वन्दनीय, (त्वा) तुमको (युगे-युगे) प्रत्येक युग में निजान्

लोनों ने अपना (दूत^१) सदा उपास्य, मनन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया । और (देवास.) दिव्य ज्ञानवान् और (भर्त्यास०) भरणधर्मा कर्मबद्ध सामान्य जीव दोनों तुमको ही (जागृधि) सदा जागरणशील (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विश्वर्ति) समस्त प्रजाओं का पालन करने द्वारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (नि पेरिरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते और तेरे गुरु चरणों में बैठ कर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! । उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूयन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनु यता । समस्त यज्ञों । देवाना) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जीवों को (दूत०) साक्षात् प्राप्त । उन के प्रति जाना ज्ञानप्रकाशक हांकर (रजसी । समस्त धौ और पृथिवी लोकों में (समीपसे) व्यापक रहता है । (यत्) क्योंकि हम (ते) तेरी ही (सुमति) उत्तम स्तुति और (धीति) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू (त्रिवरुणः) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिवः) हमारा कल्याणकारी (भव स्म) हो ।

[१५७०] उप त्वा कामयो गिरौ देदिशतीहविष्कृतः ।

घर्योरनीके अस्थिरान् ॥ ॥

[१५७१] यम्य त्रिधात्ववृतम्बहिस्तस्थावसान्दनम् ।

आपश्चिन्नदधा गदम् ॥ २ ॥

[१५७२] पद देनम्य मीदुषो नाष्टृष्टामिरुतिभिः ।

भद्रा सूर्य इवापटक् ॥३॥१४॥ अ० ६ । ६१ । १३, १४ ॥

१. ■ इ गतो (म्वादि) ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३] पृ० ६ ।

(२) (यस्य) जिस आत्मा का (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना (अवृत) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मांसादि धृणाजनक पदार्थों का बना होने से न बरणा करने योग्य (असन्दिनम्) अवन्द अर्थात् आत्मा से सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने हारा, (बहिः) वृद्धिशील और बन्धन होने से ज्ञानरूप शस्त्र से काटने योग्य देहबन्धन (तस्यै) स्थिर उस अग्निरूप आत्मा में (आपः) समस्त कर्म और प्राणगण (पद) स्थान (निदधा) प्राप्त करते हैं अथवा सब (आप) प्राण और ज्ञानवृत्तियाँ (पदं) अपना आश्रय (निदधा) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पक्ष में—(त्रिधातु) सूक्ष्म, रजस्, तमस् से बना (अवृतं) प्रायश्च रूप (बहिः) महान् ब्रह्माण्ड रूप देह (असन्दिनम्) गतिमान् (तस्यै) स्थिर है । जिसमें (आपः) समस्त लोक (पदं निदधा) स्थान पाते हैं ।

(३) (मीदुषः) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान देव का (पद) परम पद, परम रूप (अनाधृष्टाभिः) अद्वितीय, अबाधित, (उत्तिभिः) सुखों का पुङ्गव है । और उसका (उपदृक्) साक्षाद् दर्शन (सूर्यः इव) सूर्य के समान सदा (भद्रः) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्थः ।



अपि—१, ८, १८ मेध्यासिधिः काण्वः । २ विश्वामित्रः । ३, ■ भर्गः
 प्रागाथः । ५ सोमरिः काण्वः । ६, १५ ह्युनःशेष आजीगर्तिः । ७ सुमन्त्र । ८
 विश्वकर्मा भौवनः । १० जनान्तः । पारुच्छेपिः । ११ मरुद्वाजो बार्हस्पत्य १२
 गोतमो राहुगण । १३ ऋजिधा । १४ वामदेवः । १६, २७ इयनः प्रागाथः
 देवासिधिः काण्वः । १६ पुष्टिगुः काण्वः । २० परितनारदौ । २१ अत्रिः ॥
 देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ३ अग्निः । ४
 वरुणः । ५ विश्वकर्मा । १०, २०, २१ पवमानः सोमः । २२ पूषा । १२
 मरुतः । १३ विश्वेश्वरः । १४ व्यासपुत्रिण्यौ ॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १७-१८
 प्रागाथम् । २, ६, ७, ११, -१६ गावत्री । ५ बृहती । ६ त्रिष्टुप् । १०
 अग्न्यष्टिः । २० उज्जिक् । २१ । जगती ॥ स्वरः—१, ३, ४, ५, ८, १७-१९
 मध्यमः । २, ६, ७, ११-१६ पङ्क्तः । ■ धैवतः . २० । गान्धारः । २०
 अरभः । २१ निषादः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २
 [१५७३] अभि त्वा पूर्वपीतने इन्द्रस्नामोभिरायय ।
 ३ १ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 समीचीनाम् ऋभवं समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूज्यम् ॥१॥
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 [१५७४] अग्नेदिन्द्रो वाचुर्वे वृष्यं शवो मदे सुनम्य विष्णवे ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
 अथ तमस्य मदिमानमायवाऽनुष्टुबन्ति पूज्या ॥२॥१॥
 ५० ८ । ■ । ७, ८ ॥

भा०—(२) व्याख्या देखो अपिकल स० [२५६] पृ० ।

(२) (इन्द्रः) इन्द्र (अस्य इत्) इस ही (सुतस्य) उत्पादित
सोमरूप आत्मानन्द के (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द, हर्ष में
(वृष्य) सुखों के वर्धक (शवः) बल को (आवृधे) बढ़ा देता है ।
(आयवः) मनुष्य आयु में बद्ध जीवगण और ज्ञानवान् दुरुष (पूर्वथा) पूर्व
के समान (अद्य) आज भी (अस्य) इस आत्मा के (तं) उस (महि-
मान) महान् सामर्थ्य को (अनुद्बुधन्ति) वर्णन करते हैं ।

[१५७५] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी इष आवृधे ॥ १ ॥

[१५७६] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी नवातम्पुरा दासपत्नीरधूनुतम् ।

^{३ १ २ ३ १ २} साकमर्केन कर्मणा ॥ २ ॥

[१५७७] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी अपसर्ययुपयन्ति धीतयः ।

^{१ २ ३ १ २ ३ १ २} अतस्य पथ्याऽऽनु ॥ ३ ॥

[१५७८] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} इन्द्राग्नी तन्निपाणि वां सधस्थानि प्रयासि च ।

^{३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} युवारप्सुर्ध्वं हितम् ॥ ४ ॥ २ ॥ अ० ३ । १२ । ५-८ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! परमेश्वर और अमिरूप जीव !
(वाम्) आप दोनों को (नीथाविदः) सामगान या ब्रह्ममार्ग के जानने
होए (जरितार) स्तुतिकर्ता विद्वान् पुरुष और (उक्थिनः) वेदज्ञानी
विद्वान् (प्र अर्चन्ति) उत्तम रूप से उपासना करते हैं । मैं भी (इधे)
बल प्राप्त करने के लिये उन दोनों (इन्द्राग्नी) आत्मा और परमात्मा को
(आवृधे) वर्णन करता हूँ उपासना करता हूँ ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ब्रह्म और जीव ! जो दोनों आप (दासपत्नीः) विना
शक भावों से परिपालित (नवातिम्) नव्ने (पुरः) कामनाओं को (एकेन क-
र्मणा) एक कर्म अर्थात् योग से ही (साकं) एक साथ (अधूनुतम्) कंपा

देते हो उन आप दोनों को हम स्मरण करते हैं । इन्द्रिय भेद से १०, सत्व रजस् तमस् भेद से ३० प्रकार हुए, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय भेद से तीनों कोशों में ३० पुर होते हैं । एकादश इन्द्रिया मान कर ११ पुर भी कहे जाते हैं ।

(३) हे (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्ने ! (धीतयः) ध्यान करने हारे विद्वान्जन (ऋतस्य) ब्रह्मज्ञान के (पथ्या) मार्गों को (अनु) अनुगमन करते हुए (अपसः) कमों को (परि उप प्रयान्ति) पार के आपके समीप तक पहुँच जाते हैं ।

(३) हे (इन्द्राग्नी) जीव और ब्रह्म (वा) आपके (तविषाणि) बल और (प्रपासि) ज्ञान (सधस्थानि) साथ ही रहते हैं और (युवा) आप दोनों में (अन्तरे) कमों और लोकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और सूक्ष्म शरीरों को प्रोत्ति करने वाला बल भी समानभाव से (दितम्) स्थापित ।

३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[१५७६] शग्ध्युऽरेषु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरुतिभिः ।

१ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २

भगं नहि त्वा यशस वसुविदमनु शूर चरामासि ॥१॥

३ १२ २२ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१५८०] पारो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युन्सो देव हिरण्ययः ।

१ ३ १२ २२ ३ १ २ २ २२ ३ १२ २२

नकिर्हि दानं पारि मर्द्धिपत्ते यद्यद्यामि तदाभर ॥२॥ ॥

॥ ८ । ६१ । ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५३] पृ० १२६ ।

(२) हे देव ! परमात्मन् ! आप (अश्वस्य पारः) ओक्ता जीव के पूर्ण एवं पालन करने हारे और (गवा) इन्द्रियों के भी (पुरुकृत्) पूर्ण करने हारे हैं । अर्थात् आपने ओक्ता जीवको भोग साधन देकर पूर्ण किया है और इन्द्रियों को रूपआदि भोग्य विषय देकर पूर्ण किया है और (हिरण्ययः)

मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक (उत्सव) कृप के समान सब आनन्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारगरूप हैं । आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है । परमात्मन् ! (ते) आपके दिये (दानं) दान को (नकिः परिमार्धिपन्) कोई भी नाश नहीं कर सकता । आपसे मैं (यद् यद्) जो (यामि) याचना करता हूँ वह (आभर) प्राप्त कराइये ।

२४ १ ३ २४ ३ १ २
[१५८१] त्वं होहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्धावृषस्व मघवन् गविष्टये उदन्द्राश्वमिष्टये ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५८२] त्वम्पुरु सहस्राणि शतानि च यूथा पानाय मंहसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चक्रम विप्रवचस इन्द्राज्ञायन्तोऽवसे ॥२॥४॥

अ० १ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—(१) म्यात्मा देखो अधिकृत सं० [२४०] पृ० १२२ ।

(२) हे इन्द्र (त्वं) आप (पुरु) बहुतसे (सहस्राणि) हजारों और (शतानि च) सैकड़ों (यूथा) यूथ (पानाय) दानशाली पुरुष को (मंहसे) देते हैं । (विप्रवचसः) मेघावी ज्ञानी, पुरुषों समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर । अवसे) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये (गायन्तः) स्तुति करते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा को ही (पुरन्दरं) इस देहरूप पुर को तोड़ने हारा (आचक्रम) स्वीकार करते हैं । अथवा—हे आत्मन् ! तू सैकड़ों हजारों (पुरु) पालन एवं तृप्त करने हारे पदार्थ केवल (पानाय) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता । अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम (अबसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये (चक्रम) साधना करें ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ २ २
[१५८३] यो विश्वा दयते वसु हांता मन्द्रो जनानाम् ।

२ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २
मध्रान पात्रा प्रथमा स्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वगनेये ॥१॥

२ ३ २ ३ ३ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८४] अश्वं न गीर्मी रथ्यं सुदानवा मर्मज्यन्ते देवयवः ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उम तोके तनय दस्मै विशपते पर्षि राधो मघोनाम् ॥२॥५

अ० २०३ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [४४] पृ० १६ ।

(२) हे (दस्म) दर्शनीय, कमनीयरूप ! हे (विशपते) समस्त प्रजा के पालक ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (देवयव) देव परमात्मा की चाह करने वाले (सुदानव) अपने को उत्तम रूप से समर्पण करने हारे, अक्र (गीर्मि.) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी (रथ्यं) इस देहरूप रथ के योग्य (अश्वं न) अश्व के समान मोक्ष आत्मा को ही (मर्मज्यन्ते) शोधन किया करते हैं । उसको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही (मघोनाम्) मघ=मर्त्य=ज्ञान धनी पुरुषों के (तोके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उमे) दोनों में (राध) आराधनीय विवर का (पर्षि) दान करते हैं ।

नास्य अन्नहावित् कुले भवति (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इति प्रथम खण्डः ।



३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१५८५] इमम्मे वरुण शुचि हवमद्या च मुडय ।

१ २ १ २ २ २
त्वामवस्युराचके ॥१॥६॥ अ० १ । २५ । ३६॥

भा०—(१) हे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! (मे) मेरे । इमे) इस (इवम्) पुंकार को (अधि) श्रवण कर । (अद्य च) और वर्तमान में हमें (मृडय) सुखी कर । मैं (अवस्युः) अपनी रक्षा तथा आपकी शरण और ज्ञान चाहता हुआ (त्वा) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूँ ।

१ ३ १ २ ३ १२ २२

[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्दसे घृपन् ।

१ २ ३ २ ३ १ २

कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ अ० ८ । २३ । १९ ॥

भा०—(१) हे, इन्द्र ! हे (घृपन्) सुखों से वर्षाने वाले श्रेष्ठ परमात्मन् ! (कया कया) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से (त्व) आप (नः) हमें (प्रमन्दसे) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और (कया) किस उत्तमता से (स्तोतृभ्यः) विद्वान् पुरुषों को (आभर) सब पदार्थ प्राप्त कराते ?

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५८७] इन्द्रमिहैवतातय इन्द्र प्रयत्यध्वरे ।

१ २३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५८८] इन्द्रो मह्यो रोदसी पप्रथच्छ्रुव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।

१ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्द्रव २।८

अ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सू० [२४६] पृ० १२७ ।

(२) (इन्द्र) परमेश्वर (शवः) अपने बलकी (मह्यो) महिमा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है, बनाता है । (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (येमिरे) व्यवस्थित करता है । (इन्द्रे)

परमेश्वर ही (इन्द्रव.) योगी लोग मुक्त पुरुष (स्वानासः) आनन्द रस का लाभ करते हैं और उसी में निमग्न होजाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १
[१५८६] विश्वकर्मन् हविषा वावृधान स्वयं यजस्व तन्वांऽ३ऽस्या
२२ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
दिते । मुह्यन्त्वन्ये अभि तो जनास इहास्माकम्मघवा
३ ॥
सुरिरस्तु । ॥१॥६॥ ऋ० १० ८१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्वकर्मन्) तमाम संसार के स्रष्टा परमेश्वर !
(हविषा) ज्ञान से और सामर्थ्य से (वावृधानः) सबसे सदा महान्
(स्वाहिसे) उत्तम रीति से आधान किये गये इस विश्व ब्रह्माण्ड
(तन्वा) विस्तार शीला, धाँ और पृथिवीरूप शरीर में (स्वयं) अपने
आप तू (यजस्व) एक ही दूमेर का उपकारक बनाता है ! (अन्ये) और
तेरे ॥ भिन्न अल्पज्ञ (जनासः) जन जीवगण (अभित) इसको साक्षात्
देखकर भी (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त होते हैं । (इह) इस विशाल ब्रह्माण्ड यज्ञ
विशाल करने में (मघवा , ज्ञानमग्नादक परम ज्ञानी परमेश्वर)
(अस्माक) हमारा (सुरि) ज्ञानोपदेश (अस्तु) हो ।

“तत्रोतिहासमाचरते-विश्वकर्मा भौवन मयमेधे मघाणि भूतानि जुह-
वायकार म आत्मानध्वन्ततो जुहवान्धकार । तदाभियादिनी एषा अग्नौ
भवति ।” (निरु०) । विश्वकर्मा भौवन ने मयमेध यज्ञ में समस्त भूतों
को दहन कर दिया और अन्त में अपने आत्मा को भी स्वाहा कर दिया ।
यह आग्निक यज्ञ भी गर्जन है । और विशालतन्त्र में बड़ी यज्ञ ब्रह्मा-
ण्डमय विराट शरीर में भी हो रहा है । परमात्मा समस्त-पृथिवी आदि
पाँचों भूतों को मिश्रण करके समस्त रचना है और आप भी उसका व्यापक
व्यवस्थापक होकर, उसी में स्नान रचना है । तस्मात् तदेकानुप्रविशत ।

१६८८—“दग्धा दग्धोद्गन्तु” इति ३० ।

(छान्दोग्य उप०) इसी प्रकार आत्मा देह में पचभूतों के पाँचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुनः स्वप्न और यमाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे विश्वकर्मन् ! सर्व कर्मों के कर्त्ता जीवात्मन् ! (इन्द्रिया) ज्ञान से (बाह्यधान) बढ़ता हुआ (स्वाहिते) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस (तन्वा) देह में तू (स्वयं यजस्व) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और (अन्ये जना मुह्यन्ति) दूसरें, मूर्ख, अनात्मज्ञ ज्ञान मोह को प्राप्त हो जाते हैं और (मयथा) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में (अस्माकं सूरिः अस्तु) हमारा ज्ञानोपदेष्टा हो ।

१-तन् अग्निर्मुखं चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा का स्वरूप का रूप—तस्माद्भिः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात् पशून्वा ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योपिताया
वह्नीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसृताः ॥ मुण्डक २ । १ । ५ ॥

गीता के यज्ञचक्र और छान्दोग्य उप० में पञ्चाहुतिप्रकरण भी देखने योग्य हैं ।

३ २ ३ १४ २४ ३ २४ ३ १ २ ३ १
[१५६०] अथा रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांनि तरानि सयु-
२ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्भिः सूर्यो न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १४ २४ २ ३ २ ३ १ ३ १४ २४ ३ १ २ ३
अरुणो हरिः विश्वा यद्रूपा परियास्युकभिः सप्तास्येभि
॥ २
ऋकभिः ॥ १ ॥

[१५६२] त्व ह त्वत्पणीना विदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयाले स्त्र
आ दम अनस्य धीतिभिर्दमे । पणवतो न साम तद्यत्रा-
रणन्ति धीतयः त्रिधातुभिररुषीभिव्यो दधे रौचमानो
वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० १ । १११ । १, ॥, २ ॥

भा०—(१) (पृष्ठस्य) साथ स्पर्श करने द्वारे, सबक पोषक प्राण की (धारा) धारण शक्ति, या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्वरूप योगी आत्मा (पुनान्) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर (यत्) जब (विश्वा) समस्त (रुपा) पदार्थों को (सप्तास्यै) सर्पणशील आस्य अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान (आकामि-) गतिशील, प्राण्यग्राही, (आकामिः) उत्तम, प्राणरूप इन्द्रियों से (परिधासि) प्राप्त करता है तब (सयुग्मभिः) अपने सहयोगी किरणों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा (द्वेषासि तरति) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार (अरुपः) कान्तिमान् तेजस्वी (हरिः) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने द्वारा योगी (अथा) इस तरह (हरिण्या) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली (रुचा) विशेष दीप्ति से (पुनान्) प्रकाशमान होकर (सयुग्मभिः) अपने योगबल द्वारा बशीकृत अष्टागों या इन्द्रियों और मन के द्वारा (विश्वा) समस्त (द्वेषासि) द्वेष करने द्वारे प्राणियों और योग के शत्रुरूप अन्तर्विघ्न काम, क्रोध आदि रिपुओं को (तरति) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

(२) (यद्) जब जीव और परमात्मा (समस्तु) एकत्र आनन्द प्राप्त करके समाधि में अवसरों पर (अनपच्युता) अविचलित राजा और मन्त्री के समान (अनपच्युता) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब (चेकितत्) ज्ञानवान् योगी (प्राचीं) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, (प्रादिशं) उत्तमरूप में जानने योग्य दिशा-मार्ग के प्रकाश को (याति) प्राप्त कर लेता है और (दर्शतः) दर्शनीय (रयः) सूर्य के समान योगी का वह (दर्शतः) दर्शनीय (रयः) रमण करने द्वारा आत्मा (ररिमभिः) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरश्मियों से और भी (पतते) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । [ही (जैत्राय) अपनी इस मुक्ति मार्ग की विजय के लिये (इन्द्रं) आत्मा को (हर्षयन्) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक हर्षित और प्रवृत्त करता हुआ (पौंस्या) बलशाली या बलप्रद (उक्थानि) स्तुतियों का (अग्मन्) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक (वज्रं च) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है ।

(३) हे सोम ! योगिन् ! (त्व) तू (पणीनां) व्यवहार में गति करने द्वारे या स्तुति करने द्वारे विद्वानों के (त्यत्) उस (वसु) जीवन या वास कराने द्वारे आत्मधन को (विदः) जानता है और उसको (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (धीतिभिः) धारण करने द्वारे (मातृभिः) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक ऋतंभरा प्रज्ञाओं द्वारा (दमे) इन्द्रियों और मन को दमन करने वाले (स्वे) अपने (दमे) आश्रयरूप आत्मा में (संमजयसि) खोजता या परिशोध लगाता है, और भी परिष्कृत करता है । (तत्) वह परम आश्रयरूप आत्मा (परावतः) दूर देश से सुनाई देने द्वारे (साम न) गान के समान मनोहर है । [यत्र] जिसमें (धीतयः) ध्यान करने द्वारे योगी आश्रय लेकर (रयान्ति) रमण करते हैं । वह आत्मज्ञानी योगी (त्रिधातुभिः) तीन प्रकार की धारणा करने वाले इन्द्रियों से सम्पन्न (अरुषीभिः) कान्तियों या दीप्तियों या किरणों से ही (वयः) जीवन और

प्राण को (दधे) धारण करता है और फिर (रोचमान-) सूर्य के समान प्रकाशमान होकर (वय दधे) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है ।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय । अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ ।

इति द्वितीय खण्डः ।

उत्त नो गोपक्षि धियमश्वसा वाजसामुन ।

उ१ ॥ उ१ २

नृवत्कृणुह्युतये ॥ ११ ॥ अ० ६ । ५३ । १० ॥

भा०—(१) हे परमात्मान् ! आप (न) हमें (गोपक्षि) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, (अश्वसां) प्राणोन्द्रियों के प्रेरक (वाजसा) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी (उत्त) और (नृवत्) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे (धियम्) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को (उतये) रक्षा के लिये (कृणुहि) प्रदान करो ।

उ १ २ उ १ २

[१५६४] शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।

उ१ २ २२ ॥ १२

विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ अ० १ । ८६ । ८ ॥

भा०—(१) हे (सत्यशवसः) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्य-
ज्ञान से सम्पन्न (नरः) शरीर और इन्द्रियों को चहन करने हारे नेतास्वरूप विद्वानो ! और प्राणो ! (शशमानस्य) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाले (स्वेदस्य) प्राणायाम के अवसर पर समस्त गात्र में स्वेद धारण करने वाले, उद्योगी (वेनतः) विद्वान् योगी के (कामस्य) मनःसकल्य को प्राप्त कराओ ।

[१५६५] उप नः सुनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।

सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ अ० ६ । १२ । १ ॥

भा०—(१) (ये) जो (नः) हमारे (सुनवः) ज्ञान के उपदेश करने हारे विद्वान् या पुत्र वे (अमृतस्य) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में (गिरः) वाणियों को (उप शृण्वन्तु) प्रेम से श्रवण करें, करावें और (नः) हमारे लिये [सुमृडीकाः] उत्तम रूप से सुखकारी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण (नः गिरः, उपशृण्वन्तु) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियों श्रवण करावें ।

[१५६६] प्र चाम्महि धृवी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।

शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

[१५६७] पुनामे तन्वा मिथ स्वेन दक्षेण राजथ ।

उह्याथे सनादतम् ॥२॥

[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती आनम् ।

परि यज्ञशिषेदथुः ॥३॥१४॥ अ० ॥ । ५६ । ५-७ ॥

भा०—(१) हे (धृवी) प्रकाशमान् सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (अभि) साक्षात् करके आपके (महि) बड़ी (उपस्तुति) गुणवर्धन (प्रभरामहे) करते हैं । आप दोनों (उपप्रशस्तये) उत्तम कीर्ति के कारण (शुची) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा धौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुक्तजीव ! आप दोनों (महि धृवी उपप्रशस्तये शुची) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका (अभि) साक्षात् कर हम (स्तुति उप प्र भरामहे) आपके गुणों का सर्वत्र वर्णन करते हैं ।

(२) हे जीव और परमात्मन् ! या शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने (तन्वा) शरीर अर्थात् स्वरूप और (दक्षेण) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से (मिथः) परस्पर (पुनाने) एक दूसरे को पवित्र करते हुए (राजयः) प्रकाशित होते हो और (सनाद्) सदा काल से (ऋत) सत्य ज्ञान को (उद्गाथे) धारण करते हो ।

(३) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्ण करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों (मही) बड़ी महिमा वाले (ऋतं) सत्यज्ञान को (तरन्ती) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को (पिप्रती) पूर्णरूप से पालन करते हुए (मित्रस्य) मित्रस्वरूप परमात्मा की (साधयः) साधना करते हो और (यज्ञ) यज्ञ, परस्पर विद्या-स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये (परिनिषेदधुः) यज्ञ से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५६६] अयमु ते समतसि कपोन इव गर्भधिम् ।

१ २ १ २
वचस्तस्मिन् ओ हसे ॥१॥

३ १ २ १ २ ३ १ २
[१६००] स्तोत्रं राधाना पते गिर्वाहां वीर यस्य ते ।

१ २ ३ १ २
विभूतिरस्तु सूनृना ॥२॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ २४
[१६०१] ऊर्ध्वस्तिष्ठा ऊतयस्मिन्वाजे शतक्रतो ।

२ ३ १ २
समन्येषु प्रवावहे ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । ३० । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१८३] पृ० ।

(२) (राधाना पते) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (गिर्वाहः) वाणियों द्वारा उपदेश करने वाले भगो गुरो ! (यस्य) जिसके

(स्तोत्रं) समस्त सत्य उपदेश हैं उस (ते) तेरी ही (सृजता) वेदवाणी
(विभूतिः) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति (भस्तु) हों ।

(३) हे (शतक्रानो) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने वाले
(इन्द्र) आचार्य ! (अस्मिन्) इस (जाने) यज्ञ में (न.) हमारी (उत्तमे)
रक्षा के लिये आप (ऊर्ध्व.) हमारे ऊपर सदा (तिष्ठ) विराजमान रहें
(अन्येषु) हम अन्य अवसरों पर (य.) प्रभावैह) परस्पर सत्संग कर
ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहा इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । “कस्य ब्रह्मचार्यसि;
भवत्.”, “इन्द्रो ब्रह्मचार्यसि” इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०२] गात्र उपवदावटे मही यक्षस्य रणसुदा ।

३ १ २ २ ३ १ २

उभा कर्णा द्विरययया ॥ १ ॥

■ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०३] अभ्यारमिदद्रयो निपिक्कं पुष्करे मधु ।

■ १ २ ३ १ २

अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०४] सिञ्चन्नि नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम् ।

३ १ २ ३ १ २

नीचीनवारमाक्षितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । ७२ । १२, १२, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [११०] पृ० ६३ ।

(२) (अद्रय^१) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष (अवटस्य) रक्षण
करने वाले देहबंधन के (विसर्जने) परित्याग के अवसर पर (पुष्करे^२) उस

१६०३—(१) “अक्तस्य विसर्जने”, (२) “अनृतमुच्चा चक्र” इति, अ० ।

१. अद्रय आद्रियगाणाः इति सायणाः । २. पुष्करे प्रवृद्धे इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें वक्ष के प्रदाता स्वतः आत्मा में (निषिक्तं) पूर्ण-
रूप से विद्यमान या बरसते हुए (मधु) ज्ञानानन्द अमृत को (अभि आरम्भ
इत्) साक्षात् किया करते हैं ।

(३) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गण ! (नीचीनवारं) निषेक्त इन्द्रिय
आदि नष्ट द्वारों वाले (अक्षितं) अक्षीय । परिज्मान) परिणाम या वृद्धता
को प्राप्त होने वाले, (उखाचक्रं) उख प्राणचक्र वाले (अवटं) इस देह को
(नमसा) अन्न द्वारा (सिंचन्ति) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक
देह बना रहता है तब तक उसको अन्न से रखा करते हैं ।

इति तृतीयः सूक्तः ।

—०—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१६०५] मा मेम मा अभिष्माग्रस्य सख्ये तव ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृत पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥
३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१६०६] लठ्यामनुस्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मध्वा सम्पृक्ताः सारधेण धेनवस्तूयमोहं द्रवा पिब
॥ २ ॥ १७ ॥ अ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (तव सख्ये) आपके मित्र भाव में
रहते हुए हम (मा मेम) कभी भय न करें । [मा अभिष्म] कभी अन्न
से पीड़ित न हों, कभी न थकें । (वृष्णः) सब सुखों की वर्षा करने हारे
(ते) तेरा (कृतं) बनाया हुआ यह संसार (अभिचक्ष्य) साक्षात्
स्तुति योग्य, दर्शनीय एवं (महत्) बहुत बड़ा है । हम इसमें (तुर्वशं)

१६०६—१. तुर्वश—तुर्नी हिंसायाम् (म्वादिः) इत्यतो बाहुल्यं अश्व-
औणादिकं हिंसा हिंस्यते वा न्वाध्यादिभिरिति तुर्वशः । यथा, तू-

हिंसाशील, जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीड़ित या बेमर्याद होकर भोग करने हारे या काम से पीड़ित, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पर-
वश करने हारे इस जीव को (यदुं) परमेश्वर के नियम में स्थित या
यम नियमादि के अभ्यासी होकर विषयों से उपरत हुआ (पर्यम)
देख लें ।

(२) (वृषा) वर्षण करने द्वारा, वीर्य का सेचक पुरुष (दानः)
समस्त प्राणियों को जीवन दान करते हुए मेघ के समान वीर्य दान करता
हुआ (सस्यो) उत्पादनशील भूमि के समान (स्फिग्यां) कटिप्रदेश में
स्थित गर्भधानी में (अनुवाचमे) जीव के रूप में स्वयं वास करता है । आत्मा
वै जायते पुत्रः । वह (अस्य) हम गर्भगत जीव के प्रति (न रोपति)
कभी कांप नहीं करता, बहा (सारघेय) प्रसरणशील, सारवात् (मध्वा)
अमृत जीव (Sprm) से (सम्पृक्ता) संसक्त हुई (धेनवा) शुक्र-
भारापुं (protoplasm) हैं । हे जीव ! तू (त्वम्) शीघ्र ही (एहि)
आ और (वव) शीघ्र आ और (पिब) उस पोषक रस का पान कर ।

(वृषा सस्यं वाचमे) जलों का वर्षक इन्द्र वीर्य कटिभाग में सब
प्राणियों को डक लेता है (दानो न अस्य रोपति) वह दानशील वज-
मान इन्द्र पर रोप नहीं करता (सारघेय मध्वा सम्पृक्ताः) मधुमक्खी के
शहद के समान रमीले दूध आदि से मिलित (धेनवः) धेनु=हमारे पान
करने योग्य सोम है । (त्वम् एहि वव पिब) हे इन्द्र तুম शीघ्र २ आओ
पान करो । यह अर्थ सायणवृत्त है ।

स्वरगर्भिण्यो (दिवादिः) इत्यन- तूर्णमश्नुते इति षण्मासदिवात्पू-
र्वपदहवकाग्रोपजनः, तूर्णशः अतन्नुष्टः । यद्वा तूर्णशः कामो यस्य सः ।
यद्वा वज्र फान्तौ (दिवादिः) इत्यतः अप । चतुर्षु धर्मादिषु वशोऽस्वेति,
चकारलंघनेन तूर्णशः ।

यहां वस्तुतः गर्भ में बीज के आने, जमने, जीव के प्रवेश और पालन का वर्णन है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र को उत्तरवेदि स्थान में बुलाया जाता है वहां ही सोम तय्यार करके रख आते हैं। और उत्तर वेदि योपा और योनि का प्रतिनिधि है। योपा वै उत्तरवेदि (शत०)। इम पदार्थ पर विचार करने से वे सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटोप्लाज़म और स्पर्म अर्थात् जीव का भोव्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आहित होकर वह वहां उसी के आधार पर जाकर गर्भधानी या छत्रक या कमल (प्रेसेन्टा) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहां ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१६०७] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १२ २२
पावकवर्णा शुचयो विपश्चिनोऽभिस्तोमैरनूपत ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६०८] अयं सहस्रमृपिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्यः सो अस्य माहमा गृणे शघो यद्यपु विप्रराज्ये

॥ २ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं में वास करने वाले और प्रचुर धन के स्वामी ! इन्द्रियों में ज्ञान करने और ज्ञाना ज्ञानों को बसाने वाले (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (मम) मेरी (इमा.) ये (गिरः) वेदवाग्विद्या (या उ । तुमको (वर्धन्तु) बढ़ाओ, तेरी यज्ञशक्ति को । तुमको ही (पावकवर्णा) अग्नि के समान काम्ति वाले, तेजस्वी, अथवा पालन करने वाले स्वरूप वाले शुद्ध, उदार, धर्मात्मा (शुचयः) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, (विपश्चिनो) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गण

(स्तोमै.) उत्तम वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूपत) साक्षात् ज्ञान करके
तेरा गुणगान करते हैं । (अवि० सं० २५०) पृ० १२८ ।

(२) (अयं) वह आत्मा और परमात्मा (सहस्रं) हजारों (अपिभिः)
मन्त्रार्थ द्रष्टा, तत्त्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन करने वाले परम योगियों
द्वारा (सहस्रकृत.) बल से युक्त, बलवान्, तीव्र, सब दुःखों पर विजयी किया
जाकर (समुद्र-इव) रसधाराओं, आनन्दतरंगों को ऊपर उमड़ाने वाले
समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तार को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द
सागर के समान उमड़ पड़ता है । (अस्य) इस आत्मा की (सः) वह
(महिमा) महिमा (सत्य) सत्य है और (विप्रराज्ये) मेधावी विद्वानों
राज्य, अधिकार, शासन, शिक्षण में और (यज्ञेषु) धर्म कर्मों (अस्य)
इस आत्मा के ही (शव) (गृये) महिमा को धर्यन्त करुं ।

■ ३ २४ ३ २ ३ ५ २ ३ २ ३ २
[१६०९] यस्यायं विश्व आर्यो दासः श्रेवधिपा अरिः ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तिरश्चिदर्थे रुषम पवीरवि तुभ्येतसो अज्यने रविः ॥१॥
३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१०] तुरगयवो मधुमन्तद्वृत्तश्चून विप्रासो अर्कमानृचुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रविः पप्रथे वृष्यं शवोऽसौ स्वात्तास इन्द्रवः
॥ २ ॥ १६ ॥ ५१। ९, १० ॥

भा०—(१) (यस्य) जिस परमात्मा का (अयं) यह (विश्व)
समस्त (आर्य) श्रेष्ठ (अरिः) मनुष्य (श्रेवधिपा.) उसके दिव्य
धन ज्ञान की रक्षा करने द्वारा (दासः) मृत्यु के समान है और उस
यज्ञरूप (अर्थ) स्वामी (अस्मे) सबके नियन्ता (पवीरवि ^१) पाप-

१६११—१ पवि शब्दो भवति । यद्विपुनानि कायं । तद्वत् पवीरमायुध तद्वान्
पवीरमान् (नि० । दै० अ० २१ । ख० ३०)

निवारक राजदण्ड के समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में (तिरश्चित्) यह सब विद्यमान है । हे प्रभो ! (तुभ्य इत्) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों के दर्शन के लिये ही (स) वह (शयिः) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ (अज्यते) प्रकट होते हैं । तू ही उन का स्वामी सन्चाल, कर्त्ता धर्ता है ।

(१) (तुरययवः) विप्रकारी, अभ्यासी, कार्यकुशल, (विप्रासः) विद्वान् लोग (धृतश्चुतम्) तेज के देने हारे (सधुमन्तम्) आनन्दप्रद, ज्ञानमय (अकं) पूजनीय इन्द्र आत्मा को (आनृचुः) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि (अस्मे) हम में (शरिमः) प्राणबल और ज्ञान का प्रकाश (पप्रथं) बढ़े और (अस्मे) हम में (वृण्य , वीर्यवाम् (शवः) बल बढ़े और (स्वानासः) प्रेरणा करने हारे (इन्दवः) शुक्रों की वृद्धि हो । बल वीर्य और शुक्र की कामना से विद्वान् लोग आत्मज्ञान करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६११] गामज इन्द्रो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिञ्च वर्णमपि गापु धारय ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१२] नो हरीणाग्न इन्द्रो देवप्सरस्तमः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सखेव सख्ये नर्यो रुचं भव ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१३] सनेमि त्वमस्मदा अदेवङ्गश्चित्रनिणम् ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
साक्षां इन्द्रो परि वाधो अपृष्टयुम् ॥ ३ ॥ २० ॥

श्रु० ॥ १०५ । ४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत स० [१७४] ॥ २६० ।

(२) हे (इन्द्रा) योगिन् । हे (हरीश्याम् पते) इन्द्रियों के पातक नितेन्द्रिय ! (देव) विद्वन् ! (प्सरस्तमः) सबसे अधिक तेज वा दीप्ति से युक्त होकर (सः) वह आप (नर्यः) सब मनुष्यों के हितकारक (सख्ये) मित्र के लिये (सखा इव) मित्र के समान (न.) हमारे (रुचे) वश तेज को बढ़ाने के लिये (भव । हो । (२) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोकों के स्वामिन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील ! आप (प्सरस्तमः) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें ।

(३) (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील राजन्, विद्वन्, परमात्मन् ! (त्वं) आप (अस्मत्) हमारे प्रति (सनेमि) अनादिकाल से चले आये मित्रभाव कृपाभाव को (आ) प्रकट करो । आप (साह्यान्) सब विघ्नों को पराजय करने हारे (अदेवम्) देव, परमेश्वर से रहित (आग्निर्गं) केवल भोग करने हारे विषयलोलुप, (कंचित्) किसी भी भोगमय देहबन्धन को (परिधावः) विनाश करो और (द्रयुं) दो दो, द्वन्द्व, सुख दुःख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदिके चाहने हारे इस अन्त करण को भी (अप) करो ।

[१६१४] अञ्जने व्यञ्जन समञ्जतं क्रतुं रिहन्ति मन्वाभ्यङ्कतः ।
 सिन्धोवृक्षाले पतयन्तमुक्षरां हिरण्यपात्राः पशुमण्डु
 गृभ्यते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पचमानाय गायतमर्हो न धारात्यन्धो अर्षति ।
 अहिर्न जूष्मत्तिसर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरवृषा
 हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अग्नेर्गो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नाम्भुवनवर्षितः ।
 हरिर्घृतस्तु सुदृशीको अर्ष्यो ज्योतीरथ पचते राय
 अर्ष्यः ॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ६। ८६। ४३-४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६४] पृ० २८४ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (विपश्चिते) ज्ञानशील ब्रह्मज्ञानी, (पवमानाय) मुक्ति के मार्ग में गति करने वाले आत्मा (गायत) गुण वर्णन करो । वह (अन्धः) देह को प्राण-धारण कराने द्वारा सोम आत्मा (मही) मही (धारा न) जलधारा के समान (अति अर्पति) अपने तटों रूप देहबंधनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । (जूयाम्) जीर्ण हुई (त्वचम्) त्वचा को (अहिं न) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर (अतिसर्पति) निकल आता है और जो (हरिः) हरणशील, गतिशील, (वृषा) बलवान् आत्मा स्वयं (श्रीवन्) देहों में रमण करता हुआ भी (अत्यः न) अश्व के समान (असरद्) एक लोक से दूसरे लोक या दशा में भाग जाता है ।

(३) यह सोमरूप योगी, आत्मा, चन्द्र (सप्तमः) समान भी वर्णन किया जाता है । वह (अग्नेयाः) इन्द्रियों का नेता, और ससार-बन्धनों को काटकर मय भोगों को त्याग कर, आगे श्रेष्ठ पद की ओर जाने द्वारा, (राजा) प्रकाश मान्, तेजस्वी (आप्यः) कर्म और प्रज्ञानों या प्राणों में श्रेष्ठ (अह्ना) अपनी घटनी और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के (विमानः) रचने वाले चन्द्र के समान अपनी षोडश कलाओं से अपनी ज्योतिष्यों को बनाने द्वारा (भुवनेषु) लोकों के समान प्राणों में (अर्पितः) स्थापित है । जो (हरिः) गतिशील आत्मा (वृतस्नुः) कान्ति और तेज से देदीप्यमान होकर या ज्ञान से ज्ञान करके (सुदृशीकः) सम्यक् तथ, परमपद का दर्शन करने द्वारा, (अर्णवः) ज्ञानवान्, (ज्योतीरथः) ज्योतिष्मान् स्वरूप होकर (राय) परम धन का अधिकारी (आंक्यः) परमपद के योग्य होकर (पवते) दिचरण करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठस्य तृतीयोऽध्यायः । सप्तमः प्रपाठश्च समाप्तः ॥

इति षोडशाऽध्यायः ॥

ॐ नमः शिवाय ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

॥ १ ॥ अपिः—१, ७ शुन-शेष आनीगतिः । २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ।
३ शयुर्वाहस्पत्यः । ४ वसिष्ठः । ५ वामदेवः । ६ रेमसन् काम्यपौ । ७ नृमेषः ।
८, ११ गोषूक्त्यश्वसक्तिनौ काण्वावनौ । १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । १२ विरूपः ।
१३ वत्सः काण्वः । १४ पतत्साम ॥ देवता—१, २, ७, १२ अग्निः ।
२, ८-११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णुः । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः ।
१४ पतत्साम ॥ छन्द —१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती ।
४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप् । ७ प्रागाथम् । ११ छण्डिक् । १४ पतत्साम ॥
स्वर —१, २ ७, ८, १०, १२, १३, पङ्क्तः । ३, ४ मध्यमः, ५ धैवतः ।
६, ६ गान्धारः । ११ अपमः १४ पतत्साम ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[१६१७] विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।

१ २
चनो धाः सहस्रो ग्रहो ॥ १ ॥

२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
[१६१८] यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे ।

१२ १३ १४ १५
त्वं इन्द्रयते हवि ॥ २ ॥

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४
[१६१९] प्रियो नो अस्तु विश्वतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४

प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ३ ॥ १ ॥ २६ । १०, ६, ७ ॥

भा०—(१) हे (सहस्रः ग्रहो) बल से प्राप्त करने योग्य अग्ने ! प्रभो !
('विश्वेभिः ') समस्त (अग्निभिः) ज्ञानवान् नेताओं और विद्वानों सहित ;

(इद) हम (वचः) वाणी, हमारी प्रार्थना को और (हमं) इस (यज्ञ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होकर हमें (चन.) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान (धा) धारण कराओ ।

(२) (यन् चित् हि) यद्यपि (शश्वता) नित्य (तना) आत्मा-रूप यज्ञ द्वारा (देव देव) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप से उपास्यदेवों को (यजामहे) हम उपासना करते हैं तो भी वह सब (इति.) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि होम (त्वे इत्) तुम्हारी ही छत्रप करके (हूयते) दिया जाता है ।

(३) (विश्वपति.) समस्त प्रजाओं का पालक (मन्द्र.) हर्षकारी, आनन्ददायक (वरेण्यः) वरण करने योग्य परमात्मा (नः) हमारा (प्रिय.) प्रिय (अस्तु) हो । (स्वप्नय) उत्तम आत्मज्ञानानि से युक्त कर उसके भी (वयम्) हम (प्रिया.) प्रिय हों ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २

[१६२०] इन्द्र वो विश्वतस्परि हवामहे अनेभ्यः ।

३ १ २ १ १

अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

१ १ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१६२१] स ना वृषन्नमुञ्चरं सन्नादावन्नपावृत्रि ।

३ २ ३ १ २

अस्मभ्यमप्रतिष्कृतः ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २

[१६२२] वृषा यूथत्र वंसगः कृत्वीरियत्योजसा ।

१ २ ३ १ २

ईशानो अप्रतिष्कृतः ॥३॥ २॥ अ० १ । ७ । १०, ६, ८ ॥

भा० — (१) हे विद्वान् पुरुषो ! (व. जमेस्य) आप लोगों के हित लिये (विश्वत.) सबसे (परि) ऊपर विराजमान (इन्द्रम्) परमेश्वर इन्द्र की (हवामहे) उपासना करते और प्रार्थना करते हैं कि वह (केवल.) अद्वितीय परमेश्वर (अस्माकं) हमारा सहायक (अस्तु) हो ।

(२) हे (सेनादातृ) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे (वृषन्) सबसे श्रेष्ठ, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! (स०) वह आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कृतः) अद्वितीय, अपरानित, शक्तिमान् कभी सम्मलित न होने वाले, कभी भूलचूक न करने हारे होकर (चरु) अद्यादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को (अप वृधि) दूर करो ।

(३) (वृषा) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा (वंसग०) सुन्दर गति वाला बैल (यूथा इव) जिस प्रकार गौओं के गोलों में चला जाता है वही प्रकार (भोजसा) अपने बल से (ईशानः) सर्व शक्तिमान्, पेश्वयवान् (अप्रतिष्कृतः) अद्वितीय परमेश्वर (कृष्टीः) मनुष्यों को (इ- यति) प्राप्त होता है ।

१ २ ३ २ ३ ७४ ३ १ २

[१६२३] त्वं नश्चित्र कृत्या वसो रात्रासि चोदय ।

३ २ ३ १४ २२ ३ १ २ ३ २ ३ ७ ३ १२ २२

अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरभि विदा गावन्तु च तुन॥१॥

१ १ ३ १२ २२ ३ ७ ३ १२ २२ ३ १ २

[१६२४] पर्वि तां कन्तनयं पर्वभिष्टुर्वमदधैरप्रयुत्वभिः ।

२ ३ १ २ ३ १ ७ ३ १ २ ३ १ १

अग्ने हेडांसि दैव्या युयांधि नोऽदेवानि ह्वरासि च॥२॥३॥

अ० ॥ ४६ । ॥, १०॥

भा०—(१) ग्याख्या देखो अविच्छिन्न संख्या [४१] पृ० १२ ।

(२) हे अग्ने ! परमेश्वर (त्वं) तू (अप्रयुत्वभिः) सदा सार्ध ने वाले (अदधैः) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरादिन (पर्वभिः) लकों द्वारा (तां) पुत्रं, धातक और (कन्तनयं) पौत्र को (पर्वि) जन करता है । नृ (नः) हमारे (दैव्या) आधिदैविक (हेडांसि) पणियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों के प्रति तिरस्कार आदि वाणों को (अदेवानि च) अधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असात्त्विक, तामस (ह्रासि) कुटिल सकटों और कुटिल आचरणों को (युयोधि) दूर कर ।

[१६२५] किमिच्छे विष्णो परिच्छि नामप्रयद्वचक्षे शिपिविष्टो

आस्मि । मा वर्षो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिधे

वमूथ ॥ १ ॥

[१६२६] प्रतच्छे अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि वयुनन्ति

विद्वान् । तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य

वजसः पराके ॥ २ ॥

[१६२७] यपद् ते विष्णुवांस आकृणोमि तन्मे जुपस्व शिपिविष्ट

हव्यम् । वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरी मे यूयं पात स्व-

स्तिभिः सदा नः ॥३॥४॥ अ० ७ । १०० । ६, ६, ॥

भा०—(१) हे (विष्णो) सर्वव्यापक ! परमात्मन् ! (यद्) जब आप स्वयं अपने को (शिपिविष्टः) शस्त्रियों से आवृत तेजोमय पिण्डों में प्राविष्ट (आस्मि, हूं) इस प्रकार अपनी शक्ति को (वर्षेण) बतला रहे हैं । (ते) आपका (किं इत् नाम) क्या नाम या स्वरूप (परिच्छि) कहा जाय । हे भगवन् ! (तन्) क्योंकि (समिधे) समाधि अवसर पर आप (अन्यरूपः) दूसरे ही रूप में (वमूथ) प्रकट होते हैं । आप (एतद्)

१६२५—१. 'किमिच्छे अए परिच्छि नामप्रयद्वचक्षे', २, प्रतच्छे अद्यदिदिदिना मायं.' इति अ० ।

वह (चर्यः) तेजोमय रूप (अस्मद्) हम से (मा अपगूह) मत छिपाइये ।

(२) हे (शिपिविष्ट) शर्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोको में व्यापक परमात्मन् ! मैं (अर्यः) अपनी इन्द्रियों का स्वामी जिसे-न्द्रिय होकर (व्युनानि) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को (जानन्) जानता हुआ (तत्) वह अति प्राचीन (हव्यं) पुकारने, नित्य ग्रहण और शरण करने योग्य नाम (शंसामि) कहता हूं और (अस्य) इस (रजसः) प्राकृत लोकों के भी (पराके) दूर, परे मोक्ष में भी (चयन्तं) निवास करने वाले (तवसं) महान् (त त्वा) उस सनातन तेरी में (अतव्यान्) तुच्छ व्यक्ति (गृणामि) स्तुति करता हूं ।

(३) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! (ते) आपको मैं (आसः) अपने मुख से (वपद्) सर्व कामनाओं का पूरक (आकृत्योमि) साक्षात् स्वीकार करता हूं । (शिपिविष्ट) तेजोमय ! (मे) मेरा (तत्) वह (हव्यम्) ग्रहण योग्य हुआ स्तुति पवन (शुपस्य) स्वीकार (मे) मेरी (सुस्तुतमाः) उत्तम स्तुतिरूप (गिरः) वेदवाणियों (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरुषो ! (धूयं) आप लोग (न.) हम लोगों की (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (पात) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—०—

१ २ ३ १ २ ■ ■ ३ २ ३ १ २
[१६२८] वायो शुक्रो अयामि ते मन्त्रो अग्रन्दिविष्टिषु ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ■ ३ १ २

आयाहि सोमपीतये स्वाहो देव नियुत्वता ॥१॥ .

१ ३ ३ १ २ ३ १ २
[१६२६] इन्द्रश्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।

३ १ २ २ २ ३ २ ३ २
युवां हि यन्तीन्द्रवो निम्नमापो न सध्यूक् ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसरस्पती ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ०
नियुत्वन्ता न ऊनय आयातं सोमपीतये ॥३॥५॥

ऋ० ४ । ४७ । १-३॥

भा०—(१) हे वायो ! प्राणात्मन् ! (दिविष्टिषु) दिव्य तेज की साधना के अवसरों में मैं (शुक्र) वीर्यवान् तेजस्वी होकर (ते) तेरे लिये (अग्रम्) सबसे पूर्व (मध्व.) अमृत ब्रह्मानन्दरस को (अपामि) प्राप्त करता हूँ । हे आत्मन् ! देव ! (स्पार्हः) अति स्पृहा का पात्र तू (नियुत्वता) नियुत्=प्राण और मनस्वरूप अथ अर्थात् बलवान् साधन (सोमपीतये) सोमरस पान करने के लिये (आयाहि) प्राप्त हो ।

(२) हे वापो ! प्राण और (इन्द्रः च) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही (सोमाना) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का (पात) पान करने के (अर्हथ.) योग्य हैं । (इन्द्रवः)-समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी (युवा) आप दोनों के प्रति (सध्यूक्) एक साथ (निम्न) नीचे डालू स्थान पर (आप. न) जलों के समान (यन्ति) चले जाते हैं ।

(३) हे (वायो) ज्ञानवन् ! (इन्द्रः च) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! (शवसरस्पती) आप दोनों बल के परिपालक हैं, आप (नियुत्वता) मनरूप अथ से युक्त (शुष्मिणा) बलशाली होकर (सोमपीतये) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करने और (नः) हमारी (कृतये) रक्षा करने के लिये (आयातम्) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है ।

१ २ ३ ५२ २४ ३ १ ९ ३ १२ २४
 [१६३१] अथ क्षपा परिष्कृतो बाजो अभिप्रगाहसे ।
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
 यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्यन्ति यातवे ॥१॥
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६३२] तमस्य मर्जयामासि मदो य इन्द्रपातमः ।
 १२ १२ ३ १ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
 यं गाव आसभिर्दधु पुग नूनञ्च सूरयः ।
 १२ २२ ३ १ २ ३ २ २ २ २

[१६३३] तद्गाथया पुराणया पुनानमभ्यनूयत ।
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
 उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम विभ्रनीः ॥३॥६॥

अ० ६ । ६६ । ६-४ ॥

भा०—(१) (यदि) जब [विवस्वतः] सूर्य के समान प्रेरक आ
 दिव्ययोगी की (धियोः) अपनी चित्तवृत्ति या अपनी ध्यान और धारणा
 शक्तियों को (हरिं) प्राण, वा मन, वा दुःखहारी प्रभु को (यातवे) आत्मा
 के समीप प्राप्त होने के लिये (हिन्यन्ति) प्रेरित करता है (अथ) तब
 ही सोमरूप आत्मन् ! (क्षपा ^१) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने वाली
 चित् शक्ति से (परिष्कृतः) सुसूचित होकर (बाजान्) नाना बलों और बल
 से साध्य कार्यों या ज्ञानों को (अभि) साक्षात् स्वयं तू (प्र गाहसे) पार
 कर जाता है ।

(२) (अथ) इस सोमरूप प्राण वा आत्मा के (तं) उस रसरूप
 को ओषधिरस के समान (मर्जयामसि) परिष्कृत करते हैं (यः) जो
 (मदः) आनन्दस्वरूप होकर (इन्द्रपातमः) आत्मा द्वारा उत्तम रीति से
 आस्वादन किया जाता है । (यं) जिसको (गावः) ज्ञान-इन्द्रियगण
 और (सूरयः) प्राणोन्मिष्य (पुरा) पूर्वकाल में और (नून च) अथ भी
 (आसभिः) देह अपने नियत स्थानों या सुखद्वारों से (दधुः) धारणा

१६३१—१ 'बाजी अभिप्रगाहते' इति अ० ।

१. क्षपा क्षपयित्री सेना, इति सायणः ।

करते हैं । अथवा जिसको (गाव. सूर्यः) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में और अब भी, अपने (आसभिः) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा (दधुः) धारण करते हैं ।

(३) (त) उस (पुनान) पवित्र करने हारे और स्वतः पवित्र साम को (पुराण्या) पुरातन (गाथया) गानरूप छन्दोमय वेदवाणी से (अभि अनूपत) स्तुति करते हैं (उत उ) और (देवानां) देवों, सूर्य, वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का (नाम) नाम या स्वरूप (विभ्रतीः) धारण करती हुई (भीतय) वेदवाणिया भी उसको ही (कृपन्त) समर्पण करती हैं, उसका ही गुणगान करती हैं ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २१
[१६३४] अश्वज्ञ त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निममोमिः ।
३ १ २ ३ १ २

सम्राजन्ममध्वगणाम् ॥१॥

१ २ ३ १ २ २१ ३ १ २ ३ १ २
[१६३५] स घा नः सनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
३ २ ३ १ २

मीद्वान् अस्माकं वभूयात् ॥२॥

१ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[१६३६] स नो दूराच्चासाञ्च नि मर्त्यादिधायोः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २

पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥३॥ ७॥ ऋ० १ । २७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७] पृ० ६ ।

(२ (स च) वह ही परमेश्वर ! (पृथुप्रगामा) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक (शवसा सनुः) समस्त ससार को अपने बलमे प्रेरण करने द्वारा (नः) हमें (सुशेवः) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वही (अस्माकं) हमारे (मीद्वान्) सब सुखों को वर्णन करने वाला, मेघ के समान आनन्दकारी (वभूयात्) होवे ।

(३) (सः) वह आप जगदीश्वर (विश्वायुः) समस्त प्राणियों को पूर्ण आयु देने हारा (दूरान्) दूर, वर्तमान और (आसात् च) समीप में वर्तमान (अधायोः) पोंपी (मर्त्यात्) मनुष्य से (नः) हमारे (सद्म) देह और गृह को और प्रतिष्ठा को । इत्) भी (नि पाहि) नित्य रक्षा करे।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१६३७] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वमि विश्वा आसि स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अशस्तिहा जनिता घृत्रतूरसि त्वन्तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६३८] अनु ते शुष्मन्तूरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुन मातरा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वास्ते स्पृधः अथयन्त मन्यवे घृत्रं यदिन्द्र तूर्नसि

॥२॥ ॥ अ० । ८ । ६६ । ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [३११] पृ० १५६ ।

(२) (तूरयन्तं शिशुम्) गमन करते हुए बाळक के प्रति (मातरां न) जिस प्रकार मा माप आते हैं उसी प्रकार (तूरयन्तं) गति प्रदान करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे (शुष्म) बल के साथ (क्षोणी) औ और पृथिवी, प्राण और अपान (ईयतुः) गमन करते हैं । इन्द्र ! आत्मन् ! (यत्) जब (घृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान तम का तू (तूर्नसि) नाश करता है तब (मन्यवे) मन्युस्वरूप या ज्ञान स्वरूप, मननशील (ते) तेरे आगे (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले काम और क्रोध आदि अन्त शत्रुओं की सब चेष्टाएं (अथयन्त) शीथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१६३९] यक्ष इन्द्रमवर्द्धयद्यदभूर्मि व्यवर्तयत् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

चक्राय आपशान्दिवि ॥ १ ॥

■ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१६४०] व्या३न्तरि॒क्षम॑तिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

२ ३ १ २ २ ३ २
इन्द्रो यदभिन॑ष्ठत्तम् ॥ २ ॥

१ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २
[१६४१] उदुगा आजद॑क्षिरोम्य आविष्कृ॑षन् गुहा सती ।

३ १ २ ३ २
अर्वाञ्च॑सुदे वलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० म : ३४ । ६, ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२१] पृ० ६५ ।

(१) (यद्) जब (इन्द्र०) आत्मा (वलम्) घेर लेने वाले काम क्रोधादि तामस आवरण को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) ज्ञान और शुद्ध के (मदे) आनन्द हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) भीतर विराजमान चित्त को भी (व्यतिरत्) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पक्ष में इन्द्र सूर्य है : वह मेघ है अन्तरिक्ष घी, और पृथिवी मध्य की वह भाग जहाँ मेघ विचरता है । सोम वायु का घेग है । जिस प्रकार वायु के बल से सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करता और अन्त-रिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार योगी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर शिल्पध्वज द्वारा शीशों ताड़ दशांशे हैं ।

(३) इन्द्र आत्मा ने (अंगिरोम्य) अग अर्थात् देह में रम गंधांश सार प्राणरूप में वर्तमान इन्द्रियों के लिये (गुहा) अन्त करण रूप गुहा में (सती) वर्तमान (गा०) गमनशील, ज्ञानप्राप्त वात्रियों को (आविष्कृषन्) प्रकाशित करता हुआ (उद् आनन्) ऊपर को प्रेरित

करता है और (वलम्) वलवान् तामस आवरण को (अर्वाक्ष) नीचे (जुनुदे) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है।

अथवा—(इन्द्र.) परमेश्वर (गुहा सतीः गा आविष्कृतवन्) निगूढ़ स्थान, अव्यक्तस्वरूप में वर्तमान देववासियों को प्रकट करता हुआ (अगिरोभ्यः उदाजत्) विद्वानों, ज्ञानी अपियों को प्राप्त कराता है और (वलम् अर्वाक्षं जुनुदे) पाशविक तामस स्वभाव को उस ज्ञान के नीचे कर देता है।

१ २ ■ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४२] त्वमु वः सभा साहं विश्वासु गीर्वायतम् ।

१ २ ३ १ २
आ कथाययस्युतये ॥ १ ॥

३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१६४३] युधं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् ।

१ २ ३ १ २
नरमवार्यक्तुम् ॥ २ ॥

० २ ■ २ २ ३ २ ३ १ २
[१६४४] शिञ्जा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वां अर्वापिम ।

१ २ ३ २ ३ १ २
अवा न. पार्ये धन ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ ३२ । ७. ■ ॥

भा०—(१) हे विद्वन् (युधं) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं को मार भगाने हारे (सन्तं) सत्स्वरूप, सदा विशमान (अनर्वाणं) कूटस्थ, अन्य की अपेक्षा करके न चञ्चने हारे, ध्रुवस्वरूप (सोमपाम्) ज्ञान, आनन्दरस का पान करने हारे (अत-पच्युतम्) अपने शुद्ध पद से न गिरने हारे, (नर) नेतारूप, (अवार्थ-क्तुम्) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म-उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाले इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा के निमित्त स्मरण कर ।

(२) हे (अर्वापिम) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र ! परमेश्वर ! आप (विद्वान्) सर्वज्ञ हैं। आप (वः) हमें (रायः) धन जाना

प्रकार के दान (पुरु) बहुत बार, एवं बहुत से प्रकारों से (आशिष) दान दो । और (पार्ये) परम उत्कृष्ट (घने) धन, मोक्ष के प्राप्त करने में (नः) हमें (अच) रक्षाकर ।

सायण ने 'पार्ये घने' इसका अर्थ किया है—“पाराः शत्रवः तत्र भवे घने” अर्थात् शत्रुओं का धन लूटने । अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे । इन्द्र अर्थात् राजाके पक्षमें वह संगत है । ईश्वर पक्षमें मोक्ष को 'पर पार' कहा जाता है । उस में प्राप्त करने योग्य धन मोक्षानन्द है । उस को प्राप्त करने में आने वाले विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर से प्रार्थना है । यही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी संगत है ।

[१६४५] तव त्वदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत क्रतुम् ।

वज्रं शिशति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥

[१६४६] तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्द्धति अचः ।

तत्रामाय पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥

[१६४७] त्वा विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रा गृणात वरुण ।

त्वा शर्द्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥१६॥अ० ७।१२।७, ८, ९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (त्वत्) वह (वरेण्यं) वरण करने योग्य (इन्द्रियं) ऐश्वर्यमय स्वरूप को, (बृहत्) बड़े भारी (तव दक्षम्) तेरे सामर्थ्य, अनन्त शक्ति को और (क्रतुम्) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड संचालन को और वरणा करने योग्य ज्ञानरूप (वज्रं) देहधन्धन काटने द्वारे मोक्षसाधन को हमारी (धिषणा) बुद्धि और चायी (शिशति) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिसजाती है ।

(२) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (पौंस्यं) बल, पौरुष को (द्यौः) वह द्यौलोक जिसमें समस्त सूर्य, नक्षत्र आदि तेजस विषय भ्रमण करते

हैं (वर्द्धति) विशाल रूप में प्रकट करता है । और (तव भवः) तेरी कीर्ति को (पृथिवी) यह पृथिवी (वर्द्धति) बढ़ा रही है । (आपः) ये जल, नदियें और (पर्वताश्च) पहाड़ (त्वा) तेरी ही (हिन्वरे) स्तुति गान कर रहे हैं ।

(३) हे परमेश्वर (बृहन्) बड़ा भारी (क्षयः) निवास स्थान (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी (मित्रः) स्नेहवान् जल (वरुणः) धरण करने योग्य अग्नि आदि ये सब दिव्य पदार्थ (त्वा गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं । (मार्तन्) वायु का (शर्धः) बल, वेग (त्वां) तेरे ही (अनुमदति) अनुकूल रहकर इर्ष को प्राप्त होता है, माना प्रकार से नृत्य करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।

१ २ ३ १ २

अमैरामित्रमर्ह्य ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१६४९] कुषित्सु नो गविष्ट्येऽग्ने संवेपिपो रयिम् ।

१ २ ३ १ २

उरुकुदुरु णस्कृधि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[१६५०] मा नो अग्ने महाधने परावरर्भारभृद्यथा ।

३ २ ३ ० ३ १ २

संवर्धे सं रयिञ्जय ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८। ७५। १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [११] पृ० ५ ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (न.) हमारे (गविष्ट्ये) आत्मा और इन्द्रियों के इष्ट साधन के लिये (रयिम्) उपयुक्त विषयरूप धन और प्राणरूप सामर्थ्य को (संवेपिप.) प्राप्त करता है । (उरुकुद.)

महान् कार्यसम्पादक आप (मः) हमें भी (उरु कृधि) महान कीजिये ।

(३) हे अग्ने ! (यथा भारभृत्) जिस प्रकार घोसा उठाने वाला अपना घोसा परे फेंक दिया करता है वस प्रकार (महाधने) मोक्षरूप धन की प्राप्ति के अवसर में (नः) हमें बोम्बसा जानकर (मा परा वर्गः) परे न हटा, बल्कि हमें (संवर्गः) उत्तम मोक्षरूप (रयिं) धन को (संजय) प्राप्त करा दे ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।

३ १ २ ३ १ २
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५२] वि चिद् घृष्टस्य दोधत शिरो विभेद घृणिना ।

१ २ ३ १ २
वज्रेण शतगर्धणा ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६५३] ओजस्तदस्य तित्विष उमे यत्समन्तर्तयत् ।

२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रश्चर्मैव रोदसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ॥ ४, ६, ५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१३७] पृ० ७५ ।

(२) (दोधतः) समस्त जगत् को कपाने हारे (घृष्टस्य) आवरक अज्ञान या विघ्न के शिर) शिरोभाग, मूल, अब तो परमेश्वर अपने (शत गर्धणा) सैकड़ों पोरुओं=पालक शक्तियों से बने (घृणिना) सुखों वर्णक (वज्रेण) वज्ररूप ज्ञान से (विभेद) तोड़ डालता है ।

(३) (तत्) उस समय (अस्म) इस परम आत्मा का (ओजः) सामर्थ्य और तेज (तित्विषे) प्रकाशित होता है (यत्) जब (इन्द्रः) परमेश्वर (उमे रोदसी) औ और पृथिवी दोनों को (चर्मैव) मानों चमड़े से ढोले के समान (समवर्तयत्) मड़कर तैयार करता देता है । अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का

पैतों चलाता है । अथवा (अस्य तत् ओज- तिस्रिषे) ईश्वर का वह तेज ही चमकता है । (यत् इन्द्र चर्म इव उमे रोदसी समवर्तयत्) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम के समान मढ़े हुए हैं । अर्थात् उमी का सर्वत्र तेज है ।

३ २ ३ २ ■ २ ३ १ २
[१६५४] सुमन्मा वस्वी रन्ती मूर्नेरी ॥ १ ॥ (यजु०)

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ५ २ २ ३ २
[१६५५] सरूप वृषजागहीमौ भद्रौ धुर्याभिमि ।
२ ३ १ २ २

ताधिमा उपसर्पतः ॥ २ ॥

१ २ २ ३ १ २ ३ ■ ३ १ २
[१६५६] नीव शीर्षाणि मृद्वं मध्य आपस्य तिष्ठन्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २

ऋक्षेभिर्दशभिर्दिशन् ॥ ३ ॥ १४ ॥ तिस्रोऽपि ऋग्वेदे न सन्ति ।

भा०—(१) (सुमरी) उत्तम शरीर-रथ की नेत्री, चितिशक्ति स्वयं (रन्ती) समस्त क्रीड़ा, चेष्टा, व्यापार करने हारी (वस्वी) प्राणरूप वसुओं की स्वामिनी (सुमन्मा) उत्तम रूप से मनन करने हारी ।

(२) (सरूप) चितिशक्ति के समान रूपवाले (इन्द्र) आत्मन् । (वृषन्) सर्वश्रेष्ठ ! (जागहि) आ, प्रकट हो । (इमा) वे दोनों (भद्रौ) कल्याण और सुखकारी (धुर्यौ) शरीर के धारक प्राण और अपान (अभि) प्राणरूप में दिखाई देते हैं । (तौ इमौ) वे दोनों शरीर या नासिका में (उपसर्पतः) गति करते हैं ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आत्मा (आपस्य) इस प्राण देह के (मध्ये) भीतर (दशभिः) दश (ऋक्षेभिः) प्राणों द्वारा (दिशन्) ज्ञान और कर्म करता हुआ (तिष्ठति) विराजमान रहता है । आप लोग

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग रहने वाले दशों ही प्राणों को (नि मृद्वम्) वश करो ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ।



अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।



ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेवधागिरसः । २ अनुकम्पः सुकम्पो वा ।
 ३ अनुकम्पः आजीगसे । ४ अयुर्वर्हस्तात् । ५, १५ मेधातिथिः काण्वः । ६,
 ७ वसिष्ठः । ८ आयुः काण्वः । ९ अम्बरीष ऋषिश्च । १० विद्वमना वैयस्यः ।
 ११ सोमरि काण्वः । १२ सप्तर्षयः । १३ कलिः प्रागाथः । १५, १७ विश्व-
 मित्रः । १८ त्रिभुवि काद्वपः । १९ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । २० एतस्मिन् ॥
 देवता—१, २, ४, ६, ७, ८, १०, १३, १५ इन्द्रः । ३, ११ २८ अग्निः ।
 ५ विष्णुः ८, १२, १६ पवमानः सोमः । १४, १७ इन्द्राग्नी । १९ एतस्मिन् ॥
 छन्दः—१-५, १४, १६-१८ गायत्री । ६, ७, ८, १३ प्रागाथम् । ९,
 अनुष्टुप् । १० उज्जिक् । ११ प्रागाथः काकुभम् । १२, १५ बृहती । १६ इति
 साम ॥ स्वरः । १-५, १४, १६, १८ पङ्क्तयः । ६, ८, ११, १२-१३, १५
 मध्यमः । ९ गान्धारः । १० ऋषभः ॥

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१६५७] पन्थं पन्थामिस्तोतार आवावत मधाय ।

१ २ ३ २ ३ १ २

सोमं वीरय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] ^{१ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २} एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।

^{१ २ ३ १२ २ ३} इन्द्रं गीर्भं गीर्वणसम् ॥ २ ॥

[१६५९] ^{१ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३ २२ ३ २} पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नार अस्मत् ।

^{१ २ ३ १ २} नियमते शतमूतिः ॥३॥१॥ अ० ८ । २ । २५, २७, २६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१२३] पृ० ।

(२) (इह) इस पिण्ड में (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म साथ समाधि द्वारा युक्त होने वाले, (शग्मा) शक्रियुक्त (हरी) दोनों प्राण और अपान (सखाय) परमेश्वर के मित्रभूत (गीर्वणसम्) गिराओं, वेदवाणियों का सेवन करने वाले (इन्द्रम्) इस जीव को (गीर्भिः) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ (आ वक्षतः) ब्रह्म तक प्राप्त कराते हैं ।

(३) (सुत) आनन्दरस का प्रेरक बल को (पाता) पान करने या धारण करने और (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला वह आत्मा (अस्मत्) हमारे (आरे) समीप (घ) ही (आगमन्) प्राप्त है वह (शतमूतिः) सैकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर (नियमते) संयम साधना करता है ।

[१६६०] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} आ त्वा विशान्तिवन्दन् समुद्रमिव सिन्धवः ।

^{२ ३ १ २} न त्वाभिन्दातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] ^{३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३} विन्यक्त्य महिना वृषभक्ष सोमस्य जागृवे ।

^{१ २ ३ १ २} य इन्द्र जठरेषु ते ॥ २ ॥

[१६६२] ^{१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २} अरन्त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् ।

^{२ ३ १ २ ३ १ २} अरन्ध्रामभ्य इन्द्रवः ॥३॥ २ ॥ अ० ८ । ६२ । २२-२४ ॥

भा० — (१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६७] पृ० १०४ ।

(२) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! (यः) जो सोमरूप^१ संसार (ते जठरेषु) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! उस (सोमस्य) समस्त संसार के (मर्त्य) स्वरूप से प्राप्त को भी हे (जागृते) जागरणशील ! तू ही (महिना) अपनी महिमा से (विव्यक्त) व्याप्त कर रहा है ।

आरम्भपक्ष में हे इन्द्र ! तेरे (अन्तः) हृदयाकाश में, अन्त इन्द्रियों में जो सोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने (महिना) बड़े सामर्थ्य से प्राप्त करता है । सामरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में—सूर्य इन्द्र अपने जठर-रश्मियों से जल को उठा लेता है और सदा देदीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के दस सूक्ष्म भाग को धारण किये रहता है ।

(३) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आवरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने वाले हे (वृत्रहन्^२) विघ्नकारी तामस आवरण के नाशक ! (सोम) यह समस्त सोमरूप उत्पन्न हुआ संसार (ते) तेरी (कुक्षये) कोख से या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये (अरंभवतु) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है (इन्द्रवः) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान लोक (धामन्य) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी (अरं) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त हैं ।

[१६६३] जगवो^१ध तद्विचि^२द्धि विशेषि^३शे^४ वक्षियाय^५ ।

१ २ ३ १ २ ३ २
स्ताम रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

- १६६२ — १ सूक्त इति सोमः, ।

२ वृत्रहन् पापस्य वा इन्द्र, इति सायण ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ०
[१६६४] स नो मह्यं अनिमानो धूमकेतुः पुरुषश्चन्द्र ।

३ १ २ २

त्रिय धाजाय द्विन्वतु ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१६६५] स रेवां इव विश्वपतिर्देव्यः केतुः शृणोतु नः ।

३ २ ३ २ ३ १ २

उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १ । २७ । १०-१२ ॥ १

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५] पृ० ७ ।

(२) वह अग्निरूप सब का मार्गदर्शक सर्वज्ञ, परमेश्वर (महान्) महान् (अनिमानः) अनन्त, अपरिमेय, (धूमकेतुः) समस्त समार को स्पन्दन या गति देने हारे सामर्थ्य से जानने योग्य (पुरुषश्चन्द्र) सत्रमे अधिक प्रकाशमान, सब प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक परमात्मा (नः) हमें (धिये) विचारशक्ति, बुद्धि और (वाजस्य) बल और सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) सबका नेता, ज्ञानवान् (उक्थैः) वेद की ज्ञानराशियों से (बृहद्भानुः) विशाल तेज मय सूर्य (देव्यः) सर्व दिव्यगुणों में युक्त (केतुः) समस्त संसार का ज्ञापक, (विश्वपतिः) प्रजा का पालक प्रजापति, परमात्मा (रेवान् इव) बड़े भारी धनी सेठ पुरुष के समान (नः) हम उपायकों की (शृणोतु) प्रार्थना श्रवण करें ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[१६६६] तद्धो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्त्वेने ।

२ ३ ३ २ ३ १ २

श यदुगवे न शाकिने ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१६६७] न धा वसुनर्नयमते दानं वाजस्य गोमतः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

यत्समुपश्रवद् गिरः ॥ ३ ॥

[१६६८] कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत् ।

शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपभ्रवंत्) सुन लेता है तब वह (वसु०) सब संसार को बन्धने हारा और सर्वव्यापक (गोमत्) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) प्रदादान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपलब्ध करने हारे या क्षयशाली, विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौशों के निवासस्थान (व्रज) बाढ़ा रूप देह को (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । परन्तु (स्य.) वह ही उसको (शचीभि) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्त करण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (न) हमारे कल्याण के लिये (अप प्रवरत्) दूर कर देता है । अथवा—‘कुवित्स’ बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुन देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१ कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहुधा, स्यात्-
हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

[१६६६] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि परुपशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्गर्भपरमं पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अवन्तु ना यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ २ ॥

अ० १ । २२ । १६-२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप किया । (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) लोको को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है । व्याख्या अधि० सं० [२२२] पृ०।